॥ श्रीः ॥

विट्ठलदास संस्कृत सीरीज

२

पण्डितराजश्रीजगन्नाथविरचितः

रसगङ्गाधरः

'रसतरङ्गिणी'–संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथमाननम्

व्याख्याकारद्वयः

प्रो० डा० श्रीनारायणमिश्रः

संस्कृत विभाग

कला संकाय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डा० शशिनाथ झा विद्यावाचस्पतिः

रीडर, स्नातकोत्तर व्याकरण विभाग, का० सि० द० सं० वि० वि०, दरभंगा

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

१९९६

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम; वि० सं० २०५३
मूल्य : रू० १००-००

पो० बा० १११८
के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी--२२१००१
(भारत)
फोन : ३३४०३२

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० नं० १००८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)
फोन { आफिस : ३३३४५८
आवास : ३३४०३२ }

BITTHALDAS SANSKRIT SERIES
2

RASAGAṄGĀDHARA

OF

PAṆḌITRĀJ JAGANNĀTHA

[FIRST ĀNANA]

WITH

'Rasataraṅgiṇī' Sanskrit-Hindi Commentaries

BY

Prof. Dr. Śrīnārāyan Miśra
Sanskrit Department
Faculty of Art, B. H. U., Varanasi
&
Dr. Śaśināth Jhā Vidyāvācaspati
Reader, P. G. Deptt. of Vyakaran, K. S. D.
Sanskrit University, Darbhanga.

KRISHNADAS Academy
VARANASI-221001 (India)

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi-1
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi
Edition : First, 1996

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi—221001 (India)
Phone : 334032

Also can be had from
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 1008, Varanasi--221001 (U. P.) INDIA
Phone : Office : 333458
Res. : 334032

भूमिका

सहृदय-हृदयविजेता, श्लाघ्यः सर्वैः कविर्मान्यः ।
तत्कर्ममर्म-वीक्षक-साहित्यज्ञस्ततोऽपि वन्द्योऽस्ति[1] ॥

कवि क्रान्तदर्शी (आर-पार देखने वाला) होता है[2] । उसका हृदय विशाल, दृष्टि सूक्ष्म, मति जागरूक, मन प्रसन्न और वाणी सुललित होती है । वह अदृश्य जगत् में प्रवेश करने की क्षमता रखता है और दृश्य जगत् में भी जहाँ सामान्य लोग देखते हुए भी जिसे न देख पाते हों या देखकर भी व्यक्त न कर पाते हों, उसे वह देख और व्यक्त कर लोगों को चमत्कृत कर देता है । ललित वाणी में ललित भाव को उपस्थित कर देना ही तो कवि का काम है । इसी वाणी और भाव (अर्थ) के सन्तुलित सहभाव को साहित्य कहते हैं—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वं मनोहारिण्यवस्थितिः[3] ॥

इस प्रकार भावार्थक ष्यञ्-प्रत्ययान्त साहित्य शब्द धर्मबोधक (भावार्थक) होने से शब्दार्थस्वरूप काव्य का (धर्मी का) बोधक न होकर तत्प्रतिपादक शास्त्र का बोधक बन जाता है—हितेन सह = सहितं, तस्य भावः साहित्यम् । परन्तु आचार्य कविशेखर बदरीनाथ झाजी का मत है[4] कि यहाँ स्वार्थिक प्रत्यय ही माना जाय । तदनुसार 'सहितमेव साहित्यम्' सहभावापन्न (शब्द और अर्थ के सन्तुलित रूप) काव्य एवं उसके उपकारक छन्द, गुण, अलंकार, रीति, रस, भाव आदि के निरूपक ग्रन्थ साहित्य कहलाने लगते हैं । यथा—'सुखमेव सौख्यम्, चरित्रमेव चारित्र्यम्, चतुर्वर्णमेव चातुर्वर्ण्यम्' प्रयोग प्रसिद्ध हैं, उसी तरह 'सहितमेव साहित्यम्' यहाँ स्वार्थिक प्रत्यय मानने पर धर्मी काव्य और उसके धर्म काव्यशास्त्र इन दोनों का बोधक साहित्य हो जाता है —

साहित्यं सहितानां भावः काव्यैतदङ्गानाम् ।
साहितानि तानि वा तत्, सममाख्यायते शास्त्रम्[5] ॥

---

१. भूमिकाकार द्वारा मङ्गलाचरण ।
२. कवयः क्रान्तदर्शिनः ।
३. वक्रोक्तिजीवितम् १–१० ।
४. मैथिली-काव्यविवेक—सम्पादक डॉ० शशिनाथ झा ।
५. साहित्यमीमांसा—श्लोकसं० २ कविशेखर बदरीनाथ झा ।
(गङ्गानाथझा कोमेमोरेशन भौल्यूम, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना)

साहित्य विद्या को ही आचार्य राजशेखर ने[१] अपनी काव्यमीमांसा में पञ्चम वेद, सप्तम दर्शन और पञ्चदश विद्यास्थान कहा है। काव्य और काव्यशास्त्र में अंगांगिभाव सम्बन्ध है, जिनमें काव्य है अङ्गी (प्रधान), साध्य और लक्ष्य तथा काव्यशास्त्र है अङ्ग (काव्य का उपकारक), साधन और लक्षण। इन दोनों लक्ष्य और लक्षणों के समुदाय को ही साहित्य कहना[२] उचित है। जैसा कि आचार्य पतंजलि ने महाभाष्य (प्रथमाह्निक) में "लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्" कहकर लक्षण (सूत्र) और लक्ष्य (प्रयोग, उदाहरण) के सम्मिलित रूप को ही व्याकरण कहा है, उसी तरह काव्यशास्त्रीय लक्षण एवं उनके उदाहरण (काव्य) साहित्य कहे जाते हैं। केवल काव्यशास्त्र के लिए साहित्य पद का प्रयोग लाक्षणिक है। साहित्यशब्दार्थ व्यापक है और काव्यपदार्थ व्याप्य, यह स्पष्ट ही है। यह एक व्यापक नियम है कि अङ्गी के फल (प्रयोजन) से ही अङ्ग का भी फल सिद्ध हो जाता है। तदनुसार काव्य के फल से ही काव्यशास्त्र भी फलवान् हो जाता है। इसलिए सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य का ही फल दिखाया गया है, शास्त्र का नहीं।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम स्थान कवि का आता है। वह स्वतन्त्र है, निरङ्कुश है, अतः साहित्य जगत् में सबसे पहले उसी का आविर्भाव हुआ—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"[३]।

रसस्वरूप ब्रह्म से ब्रह्मा के रूप में सृष्टि के आरम्भ में कवि का आविर्भाव हुआ। तब उससे काव्य निस्सृत हुआ। इस परम्परा में काव्य का दूसरा स्थान है। उससे सभी मुग्ध हुए, सभी तृप्त हुए, सबों ने उसे देखा। पर देखने वालों में भी कोई सूक्ष्म द्रष्टा निकल गया, जिसे आलोचक कहा जाता है। यह तीसरे स्थान पर आता है। उसने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखकर अपनी वाणी द्वारा उसकी प्रशंसा या निन्दा की और फिर उसे परवर्त्ती कवियों के लिए प्रचारित किया, वही हुआ काव्यशास्त्र, जिसमें लक्षण के साथ-साथ लक्ष्य (काव्योदाहरण) भी होता है और समस्त काव्य-जगत् ही इसके उदाहरण हो गये। इस तरह यह चौथे स्थान पर आता है। यही शास्त्र साहित्य है, आलोचनाशास्त्र है, समीक्षाशास्त्र है। कवि–काव्य–आलोचक–आलोचना की यही श्रृंखला है। इनमें परस्पर उत्पाद्योत्पादक, कार्यकारण, उपकार्योपकारकभाव आदि सम्बन्ध हैं। कभी तो कवि के अनुसार शास्त्र चलता है, तो कभी

१. शास्त्रनिर्देशाध्याय।

२. मैथिली-काव्यविवेक, पृ०–१४।

३. शुक्लयजुर्वेदसंहिता, ४०।८।

शास्त्र के अनुशासन में कवि रहता है, आलोचक से सावधान रहता है और यही वह सावधानी है, जो भवभूति जैसे महाकवि को निखारा और उच्च स्थान पर बैठाया। सुना जाता है कि आलोचकों ने भवभूति के महावीरचरित नाटक के विषय में बहुत आक्षेप किया था। कवि सम्हल गये और उनका उत्तर दिया—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालो महान् निरवधिर्विपुला च पृथ्वी[1]॥

फिर उनके उत्तररामचरित नाटक को देखकर तो आलोचकों को कहना ही पड़ा—"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"। इसी प्रकार महाकवि दण्डी के विषय में भी किवदन्ती है कि उन्होंने दशकुमारचरित की पूर्वपीठिका जब लिखी तो आलोचकों का तीखा प्रहार उन पर पड़ा। वे रुक गये, अपने को सम्हाला, परिश्रम करके आक्षेपों का समाधान ढूँढ़ा और इसी छानबीन के क्रम में स्वयं एक अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ ही रच डाले—काव्यादर्श, जो इस शास्त्र का एक मूर्धन्य ग्रन्थ हुआ। इसके बाद इन्होंने दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका लिखी, जिसकी सब ओर से प्रशंसा हुई। इसीलिए उनकी पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका में इतना अन्तर है।

ऐसे ऐसे महाकवि भी जिनकी कद्र करते हैं, ऊँचा स्थान देते हैं, उन आलोचकों का महत्त्व इसी से आँका जा सकता है। इन आलोचकों को न केवल पूर्ववर्ती सभी काव्यों की जानकारी रहती है, अपितु सभी आलोचकों के सिद्धान्तों की भी जानकारी आवश्यक है। कवि से सूक्ष्म दृष्टि उनकी होती है। जिन भावों को कवि नें सोचा तक न होगा, उनके ही शब्दों से उन भावों को निकाल कर गुण या दोष दिखाने में वे पटु होते हैं। सूक्ष्मदर्शिता, निष्पक्षता, निर्भीकता, सारगर्भिता, सामयिकता, सार्वदेशिकता आदि कतिपय गुण इनमें आवश्यक माने गये हैं। कवि की आलोचना करने से पहले उन्हें स्वयं कवि बनना आवश्यक है। पक्षपातिता, भीरुता, लोभ आदि कतिपय दुर्गुण जिस आलोचक में रहे, वह निन्दनीय माना जाता है। अतएव आलोचक को संयत रखने के लिए काव्यशास्त्र (साहित्यविद्या) परम आवश्यक है, क्योंकि अनियन्त्रित प्रवाह से परम हानि निश्चित है।

अनुबन्ध-निबन्धन—

प्रत्येक शास्त्र के आदि में ही उसके विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी —इन चार अनुबन्धों का निरूपण आवश्यक होता है, क्योंकि इनके ज्ञान के बिना जिज्ञासु

---

१. मालतीमाधव-प्रस्तावना।

इसके अध्ययन में प्रवृत्त ही नहीं हो सकते हैं, जबकि उन्हीं के उपयोग के लिए शास्त्र का प्रणयन होता है। ग्रन्थ के अध्ययन में जिज्ञासु को प्रवृत्ति कराने वाले तत्त्व को ही अनुबन्ध कहते हैं। किसी भी कार्य में लोग तभी प्रवृत्त होते हैं जब उन्हें उसमें 'इदं मदिष्टसाधनम्'—'यह मेरा अभीष्ट साधन करने वाला है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाय। इसे ही इष्टसाध्यताज्ञान कहते हैं। सुमेरु पर्वत लाने में उक्त ज्ञान के रहने पर भी लोग प्रवृत्त नहीं होते हैं, क्योंकि उसमें कृतिसाध्यताज्ञान नहीं है, अर्थात् जब तक 'इदं मत्कृतिसाध्यम्'—'यह मुझसे किया जाने योग्य कार्य है' इस प्रकार का ज्ञान भी प्रवृत्ति के प्रति कारण है और विषमिश्रित स्वादिष्ट भोजन में उक्त दोनों ज्ञान के रहने पर भी बलवत् अनिष्ट ऐसा ज्ञान होने पर वह इष्ट ही नहीं है। अतः प्रवृत्ति के प्रति मुख्य दो ज्ञान ही कारण हैं—इष्टसाध्यता ज्ञान और कृतिसाध्यता ज्ञान। अब प्रस्तुत में प्रयोजन से इष्टसाध्यता ज्ञान होता है और विषय, सम्बन्ध और अधिकारी से कृतिसाध्यता ज्ञान होता है। विषय हुआ प्रतिपादनीय वस्तु, प्रयोजन हुआ फल, अधिकारी हुआ प्रवृत्त होने योग्य व्यक्ति और सम्बन्ध हुआ प्रतिपाद्य विषय के साथ प्रतिपादक शास्त्र का संसर्ग (विषय और ग्रन्थ में प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध)।

प्रस्तुत साहित्यशास्त्र का विषय है काव्य एवं उसके उपयोगी (गुण, अलंकार, रीति, रस, भाव, ध्वनि आदि) पदार्थ। इनका ज्ञान प्राप्त करना ही प्रयोजन है। इन विषयों के जिज्ञासु व्यक्ति अधिकारी हैं और इस विषय और शास्त्र में बोध्य-बोधक-भाव सम्बन्ध है।

उपर्युक्त आलोचकों, काव्यशास्त्रकारों की संस्कृतवाङ्मय में सुदीर्घ परम्परा रही है। आचार्य भरतमुनि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) से लेकर आज तक इसकी शृंखला बनी हुई है। बीच-बीच में अनेक वाद आये, सम्प्रदाय चले और अपना प्रभाव छोड़ते गये, यह शास्त्र आगे बढ़ता गया, विषय की सूक्ष्मता आती गयी। सोलहवीं शताब्दी से प्रत्येक शास्त्र में प्राचीन-नव्य का भेद होने लगा, भाषा परिष्कृत शैली को पकड़ने लगी। इस शास्त्र में यह बात कुछ बाद में आयी, जिसे लिये हुए सत्रहवीं शताब्दी में अवतीर्ण हुए पण्डितराज जगन्नाथ अपने प्रौढ़-परिष्कृत ग्रन्थ रसगङ्गाधर के साथ।

रसगङ्गाधर

यह साहित्यशास्त्र का मूर्धन्य ग्रन्थ है। रसस्वरूप गङ्गा को धारण करने वाला—'रसश्चासौ गङ्गा रसगङ्गा, तस्याः धरः (धारकः), धरतीति धर इति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह रसप्रतिपादक के रूप में साक्षात् शिव (गङ्गाधर) ही है। तदनुसार इसका विषय रस है, जो साहित्यशास्त्र में सर्वप्रधान होने से अपने शास्त्रमात्र का संग्राहक हो जाता है, इस शास्त्र के सभी तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करता है—

"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—प्रधान के अनुसार ही व्यवस्था होती है, इस न्याय के अनुसार साहित्यशास्त्र का नाम रसशास्त्र[1] होता है और इसे ही पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ का रसगङ्गाधर नाम रखकर सूचित किया है। परन्तु वे परम्परानुसार प्रचलित नाम "अलङ्कारशास्त्र" कहना[2] ही उचित समझते हैं और यह नाम भी प्राधान्य न्याय[3] से ही सङ्गत होता है, क्योंकि इस शास्त्र का आधा से अधिक भाग अलंकार-विवेचन में ही रहता है। परन्तु आधुनिक युग में 'साहित्य' शब्द अधिक प्रचलित है, जो [4]राजशेखर, श्रीहर्ष, कविकर्णपूर आदि के द्वारा समर्थित है। साहित्य के प्रसंग में म० म० गङ्गाधर शास्त्री का एक पद्य यहाँ उद्धरणीय है—

नाचान्तं यच्चिरत्नैरपरिचितचरं यच्च वाचालचेलै-
रौचित्यं यन्न मुञ्चेदपि च विरचयेद् यच्चमत्कारिचेतः।
तादृक्प्रौढिप्रकर्षप्रणयभणिति या सूयते काव्यरत्नं
पुण्यैः कस्याप्यगण्यैः परिणमति मुखे सा हि साहित्यरीतिः[5] ॥

इस विवेचन से स्पष्ट हुआ कि साहित्य के सभी तत्त्व रसगङ्गाधर के विवेचनीय विषय हुए और वे सभी विषय यहाँ सूक्ष्मरूप से विस्तृत विवेचित हुए हैं। पर खेद का विषय है कि यह ग्रन्थरत्न पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है। अन्तभाग में कुछ खण्डित है, जिसमें कुछ अलंकारों का विवेचन था। मध्य में भी कुछ प्रकरण त्रुटित जान पड़ते हैं; यथा—अभिधा और लक्षणा के बाद व्यञ्जनानिरूपण नहीं है, रीतिविवेचन और दोषनिरूपण नहीं है। यह बात भी ध्यातव्य है कि ग्रन्थ के अध्याय, जिसे आनन कहा गया है, उसका विभाजन भी उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि प्रति-

---

१. "रसविद्याविदः केचिद् ग्राम्यामाहुस्तु कोमलाम्"। (अलङ्कारसमुद्गः—इन्द्रपतिः पृ० ६)

२. "अलङ्कारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु"। (रसगङ्गाधर—आरम्भिक पद्य)

३. ग्राम में सभी जातियों के रहने पर भी मल्लग्राम, ब्राह्मणग्राम आदि नाम उनकी प्रधानता से ही है।

४. काव्यमीमांसा—"शब्दार्थयोर्यावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।
नैषधीयचरित के अन्त में—"साहित्ये सुकुमारवस्तुनि"।
साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यत्तस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥ (कर्णपूरः)।
विश्वनाथ के ग्रन्थ का नाम साहित्यदर्पण भी साहित्यशास्त्र कहने के पक्ष में है।

५. विश्वमनीषा—२–२, दरभंगा में प्रकाशित।

लिपिकारों के द्वारा इस ग्रन्थ के पत्रों में हेराफेरी हुई है। गङ्गाधर (शिव) पञ्चानन कहे गये हैं। तदनुसार इस रसगङ्गाधर के भी पाँच आनन होने चाहिए। यहाँ द्वितीय आनन के बाद बहुत दूर तक विषय एवं प्रकरण बदलने पर भी आनन-विभाजन नहीं हुआ है, जो मध्य में ग्रन्थ के कुछ अंश के अप्राप्त होने की सूचना देते हैं। प्रथम आनन में काव्य, उसके भेद एवं असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि (अभिधामूलध्वनि के प्रथम भेद, रसध्वनि) का साङ्गोपाङ्ग विवेचन (रस, गुण, भावध्वनि, रसाभासादि सहित) हुआ है। इस आधार पर द्वितीय आनन में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (अभिधामूलध्वनि के द्वितीय भेद, जिसमें वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि अन्तर्भूत है) का, तृतीय आनन में लक्षणामूलध्वनि का, चतुर्थ आनन में व्यञ्जना का और पञ्चम आनन में अलङ्कारों के विवेचन की कल्पना की जा सकती है। काव्यदोष का निरूपण यद्यपि आवश्यक है, क्योंकि दोष-परित्याग तभी सम्भव है जब उसका परिचय हो, तथापि पण्डितराज ने अपनी विवशतावश उसका निरूपण नहीं किया होगा। विवशता यह थी कि ग्रन्थारम्भ में ही इनकी प्रतिज्ञा है कि हम स्वरचित उदाहरण ही देंगे, दूसरे का नहीं और दुष्ट-काव्य का निर्माण पण्डितराज की लेखनी से हो ही नहीं सकता। इसलिए दोषनिरूपण इस ग्रन्थ में नहीं रहा होगा। परन्तु अभी जो ग्रन्थ उपलब्ध है, जिस रूप में प्राप्त है, उसी से सन्तोष करना होगा, उसी पर विचार करना उचित होगा।

नव्यपरिष्कृत आलोचनात्मक शैली में विषय की सूक्ष्मता से परिचय कराना पण्डितराज की अद्भुत प्रतिभा का परिचायक है। इस ग्रन्थ के द्वारा इन्होंने साहित्य-शास्त्र को वह गरिमा प्रदान की जो दर्शनादि शास्त्रों को प्राप्त है। शास्त्रान्तर के पण्डित, जो इस विद्या को अन्यथासिद्ध मानकर मखौल उड़ाते थे, इस ग्रन्थ के सूक्ष्म विवेचन के चक्कर में पड़कर इस शास्त्र के गहन अध्ययन करने को विवश हुए। यही है इस शास्त्र को पण्डितराज की देन, रसगङ्गाधर का महत्त्व।

इसमें प्राचीन आचार्यों के मतों की विशद समीक्षा की गयी है और विषय-विवेचन अतिविस्तृतरूप में यथेच्छ हुआ है। प्राचीन ग्रन्थ पद्यबद्ध या कारिका के साथ वृत्तियुक्त रहते थे, परन्तु यह ग्रन्थ केवल गद्य में, प्राजंल, परिष्कृत, अवच्छेद-कतायुक्त गद्य में है। अतः यहाँ विषय को सूक्ष्मरूप में विस्तृत विवेचन का अवसर प्राप्त हुआ। साहित्यशास्त्रीय विकास के चरम उत्कर्ष के समय इस ग्रन्थ की रचना हुई, अतः उन सभी विषयों का सम्यक् प्रतिपादन-समीक्षण इसमें हो सका, जिनका पूर्ववर्त्ती ग्रन्थों में होना सम्भव न था। इन्होंने उदाहरण के रूप में यहाँ स्वरचित पद्यों का ही उपस्थापन किया है, जिससे यह ग्रन्थ सुरभित हो गया और पण्डितराज का कविस्वरूप भी उदात्त रूप में प्रकटित हो गया है। ये केवल आलोचक ही नहीं, वरन् उच्चकोटि के कवि भी थे। इसलिए रसगङ्गाधर का स्थान साहित्यशास्त्र में

सर्वोपरि माना जाता है। यह ग्रन्थ प्रत्येक विषय पर अपनी नवीन मान्यता, नया मतस्थापन देता चलता है—काव्यलक्षण से लेकर अलंकारनिरूपण तक आद्यन्त यही क्रम है और इनकी यह मान्यता आज भी आलोचकों के लिए महत्त्वपूर्ण बनी हुई है।

विषय-विवेचन—

(१) काव्य-प्रयोजन—काव्य में प्रवृत्त होने के लिए उसके प्रयोजनों को जान लेना आवश्यक है। सर्वप्रथम इसमें प्रवृत्त होने वाला कवि होता है, जो इसकी रचना करता है। उसके बाद सहृदय उसे सुनते या पढ़ते हैं। इन दोनों को इसका प्रयोजन ज्ञात रहना आवश्यक है। इसीलिए रसगङ्गाधर में कहा गया है—"कवि-सहृदययोरावश्यकतया"[1]। कवि के आशय को सभी नहीं समझ सकते हैं, उसे केवल सहृदय ही समझते हैं। 'कवेः समानं हृदयं येषां ते सहृदयाः'—कवि के समान हृदयवाला सहृदय[2] होता है, जो उसके हृदय की बात को समझ जाता है। कविपरम्परागत अनेक बातें ऐसी हैं जो प्रसिद्ध होने के कारण कही नहीं जाती हैं, संकेत से ही समझी जा सकती हैं, पर उस प्रसिद्धि से परिचित ही उसे समझ सकता है, सहृदय कहला सकता है। अतः काव्य पढ़ने से पहले सहृदय बनना, कवि के अन्तर में छिपे भावों को पकड़ने की कला का ज्ञान रखना आवश्यक है। इन दोनों के लिए यहाँ पाँच प्रयोजन कहे गये हैं और इत्यादि कहकर प्राचीनोक्त अन्य प्रयोजनों में भी अपनी सम्मति दिखायी गयी है। उक्त पाँचों नाम हैं—(१) कीर्त्ति—यशःप्राप्ति, जो केवल कवि के लिए है, (२) परमाह्लाद—परमानन्द की प्राप्ति (कवि और सहृदय दोनों के लिए), (३) गुरुप्रसाद—गुरु की प्रसन्नता से विद्या-व्यवहार का ज्ञान (दोनों के लिए), (४) राजप्रसाद—इससे दोनों को धनागम, (५) देवताप्रसाद—इससे दोनों का अमङ्गल-निवारण होता है।

मम्मट ने काव्य के ६ प्रयोजन दिखाये हैं—

[3]काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

तदनुसार—(१) यशःप्राप्ति, (२) अर्थप्राप्ति, (३) लोकव्यवहारज्ञान, (४) अमङ्गलनाश, (५) सद्यः परमानन्द की प्राप्ति, (६) कान्तासम्मित वाक्य से उपदेशप्राप्ति। इनमें तृतीय और षष्ठ का समावेश पण्डितराज के इत्यादि पद से कर लेना चाहिए।

---

१. रसगङ्गाधर, पृ० ७।

२. अथवा—'प्रशस्तं हृदयं येषां ते सहृदयाः, प्राशस्त्यञ्च काव्यवासनापरिपक्वत्वम्, कविहृदयप्रवेशसामर्थ्यवत्त्वं वा'।

३. काव्यप्रकाश के आरम्भ में।

सर्वोपरि माना जाता है। यह ग्रन्थ प्रत्येक विषय पर अपनी नवीन मान्यता, नया मतस्थापन देता चलता है—काव्यलक्षण से लेकर अलंकारनिरूपण तक आद्यन्त यही क्रम है और इनकी यह मान्यता आज भी आलोचकों के लिए महत्त्वपूर्ण बनी हुई है।

विषय-विवेचन—

(१) **काव्य-प्रयोजन**—काव्य में प्रवृत्त होने के लिए उसके प्रयोजनों को जान लेना आवश्यक है। सर्वप्रथम इसमें प्रवृत्त होने वाला कवि होता है, जो इसकी रचना करता है। उसके बाद सहृदय उसे सुनते या पढ़ते हैं। इन दोनों को इसका प्रयोजन ज्ञात रहना आवश्यक है। इसीलिए रसगङ्गाधर में कहा गया है—"कवि-सहृदययोरावश्यकतया"[1]। कवि के आशय को सभी नहीं समझ सकते हैं, उसे केवल सहृदय ही समझते हैं। 'कवेः समानं हृदयं येषां ते सहृदयाः'—कवि के समान हृदयवाला सहृदय[2] होता है, जो उसके हृदय की बात को समझ जाता है। कविपरम्परागत अनेक बातें ऐसी हैं जो प्रसिद्ध होने के कारण कही नहीं जाती हैं, संकेत से ही समझी जा सकती हैं, पर उस प्रसिद्धि से परिचित ही उसे समझ सकता है, सहृदय कहला सकता है। अतः काव्य पढ़ने से पहले सहृदय बनना, कवि के अन्तर में छिपे भावों को पकड़ने की कला का ज्ञान रखना आवश्यक है। इन दोनों के लिए यहाँ पाँच प्रयोजन कहे गये हैं और इत्यादि कहकर प्राचीनोक्त अन्य प्रयोजनों में भी अपनी सम्मति दिखायी गयी है। उक्त पाँचों नाम हैं—(१) कीर्त्ति—यशःप्राप्ति, जो केवल कवि के लिए है, (२) परमाह्लाद—परमानन्द की प्राप्ति (कवि और सहृदय दोनों के लिए), (३) गुरुप्रसाद—गुरु की प्रसन्नता से विद्या-व्यवहार का ज्ञान (दोनों के लिए), (४) राजप्रसाद—इससे दोनों को धनागम, (५) देवताप्रसाद—इससे दोनों का अमङ्गल-निवारण होता है।

मम्मट ने काव्य के ६ प्रयोजन दिखाये हैं—

> [3]काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
> सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

तदनुसार—(१) यशःप्राप्ति, (२) अर्थप्राप्ति, (३) लोकव्यवहारज्ञान, (४) अमङ्गलनाश, (५) सद्यः परमानन्द की प्राप्ति, (६) कान्तासम्मित वाक्य से उपदेशप्राप्ति। इनमें तृतीय और षष्ठ का समावेश पण्डितराज के इत्यादि पद से कर लेना चाहिए।

---

१. रसगङ्गाधर, पृ० ७।

२. अथवा—'प्रशस्तं हृदयं येषां ते सहृदयाः, प्राशस्त्यञ्च काव्यवासनापरिपक्वत्वम्, कविहृदयप्रवेशसामर्थ्यवत्त्वं वा'।

३. काव्यप्रकाश के आरम्भ में।

इसके अतिरिक्त चतुर्वर्ग की प्राप्ति और कलाओं में नैपुण्य—ये प्रयोजन[१] विश्वनाथोक्त हैं। इनमें भी धर्म से अमङ्गलनाश, अर्थ से धनप्राप्ति, काम और मोक्ष से परमानन्द की प्राप्ति को मान लेने पर कलानैपुण्य एक अतिरिक्त प्रयोजन होता है। इन प्रयोजनों के सम्पादक काव्य का ही लक्षण अभिप्रेत है। शायद इसीलिए काव्य-लक्षण से पहले उसका प्रयोजन प्रतिपादित होता है।

उपर्युक्त प्रयोजनों में केवल परमानन्द (रसास्वादमूलक) ही काव्य के प्रयोजन हैं, शेष प्ररोचक[२] उपायमात्र हैं।

(२) **काव्य-लक्षण**—कवि की रचना काव्य कहलाती है। उसका प्रथम कार्य चिन्तन सुललित भावों की अवधारणा अर्थरूप ही है, पर उसे व्यक्त करने हेतु उसका द्वितीय कार्य पदावली-गुम्फन शब्दरूप ही होता है। तदनुसार सुललित भावों को व्यक्त करने वाली पदावली काव्य है, यही वस्तुस्थिति है। इसे ही आलङ्कारिकों ने अपने-अपने ढंग से काव्यलक्षण के रूप में व्यक्त किया है। इस विषय में आचार्य दण्डी ने अग्निपुराण के अनुसार अपना लक्षण दिया—

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली"[३]।

तदनुसार अभीष्ट = सहृदयहृदयाह्लादक अर्थ से व्यवच्छिन्न = विलक्षणीकृत पदसमुदाय को काव्य कहते हैं।

इनसे भी प्राचीन आचार्य भामह (५०० ई०) ने कहा—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"[४]—चमत्कारजनक शब्द और अर्थ को काव्य कहते हैं। उसी समय से यह विवाद शुरू हुआ कि शब्द ही काव्य है या शब्द और अर्थ काव्य हैं! सम्पूर्ण उत्तर-भारत के विद्वान् भामह के अनुयायी हो गये और शब्दार्थौ का आज तक समर्थन कर रहे हैं। इसी तरह दक्षिण भारतीय दण्डी के अनुसरण पर केवल शब्द को काव्य कहने में अड़े हुए हैं। रुद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, भोजराज, वाग्भट आदि आचार्य शब्दार्थयुगल को काव्य मानने के पक्ष में हैं, जबकि विश्वनाथ और जगन्नाथ शब्द को ही काव्य कहते हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो भी केवल शब्द को काव्य कहते हैं, उनके भी मत में अर्थ उसका विशेषण रहता ही है। तब विवाद रहा दोनों को प्रधान मानने या अर्थ को विशेषण मानने का ही और यह विवाद अभी भी जारी है।

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण से साहित्यदर्पण में उद्धृत।
२. रसगङ्गाधर की प्रस्तावना—पं० मदनमोहन झा सम्पादित संस्करण।
३. काव्यादर्श।
४. काव्यालङ्कार।

वामन, भोजराज, मम्मट, जयदेव आदि आचार्य काव्यलक्षण में दोषत्याग और गुणग्रहण निविष्ट करते हैं। कतिपय आचार्य तो काव्यशास्त्रीय रीति, रस, अलङ्कार तत्त्व भी जोड़ देते हैं। इनका लक्षण इनके द्वारा उक्त प्रयोजनों के साधक होने के कारण ही इतने बड़े हो चले हैं। विश्वनाथ ने तो इन विस्तृत लक्षणों को अतिसंक्षिप्त कर दिया और रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है। परन्तु नीरस पर्वतादि-वर्णन में उन्हें प्रबन्धगत रस का आश्रयण करना पड़ा है और ऐसे मुक्तक वर्णन को वे काव्य ही नहीं मानते। परन्तु चमत्कार अनुभूत रहने पर काव्य न मानना समुचित नहीं है।

इसके बाद पण्डितराज ने सभी लक्षणों की बारीकी से छानबीन की और अपना लक्षण दिया—

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

अपने इस लक्षण का इन्होंने सूक्ष्म परिष्कार भी प्रस्तुत किया है, जो इसी ग्रन्थ में रहने के कारण यहाँ नहीं दिया जा रहा है। इस परिष्कार में विरोधियों के सभी आक्षेपों का समाधान हो जाता है।

विचार कर देखने से ज्ञात होता है कि पण्डितराज ने सर्वप्राचीन लक्षण को ही मान लिया है, शब्दान्तर से प्रस्तुत किया है, जिसे अग्निपुराणकार व्यास एवं दण्डी ने कहा था। फर्क इतना ही है कि पदावली के स्थान में शब्द कहा गया है। इष्ट शब्द से रमणीय ही अभिप्रेत हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यलक्षण अपने अनेक रूपों को धारण करते हुए सहस्राधिक वर्षों के बाद फिर जहाँ से प्रारम्भ हुआ था वहीं पहुँच गया।

(३) **काव्य-कारण**—बिना कारण से कार्य नहीं हो सकता है और कारण का समुचित रूप से रहने पर कार्य अवश्य होता है। काव्यरचना एक कार्य है। उसका भी कारण होना चाहिए, जिसे जान लेने पर काव्यकर्ता, प्रेरक, इच्छुक आदि उस कारण के प्रति यत्नवान् होंगे और काव्यप्राप्ति करने में सफलता पायेंगे। अतः काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में काव्यकारण पर विचार किया जाता है। इस विषय में इन शास्त्रकारों के दो दल हैं। दण्डी[1] आदि ने प्रतिभा, शास्त्रानुशीलन और अभ्यास इन तीनों को मिलित रूप से काव्य का कारण माना है, जबकि रुद्रट आदि ने केवल प्रतिभा को।

---

1. नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः, कारणं काव्यसम्पदः॥ (काव्यादर्श)

आचार्य भामह[1] के मत से प्रतिभा, शब्दार्थज्ञान, काव्यज्ञों की शिक्षा और अनेक निबन्धों के अनुशीलन से प्राप्त व्युत्पत्ति काव्य के कारण हैं। वामन के अनुसार लोक-व्यवहार और शास्त्रों में निपुणता, नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा (प्रतिभा) अथवा जन्मान्तरीय संस्कारात्मक शक्ति-विशेष और काव्यज्ञों के निदेश पर काव्यरचना में पुन-पुनः प्रवृत्ति (अभ्यास) ये सभी काव्य के कारण हैं। रुद्रट[2] के अनुसार शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास कारण हैं। मम्मट का भी यही मत है[3]। जयदेव[4] केवल प्रतिभा को कारण मानते हैं और प्रतिभा के सहकारी कारण शास्त्रानुशीलन और अभ्यास को कहते हैं।

पण्डितराज के मत में केवल प्रतिभा से ही काव्य की सृष्टि होती है और प्रतिभा का कारण कहीं अदृष्ट (पूर्वजन्मार्जित) और कहीं व्युत्पत्ति और अभ्यास है। बालकवि कर्णपूर बचपन में ही बिना व्युत्पत्ति और अभ्यास के सुन्दर काव्य लिखने लगे। ऐसे बालकवियों में विरुदावलीकार रघुदेव मिश्र, पुरंजनचरितनाटककार कृष्णदत्त उपाध्याय आदि प्रसिद्ध हुए। इनके काव्यनिर्माण को देखते हुए स्पष्ट है कि प्रतिभा का एक स्वतन्त्र कारण धर्मस्वरूप अदृष्ट मानना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में बिना व्युत्पत्ति और अभ्यास के भी अदृष्ट से एवं बिना अदृष्ट के भी व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति से 'कारण[5] के अभाव में भी कार्य की सत्ता' रूप व्यतिरेक-व्यभिचार प्राप्त हो जायेगा, जिसके निवारण के लिए "अदृष्ट से उत्पन्न प्रतिभा के प्रति अदृष्टमात्र कारण" एवं "व्युत्पत्ति और अभ्यास से उत्पन्न प्रतिभा के प्रति व्युत्पत्ति और अभ्यास कारण" इस तरह अलग-अलग कार्यकारणभाव माना गया है। अब कारण के भेद से दो प्रतिभाएँ हो जायेगी और कहीं पर अदृष्टजन्य प्रतिभा के अभाव में भी व्युत्पत्ति और अभ्यासजन्य प्रतिभा से काव्य होने से पूर्ववत्[6] व्यभिचार प्राप्त ही रहेगा,

---

१. काव्यं तु जायते जातु, कस्यचित् प्रतिभावतः।
शब्दाभिधेये विज्ञाय, कृत्वा तद्विदुपासनम् ॥
विलोक्यान्यनिबन्धाँश्च, कार्यः काव्यक्रियादरः ॥ (काव्यालङ्कार)

२. त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः। (रुद्रट–काव्यालङ्कार)

३. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ (काव्यप्रकाश)

४. "प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति हेतुः"। (चन्द्रालोक)

५. जब प्रतिभा के दोनों कारण हैं तो इनमें से एक के भी न रहने पर कारण-भाव हो जायेगा।

६. उपरिवत्।

जिसके निवारण के लिए 'अदृष्टजन्य प्रतिभा से उत्पन्न काव्य के प्रति अदृष्टजन्य प्रतिभा कारण' और व्युत्पत्त्यभ्यासजन्य प्रतिभा से उत्पन्न काव्य के प्रति व्युत्पत्त्यभ्यास-जन्य प्रतिभा कारण' ऐसा पृथक् कार्यकारणभाव मानना चाहिए।

राजशेखर का मत है[1] कि समाधि (मानसिक एकाग्रता) और अभ्यास (बाह्य प्रयास) ये दोनों ही मिलकर शक्ति को प्रकट करते हैं और यही शक्ति काव्य का कारण है, जो दो प्रकार की होती है—कारयित्री और भावयित्री।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साहित्यशास्त्र में शक्ति और प्रतिभा एक ही वस्तु है, जब कि न्यायदर्शन में शक्ति ज्ञानजन्य संस्कार[2] को और प्रतिभा नव-नवोन्मेषशालिनी बुद्धि-विशेष को (जो संस्कार का जनक है) कहते हैं। वेदान्त में भी ज्ञान को आत्मा, बुद्धि को अन्तःकरण एवं संस्कार को ज्ञानजन्य माना जाता है। यहाँ तो "या शब्दग्राममर्थसार्थमलङ्कारतन्त्र-मुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधहृदयं प्रतिभा-सयति सा प्रतिभा" ऐसा कहते हुए राजशेखर ने प्रतिभा को व्यक्त किया है और इसे ही भामह, दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त, जयदेव और जगन्नाथ प्रतिभा कहते हैं, जब कि इसी प्रतिभा को रुद्रट, आनन्दवर्धन और मम्मट शक्ति कहते हैं। अतएव दोनों एक ही तत्त्व है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने "अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः" इस ध्वनिकार की पंक्ति की व्याख्या में शक्ति को प्रतिभा कहा है।

इस सम्बन्ध में किसी समन्वयवादी आचार्य का मत उपयुक्त जान पड़ता है कि काव्य की उत्पत्ति में प्रतिभा, वृद्धि में अभ्यास और सौन्दर्य में व्युत्पत्ति कारण है—

'काव्यं तु जायते शक्तेर्वर्धतेऽभ्यासयोगतः।
तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी' ॥

यह मत पण्डितराज के अनुकूल है और उन बालकवियों की काव्योत्पादिका शक्ति का भी समाधान इससे हो जाता है।

(४) **रसस्वरूप**—'रस्यते = आस्वाद्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सहृदय सामाजिक जिसे काव्य या नाट्य के द्वारा आस्वादित करे, जिससे अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करे, उसे रस कहते हैं। इस आस्वादन के साधन को अलङ्कारशास्त्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव (सञ्चारीभाव) कहते हैं। इन तीनों के मेल से प्रकटित स्थायीभाव रस कहलाते हैं। रसरूपताप्राप्ति से पूर्व तक ये सभी भाव ही कहलाते हैं, तो चित्तवृत्ति (चित्त में रहने वाले धर्म) ही होते हैं।

---

१. काव्यमीमांसा।

२. साहित्यिक के अनुसार ही शक्ति को संस्कारस्वरूप मानकर। "शक्तिः कवित्वबीजभूतः संस्कारविशेषः"।

ये स्थायीभाव नौ हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, घृणा, विस्मय और निर्वेद। इनके कारण को विभाव कहते हैं, जिसके दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। यथा—शृङ्गार रस में शकुन्तलादि आलम्बन और एकान्तस्थानादि उद्दीपन है। यद्यपि विभाव स्थायिभाव के उत्पादक नहीं होते हैं, वे (स्थायी) तो सहृदयहृदय में वासनारूप से सूक्ष्म आकार में पहले ही से रहते हैं। विभाव तो उनका विकास मात्र करता है, तथापि लौकिक विभाव के उत्पादक रहने के कारण अलौकिक (शास्त्रनिष्ठ) विभाव को भी वैसा कहना अनुचित न होगा, क्योंकि अविकसित वस्तु प्रतीतियोग्य न रहने के कारण अनुत्पन्न कोटि में ही रहती हैं।

सच तो यह है कि लौकिक रत्यादि स्थायीभावों का शकुन्तलादि विभाव उत्पादक होते हैं, पर काव्यारूढ़ होने पर वे ही अलौकिक विभाव बनकर रसास्वाद के अवसर पर रस से एकीभाव को प्राप्त करते हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि स्थायीभाव और रस में तादात्म्य रहने के कारण स्थायीभाव के आलम्बन और उद्दीपन ही रस के भी आलम्बन एवं उद्दीपन होते हैं।

स्थायीभाव के कार्य को अनुभाव कहते हैं, जो आलम्बन पर आश्रित बाह्यरूप से प्रकटित होता रहे। जैसे अग्नि धूम को प्रकाशित करता है। यह काव्य में निबद्ध रहने के कारण अलौकिक होता है। सात्त्विक भाव भी अनुभाव के ही अन्तर्गत आते हैं। जो विभाव से भी विलक्षणरूप से जल में बुद्बुद के समान प्रकाशित हो तथा कभी स्थायीभाव में ही विलीन हो जाय—ऐसे रसोपकारक क्षणिक भाव को व्यभिचारीभाव कहते हैं। निर्वेदादि ३३ व्यभिचारीभाव कहे गये हैं। स्थायीभाव भी अपरिपुष्ट रहने पर रसान्तर के उपकारक होकर व्यभिचारीभाव कहलाते हैं। सभी भावों में स्थायीभाव प्रधान होता है। उक्त नौ स्थायीभाव शृङ्गारादि नौ रसों में परिणत होते हैं।

रसानुभूति के विषय में सर्वप्राचीन उल्लेख भरतनाट्यशास्त्र का रससूत्र है—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः"—उपर्युक्त दोनों विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की प्रतीति होती है। इस सूत्र की व्याख्या चार प्रकार की उपलब्ध होती है, जो रसस्वरूप के चार सिद्धान्त बने हुए हैं—लोल्लट का उत्पत्तिवाद, शङ्कुक का अनुमितिवाद, भट्टनायक का भुक्तिवाद और अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद। इसके अतिरिक्त रस के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ ने सात मतों को प्रस्तुत किया है—(१) नव्यमत (अनिर्वचनीयतावाद), (२) भावना के माहात्म्य से मानस बोध (भ्रमवाद), (३) भाव्यमान विभाव ही रस है, (४) वैसा अनुभाव, (५) वैसा व्यभिचारीभाव, (६) वैसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव मिलितरूप में और (७) इनमें से जिस पर चमत्कार रहे वही।

इनमें जिस लक्षण में विभावादि तीनों नहीं (केवल एक ही) हैं, वह भरत के रससूत्र से विरुद्ध होने से परम्परा-विरुद्ध है । वे हैं केवल विभाव, केवल अनुभाव और केवल व्यभिचारिभाव को रस मानने वाले लक्षण । परन्तु इनमें भी अन्य का आक्षेप-लभ्य रहना तो निश्चित ही है । अतः आक्षेपलभ्य के द्वारा ही रससूत्र का संगमन कर लेते हैं ।

आचार्य मदनमोहन झा ने विकासवादी क्रम से इन वादों को कालक्रम (प्राचीनतानुसार) इस प्रकार वर्णित किया है—(१) विभाव ही रस है, (२) अनुभाव, (३) व्यभिचारिभाव, (४) तीनों के रहने पर जिसमें चमत्कार हो वही रस है, (५) तीनों ही रस है, (६) रससूत्र के अनुसार उत्पत्तिवाद, (७) अनुमितिवाद, (८) भुक्तिवाद, (९) अभिव्यक्तिवाद, (१०) नव्यमत (अनिर्वच-नीयता) और (११) भ्रमवाद ।

परन्तु यह मत उपयुक्त तब होता, यदि किसी प्राचीन ग्रन्थ में इनका उल्लेख होता । भरत से पहले पाँच मत थे, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । इसका उल्लेख सर्वप्रथम जगन्नाथ ने ही किया है । अतः ये मत या तो उनके स्वयं उद्भावित हैं या उनके समय में चल पड़े थे ।

पण्डितराज ने जो इन मतों का क्रम रखा है, उसमें सर्वप्रथम अपना मत, जो मान्य आचार्य अभिनवगुप्त का है, को रखा है; उसके बाद अन्य मतों का प्रतिपादन भर उन्हें अभिप्रेत है, खण्डन नहीं, क्योंकि सिद्धान्त से पृथक् अन्य मत स्वतः उपेक्षणीय हो जाते हैं । जो कोई "नव्यास्तु"[1] से कथित मत को इनका अपना मत कहते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि सिद्धान्त आदि या अन्त में ही रखा जाता है । आदि में सिद्धान्त देकर उस पर आचार्य अभिनवगुप्त की सम्मति दिखाने से ही उसे निर्णय की पदवी मिल जाती है ।

यह भी ज्ञातव्य है कि रसनिरूपण के प्रथम पक्ष में ही पण्डितराज ने जो "भावना-विशेषमहिम्ना" विशेषण दिया है, वह किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में न होने

१. शकुन्तलाविषयिणी रति का सम्बन्ध सहृदय से न रहने के कारण उन्हें आस्वाद कैसे हो, इस हेतु 'साधारणीकरण' व्यापार मानकर सहृदय के हृदय में उस रति को प्रविष्ट कराते हैं । पण्डितराज का कथन है कि ये सब काव्यार्थभावना की ही महिमा से होते हैं, तो फिर हम केवल उसी 'भावना' से शकुन्तलारति को साक्षात् ही सामाजिक में आरोपित कर क्यों न काम चला लें ? इस हेतु साधारणीकरण व्यापार क्यों मानें ? यही इनके मत का बीज है ।

से इनके मस्तिष्क की उपज है और यह विशेषण इनके द्वारा प्रथमतः प्रतिपादित अन्य सातों मतों में भी निविष्ट है। इस नवीन उद्भावना को इन्होंने अपने काव्यलक्षण के परिष्कार में भी दिया है—"कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा", "चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्"। इस तरह रस-स्वरूपनिरूपण में "भावनाविशेष" पण्डितराज की अपनी चीज है, जैसा कि इसकी व्याख्या करते हुए महावैयाकरण दीनबन्धु झा ने लिखा है[1]—"भावनाविशेषमहिम्ना = ज्ञानविशेष-सामर्थ्येन, एतेन साधारणीकरणाय व्यापारान्तरकरणमनावश्यकमिति सूचितं भवति। इदमेव ग्रन्थकृन्मते रसस्वरूपं प्रकाशाद् विशेषश्च"—"पुनः पुनः अनुसन्धानात्मक ज्ञानविशेष के सामर्थ्य से' इसी विशेषण से सूचित होता है कि साधारणीकरण के लिए व्यञ्जना या भावकत्व-भोजकत्वव्यापार आदि मानना अनावश्यक हो जाता है और यही ग्रन्थकार जगन्नाथ के मत से रस का स्वरूप है तथा काव्यप्रकाश से विलक्षण है।

अतः विद्वानों का मत है कि अपनी प्रतिभा से पण्डितराज ने ही सभी मतों की उद्भावना की है। इनमें कतिपय तो रससूत्र के विरुद्ध होने से और शेष कल्पनामात्र सिद्ध[2] (अव्यावहारिक) होने से साहित्यशास्त्रीय विद्वानों को ग्राह्य नहीं है। केवल दार्शनिक दृष्टि से चिन्तित 'नव्यास्तु' मत किसी साहित्यिक के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। अतः समालोचक इन मतों की उपेक्षा करते आये हैं और स्वयं ग्रन्थकार ने भी नवीन प्रकार प्रदर्शित करने के कौतूहल से ही इन्हें ग्रन्थ में निविष्ट किया है, सिद्धान्त नहीं माना है।

रस-विषयक सिद्धान्त मत—

सहृदय के हृदय में वासनारूपेण सदा से स्थित (नित्य) रत्यादि स्थायीभाव ही बाह्य विभावानुभावव्यभिचारिभावों के व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध से साधारणरूप में अनुभूयमान होते हुए अलौकिक आस्वादपदवी को प्राप्त कर रस कहलाता है—यह परमाचार्य अभिनवगुप्त के मत का सारांश है। पण्डितराज का प्रथम सिद्धान्त इसी की व्याख्या है। वे व्याख्या द्वारा निम्नांकित कथ्य को व्यक्त करते हैं—

(१) जब विभावादि अनुकूल वर्णों से युक्त चमत्कृत काव्य में निविष्ट रहता है।
(२) यह काव्य सहृदय के हृदय में प्रविष्ट कर गया होता है।
(३) सहृदय बार-बार अनुसन्धान करते हुए विभावादिकों को साधारणीकृत कर लेते हैं।

---

१. रसगङ्गाधरीय—रसस्वरूपनिरूपणव्याख्या—'रसिकमनोरञ्जिनी' ग्रन्थ के परिशिष्ट में—नाग प्रकाशक, दिल्ली—१९९५ ई०।

२. मैथिलीकाव्यविवेक, पृ० ६४।

(४) साधारणीकृत विभावादि मिलकर अलौकिक व्यापार (भावना) से आनन्द, जो सहृदय के हृदय में आवरण से ढँका रहता है, उसके उस आवरण (पर्दा) को हटा देते हैं।

(५) इस अज्ञाननाश से रसानुभूति करने वाला (प्रमाता) अपने अन्तःकरण के परिमितत्व प्रभाव एवं अपने प्रमातृत्व धर्म को त्याग कर साक्षीरूप से व्यापक हो जाता है, स्वयंप्रकाश हो जाता है और अपने वास्तविक आनन्दस्वरूप का साक्षात्कार करता है और यही तो रससाक्षात्कार है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पण्डितराज की व्याख्या अभिनवगुप्त का समर्थन साहित्यिक दृष्टि से करती है। अन्तर केवल दार्शनिक विचार में है। दोनों आचार्य रस को स्वयंप्रकाश एवं नित्य मानते हैं। फर्क तो इतना ही है कि अभिनवगुप्त के मत में चैतन्य विशेषण और स्थायिभाव विशेष्य है, पर पण्डितराज के मत में स्थायिभाव ही विशेषण और चैतन्य विशेष्य है। अभिनव ने शैवागम दर्शन के अनुसार प्रकृति के अंश रत्यादि स्थायीभाव में भी चैतन्यप्रतिभास के कारण आनन्द की स्थिति मानी है। पर पण्डितराज शाङ्करवेदान्त के अनुसार केवल चैतन्य को ही आनन्दमय मानकर रससिद्धान्त व्यवस्थापित करते हैं और अभिनव के मत में वेदान्तानुसार संशोधन कर देते हैं।

आगे इसकी विवेचना करते हुए पण्डितराज इसे स्पष्ट ही कर देते हैं। अभिनव के मत में व्यंजनाजन्य ज्ञानविषय रत्यादि ही रस है, पर पण्डितराज के मत में—"रसो वै सः" इत्यादि श्रुति से आत्मा और रस में तादात्म्य (अभेद) सिद्ध रहने के कारण तथा वेदान्तसिद्धान्तानुसार आत्मा के नित्यज्ञानरूप और अन्य के संस्कार रूप रहने के कारण आत्मा और रस में अभेद उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः ज्ञानविषयीभूत रत्यादि को रस न मानकर[1] रत्यादिविषयक ज्ञान को ही रस मानना समुचित है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि रसस्वरूप का सर्वप्रथम विवेचन अग्निपुराण[2] में हुआ है

---

१. "भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायीभावो रस इति स्थितम्, वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना चिदेव रसः"। (रसगङ्गाधरः—रसस्वरूपनिरूपणे)

२. आग्नेयपुराणे—

अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाश्रया॥

और वेदान्त दर्शन के अनुसार ही हुआ है, भले ही उसके प्रतिपादन का ढंग भिन्न हो, पर यह रसस्वरूप वहाँ से चलकर नानारूप में वर्णित-विवेचित होता हुआ अन्त में पण्डितराज के द्वारा पुनः अपने यथोचित पूर्वस्थान पर आ गया।

(५) **गुणादिनिरूपण**—पूर्वविवेचित विषयों के अतिरिक्त रसगङ्गाधर के इस प्रथम आनन में गुणनिरूपण, भावध्वनिनिरूपण, रसाभासादि और अलक्ष्यक्रमध्वनि के सम्बन्ध में विशेष विचार—ये विषय सूक्ष्म विवेचन के साथ निरूपित हुए हैं और इस प्रकार प्रथम आनन असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य काव्य के तथा तत्सम्बद्ध विषयों के निरूपण में समाप्त हो जाता है। इनका विवेचन पाठक ग्रन्थ में ही देखेंगे। यहाँ इन्हीं शब्दों के साथ विरत होता हूँ।

पण्डितराज जगन्नाथ

आचार्य जगन्नाथ नैसर्गिक कवित्वसम्पन्न काव्यशास्त्रीय आचार्य थे। आन्ध्रप्रदेश इनकी जन्मभूमि थी। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे[1]। इनके पिता पेरुभट्ट[2] महान् विद्वान् थे, जिन्होंने ज्ञानेन्द्रभिक्षु से वेदान्त, माहेन्द्र पण्डित से न्याय-वैशेषिक, खण्डदेव उपाध्याय से मीमांसा और शेष वीरेश्वर से व्याकरण का अध्ययन किया था और सर्वविद्याधर थे[3]। जगन्नाथ ने अपने पिता से अध्ययन किया था और उनके गुरु शेष वीरेश्वर से भी पढ़ा था[4]। ये व्याकरण, दर्शन और साहित्यशास्त्र के उच्च कोटि के विद्वान् थे। ये प्रतिभाशाली, प्रत्युत्पन्नमति, समयपरीक्षक (युगद्रष्टा) और प्रभावशाली पण्डित थे। तरुण होते[5] ही ये विद्वान् हो गये और विद्वान् होते ही दिल्लीश्वर शाहजहाँ (१६२८–१६६६ ई०) के कृपापात्र होकर पण्डितराज की पदवी प्राप्त कर ली—

"मूर्त्तिमतेव नवाबासफखानमनःप्रसादेन द्विजकुलसेवा-हेवाकि-वाङ्मनःकायेन माथुरकुलसमुद्रेन्दुना[6] रायमुकुन्देनादिष्टेन श्रीसार्वभौमसाहिजहान-प्रसादाधिगत-'पण्डितराय'-पदवीविराजितेन तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डितजगन्नाथेन आसफ-विलासाख्येयमाख्यायिका निरमीयत"। ('आसफविलास' के आरम्भ में)

१. आसफविलास—जगन्नाथकृत के आरम्भ में—"तैलङ्गकुलावतंसेन पण्डित-जगन्नाथेन"।
२. इनका नाम पेरम भट्ट भी था; द्रष्टव्य—प्राणाभरण एवं रसगङ्गाधर के आदि में—"श्रीमत्पेरमभट्टसूरितनयः"। (प्राणाभरण)
३. रसगङ्गाधर का आदि भाग।
४. अस्मद्गुरु-पण्डितवीरेश्वराणाम्—मनोरमाकुचमर्दन के प्रारम्भ में।
५. भामिनीविलास में—"दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः"।
६. मुकुन्दराय माथुर नामक कायस्थ के द्वारा दरबार में इनका प्रवेश हुआ था, जो वहाँ के दीवान थे।

वहाँ कुछ दिन शाहजहाँ तथा उसके पुत्र दाराशिकोह के आश्रय में अपना "नवीनवयः' (युवावस्था का पूर्वार्ध, ३० वर्ष तक) सुखपूर्वक बिताया था— "दिल्लीवल्लभ-पाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः" (भामिनीविलास) । जगदाभरण में जगन्नाथ ने दाराशिकोह का वर्णन किया है। इस हिसाब से जान पड़ता है कि १६४० ई० के बाद ये दिल्ली से निकल पड़े, उस समय यदि इनकी आयु ३० वर्ष मानें तो इनका जन्मसमय १६१० ई० अनुमानित होता है।

ये अप्पयदीक्षित और भट्टोजिदीक्षित के उत्तरसम-सामयिक विरोधी थे तथा इनके ग्रन्थों पर स्वतन्त्र रूप से खण्डन-ग्रन्थ लिखे थे। अप्पयदीक्षित के भ्रातुष्पौत्र एवं शिष्य नीलकण्ठ दीक्षित ने [1]कलिगताब्द ४७३८ (१६३८ ई०) में नीलकण्ठ-विजय काव्य की रचना की थी, जिस समय दीक्षितजी परम वृद्ध रहे होंगे। सिद्धान्त-कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषकृष्ण के पुत्र शेषवीरेश्वर पण्डितराज के एवं उनके पिता पेरुभट्ट के गुरु थे।

बादशाह शाहजहाँ के साथ पण्डितराज ने काश्मीर की यात्रा की थी और वहाँ के नवाब आसफखान द्वारा बादशाह के सत्कारादि का वर्णन इन्होंने 'आसफविलास' में किया है।

विद्वान् होते ही जगन्नाथ राजाश्रय को प्राप्त करने बीकानेर गये। वहाँ के राजा जगत्सिंह की प्रशंसा में इन्होंने जगदाभरण काव्य (५३ पद्यमात्र) की रचना की। इन्हीं जगत्सिंह के पिता कर्णसिंह के आदेश से मैथिल गङ्गानन्द कवीन्द्र ने कर्णभूषण (रसनिरूपण) ग्रन्थ की रचना की थी।

किंवदन्ती है कि वहाँ से ये जयपुरनरेश जयसिंह की सभा में पधारे। वहाँ मुल्लाओं के दो आक्षेपों के निराकरण हेतु पण्डितसभा हुई थी, पर समाधान नहीं हो रहा था। पण्डितराज ने समाधान का वचन दिया और कहा कि 'एक आक्षेप का उत्तर मैं तुरंत दे सकता हूँ और दूसरे का उत्तर अरबी-फारसी पढ़कर दूँगा'। वहाँ इन्हें फारसी पढ़ाने की व्यवस्था की गयी और कुछ ही दिनों में ये उस भाषा के पारङ्गत हो गये। उक्त आक्षेपों का उत्तर देने हेतु इन्हें दिल्ली बादशाह के दरबार में भेजा गया। इनके समाधान से सभी प्रसन्न हो गये—

आक्षेप—(१) राजा जयसिंह आदि वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं, क्योंकि परशुराम ने जब २१ बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर दिया तो क्षत्रिय आये कहाँ से ?

---

१. अष्टात्रिंशदुपस्कृतसप्तशताधिकचतुःसहस्रेषु ।
कलिवर्षेषु गतेषु प्रथितः किल नीलकण्ठविजयोऽयम् ॥

समाधान—परशुराम ने जब पहली बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर दिया, तो दूसरी बार के लिए क्षत्रिय कहाँ से आये? यह २१ बार कहना ही प्रमाणित करता है कि संहार के बाद भी बहुत क्षत्रिय बचे रहे, जो इन राजाओं के पूर्वज थे।

आक्षेप (२) अरबी भाषा संस्कृत से प्राचीन है।

समाधान—मुसलमानो के 'हदास' (धर्मग्रन्थ) में लिखा है कि—'मुसलमान हिन्दुओं से विपरीत आचरण करें, यही उनका धर्म है'। इस वाक्य से सिद्ध है कि हिन्दू धर्म मुसलमानों के धर्म से प्राचीन है और यह भी स्वतः सिद्ध है कि उन हिन्दुओं की भाषा भी अरबी से प्राचीन है।

दिल्ली दरबार में रहकर पण्डितराज ने एक परम रमणीय यवनी से प्रेम किया और बादशाह की कृपा[1] से वह इन्हें प्राप्त हो गयी। यह समाचार देशभर में फैल गया और इन्हें पण्डितों ने जातिच्युत घोषित कर दिया। इन पण्डितों में अप्पय दीक्षित और भट्टोजिदीक्षित प्रमुख थे। अतः इनसे पण्डितराज का वैरभाव हो गया। कुछ दिन बाद वह यवनी, जिसका नाम 'लवङ्गी' था, असमय में ही दिवङ्गता हो हो गयी और पण्डितराज ने विरक्तभाव से दिल्ली को छोड़ दिया। ये यवनीसम्पर्क से अपने को स्वयं पापी समझने लगे—

सुरधुनिमुनिकन्ये ! तारयेः पुण्यवन्तं
स तरति निजपुण्यैस्तत्र किं ते महत्त्वम्।
यदि हि यवनकन्या-पापिनं मां पुनीहि
तदिह तव महत्त्वं, तन्महत्त्वं महत्त्वम्॥ (गङ्गालहरी)

कुछ समय पण्डितराज ने नेपाल के समीप कूचविहार (कामरूप) के राजा प्राणनारायण (१६३३–६६ ई०) के आश्रय में भी रहे, जहाँ 'प्राणाभरण' की रचना की। यह ग्रन्थ वही है जिसे पूर्व में 'जगदाभरण' कहा गया है, फर्क इतना ही है कि यहाँ जगत्सिंह के स्थान में 'प्राणनारायण' रख दिया गया है। इस राजा का वंश इस प्रकार है—विश्वसिंह—मल्लदेव (नरनारायण)—लक्ष्मीनारायण—वीरनारायण—प्राणनारायण। इनमें मल्लदेव के आश्रित काव्यकौमुदीकार देवनाथ ठक्कुर (काव्य-प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर के पुत्र) थे।

वहाँ से लौटकर ये काशी में रहने लगे। अन्य राजाओं का आश्रय इन्हें तुच्छ दीखने लगा। ये लिखते हैं—

---

१. न याचे गजालिं न वा वाजिराजं न वित्तेषु चित्तं मदयं कदापि।
इयं सुस्तनी मस्तकन्यस्तहस्ता, 'लवङ्गी' कुरङ्गीदृगङ्गीकरोतु॥

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः ।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात् ॥

रसगङ्गाधर के मंगलाचरण आदि से ज्ञात होता है कि पण्डितराज वैष्णव थे, हालाँकि अन्य देवताओं की स्तुति भी इनकी प्राप्त हैं । इनका जीवन यद्यपि उल्लासमय रहा, पर इन पर बड़े-बड़े अनर्थपात हुए—युवावस्था में ही पाणिगृहीती[1] (स्वजातीया पत्नी) और पाणिगृहीता (यवनी प्रेयसी) का देहान्त हो गया । युवक पुत्र स्वर्गवासी हो गया[2] । यवनीसम्पर्क-दोष से पण्डितों द्वारा अपमानित हुए और अन्त में विरक्त होकर गङ्गा के शरण में गङ्गालहरी की रचना करते हुए गङ्गालाभ कर लिया ।

ये ब्रह्मतेज से युक्त थे । किंवदन्ती है कि जब यवनी इनके शयनकक्ष में आयी तो उसे हुआ कि मैं जल जाऊँगी और वह लौट गयी । बादशाह के दरबार में पण्डितराज के इस ब्रह्मतेज को कम करने का प्रश्न उठ गया । किसी पण्डित के कहने से इन्हें हुक्के के पानी से नहलाया गया और तब यवनी इनके पास जा सकी ।

पण्डितराज बहुत गर्वीले स्वभाव के थे और यह गर्व उनका यथार्थ था, परन्तु विद्वत्समाज इन्हें शास्त्रोद्धत कहता है । वे न केवल "अलङ्करान् सर्वान् अपि मलितगर्वान् रचयतु" जैसी उक्ति रखते हैं, अपितु अपनी कविता की स्वयं ही अत्यधिक प्रशंसा करते हैं—

धुर्यैरपि माधुर्यैर्द्राक्षा-क्षीरेक्षु-माक्षिक-सुधानाम् ।
वन्द्यैव माधुरीयं पण्डितराजस्य कवितायाः ॥ ३१ ॥

ये न केवल अप्पयदीक्षित या भट्टोजिदीक्षित का खण्डन दर्पपूर्ण वाणी से करते हैं, वरन् आनन्दवर्धन, मम्मट आदि की तीखी आलोचना में भी ये पीछे नहीं रहे । परन्तु अन्तिम अवस्था में इन्हें अपने कृत्यों पर पश्चात्ताप हुआ कि क्यों हमने विद्वानों का अनादर किया ? क्यों यवनीसम्पर्क किया ? और इस विरक्ति के साथ संसार से ऊब कर भगवती भागीरथी गङ्गा के शरण में पहुँचे । पर उस समय में भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) ने इन्हें नहीं छोड़ा और ये गर्व से गङ्गा नदी की सबसे ऊपरी सीढ़ी पर

---

१. द्रष्टव्य—पण्डितराज का करुणविलास—

धृत्वा पदस्खलनभीतिवशात् करं मे
या रूढवत्यसि शिलाशकलं विवाहे ।
सा मां विहाय कथमद्य विलासिनि ! द्याम्
आरोहसीति हृदयं शतधा प्रयाति ॥

२. रसगङ्गाधर—प्रत्यनीक अलङ्कार के उदाहरण में पुत्रशोक का वर्णन ।

बैठ गये और बोले—'माता गङ्गा के लिए मैं इतनी दूर से आया हूँ तो यह माता पुत्र के लिए थोड़ी दूर भी ऊपर नहीं होंगी ?' पण्डितराज गङ्गालहरी के एक-एक पद्य रचते सुनाते थे और गङ्गा एक-एक सीढ़ी ऊपर आ रही थी और अन्तिम पद्य समाप्त होते ही एक ऐसा तरङ्ग आया जो पण्डितराज को समेटे हुए प्रवाह में विलीन कर लिया, माता ने पुत्र को गोद में ले लिया।

पण्डितराज जगन्नाथ की रचनाएँ

१. शृङ्गारविलास—१८० पद्य।

२. आसफविलास—गद्याख्यान, शाहजहाँ की काश्मीरयात्रा एवं वहाँ के नवाब आसफखान से मुलाकात।

३. करुणविलास (पत्नीवियोग में विलाप)—१९ पद्य।

४. प्रास्ताविक विलास—१२२ पद्य।

५. शान्तिविलास—निर्वेद पद्य—४४।

६. जगदाभरण[1]—५३ पद्य—बीकानेर के राजा जगत्सिंह की प्रशंसा।

७. प्राणाभरण—५३ पद्य—कामरूप (कूचविहार) के राजा प्राणनारायण की प्रशंसा। यह 'जगदाभरण' में ही नामपरिवर्तन करके प्रस्तुत किया गया है।

८. यमुनावर्णन—गद्य, अनुपलब्ध, रसगङ्गाधर के मध्यम काव्य के उदाहरण में इसकी पंक्ति उद्धृत है।

९. लहरी-पञ्चक—

(१) गङ्गालहरी—५३ पद्य, इसे ही पीयूषलहरी भी कहते हैं—"इमां पीयूषलहरीं जगन्नाथेन निर्मिताम्"।

(२) यमुनालहरी—११ पद्य, इसे ही अमृतलहरी कहते हैं।

(३) करुणालहरी—५५ पद्य, कृष्ण की स्तुति।

(४) लक्ष्मीलहरी—४१ पद्य।

(५) सुधालहरी—३० पद्य, सूर्यस्तुति।

१०. भामिनीविलास—५८८ पद्य।

११. चित्रमीमांसाखण्डन—अप्पयदीक्षितकृत चित्रमीमांसा अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थ का खण्डन।

१२. मनोरमाकुचमर्दन—भट्टोजिदीक्षितकृत प्रौढमनोरमा (व्याकरणशास्त्रीय व्याख्या-ग्रन्थ) का खण्डन।

१३. रसगङ्गाधर—अलङ्कारशास्त्रीय महान् ग्रन्थ ।

१. पण्डितराज-ग्रन्थावली में इनके सभी ग्रन्थों का आकर्षक प्रकाशन संस्कृत परिषत्, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद से हुआ है ।

अन्य जगन्नाथ

संस्कृत वाङ्मय में जगन्नाथ नाम के अनेक ग्रन्थकार हो चुके हैं। उनके ग्रन्थ हैं—सिद्धान्तसम्राट् (ज्योतिष)–सम्राट् जगन्नाथकृत, सिद्धान्तकौस्तुभ, रेखागणित, विवादार्णवभङ्ग, रतिमन्मथनाटक, अतन्द्रचन्द्रिकनाटक—मैथिल जगन्नाथकृत, अनङ्ग-विजयभाण, सभातरङ्ग, अद्वैतामृत, शरभगजविलास, ज्ञानविलास, समुदायप्रकरण आदि । परन्तु इनमें कोई भी पण्डितराज उपाधि वाले नहीं थे । मिथिला में रघुनन्दन उपाध्याय पण्डितराज थे, जिन्होंने बादशाह अकबर से तिरहुत राज्य प्राप्त कर अपने गुरु म० म० महेश ठक्कुर को दे दिया था तथा काव्यप्रकाश की टीका लिखी थी, जो दरभङ्गा में हस्तलिखित रूप में है ।

रसगङ्गाधर की व्याख्या-सम्पत्ति

रसगङ्गाधर पर निम्नांकित व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—

(१) गुरुमर्मप्रकाश—म० म० नागेशभट्ट (१७५० ई०) कृत । यह रसगङ्गाधर पर सर्वप्राचीन टिप्पणी उपलब्ध है, जो इसके खण्डन के उद्देश्य से ही लिखी गयी थी । नागेशभट्ट प्रख्यात वैयाकरण थे । ये भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित के शिष्य होने के कारण पण्डितराज के विरोधी हुए, क्योंकि भट्टोजि से पण्डितराज का वैरभाव प्रसिद्ध ही है । नागेश ने अपनी गुरुपरम्परा के समर्थन में ही पण्डितराज का खण्डन किया है । बहुत स्थलों पर ग्रन्थ के आशय को भी स्फुटित किया है । इसका प्रकाशन १९३९ ई० में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की सरला टीका के साथ जयपुर से हुआ उत्तरा-लंकार पर्यन्त और आज तक इतना ही मूल ग्रन्थ भी मिलता है । नागेश की टीका भी यहीं तक है ।

(२) म० म० गङ्गाधर शास्त्री की क्वचित्-क्वचित् टिप्पणी सहित रसगंगाधर काशी से प्रकाशित हुआ था । इससे पहले यह ग्रन्थ काव्यमाला में मुद्रित हो चुका था । तृतीय बार रसगङ्गाधर का प्रकाशन भट्ट मथुरानाथ शास्त्री द्वारा जयपुर से हुआ ।

(३) सरला—भट्ट मथुरानाथ शास्त्री की ग्रन्थलापिनी एवं गूढार्थबोधिनी संक्षिप्त व्याख्या है। यह गुरुमर्मप्रकाश के साथ १९३९ ई० में प्रकाशित हुई और १९४५ तक इसके छः संस्करण निकल गये, इसी से इसकी उपादेयता सिद्ध है ।

(४) हिन्दी अनुवाद—पं० श्रीपुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।

(५) 'चन्द्रिका'—कविशेखर बदरीनाथ झा—प्रथमानन भाग, शेष भाग पर पं० मदनमोहन झा—रसगङ्गाधर की आज तक सर्वोत्कृष्ट व्याख्या यही है। ग्रन्थ को स्पष्ट करते हुए उसका सारभाग पाठकों के समक्ष रख देना, छात्रों एवं विद्वानों के उपयुक्त सन्तुलित विचार उपस्थित करना एवं साहित्यिक दृष्टि से ग्रन्थ को देखना इत्यादि कतिपय विशेषताएँ इसे जनप्रिय बनाती हैं। चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९५५ ई० में प्रकाशित।

(६) 'चन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या—पं० मदनमोहन झा—यह व्याख्या उपर्युक्त 'चन्द्रिका' संस्कृत व्याख्या के साथ प्रकाशित है। यह सूक्ष्म विवेचना के क्रम में बहुत स्थलों पर विस्तृत हो गयी है।

(७) मधुसूदनीप्रकाश संस्कृत-हिन्दी व्याख्या—आचार्य मधुसूदन मिश्र—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

(८) रसचन्द्रिका—पं० श्रीकेदारनाथ ओझा—यह व्याख्या सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से १९७७ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें ग्रन्थ का अवतरण, शब्दार्थस्फोरण एवं दार्शनिक दृष्टि से विषय का निरूपण किया गया है। कुछ स्थलों में यह शास्त्रान्तर विचार में अतिविशद हो गयी है, जब कि बहुत स्थलों पर टिप्पणी बन के रह गई है। इसकी भूमिका केवल टीकाकारों की भर्त्सना में कृतश्रमा है, जैसा वर्णन विद्वान् के लिए अशोभनीय है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की व्याख्या में एक भी तच्छास्त्रीय त्रुटि नहीं दिखाई गई है, केवल न्यायशास्त्रीय त्रुटि और वह त्रुटि भी कहाँ तक समीचीन है इसका निर्णय तो परवर्ती आलोचकों, व्याख्याकारों के विचार में देखे जा सकते हैं। पर उनकी इस भूमिका से स्पष्ट हो जाता है कि 'चन्द्रिका' व्याख्या की दोषगवेषणा को ही यह श्रेय है कि 'रसचन्द्रिका' व्याख्या का उसने ही निर्माण करा लिया। माननीय व्याख्याकार के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है—साहित्यशास्त्रीय विषय-विवेचन में भी बहुत स्थलों पर शास्त्रवैपरीत्य इनकी व्याख्या में है जिनकी गणना हम यहाँ नहीं करना चाहते। पाठक इस रसतरङ्गिणी व्याख्या में उन्हें ढूँढ़ सकते हैं। चन्द्रिका के बाद रचित होने पर भी 'रसचन्द्रिका' उसका स्थान नहीं ले सकी, न ही लोकप्रिय हो सकी—यह भी ज्ञातव्य है।

(९) रसतरङ्गिणी—डॉ० श्रीनारायण मिश्र एवं डॉ० शशिनाथ झा—यह प्रस्तुत संस्करण संस्कृत-हिन्दी व्याख्यात्मक है। यह छात्रोपयोगी के साथ-साथ गम्भीर विचारों का प्रतिपादक, जटिल स्थलों का परिचायक, पूर्वव्याख्याताओं द्वारा विषय को प्रकृत शास्त्र से शास्त्रान्तर की ओर बहकाव का नियन्त्रक और कुव्याख्यान का विखण्डक के रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

प्रस्तुत संस्करण होने में (छपने में) बहुत विलम्ब हो गया। दुःसंयोग की बात हुई कि डॉ० श्रीनारायण मिश्रजी की व्याख्या कुछ अंश छपने के बाद प्रेस में नष्ट हो गयी। इससे मिश्रमहोदय बहुत खिन्न हुए और छपी हुई व्याख्या के बाद संक्षिप्त व्याख्या से प्रथमानन को पूर्ण किया। पर दुर्भाग्य की बात ! फिर कुछ अंश छपने के बाद पाण्डुलिपि नष्ट हो गयी और डॉ० मिश्र ने यह काम छोड़ दिया। प्रकाशक महोदय ने मुझे प्रेरित किया और मैंने यथामति भावध्वनिप्रकरण के धृतिभाव से आगे प्रथमानन पर्यन्त संस्कृत-हिन्दी व्याख्या कर दी। इसमें मुझे अधिक आयास नहीं करना पड़ा, क्योंकि अध्ययन एवं अध्यापन के क्रम में रसगङ्गाधर पुस्तक के हाशिये पर मैंने टिप्पणी कर ली थी, जिसमें ग्रन्थ के गूढ़ाशय, मतमतान्तर एवं पूर्व व्याख्याकार से मतभेद अंकित थे और वही मेरी व्याख्या का आधार बन गया।

यह व्याख्या कहाँ तक सफल हो सकी है, इसकी क्या विशेषताएँ हैं—इस विषय के विवेचन का भार पाठकों पर ही छोड़ना उचित समझ कर विरत होता हूँ।

संस्कृत-दिवस १९९६ ई०

स्नातकोत्तर व्याकरण विभाग
का० सिं० द० संस्कृत विश्वविद्यालय
दरभङ्गा

डॉ० शशिनाथ झा
विद्यावाचस्पति

विषय-सूची

—****—

॥ श्रीः ॥

रसगङ्गाधरः

'रसतरङ्गिणी' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथमाननम्

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।

रसतरङ्गिणी

शुक्लाम्बरपरीधाना पुण्डरीकासना च या ।
सर्वमोहाशना देवी सा नः पातु सरस्वती ॥ १ ॥

तर्कायासपरिश्रान्तस्वान्तविश्रान्तिदायिनीम् ।
रसगङ्गाधरव्याख्यां कुर्मो रसतरङ्गिणीम् ॥ २ ॥

ग्रन्थार्थमात्मसात्कृत्वा तरङ्गिण्या यथायथम् ।
स्वस्वप्रज्ञानुसारेण शिष्यैर्वादः प्रवर्त्यताम् ॥ ३ ॥

ये शास्त्राध्ययनादहङ्कृतिजुषो विद्याविलासद्विषो
लोके पण्डितमानिनो यदि कृतिं निन्दन्ति निन्दन्तु ते ।
निष्पक्षां समुदीरयन्त्यवितथां वाचं तु ये वाग्मिन-
स्ते कामं प्रविवेचयन्त्विह कियान् दोषः कियान् वा गुणः ॥ ४ ॥

विघ्नविघाताय मङ्गलमाचरन् अध्येतृणां श्रोतृणाञ्चानुषङ्गतो मङ्गलार्थं ग्रन्थादौ तन्निबध्नाति—स्मृतापीत्यादिना । या स्मृताऽपि किम्पुनः साक्षात्कृता सती अनुरक्तानां समेषामपि नृणां तरुणं वृद्धिकाष्ठाप्राप्तमातपमन्तस्तापं करुणया निःस्वार्थ-भावेन हरन्ती, अभङ्गुरास्तनुत्विषो यासां तासां विद्युतां शतैः सञ्जातेन बलयेन युक्ता,

---

जो स्मरण किए जाने पर भी समस्त भक्त जनों के तीव्र आतपों—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनों दुःखों को—कृपा करके हर लेती है, अनश्वर

कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमतिचुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी ॥ १ ॥

अपि च कलिन्दगिरिनन्दिन्या यमुनायास्तटेऽवस्थितं सुरद्रुमं कदम्बवृक्षमालम्बितुं शीलं यस्यास्तथाविधा सा कापि विलक्षणा कादम्बिनी श्रीकृष्णस्वरूपा मदीयमतिचुम्बिनी मद्बुद्धिविषया भवतु—इति मङ्गलपद्यार्थः ।

अत्र स्मृतापीत्यनेन लौकिककादम्बिनीतो व्यतिरेको दर्शितः । अपूर्वेयं कादम्बिनी साक्षात्कृता स्मृता वा तरुणातपं हरति, लौकिकी तु शिरस ऊर्ध्वं नभसि वर्त्तमानैव न स्मृता न वा साक्षात्कृता, प्रदेशान्तरे तत्साक्षात्कारेऽपि तापाऽशमनात् । अलौकिक्याः पुनस्तस्याः प्रदेशान्तरस्थजीवेनापि स्मृतौ तापनाशकत्वमस्त्येव, वस्तुतोऽस्या जीवस्य च प्रदेशमात्रवृत्तित्वाभाव एव । स्मृतिश्चात्र शाब्दानुभवमूलिका । तत्र च शाब्दानुभवस्य तापाऽशामकत्वं तन्मूलस्मृतेश्च तच्छामकत्वं शास्त्रायातम् । कादम्बिनीत्वेन रूपेणानुमित्यभावाच्च नानुमितिमूलकत्वं प्रकृतायाः स्मृतेः । ये पुनरनुमितामपि कादम्बिनीं तापशमनीमिच्छन्ति ते त्वत एव चिन्तनीयाः । अनुमितायाश्चेश्वरसत्तायास्तद्योग्यत्वस्याश्रवणादननुभवाच्च । मननरूपाया अनुमितेर्विवक्षणे तु कथञ्चित् सङ्गतिः कर्तुं शक्या । ये पुनरिमं व्यतिरेकं व्याचक्षाणा आहुः—'प्रसिद्धा तु चक्षुषा त्वचा वा प्रत्यक्षीकृतैवातपं हरति' इति तेऽयुक्ताः, प्रदेशान्तरे चक्षुषा साक्षात्कृताया अपि तापाऽशामकत्वात्तस्या इति पूर्वमुक्तत्वात्, शिरस ऊर्ध्वं तदवस्थाने चाक्षुषत्वस्य तापशान्त्यनुपयोगात्, अन्यथाऽन्धानां तापशमनाभावप्रसक्तिः । त्वचा प्रत्यक्षीकृतेति तूपहासास्पदम् । वर्षणद्वारेत्यपि तथैव, संयुक्तसंयोगस्य प्रत्यक्षप्रयोजकत्वाभावात् । कथञ्चित् संयुक्तसमवायाऽभ्युपगमेऽपि तस्य द्रव्यप्रत्यक्षाऽसाधकत्वात् । छत्रादिना व्यवहिते सम्बन्धाऽभावाच्च । अतः प्रसिद्धा कादम्बिनी प्रदेशविशेषे स्वरूपसती कारणमलौकिकी पुनर्ज्ञातसत्येवेत्येवमेव व्यतिरेको व्याख्येय इत्यलम् ।

तरुणातपमित्यत्रापि व्यतिरेकः । प्रसिद्धायास्तरुणबाह्यतापमात्रहारकत्वम्, तदपि व्यभिचरितम् । अन्तस्तापहारकत्वं तु नैव, अस्याः पुनरन्तस्तापहरणद्वारा बाह्यतापहारकत्वमव्यभिचरितमिति । अव्यभिचरितत्वं चास्या हरन्तीति वर्तमानत्वमुखेन सार्वकालिकहरणशीलतया सूचितम् । करुणयेत्यनेन चैतन्यनिःस्वार्थत्वावगमादपि जडकादम्बिन्या व्यतिरेकः प्रतीयते । नृणामिति बहुवचने-

---

कान्ति से सम्पन्न सैकड़ों विद्युल्लताओं से वेष्टित है और कलिन्द पर्वत से उद्भूत यमुना के तट पर अवस्थित कदम्बवृक्ष पर आश्रित है वह अलौकिक कृष्णस्वरूप कादम्बिनी (मेघमाला) मेरे ज्ञान का विषय होवे, अर्थात् मेरी बुद्धि उस कादम्बिनी के आकार से आकारित होवे ॥

श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपञ्चः
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत् ।

नापि स एव । प्रसिद्धाया अव्यापकत्वेन यत्किञ्चिदनुरक्तानानुरक्तनरतापहारकत्वमित-रेषामनुरक्तानामपि तापाऽहारकत्वं चास्ति, अस्याः पुनरशेषानुरक्तजनमात्रतापहा-रित्वम्, 'कामाल्लोभाद्भयात्', 'काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः' इत्यादिरीत्या वाऽनुरक्तानानुरक्तमात्रतापहारित्वमिति । अभङ्गुरेत्यादिनापि स एव, प्रसिद्धकादम्बिनीवलयीभूतविद्युतस्तनुत्विड्भङ्गुरा, अस्याः पुनरभङ्गुरा सेति हेतोः । बहुवचनान्तेन शतशब्देनानन्त्यार्थकेन च विद्युतां कादम्बिनीव्यापकत्वमत एव च वलयितेत्यस्य वेष्टितेति तात्पर्यम् । प्रसिद्धविद्युतस्तु शतसंख्यकत्वमपि नास्ति युगपत्, प्रत्यक्षत एव तद्बाधात् । विनष्टाविनष्टयोश्च सह संख्यानाभावादतीतकालिकत्वा-दिनापि न निर्वाहः । कथञ्चित् सह संख्यानेऽपि व्यापकत्वं तु तस्याः प्रत्यक्षबाधि-तमेव । अतोऽत्रापि व्यतिरेको निर्बाधः । द्रुमस्य च कादम्बिन्यालम्बनत्वेन चित्त-द्रवीभवनरूपावस्था सूच्यते । चुम्बनशब्देन च विषयप्रतिपादनाद्विषयिणस्तन्मयत्वं सूच्यते । तथा च गीता—

'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' इति ॥

कादम्बिनीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशोऽनुरागातिशयसूचनाय । अन्येप्यर्था यथाप्रज्ञ-मध्यवसेयाः । को हि नाम ना शक्तः परिमातुमपरिमेयं शब्दब्रह्म ?

अत्र व्यतिरेकोऽलङ्कारो मुख्यः, तदङ्गत्वेन चातिशयोक्त्यादयोपीति सङ्करः ॥ १ ॥

स्वविद्योत्कर्षख्यापनाय स्वगुरुविद्योत्कर्षमाह—**श्रीमदित्यादि** । प्रपञ्चो विस्तरः । तस्याधिगतिः सतात्पर्यकस्य तस्य यथार्थबोधः । देवः = खण्डदेवः, विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वपदलोपात् । शेषाङ्को वीरेश्वरः, शेषोपनामकत्वात् । शेषः =

इस पद्य द्वारा इस कादम्बिनी मे लौकिक कादम्बिनी से विलक्षणता व्यक्त की गई है । लौ० कादम्बिनी जिसके शिर के ऊपर आकाश में रहती उसी के तरुण बाह्य आतप को शान्त कर पाती, वह भी सर्वदा और स्मरण मात्र से नहीं; यह न तो एक काल में असंख्य विद्युल्लताओं से वेष्टित होती और न इस विद्युल्लता की कान्ति ही अनश्वर होती; यह यमुना तट पर अवस्थित कदम्ब वृक्ष पर आश्रित भी नहीं होती जब कि प्रकृत कादम्बिनी—जैसा कहा जा चुका है, इन सभी दृष्टियों से लौ० कादम्बिनी से भिन्न, अत एव उत्कृष्ट, है । इससे लौ० कादम्बिनी से प्रकृत कादम्बिनी का व्यतिरेक स्पष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

जो श्रद्धेय सन्यासी ज्ञानेन्द्र सरस्वती से सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र को प्राप्त करने, महेन्द्र पण्डित से अतिकठिन कणाददर्शन (वैशेषिकदर्शन) और अक्षपाददर्शन

देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं
शेषाङ्कप्राप्तशेषाऽमलभणितिरभूत्सर्वविद्याधरो यः ॥
पाषाणादपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया ।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकान्तं महागुरुम् ॥ २-३ ॥
निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं
मयोन्नीतो लोके ललितरसगङ्गाधरमणिः ।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता-
मलंकारान्सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु ॥ ४ ॥

शेषावतारभूतो भगवान् पतञ्जलिर्महाभाष्यनिर्माता । तद्वचनप्राप्तिमुखेन पाणिनिकात्यायनवचनप्राप्तिरपि सूचिता, महाभाष्यस्य तदारूढत्वात् । सर्वाणि विशेषणानि सर्वविद्याधरत्वे हेतुभूतानि । पाषाणादपीत्यादिना स्ववर्णनकौशलेनाचेतनमपि चेतनवत् करोतीति प्रतिपादनात्स्वपितरि कवित्वकाष्ठा दर्शिता । लीलयेत्यनेन च तथावर्णने पितुरायासाभावः सूचितः । लक्ष्मीकान्तमित्यनेन स्वमातुर्लक्ष्म्यभिधाया नाम निर्दिष्टमिति कस्यचिद् व्याख्यानमनौचित्यस्पर्शि, एवं रूपेण लोके पित्रोर्नामग्रहणस्यात्यन्तविगर्हितत्वात् । अतः सारस्वतस्य पितुर्धनवत्त्वं विष्णुसदृशत्वं वा प्रतीयत इत्येव युक्तम् ॥ २-३ ॥

ग्रन्थप्रशस्तिमाह—निमग्नेनेत्यादिना । मननरूपजलधेरन्तरुदरमन्तस्तलं क्लेशैरनल्पायासैर्नितरां मग्नेन मया जगन्नाथेन ललितो गुणालङ्कारादिभूषितो रसगङ्गाधरस्वरूपः काव्यतत्त्वप्रकाशकत्वान्मणिर्लोके उन्नीतः । सोऽयं गुणवतां सहृदयानां हृदयमधिरूढोऽन्येषां काव्यतत्त्वजिज्ञासूनामन्तर्ध्वान्तमज्ञानं हरन् सर्वानपि पूर्वाचार्यरचितालङ्कारग्रन्थान् गलितगर्वान् रचयतु । अत्र च अन्तरुदरम् निमग्नेनेत्यादिना प्रतिपाद्यविषयस्य सुचिन्तितत्वमपि सूचितं भवति ॥ ४ ॥

(न्यायदर्शन) को जानने, काशी में खण्डदेव से पूर्वमीमांसा शास्त्र का अध्ययन करने और शेष वीरेश्वर से शेषावतार भगवान् पतञ्जलि की निर्मल वाणी महाभाष्य का अधिगम करने से सर्वविद्यासम्पन्न हुए और जिनकी नैसर्गिक काव्यकला से पत्थर से भी अमृत चूने लग जाता उन विष्णुसदृश पितृचरण पेरुभट्ट को मेरा प्रणाम समर्पित है ॥ २-३ ॥

मननरूपी सागर के अन्तस्तल में आयासपूर्वक गोता लगाकर मैंने रसगङ्गाधरस्वरूप मणि को इस संसार मे प्रस्तुत किया है । सहृदयों के हृदय मे पहुँचा हुआ यह ग्रन्थरत्न अज्ञान को दूर करे और सभी अलङ्कारग्रन्थों को गर्वहीन—महत्त्वहीन कर दे ॥४॥

परिष्कुर्वन्त्वर्थान्सहृदयधुरीणाः कतिपये
तथापि क्लेशो मे कथमपि गतार्थो न भविता ।
तिमीन्द्राः संक्षोभं विदधतु पयोधेः पुनरिमे
किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः ॥ ५ ॥
निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥ ६ ॥
मननतरितीर्णविद्यार्णवो जगन्नाथपण्डितनरेन्द्रः ।
रसगङ्गाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम् ॥ ७ ॥

निमग्नेनेत्यादिसूचितार्थमेव भङ्ग्यन्तरेणाह—परिष्कुर्वन्त्वित्यादिना । कतिपये सहृदयधुरीणा भामहदण्डिमम्मटादयः पूर्वाचार्याः । तिमिर्नाम मत्स्यविशेषः । तथा च तिमीन्द्रप्रयासस्याफलतयाऽल्पफलतया वा यथा प्रचुरामृतफलो मन्दरगिरिप्रयासो न गतार्थस्तथैव ममाप्ययं प्रयासोऽशेषकाव्यतत्त्वप्रमितिजननपरो न गतार्थ इत्याशयः । अत्रैकस्यैवार्थस्य पूर्वार्द्धोत्तरार्धयोः प्रकारान्तरेण विधिनिषेधमुखेनोक्तः प्रतिवस्तूपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

स्वकीयप्रबन्धस्य प्रबन्धान्तरापेक्षयोत्कर्षं दर्शयति—निर्मायेत्यादिना । मयोदाहरणानुरूपं नूतनं काव्यं निर्मायात्र ग्रन्थे निहितम्, परस्य तु न किमप्यत्र निक्षिप्तम् । अयमेव प्रकृतप्रबन्धस्योत्कर्षः प्रकृतपद्ये विवक्षितः । सुमनसाम् = पुष्पाणाम् । अत्राप्युत्तरार्धे शब्दान्तरेण पूर्वार्धार्थकथनात् प्रतिवस्तूपमा ॥ ६ ॥

भामह, दण्डी, मम्मट आदि सहृदयों मे अग्रगण्य आचार्य काव्यार्थ का परिष्कार भले हीं कर चुके हों, फिर भी मेरा यह प्रयास व्यर्थ नही हो सकता । तिमि-तिमिङ्गिल आदि मछलियाँ सागर मे भले ही उथल-पुथल मचाती रहें, फिर भी क्या इतने से हीं मन्दराचल का समुद्रमन्थन-प्रयास निरर्थक हो सकता ? कथमपि नहीं ॥ ५ ॥

अपेक्षित उदाहरण के अनुरूप नवीन काव्य की रचना कर उसे मैंने इसमें समाविष्ट किया है, अन्य की रचना का इसमें कहीं भी समावेश नहीं हुआ है । क्या कस्तूरी को उत्पन्न करने की क्षमता रखने वाला गन्धमृग पुष्पों की सुगन्धि को मन से भी कभी चाहता ? कभी नहीं ॥ ६ ॥

मननरूपी नौका से विद्या-सागर को पार कर चुकने वाला पण्डितराज जगन्नाथ अनायास ही काव्यतत्त्वविचारपरक रसगङ्गाधरनामक ग्रन्थ की रचना कर रहा है ॥ ७ ॥

रसगङ्गाधरनामा संदर्भोऽयं चिरं जयतु ।
किं च कुलानि कवीनां निसर्गसम्यञ्चि रञ्जयतु ॥ ८ ॥

तत्र कीर्ति-परमाह्लाद-गुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजनकस्य काव्यस्य

पण्डितनरेन्द्रः=पण्डितराजः। राजवाचकस्य शब्दस्य योगार्थं विनैव राजार्थे प्रयोगः, धरातुरासाहीत्यादिनिर्देशात्। अतोऽत्र क्लेशाधिक्याङ्गीकारोऽनर्थकः। कुतुकेनायासाभावः सूचितः। एतदनुरोधेन 'तथाऽपि क्लेशो मे' इत्यत्र क्लेशपदमाद्यप्रवृत्त्यपरपर्यायरागार्थकं मन्तव्यम्। यद्वा कुतुकेनेत्यस्याल्पायासेनेत्यर्थः। एतदनुरोधेन तत्र क्लेशपदस्यायमेवार्थः स्वीकर्त्तव्यः। काव्यमीमांसामिति। काव्यस्य मीमांसा यत्र तामिति व्यधिकरणबहुव्रीहिः। कर्मधारये वा मत्वर्थीयोऽच्। मीमांसाशब्दश्च 'मानेर्जिज्ञासायाम्' इत्यनुशासनात् 'मानवध०' इत्यादिना सन्यभ्यासेत्वे च सिध्यति। तत्र जिज्ञासाशब्दस्तत्प्रयोज्ये विचारे लाक्षणिक इति भावः। अत एव 'मान विचारे' इति काशिका। वाचस्पतिमिश्रास्तु 'माङ् माने' इत्यत एव मीमांसाशब्दं व्युत्पादयन्ति। तथा चायमेव सन्प्रकृतिभूतः, नुगागमश्चाधिकं निपातनीयोऽत्र पक्षे। मानं चात्र विचार एव। 'सनिमीमा०' इति इस् तु न प्रसज्यते, घ्वादिसाहचर्येण तत्रेच्छासन एव ग्रहणादिति सद्विचारवचन एव मीमांसाशब्दः ॥ ७ ॥

सन्दर्भः=पञ्चाङ्गं वाक्यम्। पञ्चाङ्गानि च—

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

इत्युक्तानि। निसर्गसम्यञ्चि=निसर्गत एव समीचीनानि। समीचीनत्वं च ताटस्थ्येन गुणदोषविवेचकत्वम्, परगुणेर्ष्याविरहितत्वं वा ॥ ८ ॥

काव्यलक्षणमवतारयति—तत्रेत्यादिना। प्रसादादीत्यादिपदेन व्यवहारवेदनं कान्तासम्मितोपदेशश्च गृह्येते, प्रसिद्धानामन्येषां प्रयोजनानामुक्तेनैव संग्रहात्। प्रसादशब्दश्च द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तथा च गुरुप्रसादो राजप्रसादो देवताप्रसादश्च लभ्यन्ते। तत्रापि कीर्त्तिः कविनिष्ठा, इतराणि च प्रयोजनानि परमाह्लादादीन्युभयनिष्ठानि। सम्बन्धश्चैषां क्वचित्साक्षात् क्वचित् परम्परयेति यथायथं विवेचनीयम्। अत्र परमाह्लादशब्देन मोक्षोऽपि गृह्यते। कविसाहचर्येण

यह रसगङ्गाधरनामक ग्रन्थ चिरकाल तक अपने निरतिशय उत्कर्ष का प्रख्यापन करता रहे। साथ ही, यह निसर्गरमणीय कविसमाज को भी आनन्दित करता रहे ॥ ८ ॥

यश की प्राप्ति, परमानन्द का आस्वादन, गुरु, राजा तथा देवता का प्रसादन आदि काव्य के अनेक प्रयोजन हैं। इन प्रयोजनों में यथासम्भव अपने-अपने

व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरावश्यकतया गुणालंकारादिभिर्निरूपणीये तस्मिन् विशेष्यतावच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते—

सहृदयत्वं तस्यैव यः कविकर्मानुभविता। अत एवात्र शास्त्रे सहृदयपदेन काव्यार्थभावनाजनकसंस्कारविशेषवानेव गृह्यते। शास्त्रान्तरे च तत्तदर्थभावनाजनकसंस्कारविशेषवानेव सहृदयः। आवश्यकतयेति। तत्त्वं च काव्यार्थव्युत्पत्तेस्तद्विवेचनोपयोगित्वेन रसास्वादनसहकारित्वेन च बोध्यम्। गुणा माधुर्यादयः, अलङ्काराः शब्दाश्रिता अर्थाश्रिता उभयाश्रिताश्चानुप्रासोपमाश्लेषप्रभृतयः। अत्र गुणाऽलङ्कारादिभिरिति तृतीयया गुणादीनामुपलक्षणत्वं बोध्यते। अत एवैभिः काव्यतत्त्वज्ञानेऽपि नैषां सर्वकाव्यनिष्ठत्वाऽऽग्रहो मुक्तके प्रबन्धे च सर्वावयवनिष्ठत्वाऽऽग्रहः। यावल्लक्ष्यकालमविद्यमानमपि व्यावर्त्तकमुपलक्षणं मन्यते। यथा काकवन्तो देवदत्तस्य गृहा इत्यादौ काकः। अत एव 'उदितं मण्डलं विधोः' इत्यादौ नाव्याप्तिरिति वक्ष्यति स्वयमेव। तस्मिन्=काव्ये। विशेष्यतावऽच्छेदकमिति। अयमाशयः—काव्यज्ञानानुकूलः शब्दप्रयोगो निरूपणमत्र। तथा च गुणालङ्काराद्युपलक्षितं काव्यं निरूपणीयम्। निरूपणस्य विशेष्यं काव्यम् इति काव्ये विशेष्यता, तदवच्छेदको धर्मः काव्यत्वम्, तच्च किंस्वरूपम् इति प्रतिपादनीयम्। तदेव निरूपितं सत् काव्यस्येतरभेदाऽनुमितौ हेतुरिति। काव्यत्वं च रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वस्वरूपम्, तद्धेतुका चेतरभेदाऽनुमितिः 'काव्यं स्वेतरभिन्नम्, रमणीयार्थकप्रतिपादकशब्दत्वात्, यत्र यत्र स्वेतरभिन्नत्वाभावः=स्वेतरत्वं तत्र तत्र रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वाभावः, यथा गौर्गच्छतीत्यादौ, न चेदं तथा, तस्मान्न तथा' इत्याकारिका। तल्लक्षणम्=काव्यलक्षणम्।

प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए कवि तथा सहृदय दोनों को हीं साङ्गोपाङ्ग काव्य के स्वरूपादि का यथार्थबोध होना आवश्यक है। अतः श्लेष-प्रसाद आदि गुणों एवं उपमा आदि अलङ्कारों से उपलक्षित काव्य के स्वरूप आदि का निरूपण इस ग्रन्थ में करना है। इस प्रसङ्ग मे निरूपण के विशेष्यभूत काव्य में जो विशेष्यता है उसका अवच्छेदक (काव्यत्व) और अन्य पदार्थ से काव्य के भेद का साधक जो लक्षण उसका निरूपण प्रथमतः किया जा रहा है—

[गुण एवम् अलंकार आदि को काव्य का विशेषण नहीं अपि तु उपलक्षण माना गया है। जो विशेष्य मे वर्त्तमान होते हुए उसको अन्य पदार्थ से भिन्न सिद्ध करता हो उसे विशेषण और जो उपलक्ष्य में सर्वदा विद्यमान न रहकर भी उसको अन्य से भिन्न सिद्ध करता हो—उपलक्ष्य का स्पष्ट परिचय कराता हो, उसे उपलक्षण कहा जाता। संक्षेप मे यह ज्ञातव्य है कि उपलक्षण का (क) उपलक्ष्य मे सर्वदा रहना और (ख) सभी उपलक्ष्यों में रहना अनिवार्य नही है। काव्य के सन्दर्भ मे उपलक्षण का

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।।

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चा-

रमणीयेत्यादि—रमणीयस्यार्थस्य प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । प्रतिपत्तिश्चात्र ज्ञानम्, तज्जनकः शब्दः काव्यम् । अत्र 'शब्द इत्यनुक्तौ रमणीयार्थज्ञानजनकाभिनयादावतिव्याप्तिरतस्तदुपादानम् । प्रतिपादकेत्यनेन वाचकलक्षकव्यञ्जकानां सर्वेषामेव ग्रहणम्, तेषां तथाविधार्थज्ञानजनकत्वाऽविशेषात् । अत एव वाचक इति लक्षक इति व्यञ्जक इति वा नोक्तम्। उपस्थितिश्च वाचकत्वादिना भवतु, तत्र न विशेषः। शब्दश्चात्र वाक्यात्मको महावाक्यात्मको वा विवक्षितः, शब्दस्य मूलतो वाक्यात्मकत्वात् । अत एव वाक्यादेव विवक्षितार्थबोधः । पदमात्रे काव्यत्वव्यवहाराभावश्चापरो हेतुरत्र । यत्र च पदे तदंशे वोत्कर्षाधायकत्वं व्यञ्जकत्वादिना तत्रापि तद्घटितवाक्य एव काव्यत्वम्, अन्यथैकस्मिन्नेव वाक्येऽनेककाव्यत्वप्रसङ्गः । अर्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यमित्युक्तौ गौश्चलतीत्यादावतिव्याप्तिरतो रमणीयत्वमर्थस्य विशेषणम् । रमणीयशब्दप्रतिपादके व्याकरणकोशादौ काव्यत्वातिप्रसङ्गनिरासाय तत्रार्थसन्निवेशः । शब्दे रमणीयत्वं चार्थरमणीयत्वेनैव काव्यत्वोपयोगि, न स्वरूपगतम्, गुणालङ्कारादेरुपलक्षणत्वोक्तेः । रमणीयार्थप्रतिपादकत्वक्षमत्वं च यदि रमणीयत्वं विवक्षितं तर्हि स्वरूपतोऽपि शब्दे तदस्तु कथञ्चित् ।

अत्रेदं बोध्यम्—रमणीयत्वं व्युत्पत्तिश्रद्धातिशयादिभेदाद् भिद्यते । लोकोत्तराह्लादोऽप्यत एव भिन्न एव । अतो योगिनो यादृशं रमणीयत्वं तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थे तादृशं नान्यत्रेति रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दत्वसामान्यं न काव्यत्वपर्यवसायि । अतो रमणीयार्थविशेष एव प्रकृतोपयोगी । स चायं विशेषः किं स्वरूप इत्यादि निरूपयितुकामो रमणीयत्वमादौ व्याचष्टे—रमणीयता चेत्यादिना । यद्विषयकज्ञाने लोकोत्तराह्लादजनकता तत्त्वं रमणीयत्वम् इति तात्पर्यम् । ज्ञानपदं चात्र भावनापरमिति वक्ष्यत्यग्रे । अर्थस्याऽज्ञातस्याह्लादाऽजनकत्वात्तं परित्यज्य ज्ञानगोचरतापर्यन्तानुधावनम् । ज्ञायमानश्चार्थो न लोकोत्तराह्लादजनकः, अर्थाऽभावे तदनुदयप्रसङ्गात् । अतोऽर्थज्ञानस्य तादृशाह्लादजनकत्वमभिहितं ग्रन्थकृता । लोकोत्तरत्वं निर्वक्ति—लोकोत्तरत्वमिति । अनुभवसाक्षिकः=

दूसरा रूप महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सभी काव्यों में गुणालंकारादि का होना ग्रन्थकार की दृष्टि मे आवश्यक नहीं है ।]

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है ।। १ ।।

जिसके ज्ञान (भावना) से लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न होता हो वही अर्थ रमणीय होता है । आह्लादनिष्ठ लोकोत्तरत्व चमत्कारत्वनामक 'जाति' का ही नामान्तर है । आह्लाद में इस जाति के अस्तित्व में प्रमाण सहृदयों—काव्यार्थविषयक भावना से

ह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः । कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसंधानात्मा । 'पुत्रस्ते जातः,' 'धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थधीजन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम् । अतो न तस्मिन्वाक्ये काव्यत्वप्रसक्तिः । इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थ-

---

सहृदयाऽनुभवमात्रैकप्रमाणगम्यः । सहृदयश्चात्र काव्यार्थभावनाजनकसंस्कारवानेवेत्यावेदितपूर्वम् । अतो नातिप्रसङ्गः । चमत्कारकारणमाह—कारणमिति । तदवच्छिन्ने=चमत्कारत्वावच्छिन्ने चमत्कारिणि लोकोत्तर आह्लादे । भावनाविशेष इत्यत्र सहृदयनिष्ठत्वं काव्यार्थमात्रविषयकत्वं विपरीतभावनाऽसहकृतत्वादि च विशेषः । पुनः पुनरनुसन्धानात्मेत्यनेन चेदं सूचितं यत्काव्यार्थस्य भूयो भूयोऽनुसन्धाने स्मरणात्मके लोकोत्तरानन्दो जायते । अत एवाधीतोत्तरचरितस्यापि पुनस्तदध्ययने रुचिर्भवति । यदा यदा काव्यार्थश्चिन्त्यते तदा तदाऽलौकिकाह्लादो जायत एवासति प्रतिबन्धके । एतेन प्रत्येकानुसन्धानेऽपि तादृशाह्लादजनकता वर्त्तत एवेति सूच्यते । काव्यार्थेतरविषयकानुसन्धानप्रवाहे तु नैवम्, आद्यानुसन्धानेऽपूर्वाऽऽह्लादे जायमानेऽपि द्वितीयाद्यनुसन्धानेषु क्रमेणानन्दमात्राह्रासस्य प्रमितेः । विकाराक्रान्तत्वमेव हि लौकिकत्वं भावानाम्, तद्रहितत्वं च लोकोत्तरत्वम् । किञ्च काव्यार्थेतरमात्रविषयकोऽनुसन्धानप्रवाहोऽपि सहृदयेषु न प्रसिद्धः । एतदेवाऽभिप्रेत्याह—पुत्रस्ते जात इत्यादि । न लोकोत्तरत्वमिति । तदर्थभावनाजन्यत्वाऽभावादिति हेतुः । एतदेव ज्ञानपदमपहाय भावनापदप्रयोगस्य प्रयोजनम् । वाक्य इति । वाक्यं चात्र काव्याऽघटकं विवक्षितम् । तद्घटके तथाविधवाक्येऽपि काव्यत्वस्य दुरपह्नवत्वात् । अत एव काव्यतदितरार्थविषयकभावनायामपि न चमत्कारजनकत्वम्, तस्याः पूर्वोक्तविशेषव्यावृत्तत्वात् । अतो न तथाविधार्थविषयकसमूहालम्बनभावनामादायातिप्रसङ्गः । भावनायाः समूहालम्बनत्वविरहश्च निर्युक्तिकः । अत एव भावनाया ज्ञानप्रवाहरूपतया तस्यां काव्यार्थेतराऽविषयकत्वमित्यपि नोचितम्, द्वित्रासु ज्ञानव्यक्तिषु तद्विषयकत्वसम्भवात् । सर्वासु ज्ञानव्यक्तिषु तदविषयकत्वमित्यपि न सुवचम्, सर्वशब्दार्थस्याननुगतत्वेन यस्य द्वित्रा एव ज्ञानव्यक्तयो जातास्तत्र च तद्विषयकत्वम् तस्य सर्वासामेव ज्ञानव्यक्तीनां तद्विषयकत्वसम्भवात् । सर्वेषां सर्वभावनाविषयत्वविवक्षणे त्वसम्भव इत्यलम् ।

सूत्रोक्तकाव्यलक्षणं परिष्करोति—इत्थं चेत्यादिना । चमत्कारजनिका या

ओतप्रोत सज्जनों का अनुभव ही है । इसीलिए काव्य से बहिर्भूत 'तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है' और 'तुम्हें धन दूँगा' इत्यादि वाक्यों में उक्त काव्यलक्षण को अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि ये वाक्य आह्लादजनक होकर भी लोकोत्तराह्लादजनक नहीं हैं ।

इस प्रकार उक्त काव्यलक्षण का फलितार्थ यह हुआ—

प्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनक-

भावना—भावनाविशेषः, तद्विषयो योऽर्थः—रमणीयोऽर्थः, तस्य प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्, तत्त्वं च काव्यत्वमितिप्रथमलक्षणार्थः। अत्र विषयभेदेन व्यक्तिभेदेन च भावनाविशेषस्याप्यानन्त्याद् गौरवमित्यतो लक्षणान्तरमाह–यत्प्रतिपादितेत्यादि। भावनात्वम् = भावनाविशेषत्वम्—भावनाविशेषस्यैव चमत्कारजनकत्वेनातिप्रसक्तस्य भावनात्वस्य जनकतावच्छेदकत्वाभावात्। पूर्वनिर्दिष्टत्वाच्च सर्वत्र ग्रन्थकृता विशेषशब्दो नोपात्तः। जनकतावच्छेदकमिति। काव्यार्थविषयको भावनाविशेषश्चमत्कारजनकः, तस्मिन् भावनाविशेषे जनकता, तस्याश्चावच्छेदकं = काव्यार्थविषयकभावनाविशेषत्वम्। येन रूपेण जनकता तद्रूपं जनकतावच्छेदकम्। जनकतासमानाधारं हि (यत्र यत्र जनकता वर्त्तते तत्र तत्र वर्त्तमानम्) अनतिप्रसक्तम् (जनकता यत्र न वर्त्तते तत्रावर्त्तमानम्) किमपि जनकताऽवच्छेदकं भवति। प्रकृते जनकताऽर्थविषयकभावनाविशेषे, तत्समानाधारो धर्मोऽर्थविषयकभावनाविशेषत्वम् इति भवत्येतदवच्छेदकमर्थविषयकभावनाविशेषनिष्ठजनकतायाः। जनकता च तेनावच्छेदकेनावच्छिन्ना। अवच्छेदकघटकीभूतस्याप्यवच्छेदकत्वम् इति अर्थोऽपि जनकताऽवच्छेदकः। भावनाविशेषविषयीभूतार्थस्यैवावच्छेदकघटकीभूतत्वेन तथाविधार्थ एवावच्छेदको नार्थान्तरम्। अत एव स्वविशिष्टेत्यादिलक्षणेऽर्थस्यैव जनकताऽवच्छेदकत्वमुक्तम्। जनकता च जन्यतानिरूपिता भवति। जन्याभावे किमपि जनकमपि न भवति। अतो जनकं जन्यसापेक्षम्। जनकताऽप्यत एव जन्यतासापेक्षा। कपालं घटस्य जनकम्, घटश्च कपालाज्जन्यः। तन्तुः पटस्य जनकः, पटश्च तन्तुजन्यः। अतः कपाले सा जनकता, घटे च जन्यता। परन्तु कपाले या जनकता सा न पटनिष्ठजन्यतासापेक्षा, तन्तौ या जनकता सा न घटनिष्ठजन्यतासापेक्षेति हेतोः कपालनिष्ठजनकता घटनिष्ठजन्यतासापेक्षत्वादेतन्निरूपिता—(घटनिष्ठजन्यतानिरूपिता कपालनिष्ठजनकता) भवति, जन्यतायां चात्र पक्षे निरूपकता वर्त्तते। एवं व्यत्यासेन जन्यताऽपि जनकतानिरूपिता भवति। तत्र यथासम्भवं वचनविन्यासः शाब्दबोधे कर्त्तव्यः। यदि जन्यं विशेष्यभूतं तर्हि जनकतानिरूपिता जन्यता, जनकं यदि विशेष्यभूतं तर्हि जन्यतानिरूपिता जनकतेति कथ्यते। अतश्च प्रकृतलक्षणे चमत्कारजनकतावच्छेदकमित्यस्य चमत्कारनिष्ठजन्यतानिरूपितार्थविषयकभावनानिष्ठजनकताया अवच्छेदकमिति सरलार्थः। लक्षणे यत्तत्पदे शब्दं परामृशतः। अतस्तत्त्वमित्यस्य शब्दत्वमर्थः। भावनाविशेषत्वस्य सर्वेष्वेव भावना-

---

(क) चमत्कारजनक भावनाविशेष के विषयीभूत (=रमणीय) अर्थ का प्रतिपादक शब्द (वाक्य) काव्य है, अथवा (ख) जिस शब्द से प्रतिपादित अर्थ की भावना (भावनाविशेष) में रहने वाला भावनात्व (=भावनाविशेषत्व) भावनाविशेषनिष्ठ

तावच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम् ।

विशेषेष्वेकतया नात्र लक्षणे पूर्वलक्षणवद् भावनाविशेषानन्त्यप्रयुक्तं गौरवम् । अत्र च लक्षणे 'प्रत्युच्चारणं शब्दो भिद्यते' इति मताश्रयणे तु यत्पदेनानुपूर्वी विवक्षणीया, तत्त्वमित्यस्यापि तादृशानुपूर्वीकत्वमित्यर्थो ग्राह्यः । तथा च यादृशानुपूर्वीप्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारनिष्ठजनकताया अवच्छेदकं तादृशानुपूर्वीकत्वं काव्यत्वमिति लक्षणार्थोऽवसेयः । अननुगतार्थकयत्तच्छब्दयोरत्र लक्षणे प्रवेशेऽपि न क्षतिः, एतादृशाननुगमस्य व्यवहारबाधकत्वाऽभावात् । अथवा भावनाविशेषत्वस्यावच्छेदकत्वमभ्युपगत्य—'चमत्कारनिष्ठजन्यतानिरूपितभावनाविशेषनिष्ठजनकतावच्छेदकावच्छिन्न (भावनाविशेष) विषयीभूतार्थप्रतिपादकशब्दत्वं काव्यत्वम्' इति, अर्थस्यावच्छेदकत्वपक्षे तु—'चमत्कारनिष्ठजन्यतानिरूपितभावनाविशेषनिष्ठजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकशब्दत्वं काव्यत्वम्' इति लक्षणं बोध्यम् । अर्थस्यावच्छेदकत्वाभ्युपगमे लाघवं चापाततो दृश्यत एव । अत्र च भावनाविशेषत्वस्यैवावच्छेदकत्वं ग्रन्थकृदभिमतम् न भावनात्वस्य, 'कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः' इत्युक्तत्वात् । अतश्च भावनात्वस्यावच्छेदकत्वेऽपि लक्षणे तत्प्रवेशे न तात्पर्यम्, भावनात्वस्य काव्यतदितरार्थभावनामात्रवृत्तितयाऽव्यावर्त्तकत्वादित्यादिकथनं चिन्त्यम् । अत्र च काव्यलक्षणघटकपदार्थानां यथायथं विशेषणविशेष्यरूपेण निवेशादिदं 'प्रकारविधया' लक्षणकरणम् इति प्रसिद्धिः । अत्र चाधिकपदार्थोपस्थितेर्गौरवम् । अतः संसर्गमुद्रया लक्षणान्तरमाह—स्वविशिष्टेत्यादि । संसर्गविधया लक्षणकरणे तु लक्षणघटकानां बहूनां पदार्थानां संसर्गमध्ये प्रवेशात्पदार्थोपस्थित्यादिकृतं लाघवं भवति ।

चमत्कारजनकता का अवच्छेदक हो वह शब्द काव्य है, अथवा (ग) 'स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकत्व' [स्व(=चमत्कारत्व) से विशिष्ट (=चमत्कार) में वर्त्तमान जन्यता से निरूपित (अर्थविषयक) भावनाविशेष में वृत्ती जनकता के अवच्छेदकीभूत अर्थ का प्रतिपादक होना] इस परम्परा सम्बन्ध से चमत्कारत्ववान् शब्द ही काव्य है । प्रथम लक्षण में निर्दिष्ट भावनाविशेष के व्यक्तिभेद तथा विषयभेद से अनन्त होने से सकलभावनाविशेषनिष्ठ भावनाविशेषत्वस्वरूप एक अनुगत धर्म को आधार मानकर लघुतर द्वितीय लक्षण किया गया है । यथासंभव विशेषणविशेष्य के क्रम से पदार्थों को निविष्ट करके किया गया द्वितीय लक्षण 'प्रकारमुद्रा' से और लक्षणघटक अनेक पदार्थों को संसर्गकोटि में रखकर किया गया तृतीय लक्षण 'ससंर्गमुद्रा' से विहित है । संसर्गमुद्रा से किए गए लक्षण में पदार्थोपस्थित्यादि में लाघव होता है किन्तु प्रकृत में निर्दिष्ट परम्परा सम्बन्ध के प्रामाणिक न होने से द्वितीय लक्षण ही उत्तम है ।

यत्तु प्राञ्चः 'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहुः, तत्र विचार्यते—शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात् । काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञात इत्यादिविश्वजनीन-

---

तत्र संसर्गस्य द्वैविध्यम् साक्षात्परम्पराभेदात् । तयोश्च साक्षात्संसर्गविषये विप्रतिपत्त्यभावात् तस्य संसर्गत्वेन भाने लक्षणं लाघवान्वितमिति निर्विवादम् । परम्परायाः संसर्गत्वं तु तत्रैवाभिमतं यत्र तेन संसर्गेणैकपदार्थविशिष्टस्य पदार्थान्तरस्य प्रतीतिः प्रसिद्धा, न सर्वत्र । परम्परामात्रस्य संसर्गत्वे तु सर्वं सर्वेण विशिष्टं स्यादित्यनर्थः । अतो यत्र परम्परायाः संसर्गत्वं प्रतीतिबलायातं तत्र तस्य संसर्गतया भाने प्रामाणिके संसर्गविधया लक्षणं लघुतरं भवति, प्रकारमुद्रया तत्र तावत्पदार्थनिवेशे तु गुरुतरं लक्षणम् । प्रकृतलक्षणे चमत्कारत्ववत्त्वं काव्यत्वमित्यत्र स्वविशिष्टेत्यादिसंसर्गः । अत्र स्वं चमत्कारत्वम्, तद्विशिष्टः चमत्कारः, तन्निष्ठजन्यतानिरूपिता जनकताऽर्थविषयकभावनाविशेषे, तत्रावच्छेदकीभूतोऽर्थः, तत्प्रतिपादकत्वं काव्य इति काव्येन चमत्कारत्वस्य स्वविशिष्टेत्यादिपरम्परासम्बन्ध उक्तः । अनेन संसर्गेण काव्यं चमत्कारत्ववत्, तत्त्वं च काव्यत्वमिति लक्षणार्थः । अस्य संसर्गत्वं तु 'काव्यं चमत्कारत्ववद्' इत्यादिप्रतीतिसाक्षिकमेव, नान्यथा । तदाकारा च प्रतीतिर्न प्रामाणिकी । अत एतादृशपरम्परायाः संसर्गत्वकल्पनं न युक्तमिति सत्यपि लाघवे तस्य प्रमाणाऽननुगृहीततया गुरुतरमपि द्वितीयलक्षणमेव वरमिति विदुषां विमर्शः ।।

इदानीं काव्यप्रकाशकारोक्तं काव्यलक्षणं दूषयितुमुपक्रमते—यत्त्वित्यादिना । अनलंकृती पुनः क्वापीत्यस्यार्थतः संग्राहकं सालङ्काराविति । मानाभावादिति । अयमर्थः—'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे', 'अर्थस्यान्यप्रमाणत्वाद्'

प्राचीन आलङ्कारिक (काव्यप्रकाशकार) मानते हैं कि दोषों से रहित, गुणयुक्त एवम् अलङ्कारविशिष्ट शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं । इस विषय में निम्नलिखित विचार किया जा रहा है—

शब्दार्थद्वय काव्यशब्द का वाच्यार्थ नहीं हो सकता । शब्दनिष्ठ शक्ति द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही वाच्यार्थ कहलाता है । किस शब्द में किस अर्थ को प्रकट करने वाली शक्ति है—यह निर्णय मुख्यतः शिष्टव्यवहार से होता । काव्यपद में शब्दार्थयुगल को प्रकट करने की शक्ति का ग्राहक (निर्णायक) कोई शिष्टव्यवहार तो है नहीं । ऐसी स्थिति में काव्यपद को शब्दार्थद्वय का वाचक नहीं माना जा सकता । वस्तुतः सार्वजनीन व्यवहार तो शब्दार्थद्वय के विपरीत शब्दविशेष, अर्थात् रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द, को प्रकट करने वाली शक्ति को ही काव्यपदनिष्ठ सिद्ध करते । उदाहरणार्थ—'काव्यमुच्चैः पठ्यते', 'काव्यादर्थोऽवगम्यते' और 'काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः' इत्यादि व्यवहार हैं । इनसे स्पष्ट है कि काव्यपद शब्दविशेषमात्र मे शक्त

व्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वप्रतिपत्तेश्च।

व्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्? स्यादप्येवम्, यदि

इत्यादिसिद्धान्तात् कस्य शब्दस्य कोऽर्थ इत्यत्र शिष्टव्यवहार एव प्रमाणम्। तथा च काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलवाचकत्वं तत्समर्थकशिष्टव्यवहाररूपप्रमाणाऽभावान्न सम्भवतीति। द्वित्रशिष्टव्यवहारस्य च न प्रमाणत्वम्, प्रमासाधनत्वाभावादिति कालिदास एवाह—'सर्वज्ञस्याऽप्येकस्याभ्युपगमो न निर्णयाय' इति। अत्रैकपदमल्पार्थकम्। अनादिवृद्धव्यहारस्यैवार्थनिर्णायकत्वनियमादेकव्यवहारे तथात्वाभावादिति निष्कर्षः। एतावता साधकप्रमाणाभाव उक्तः। सम्प्रति बाधकप्रमाणमप्याह—**काव्यमित्यादिना**। पठ्यत इति। पाठश्च शब्दस्यैव नार्थस्येति सिद्धं काव्यस्य शब्दमात्रपरत्वम्। **काव्यादित्यादि**। काव्यस्य ज्ञातस्यैवार्थबोधकतया तस्य शब्दार्थोभयपरत्वे काव्यज्ञानेनार्थस्यापि ज्ञानात् किमन्यदवशिष्यते यस्यावबोधः कार्यः स्यादिति तात्पर्यम्। प्रत्युत=शब्दार्थयुगलवाचकत्वविपर्ययेण। **शब्दविशेषस्यैवेति**। अयमाशयः—आदिकविना स्वयमेव—

"भविष्यदुत्तरं काव्यं जगतुस्तौ कुशीलवौ"

इति वदता काव्यस्य शब्दमात्रपरत्वे व्यवस्थापिते परस्ताच्च विश्वजनीनव्यवहारेण तथात्वे समर्थिते न शब्दमात्रपरत्वं काव्यशब्दस्यापह्नोतुं कश्चिदीष्टे। यद्यपि क्वचित्सादिव्यवहारस्यापि दृष्टमर्थनिर्णायकत्वं तथापि तत्प्रायेण यदृच्छाशब्द एव, तत्रापि बहुतरशिष्टसमर्थने सत्येवेति तदभावे न काव्यशब्दस्य शब्दार्थोभयपरत्वं युक्तमिति।

उक्तव्यवहारमन्यथा व्याचक्षाण आशङ्कते—**व्यवहार** इति। लक्षणया=एकदेशलक्षणया। तथा च नोक्तव्यवहारस्य बाधकत्वमित्याशयः प्रश्नस्य। न केवलं बाधकप्रमाणाभावादेवेष्टसिद्धिः, साधकप्रमाणमपि तदर्थमपेक्षणीयमेव, तथा च साधकप्रमाणाभावे न काव्यशब्दस्य शब्दार्थोभयपरत्वं युक्तम्, ततश्च मुख्यार्थबाधाभावेन लक्षणाऽपि न सङ्गच्छत इति प्रोक्तव्यवहारस्य मुख्यार्थपर्यवसायित्वे व्यवस्थिते न शब्दार्थपरत्वं

है, शब्दार्थद्वय में नहीं। यतः प्रथम व्यवहार मे काव्य के श्रवण की बात कही गई है; श्रवण तो शब्दमात्र का सम्भव है, अर्थ का नहीं। द्वितीय व्यवहार मे काव्यशब्द से हेत्वर्थक पञ्चमी और अर्थशब्द से प्रथमा दोनों की भिन्नता के प्रतिपादक हैं। यह काव्यशब्द के शब्दमात्रपरक होने से ही सम्भव है। तृतीय व्यवहार मे काव्य के श्रावणप्रत्यक्षज्ञान का विषय होने पर भी अर्थ के उक्त ज्ञान का विषय न होने से दोनों की भिन्नता सिद्ध है। अतः उक्त व्यवहारों से काव्यशब्द की शब्दमात्रबोधकता प्रमाणित है।

उक्त व्यवहारों में शब्दमात्र में काव्यपद का प्रयोग एकदेश-लक्षणा से बताते हुए काव्यपद के मुख्यार्थरूप मे शब्द और अर्थ को मानना भी असंगत है, क्योंकि यहाँ

काव्यपदार्थतया पराभिमते शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्तेः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्यात्। तदेव तु न पश्यामः। विमतवाक्यं त्वश्रद्धेयमेव। इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहके प्रमाणे प्रागुक्त-व्यवहारतः शब्दविशेषे सिद्ध्यन्तीं शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे ? एतेन विनिगमनाभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम्। तदेवं शब्दविशेष-स्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैव लक्षणं वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पि-तस्य काव्यपदार्थस्य। एषैव च वेदपुराणादिलक्षणेष्वपि गतिः। अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्था स्यात्।

काव्यशब्दस्येत्याशयेन समाधत्ते—स्यादप्येवमित्यादिना सन्दर्भेण। दृढतरमिति। स्वसमबलस्वाधिकबलविपरीतप्रमाणाभाववदित्यर्थः। एतेन = प्रोक्तव्यवहारस्वरूपवि-निगमकसत्त्वेन। विनिगमना चैकतरपक्षपातिनी युक्तिः, तस्या अभावात्। दुरवस्था लाक्षणिकत्वाभ्युपगमस्वरूपा प्रकृते बोध्या।

प्राचीनसमर्थनप्रकारान्तरं निराचष्टे—यत्त्वित्यादिना। आस्वादः, आस्वाद्यत इत्यास्वादो रसः, 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इति नियमात्। तस्योद्बोध-कत्वं व्यञ्जकत्वम्, न तु जनकत्वम्, रसस्य नित्यत्वेन तज्जननाऽसम्भवात्। तदाह—रसव्यञ्जकतयेति। प्रकृते = काव्यलक्षणनिरूपणप्रसङ्गे। लक्षणीयत्वं काव्यलक्षण-

---

लक्षणा का आधार मुख्यार्थबाध नहीं है। यदि अन्य दृढ़तर प्रमाण से काव्यपद मे शब्दार्थोभय की वाचकता प्रमाणित हो चुकी होती तब तो उक्त व्यवहारों में मुख्यार्थ का बाध हो जाने से काव्यपद को शब्दमात्र मे लाक्षणिक माना जा सकता था। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। विरोधी प्राचीन आचार्य का वक्तव्य तो प्रमाण-समर्थित न होने से श्रद्धायोग्य है हीं नहीं। अतः उक्तव्यवहारों मे काव्यपद को लाक्षणिक कहना अयुक्त है। इस प्रकार जब शब्दार्थयुगल में काव्यपद की शक्ति का ग्राहक कोई प्रमाण है ही नहीं तब उक्त व्यवहारस्वरूप प्रमाण से शब्दमात्र में काव्य पद की शक्ति के निर्णय को कोई रोक नहीं सकता। "एकतरपक्षसमर्थक युक्ति (= विनिगमना), अर्थात् काव्यपद की शक्ति शब्दमात्र मे है, अर्थ मे नही अथवा अर्थमात्र में है, शब्द में नहीं, के समर्थक प्रमाण के अभाव मे शब्दार्थयुगल में ही उसकी शक्ति सिद्ध होती है—" यह मत भी उक्त रीति से ही निरस्त हो जाता है। इस प्रकार काव्यपद के शब्दविशेषमात्रवाचक सिद्ध हो जाने पर उसी का लक्षण बताना उचित है, किसी के कपोलकल्पित काव्यपदार्थ का नहीं। काव्य-पदार्थनिर्णय की जो रीति है वही वेद, पुराण, इतिहास आदि के लक्षणों में भी अपनानी चाहिए, नहीं तो 'वेदः पठितः'; वेदस्यार्थो नाऽवगम्यते' इत्यादि व्यवहारों की असंगति पूर्ववत् बनी रह जाएगी।

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्ट-मित्याहुः, तन्न। रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादिसकलालंकारिक-संमतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना, नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्वारैव। एतेन रसोद्बोधसमर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्व-मित्यपि परास्तम्।

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यासक्तम्, प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः, एको न द्वाविति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहार-स्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन्पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेद-शास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।

घटकत्वम्। प्रायश इत्यनेन क्वचिन्नेपथ्यविधानादौ रसोद्बोधकत्वाभावः सूचितः। तत्त्वापत्तिः = काव्यत्वापत्तिः। एतेन = रसोद्बोधकत्वस्याऽतिप्रसक्तत्वेन।

प्राचीनोक्तलक्षणे दोषान्तरमाह—**अपि चेति**। प्रवृत्तिनिमित्तम् = काव्यत्वम्। **व्यासज्यवृत्तीति**। पर्याप्तिसम्बन्धेनानेकाधिकरणेष्ववस्थितं व्यासज्यवृत्तीत्युच्यते। यथा द्वित्वसंख्या समवायेन प्रत्येकं वर्तमानाऽपि पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वयोरेव वर्तते, नैकत्र। यस्य च सम्बन्धः स तत्प्रतियोगी, यत्र च सम्बन्धः सोऽनुयोगी तस्य सम्बन्धस्य। द्वित्वस्य पर्याप्तिर्द्रव्ययोरिति द्वित्वं पर्याप्तिप्रतियोगि, द्रव्ये चानुयोगिनी। एवं त्रित्वादिष्वपि बोध्यम्। अत एवैकत्वाऽनवच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगित्वं व्यासज्य-वृत्तित्वमुच्यते। एतद्विपर्ययेण चैकत्वाऽवच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगित्वं प्रत्येकपर्याप्तत्वमुच्यते। काव्यत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वे दोषमाह—**नाद्य इत्यादिना**। द्वितीये दोषमाह—**न द्वितीय इत्यादिना**। **काव्यद्वयेति**। एकं काव्यत्वं शब्दे, अपरं च तदर्थे इति द्वित्वं काव्यत्वस्येति तदाधारभूतकाव्यस्याऽपि द्वित्वमित्यर्थः। प्रकृतमु-

---

अलौकिक आस्वाद (रस) का उद्बोधक ही काव्य है, अतः शब्द और अर्थ दोनों ही काव्य हैं, क्योंकि उक्त आस्वादोद्बोधकता दोनो ही मे समानरूप से है–ऐसा कुछ लोग कहते। किन्तु यह भी असंगत है। कारण है कि तब तो राग को भी काव्य-लक्षण मे समाविष्ट करना होगा, क्योंकि राग को भी ध्वनिकार आदि सभी आलङ्कारिकों ने रसोद्बोधक माना ही है। एवञ्च उक्त लक्षण मे न्यूनता आ जाएगी। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, उक्त मत की असंगति के लिए इतना हीं कहना पर्याप्त होगा कि उसके अनुसार तो बहुत से नाट्याङ्गों के भी रसोद्बोधक होने से उन्हें भी लक्षण मे समाविष्ट करना पड़ जाएगा। अतः उक्त पक्ष अश्रद्धेय है। इसी से 'रसोद्बोधसमर्थ तत्त्व ही काव्यलक्षण का लक्ष्य है' यह मत भी निरस्त हो जाता, क्योंकि उक्त न्यूनता इस मत मे भी पूर्ववत् बनी हुई है।

इस प्रसङ्ग मे यह भी विचारणीय है कि काव्य शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त काव्यत्व

लक्षणे गुणालंकारादिनिवेशोऽपि न युक्तः। 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादिसमुदीरितेऽभिसरणविधि निषेधजीवना-

---

पसंहरन्नाह—तस्मादिति।

सगुणौ सालङ्कारावित्यादि निराचष्टे—लक्षण इत्यादिना। आदिपदेनात्र दोषाऽभावो ग्राह्यः। उदितं मण्ढलं विधोरित्यादौ न काव्यत्वमिति भामहोक्तं प्रकाशकृदिष्टं च खण्डयितुं तत्र काव्यत्वाधायकं व्यङ्ग्यार्थमाह—दूतीत्यादिना। अत्रापि वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्येन व्यङ्ग्यार्थप्रतीतेः काव्यत्वं दुरपह्नवमिति सन्दर्भाशयः। तदाह दण्डी—

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालाऽवस्थानिवेदने॥ इति॥

दूतीत्यादिवचनमित्थं योजनीयम्—अभिसारिकां प्रति दूत्युदीरितेऽस्मिन् वाक्येऽभिसरणविधिपरत्वम्, अभिसारिकया दूतीं प्रत्युक्तेऽभिसरणनिषेधपरत्वम्, विरहिण्युदीरिते च जीवनाभावपरत्वम्, चन्द्रोदयस्य कामोद्दीपकत्वे विरहवेदनौत्कट्यात्। प्रथमवाक्येन दूत्याऽभिसारिकां प्रत्युक्तेनापि निषेधोऽभिसरणस्य कालविशेषादौ

(चमत्कारजनकार्थप्रतिपादकत्व) शब्द और अर्थ इन दोनों में ही व्यासज्ज्यवृत्ती[1] है अथवा शब्द में भी पर्याप्त है और अर्थ मे भी। प्रथम पक्ष तो इस लिए अनुचित है कि उसमे श्लोकवाक्य को काव्य कहना सम्भव न हो सकेगा। कारण यह है कि किसी एक को उभयपर्याप्त धर्म के आधार पर उस धर्म से विशिष्ट नहीं कहा जाता। जैसे दो पुस्तकों में से किसी एक के विषय में 'दो पुस्तकें' यह नहीं कहा जाता। द्वितीय पक्ष भी असंगत है, क्योंकि तब तो एक पद्य में दो—एक शब्दस्वरूप और एक अर्थस्वरूप—काव्य हो जायेंगे। अतः वेदादिलक्षणों के समान काव्यलक्षण का भी शब्दमात्रपरकत्व ही उचित है।

काव्यलक्षण में गुण एवम् अलङ्कारादि से विशिष्ट होने की जो बात कही

---

१. पर्याप्तिसम्बन्ध से एकाधिक पदार्थों की समष्टि मे रहने वाले धर्म को व्यासज्ज्यवृत्ती कहते और उसके विपरीत हर एक मे पर्याप्तिसम्बन्ध से रहने वाले को प्रत्येकपर्याप्त। दो पुस्तकों की समष्टि मे पर्याप्तिसम्बन्ध से रहने वाली द्वित्वसंख्या व्यासज्ज्यवृत्ती है और प्रत्येक घट मे पर्याप्तिसम्बन्ध से रहने वाला एकत्व संख्या, घटत्व आदि प्रत्येकपर्याप्त हैं। व्यासज्ज्यवृत्ती धर्म के अधिकरण समष्टिरूप में अनेक होते, उनमे से कोई एक नहीं। अत एव दो घटों के लिए ही 'घटौ द्वौ' यह व्यवहार होता, किसी एक के लिए नहीं। किन्तु प्रत्येकपर्याप्त का आश्रय प्रत्येक व्यक्ति है। इसी लिए प्रत्येक के विषय में 'घट एकत्वाश्रयः', 'घटो घटत्वाश्रयः' आदि व्यवहार होते।

ऽभावादिपरे 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः । न चेदमकाव्य-मिति शक्यं वदितुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्य-

---

व्यङ्ग्यो भवितुमर्हत्येव । एवमग्रेऽपि यथासम्भवं व्यङ्ग्यार्था ऊहनीयाः । विरहिण्यादी-त्यादिशब्देन यथासम्भवं सख्यादीनां ग्रहणम् । जीवनाऽभावादीत्यादिशब्देन च यथा-यथं रमणागमनकालादिः संग्राह्यः । इत्यादावित्यतः परं गुणालंकारादिरहित इति पूरणीयम् । अव्याप्तिश्चात्र काव्यलक्षणस्य गुणालङ्कारादिघटितस्य । अत्रालङ्काराभा-वप्रतिपादनेन हेत्वलङ्कारः पण्डितराजाऽभिमतो नेति ज्ञायते । नाप्यत्र दोषाऽभावोऽपि, उभयत्रैव विधेयाऽविमर्शस्य सत्त्वादित्यपि बोध्यम् । किञ्चैवं लक्षणेऽलङ्कारदोषा-भाववत्यपि गुणहीने काव्येऽव्याप्तिः । एवमेवैकस्यचनाभावे तदितरसत्त्वेऽप्यव्याप्तिरि-त्यपि विवेचनीयम् । न चेदमित्यनेन भामहाद्युक्ति निरस्यतीति पूर्वमेवोक्तम् । **वदितुमिति** । काव्यत्वहेतुभूतस्य चमत्कारस्य तत्र सत्त्वेन तद्विपर्यये युक्त्यभावा-दित्यर्थः । युक्ति विनाऽप्यकाव्यत्वाङ्गीकारे त्वाह—**काव्यतयेत्यादिना** । **पराभिम-मतस्य**=प्रकाशकाराद्यभिमतकाव्यविषये । **तथा**=अकाव्यमिति । गुणालङ्कारादि-विशिष्टे तदविशिष्टे च चमत्कारिणि वाक्ये काव्यशब्दव्यवहारस्य प्रसिद्धत्वेन चमत्का-रित्वमेवाऽव्यभिचारि काव्यजीवितम्, तच्च 'उदितं मण्डलं विधोः' इत्यादावपि

गई है वह भी उचित नहीं है, क्योंकि गुणालंकारादि से रहित होने पर भी 'उदितं मण्डलं विधोः' (चन्द्रोदय हो चुका) तथा 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्यास्त हो गया) आदि काव्यों में उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जाएगी। इन वाक्यों का काव्यत्व तो प्रमाणित है हीं, क्योंकि वक्तृ-बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य के कारण इन वाक्यों में भी चमत्कार-जनक व्यङ्ग्य अर्थ की बोधकता है। यदि प्रथम वाक्य दूती द्वारा अभिसारिका को कहा गया हो तो इससे अभिसरण का विधान, अभिसारिका द्वारा दूती से कहे जाने पर प्रकाशाधिक्य के कारण दूसरों द्वारा देखे जाने की सम्भावना से अभिसरण का निषेध और विरहिणी द्वारा अपनी सखी या किसी अन्य अन्तरङ्ग व्यक्ति से कहे जाने पर विरह की उत्कटता तथा रमण के आने के समय आदि व्यङ्ग्यार्थ प्रकट होते ही हैं। इसी तरह दूसरे वाक्य से, दूती द्वारा अभिसारिका से कहे जाने पर, अभिसरणकाल आदि व्यङ्ग्यार्थ की भी प्रतीति होती ही हैं। यथासम्भव अन्यान्य चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में इन काव्यों में गुणालङ्का-रादिघटित काव्य-लक्षण की अव्याप्ति सुस्पष्ट है। अतः गुणालङ्कारादि का निवेश अनुचित है। ये वाक्य काव्य हैं ही नहीं, अतः इनमें काव्य-लक्षण की अव्याप्ति इष्ट है—यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि जब इनसे चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ का प्रतिपादन होता है तो फिर इन्हें काव्य न कहना सम्भव नहीं। अन्यथा प्राचीन-

त्वात् । काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । गुणत्वालंकारत्वादेरननुगमाच्च ।

दुष्टं काव्यमिति व्यवहारस्य बाधकं विना लाक्षणिकत्वायोगाच्च । न च संयोगाभाववान्वृक्षः संयोगीतिवदंशभेदेन दोषरहितं दुष्ट-

समानमित्यतस्तस्यापि काव्यत्वमस्त्येवेत्याशयवानाह—काव्यजीवितमित्यादि । 'यः कौमारहरः' इत्यादौ काव्यत्वस्यालङ्कारविरहेऽपि स्वयमभ्युपगमाच्चैतदेव युक्तमित्यपि बोध्यम् । ननु तत्रापि कथञ्चिदलङ्कारादयः सन्त्येवेत्यत आह—गुणत्वादीति । गुणानामलंकाराणां चानिश्चिततया गुणत्वादेरननुगमान्न तेन रूपेण गुणादीनां लक्षणे प्रवेशः, सर्वगुणप्रवेशेऽसम्भवः, तद्व्यक्तित्वेन प्रवेशे तु परस्पराभावेन व्यभिचार इति तात्पर्यम् ।

इदानीमदोषाविति विशिष्य निराचष्टे—दुष्टमित्यादिना । दुष्टं काव्यमिदं पद्यमित्यनेन पद्ये दोषयुक्तकाव्यत्वं विधीयते । तत्र यदि दोषयुक्तस्य काव्यत्वमेव न प्रकाशकृन्मते, काव्यस्य च दोषयुक्तत्वं नेति तर्हि तन्मत एतादृशव्यवहारानुपपत्तिः । ननु प्रकृत व्यवहारे काव्यपदं लक्षणया यत्किञ्चल्लक्षणविशिष्टकाव्यवदाभासमानवाक्यपरमिति न व्यवहारानुपपत्तिरित्यत्राह—बाधकं विनेत्यादि । मुख्यार्थस्य बाधे हि लक्षणा भवति । प्रकृते च विधेयाऽविमर्शदोषयुक्तेऽपि 'न्यकारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ काव्यत्वस्य ध्वनिकारादिसम्मतत्वेन काव्यपदमुख्यार्थस्य स्पष्टं दुष्टपदार्थेनाऽन्वये बाधकाभावस्तात्पर्यानुपपत्त्यभावश्चेति न लक्षणा शक्याऽऽश्रयितुमिति भावः ।

काव्यत्वस्याऽव्याप्यवृत्तित्वमङ्गीकृत्य कृतामाशङ्कां निरस्यति—नचेत्यादिना । अयम्भावः—काव्यत्वं संयोगादिवदव्याप्यवृत्ति । अव्याप्यवृत्तित्वं च तस्यैव यः स्वाधिकरणे एकदेशेन विद्यमानः सन्देशान्तरेणाऽविद्यमानः । यथा वृक्षे कपिसंयोगः शाखाविशेषाऽवच्छेदेन वर्त्तमानः सन्नपि शाखान्तरमूलाद्यवच्छेदेनावर्त्तमानोऽव्याप्यवृत्ती । यस्यैकस्मिन्नेवाधिकरणे देशभेदेन भावाऽभावौ सोऽव्याप्यवृत्तीति तात्पर्यम् ।

सम्मत काव्यों को भी अकाव्य कहा जा सकता है, जिससे उनमें काव्य-लक्षण की संगति से अतिव्याति दोष उनके लक्षण में अपरिहार्य हो जायेगा । साथ ही, गुणों और अलंकारों में अनुगत किसी गुणत्व और अलंकारत्व धर्मों के सिद्ध न होने से गुणालंकारादिघटित काव्य-लक्षण का अनुगम (=स्पष्ट प्रतिपत्ति) भी न हो सकेगा ।

काव्य-लक्षण में 'अदोषौ' यह अंश भी अनुचित है, क्योंकि 'दुष्टं काव्यमिदं पद्यम्' यह व्यवहार सुप्रसिद्ध है । इससे काव्य का दोषयुक्त होना भी प्रमाणित होता है । अतः ऐसे काव्यों में 'अदोषौ' पद से घटित लक्षण की अव्याप्ति हो जाएगी ।

मिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम्। 'मूले महीरुहो विहंगमसंयोगी, न शाखायाम्' इति प्रतीतेरिवेदं पद्यं पूर्वार्धे काव्यमुत्तरार्धे तु न काव्यमिति स्वरसवाहिनो विश्वजनीनानुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तिताया

अत एव स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमव्याप्यवृत्तित्वमिति परिष्कुर्वन्ति। यस्याभावः स प्रतियोगी। अत्र वेदान्तमते यद्यपि शाखाविशेषस्यैवाधिकरणत्वं न तु तद्वतो वृक्षस्येति संयोगो नाव्याप्यवृत्ती तथापि वृक्षः कपिसंयोगीत्यादिप्रतीतेर्वृक्ष एवाधिकरणं कपिसंयोगस्य, शाखादिस्त्वधिकरणताऽवच्छेदक एव, शाखादौ सप्तम्युपपत्तिश्चाधिकरणतावच्छेदकेऽधिकरणत्वारोपात् 'शरीरे मे वेदना' इति वदिति न्यायमतेन शङ्कासमाधाने बोद्धव्ये। तदेवं काव्यत्वस्याप्यव्याप्यवृत्तितया तस्य चैकत्रैवाधिकरणे पद्ये भावाऽभावयोरधिकरणताऽवच्छेदकभेदेन विरोधाऽभावान्न दुष्टं काव्यमिदं पद्यमित्यत्र पद्ये काव्यपददुष्टपदार्थान्वये बाधः। समानविषयत्वे हि विरोधः, विरोधे च दुर्बलं बलीयसा बाध्यते वस्तुतः। प्रकृते तु काव्यत्वस्य दोषरहितांशावच्छेदेन दुष्टत्वस्य च तदितरांशाऽवच्छेदेनैकत्र पद्ये सत्त्वेप्यधिकरणतावच्छेदकभेदेन समानविषयत्वाभावान्न विरोधः, विरोधाभावाच्च न तदुभयान्वये बाध्यबाधकभाव इत्यस्मन्मतेऽपि नानुपपत्तिरुक्तव्यवहारस्येति शङ्कार्थः। ये त्वत्र शङ्काग्रन्थं दोषमात्रेऽव्याप्यवृत्तित्वपरं व्याचक्षते ते न युक्ताः, दोषस्य तथात्वेऽपि केवलं तदव्याप्य-

---

उक्त व्यवहार में जो वाक्य दोषयुक्त होने से काव्य नहीं है किन्तु दोषरहितत्व से भिन्न काव्यलक्षणों के सम्बन्ध के कारण काव्यवत् प्रतीत—काव्याभास है उसी के लिए काव्य शब्द का वक्ता के द्वारा लाक्षणिक प्रयोग हुआ है—यह कथन भी अनुचित है, क्योंकि मुख्यार्थबाध के बिना लक्षणा नहीं मानी जा सकती। 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि पद्य में विधेयाऽविमर्श दोष रहने पर भी काव्यत्व ध्वनिकारादिसम्मत है। एवञ्च काव्यात्मक पद्य के लिए दोषयुक्त होना भी सम्भव है। ऐसी दशा में काव्य शब्द के मुख्यार्थ के साथ 'दुष्ट' शब्दार्थ के अन्वय में किसी बाधा के न रहने से उक्त व्यवहार में काव्य शब्द को लाक्षणिक कहना असंगत है। साथ ही, यह लक्षणा रूढिमूला तो है नहीं और कोई प्रयोजनविशेष भी इसमें नहीं दिखता। इस प्रसङ्ग से यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक ही वृक्ष में अंशविशेष में पक्षिसंयोग और अंशान्तर में पक्षिसंयोगाभाव के समान एक ही पद्य में अंशविशेष में दोष और निर्दुष्ट अंशान्तर में काव्यत्व होने से 'वृक्षः पक्षिसंयोगी तदभाववांश्च' के समान 'इदं पद्यं दुष्टं काव्यं (च)' इस व्यवहार में कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि 'मूले वृक्षः पक्षिसंयोगी, न शाखायाम्' इस प्रामाणिक प्रतीति के आधार पर वृक्ष में अंशविशेष मे पक्षिसंयोग और अंशान्तर मे पक्षिसंयोगाभाव से संयोग के अव्याप्य-

अपि तस्यायोगात् । शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानाम् हारादिवदुपस्कारकाणामलंकाराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च ।

यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न । वस्त्वलंकारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, महाकविसंप्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात् । तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतन-

---

वृत्तित्वस्य प्रकृतानुपयोगात्, अन्यथा दोषयुक्तस्यापि काव्यत्वं प्रसक्तमेवेति नेष्टसिद्धिरनया शङ्कया । अत एव ग्रन्थकृताऽपि काव्यत्वस्याऽव्याप्यवृत्तित्वसमर्थको यो व्यवहारः 'इदं पद्यं पूर्वार्धे काव्यम् उत्तरार्धे तु न काव्यम्' इति तस्यैव निराकरणमनुभवविरुद्धतया कृतम्। दोषस्याव्याप्यवृत्तितानिराकरणं तु नार्थः, तथासति वहुव्याकोप इत्यलं परपक्षदूषणोद्भावनेन । तस्येत्यनेन काव्यत्वं परामृश्यते । सन्दर्भश्च व्याख्यातप्रायः । किञ्च श्रुतिकटुत्वादिदोषाणां सर्वांशेन काव्यनिष्ठत्वात्तत्र काव्यत्वस्याव्याप्यवृत्तितामाश्रित्यापि दुष्टस्याऽकाव्यत्वाभ्युपगमोऽनुपपन्न इत्याद्यपि विभावनीयमत्र प्रसङ्गे । सगुणादिपदप्रतिपाद्यं गुणादिवैशिष्ट्यमपि शब्दशरीरके काव्ये नोपपद्यत इत्याह—शौर्यादिवदित्यादि । आत्मधर्माणामुपस्कारकाणां चेति द्वयमपि हेतुगर्भं विशेषणम् । यतो गुणा आत्मधर्मा यतश्चालङ्कारा उपस्कारकत्वेन शरीरानवयवा अत एषां काव्यशरीरघटकत्वानुपपत्तिरित्यर्थः ।

विश्वनाथोक्तं काव्यलक्षणं दूषयितुं प्रथममर्थतस्तदनुवदति—यत्त्वित्यादिना ।

वृत्तित्व के[1] सिद्ध होने पर भी 'इदं पद्यमस्मिन्नंशे निर्दुष्टम्=काव्यम्, अंशान्तरे च दुष्टम्=अकाव्यम्' इस प्रतीति के प्रामाणिक न होने से काव्य का अव्याप्यवृत्तित्व, अर्थात् पद्य के निर्दुष्ट अंशमात्र मे काव्यत्व का अस्तित्व, सिद्ध नहीं होता । साथ ही, शौर्य आदि के समान काव्य की आत्मा (व्यङ्ग्यार्थ) के धर्म गुणों और शरीर के आगन्तुक शोभाधायक अलङ्कारों को काव्यशरीर के अङ्गभूत तत्त्व कहा भी नहीं जा सकता ।

साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने यह निर्णय किया है कि काव्य वहीं है जो रसवान् हो, अर्थात् रसोद्बोधक हो । किन्तु यह निर्णय अयुक्त है क्योंकि तब तो वस्तुप्रधान (जहाँ वस्तु व्यङ्ग्य हो) और अलङ्कारप्रधान (जहाँ अलङ्कार व्यङ्ग्य हो) जो काव्य हैं वे उनके अनुसार काव्य न हो सकेंगे । वे काव्य हैं भी नहीं—यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा कहने पर तो महाकवियों की वर्णन-परम्परा ही उच्छिन्न

---

१. एक ही अधिकरण के किसी अंश में जिसका अभाव और दूसरे अंश मे भाव हो उसे 'अव्याप्यवृत्ती' कहते । अव्याप्य=अपने अधिकरण के सर्वांश को व्याप्त किये विना, वृत्ती=रहने वाला पदार्थ जो हो ।

भ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलसितानि च । न च तत्रापि यथाकथंचित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम् । ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति', 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात् । अर्थमात्रस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक् ॥

तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा । सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः । तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया

तन्नेत्यादिना खण्डनम् । परम्परयेति यथाकथञ्चिदित्यस्यैव विवरणम् । अङ्गरसविभावादितयाऽङ्गिरसस्पर्शित्वमत्र विवक्षितम् परम्परयेत्यनेन । स्वरसेन तु कपिविलसितादेरपि साक्षादेव सम्बन्धः । शेषं स्पष्टम् ॥

सम्प्रति लक्षितस्य कविकर्मणः काव्यस्य कारणं निरूपयति—**तस्येत्यादिना** । केवलेत्यनेन प्रतिभाया व्युत्पत्त्यभ्यासाऽसहकृतत्वं बोधयन् व्युत्पत्त्यभ्यासप्रतिभात्रितयपर्याप्तत्वं कारणत्वस्य निराचष्टे । लोकोत्तरवर्णनानिपुणताविशिष्टं काव्यं प्रति त्रितयस्य कारणत्वमित्यपरे । कविगतेत्यनेन प्रतिभायाः काव्यनिर्माणानुकूलतास्वरूपमुपलक्षणमाचष्टे । प्रतिभां वर्णयति—**काव्येत्यादिना** । अत्र यथावसरमिति पूरणीयम् । कविगतेत्यनेन दर्शितं विवृणोति—**तद्गतमिति** । तत्पदेन प्रतिभा ग्राह्या । **कारणताऽवच्छेदकतयेति** । अत्र प्रतिभानिष्ठा काव्यकारणता किंचिद्धर्माऽवच्छिन्ना, कारणतात्वात्, दण्डादिनिष्ठघटकारणतावदित्यनेन प्रयोगेण प्रतिभा-

---

हो जाएगी, क्योंकि उन्होंने अपने काव्यों में केवल रसोद्बोधक तत्त्वों का ही नहीं अपितु जल-प्रवाह, वेग से गिरने, वेग से उछलने, चमत्कारपूर्ण भ्रमण, बन्दरों और बालकों की आकर्षक लीलाओं का भी वर्णन किया ही है। ये साक्षात् रसोद्बोधक तो हैं नहीं। ऐसी स्थिति में इन्हें अकाव्य कहना होगा, जो नितान्त अनुचित है। ये वर्णन भी परम्परया रसोद्बोधक होने से काव्य हैं-यह मानने पर तो 'गौश्चलति' आदि वाक्यों को भी काव्य कहना होगा, क्योंकि विश्व के समस्त पदार्थों के यथासम्भव विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों में किसी न किसी वर्ग में आ जाने से सब में परम्परया रसोद्बोधकता है हीं। ऐसी स्थिति में 'गौश्चलति' आदि वाक्यों का काव्यत्व मानना ही पड़ जाएगा। अतः साहित्यदर्पणकार का मत भी उपादेय नहीं है।

काव्य का हेतु प्रतिभामात्र है, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से सहकृत प्रतिभा नहीं। उचित अवसर पर काव्यनिर्माण के लिए उपयोगी चमत्कारजनक पदार्थ और उसके प्रतिपादक योग्य पद की कवि के ज्ञान में उपस्थिति को ही प्रतिभा कहते। उस प्रतिभा मे रहने वाला प्रतिभात्व धर्म प्रतिभानिष्ठ काव्य की कारणता के अवच्छेदक

सिद्धो जातिविशेष उपाधिरूपं वाऽखण्डम् । तस्याश्च हेतुः क्वचिद्देवता-महापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम् । क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्तिकाव्यकरणा-

---

त्वस्य सिद्धिः, ततश्च 'प्रतिभात्वं जातिः, नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वाद्' इत्यनुमानेन तस्य जातित्वसिद्धिर्बोध्या । उपाधिर्वाऽखण्डमिति । यस्य निर्वचनं न सम्भवति स उपाधिरखण्डः । तथा च विप्रतिपन्नत्वात् जातेस्तत्स्वरूपस्य च ये प्रकृतप्रतिभा-निष्ठं प्रतिभात्वं जातिरूपं न मन्यन्ते तन्मतेनेदमखण्डोपाधिः । अयं च जातितुल्य-योगक्षेमत्वात्कारणताया अवच्छेदकः । नागेशभट्टास्तु समस्तमेवाखण्डोपाधिं जातिं मन्वाना अखण्डमिति पाठं चिन्त्यं निर्दिशन्तः सखण्डमिति पाठमभिप्रयन्ति । यद्वा तन्मत उपाधिमात्रस्य सखण्डत्वेनोपाधिर्वेत्येतावन्मात्रमेव पठनीयम् । एतन्मते च चमत्कारप्रयोजकत्वं वैलक्षण्यं वाऽच्छेदकमाश्रित्यानुगमः कारणतायाः कर्त्तव्यः ।

प्रतिभाहेतुं निरूपयति--तस्याश्चेत्यादिना । प्रतिभाया इत्यर्थः । क्वचित्= व्युत्पत्त्यभ्यासरहिते पुरुषे । क्वचिच्च=अदृष्टाभावविशिष्टव्युत्पत्त्यभ्यासविशिष्टे

के रूप अनुमित एक जाति है । कारण में जो कारणता रहती वह कारणनिष्ठ किसी अन्यूनाऽनतिरिक्तवृत्ती धर्मान्तर से अवच्छिन्न होती है और वह धर्मान्तर उस कारणता का अवच्छेदक होता है । जैसे—दण्ड घट का कारण है, अतः दण्ड में घटनिष्ठ कार्यता से निरूपित कारणता है । उस कारणता का अवच्छेदक उससे न्यून अथवा अधिक देश मे रहने वाला तद्दण्डत्व अथवा पृथिवीत्वादि नहीं हो सकता, अपितु जितने में कारणता रहती उतने मे ही रहने वाला और उससे अधिक मे न रहने वाला (अन्यूनानतिरिक्तवृत्ती) दण्डत्व नामक धर्म ही होता है । यह दण्डत्व नित्य और अनेक (सभी) दण्डों मे समवाय सम्बन्ध से विद्यमान (अनेकसमवेत) होने से जातिस्वरूप है । इसी तरह प्रतिभा मे जो काव्यनिरूपित कारणता है उसका अवच्छेदक प्रतिभानिष्ठ कारणता से न्यूनदेश में अथवा अधिक देश मे न रहने वाला प्रतिभात्व धर्म है और वह नित्य एवं सभी प्रतिभाओं मे समवाय सम्बन्ध से विद्यमान होने से एक जाति है । किन्तु जाति का लक्षण सभी शास्त्रों में एक नहीं है और अद्वैतवादी वेदान्ती तो जातिनामक कोई पदार्थ मानते भी नहीं, क्योंकि उनके मत मे ब्रह्म से भिन्न सबके सब पदार्थ मिथ्या और अनित्य हैं । अतः उक्त प्रतिभात्व को एक अखण्ड उपाधि, अर्थात् खण्डों मे विभक्त न होने वाला—निर्वचन के अयोग्य धर्म, भी कहा जा सकता है । नागेश भट्ट तो किसी भी उपाधि को अखण्ड मानते हीं नहीं । अतः उनके अनुसार यह प्रतिभात्व सखण्ड उपाधि है ।

भ्यासौ। न तु त्रयमेव, बालादेस्तौ विनापि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः। न च तत्र, तयोर्जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम्, गौर-

---

पुरुषे च। अदृष्टादित्रितयसमुदिते प्रतिभाकारणत्वं निरस्यति—न तु त्रयमेवेति। अत्रैवकारेण क्वचित्केवलेनादृष्टेन क्वचिच्च त्रितयेन प्रतिभोत्पद्यत इत्यभ्युपेयम्। त्रितयघटकमदृष्टं च केवलादृष्टविलक्षणमेवेत्यपि नागेशमते बोध्यम्। पण्डितराजस्त्वदृष्टस्य तत्रैव कारणत्वं मन्यते यत्र दृष्टेन कारणेन प्रतिबन्धकाऽसमवहितेन कार्योत्पादो न व्याख्येय इति नैतन्मते त्रितयं क्वचिदपि कारणं प्रतिभायाः। यत्र च व्युत्पत्त्यभ्याससत्त्वेऽपि कार्याऽभावस्तत्र दृष्टं तदभावे चादृष्टं प्रतिबन्धकं कल्पनीयम्, कार्योत्पादानुकूलव्युत्पत्त्यभ्यासाऽभावो वेत्यनुपदमेव व्यक्तीभविष्यति। त्रितयस्य कारणत्वाऽभावेऽदृष्टमात्रस्य च कारणत्वे युक्तिमाह—बालादेरित्यादिना। प्रसादादिति। प्रसादजन्यादृष्टादित्यर्थः। यद्यप्यदृष्टस्य सर्वत्र व्यापाररूपकारणत्वमेव, व्यापारेण च व्यापारिणो नाऽन्यथासिद्धिस्तथापि व्युत्पत्त्यभ्यासाऽसहकृतत्वमात्राभिप्रायेण फलाऽयोगव्यवच्छेदेन वा केवलस्याऽदृष्टस्य प्रतिभाकारणत्वमुक्तं नाऽयुक्तमिति बोध्यम्। तत्र=बालादौ। जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यभ्यासकल्पनाऽभावे

उस काव्यकारणीभूत प्रतिभा का उत्पादक कहीं देवता या महापुरुष की कृपा से अथवा तपस्या आदि से उत्पन्न विलक्षण अदृष्ट है। कहीं लौकिक एवं शास्त्रीय व्युत्पत्ति और काव्यनिर्माण का अभ्यास ये दोनो मिलकर भी काव्यविशेषनिर्माण के कारणीभूत प्रतिभा का उत्पादन करते। किन्तु ये दोनो प्रतिभाएँ भिन्न भिन्न कारण से उत्पन्न होने से परस्पर-विलक्षण हैं। अतः इन दोनों प्रतिभाओं से उत्पन्न काव्य भी परस्पर-विलक्षण ही होंगे, एक स्तर के नहीं। अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों मिलकर प्रतिभा को उत्पन्न करते—यह तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि महापुरुष आदि के प्रसाद से उत्पन्न अदृष्ट मात्र से कुछ बाल-कवियों मे काव्य-निर्माणानुकूल प्रतिभा पाई जाती है। बाल-कवियों में वर्तमान प्रतिभा के कारण अदृष्ट के साथ-साथ पूर्वजन्मजात व्युत्पत्ति और अभ्यास भी हैं—ऐसा कहना उचित नही है। इसका एक कारण तो यह है कि पूर्वजन्मजात व्युत्पत्ति और अभ्यास के प्रत्यक्ष सिद्ध न होने से उनकी सिद्धि हेतु प्रमाणान्तर की कल्पना करनी होगी, और जन्मान्तरीय कर्म के अदृष्टद्वारा ही कारण होने से उक्त व्युत्पत्त्यादि से जन्य अदृष्ट को भी व्यापार कारण के रूप मे मानना ही होगा। इससे इस पक्ष मे गौरव दोष स्पष्ट है। दूसरे, उक्त स्थल मे व्युत्पत्त्यादि को भी अदृष्ट के साथ-साथ प्रतिभा का कारण सिद्ध करने वाला कोई दृढतर प्रमाण है भी नही। प्रतिभा-स्वरूप कार्य को हेतु मान कर उसके कारणीभूत व्युत्पत्त्यादि का अनुमान भी नहीं

वान्मानाभावात्कार्यस्यान्यथाप्युपपत्तेश्च। लोके हि बलवता प्रमाणेनाऽऽगमादिना सति कारणतानिर्णये पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य वारणाय जन्मान्तरीयमन्यथानुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते। अन्यथा तु व्यभिचारोपस्थित्या पूर्ववृत्तकारणतानिर्णये भ्रमत्वप्रतिपत्तिरेव जायते।

हेतुः—**गौरवादिति**। तत्रादृष्टमात्रेण कार्योत्पत्तौ तदतिरिक्तयोस्तयोः कारणत्वाभ्युपगमे गौरवादित्यर्थः। यद्वा जन्मान्तरीययोस्तयोः प्रत्यक्षमनुपलम्भादनुमानादिना तत्कल्पने गौरवादित्यर्थः। ननु प्रमाणसिद्धेऽर्थे गौरवमकिञ्चित्करमित्यत आह—**मानाऽभावादिति**। तयोर्बालकविप्रतिभाकारणत्वे दृढतरप्रमाणाऽभावादित्यर्थः। कार्यहेतुकमनुमानमेव प्रमाणमित्यत आह—**कार्यस्येत्यादि**। कार्यस्य प्रतिभाया अन्यथा = अदृष्टमात्रेणैवोपपत्तेस्तदन्यथाऽनुपपत्तिमूलकानुमानस्य प्रसराभावादित्याशयः। यद्यपि जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यभ्यासयोरदृष्टद्वारेणैव कारणत्वं सम्भवदुक्तिकमित्यत्राप्यदृष्टजन्यैव प्रतिभा प्रतीयते तथापि व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धत्वाभावाज्जन्मान्तरीययोस्तयोः प्रतिभाकारणत्वोक्तिः पूर्वपक्षिणो न विरुध्यते। अत एवोक्तं गौरवं जन्मान्तरीयव्युत्पत्त्यादितज्जन्यादृष्टकल्पनेन वरं व्याख्येयम्। कार्यान्यथोपपत्तिमेव विवृणोति—**लोक इत्यादिना**। व्यभिचारस्य = कारणाभावेऽपि कार्यभाव इत्याकारस्य व्यतिरेकव्यभिचारस्य कारणताविघटकस्य। अन्यथाऽनुपपत्त्या = ऐहिककारणाभावे जन्मान्तरीयस्याऽपि कारणस्याऽनभ्युपगमे कार्योत्पत्त्यनुपपत्त्या। कारणं धर्माऽधर्मादि = कारणीभूतं कर्मादि तज्जन्यं द्वारभूतं धर्माऽधर्मादि च।

किया जा सकता, क्योंकि प्रतिभास्वरूप कार्य की जन्मान्तरीय व्युत्पत्त्यादि के विना भी देवादिप्रसादजन्य अदृष्टमात्र से उत्पत्ति हो जाने से उक्त प्रतिभा में व्युत्पत्त्यादिकार्यत्व ही सिद्ध नहीं होता। तात्पर्य यह है कि लोक-व्यवहार मे जन्मान्तरीय किसी पदार्थ को कारण और उससे उत्पन्न अदृष्ट को व्यापार-कारण तभी माना जाता जब उस पदार्थ मे किसी कार्य की कारणता श्रुति-स्मृति आदि अबाधित प्रमाण से सिद्ध हो और वह कारणीभूत पदार्थ प्रकृतजन्म में उपलब्ध न हो। किन्तु यदि किसी पदार्थ मे किसी कार्य की कारणता किसी अविप्रतिपन्न प्रमाण से निर्णीत न हो तो उस पदार्थ और उस कार्य के बीच व्यतिरेक-व्यभिचार[1] होने से उस पदार्थ मे कारणता के सिद्ध न होने से जन्मान्तरीय उस पदार्थ मे कारणता का निश्चय भ्रान्त ही होता, यथार्थ नहीं।

---

१. जिसे कारण मानना अभीष्ट हो उसके विना हीं कार्य की उत्पत्ति होने पर व्यतिरेक-व्यभिचार होता है—'कारणत्वेनाऽभिमताऽभावेऽपि कार्यत्वाऽभिमतोत्पत्तिः।'

नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि शक्यं वदितुम्। कियन्तंचित्कालं काव्यं कर्तुमशक्नुवतः कथमपि संजातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्। तत्राप्यदृष्टस्याङ्गीकारे प्रागपि ताभ्यां तस्याः प्रसक्तेः। न च तत्र प्रतिभायाः प्रतिबन्धकमदृष्टान्तरं कल्प्यमिति

कल्प्यते = अनुमीयते (नैयायिकादिमतेन), अर्थापत्त्या वा प्रमीयते (मीमांसकमतेन)। जन्मान्तरीयं कारणमिति प्रकृताऽभिप्रायेण, परमार्थतस्त्वैहिकस्यापि कारणस्य कल्पनं भवत्येव। तत्र च कारणीभूतकर्मादितत्फलयोरानन्तर्याभावे कारणत्वोपपादकमदृष्टमपि कल्प्यमेवेति बोध्यम्। तदुक्तमाचार्यैः—

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्माऽतिशयं विना॥ इति।

अन्यथा = कारणाऽकल्पने। व्यभिचारो व्यतिरेकव्यभिचारः। यद्यप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वावधारणं न सर्वसम्मतम् तथापि तद्व्यभिचारयोः प्रत्येकं कारणताग्रहविघटकत्वं सम्प्रतिपन्नमेव सर्वेषाम्। निर्णयो निश्चयः प्रकृते, न तु पक्षप्रतिपक्षविमर्शपूर्वकमर्थावधारणम्, तत्र प्रमात्वव्यवस्थापनेन भ्रमत्वाऽयोगात्।

एतावता प्रबन्धेन व्युत्पत्त्यभ्यासाऽसहकृतादृष्टस्य प्रतिभाकारणत्वं व्यवस्थाप्य व्युत्पत्त्यभ्यासयोरदृष्टाऽसहकृतयोः प्रतिभाकारणत्वं निर्णेतुकामः पूर्वपक्षं निरस्यति—नापीत्यादीना। कारणमित्यतः परं प्रतिभामात्रस्येति शेषः। अशक्नुवत इत्यनेन तदानीं प्रतिभाऽभाववर्णनमुखेन तज्जनकाऽदृष्टाऽभावः सूचितः। अदृष्टस्य = प्रतिभाजनकादृष्टविशेषस्य। प्रसक्तेरिति। अभिमतकारणसत्त्वे कार्योत्पत्तेरवश्यम्भावा-

---

यह भी नही कहा जा सकता कि प्रतिभा सर्वत्र अदृष्ट से ही उत्पन्न होती, क्योंकि जो व्यक्ति कुछ समय तक काव्यनिर्माण नहीं कर पाता उसमें भी किसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास करने से प्रतिभा की उत्पत्ति देखी जाती है। यहाँ अदृष्ट के विना ही केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्रतिभा की उत्पत्ति से यह स्पष्ट है कि सर्वत्र अदृष्ट हीं प्रतिभा का कारण नही होता। यदि उस व्यक्ति मे व्युत्पत्त्यादि के पूर्व भी प्रतिभाजनक अदृष्ट होता तो पहले ही प्रतिभा उत्पन्न हो जाती और वह काव्यनिर्माण कर लेता। व्युत्पत्त्यभ्यास के पूर्व उसमें प्रतिभाजनक अदृष्ट के रहते हुए भी प्रतिभा की उत्पत्ति नही हो पाती, क्योंकि उसमें कारणीभूत अदृष्ट के साथ-साथ प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट भी रहता जिसके प्रभाव से कारणीभूत अदृष्ट प्रतिभा का उत्पादन कर नहीं पाता; जब व्युत्पत्त्यभ्यास से प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट का सामर्थ्य अथवा स्वयम् वह अदृष्ट नष्ट हो जाता तब उसमे कारणीभूत अदृष्ट से प्रतिभा उत्पन्न हो जाती—यह कहना भी युक्त नही हैं, क्योंकि वैसे अनेक व्यक्तियों मे अदृष्टमात्रकारणतावादी को कारणीभूत अदृष्टों के अतिरिक्त प्रतिबन्धकीभूत अदृष्टों की कल्पना (अनुमिति) भी करनी पड़ेगी। किन्तु यह कल्पना

वाच्यम् । तादृशानेकस्थलगतादृष्टद्वयकल्पनापेक्षया क्लृप्तव्युत्पत्त्यभ्यासयोरेव प्रतिभाहेतुत्वकल्पने लाघवात् । अतः प्रागुक्तसरणिरेव ज्यायसी ।

दित्यर्थः । प्रतिबन्धकाभावे सत्येव कारणसत्त्वे कार्योत्पत्तेस्तत्र प्रतिबन्धकसत्त्वेन न कार्योत्पत्तिर्न तु कारणीभूताऽदृष्टाभावेन, व्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च जातयोस्ताभ्यां प्रतिबन्धकादृष्टविनाशेन जायते पश्चात् प्रतिभा स्वजनकाऽदृष्टेनापीत्याशङ्कां खण्डयति—**न चेत्यादिना** । दृष्टप्रतिबन्धकाभावादाह—**अदृष्टान्तरमिति** । कारणीभूतादृष्टविरोध्यदृष्टमित्यर्थः । व्युत्पत्त्यभ्यासोत्पत्तौ जायमानायां प्रतिभायामदृष्टजन्यत्वस्यानुपलब्धेर्जनकीभूतमदृष्टं प्रतिबन्धकीभूतमदृष्टं चेति द्वयमपि कल्प्यमेव, तत्र व्युत्पत्त्यभ्यासयोः (स्वमते प्रतिभाकारणत्वेन) परमते च प्रतिबन्धकीभूतादृष्टविनाशकत्वेन क्लृप्तत्वात्तयोर्हेतुत्वमात्रं कल्प्यम्, परपक्षाऽभ्युपगमे तु अदृष्टद्वयकल्पनं व्युत्पत्त्यादौ प्रतिबन्धकाऽदृष्टनाशकत्वकल्पनं चेति गौरवमित्यतस्त्याज्य एष पक्ष इत्याशयवानाह—**अदृष्टद्वयेत्यादि** । अदृष्टद्वयम्=कारणीभूतमेकं प्रतिबन्धकीभूतं चापरमित्यदृष्टद्वयम् । यत्र चाऽदृष्टसत्त्वेऽपि प्रतिबन्धकादृष्टवशात् कार्यविलम्बस्तत्र कदाचिद् व्युत्पत्त्यादेरनन्तरं काव्योत्पत्तावपि तस्य प्रतिबन्धकनाश एवोपक्षीणत्वान्न काव्यकारणत्वम् । **अतः**=लाघवानुगृहीतत्वेन । **प्रागुक्तसरणिः**=क्वचित् केवलमदृष्टं क्वचिच्च व्युत्पत्त्यभ्यासाविति पक्षः । यत्र तु सत्यपि कारणीभूतेऽदृष्टे प्रतिभोत्पत्तौ विलम्बः, जातायां वा प्रतिभायां काव्यनिर्माणे विलम्बस्तत्र दृष्टप्रतिबन्धकाभावे प्रतिबन्धकादृष्टं वा कल्प्यम्, उद्बोधकाऽभावो वेति न काचिदनुपपत्तिः ।

नन्वदृष्टजन्यप्रतिभासत्त्वेऽपि व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यप्रतिभाया अनुदयात् कारणत्वाभिमतसत्त्वेऽपि कार्यत्वाऽभितानुत्पत्तिरित्यन्वयव्यभिचारः, एवं प्रकृताऽदृष्टाभावेऽपि व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्यां प्रतिभोदयात् कारणत्वाभिमताऽभावेऽपि कार्यत्वाभिमतोत्पत्तिरिति व्यतिरेकव्यभिचारोऽदृष्टप्रतिभयोः व्युत्पत्त्यभ्यासप्रतिभयोश्चेति कथं कारणताग्रहो-

---

अत्यन्त गौरवग्रस्त होने से उपेक्षणीय है । कल्पना-लाघव तो इसीमे है कि उभय-सम्मत व्युत्पत्ति-अभ्यास को हीं उक्त स्थल मे प्रतिभा का कारण मान लिया जाय । अतः लाघवानुगृहीत पूर्वोक्त पक्ष ही अधिक उपयुक्त है कि प्रतिभा कहीं केवल अदृष्ट से ओर कहीं व्युत्पत्ति और अभ्यास इन दोनों से उत्पन्न होती है । यदि कहीं प्रतिभाजनक अदृष्ट के रहते हुए भी काव्य-निर्माण मे विलम्ब के आधार पर काव्यजनक प्रतिभा की उत्पत्ति मे विलम्व सिद्ध हो तो वहाँ दृष्ट प्रतिबन्धक या उसके अभाव मे अदृष्ट प्रतिबन्धक की कल्पना करनी चाहिए । अथवा अदृष्ट के उद्बोधक की ही अनुपस्थिति मानकर व्याख्या करनी चाहिये ।

तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः। प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणतावच्छेदकम्, प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः।

ऽदृष्टादावित्यत आह—तादृशादृष्टस्येत्यादि। अयमर्थः—तृणारणिमणिन्यायेन कार्यवैजात्याभ्युपगमान्नोक्तव्यभिचारप्रसङ्गः। तथाहि तृणेऽरणौ मणौ च वह्निकारणत्वेऽपि यथा तृणजन्यवह्नेररण्यादिजन्यवह्निभ्यां वैजात्येन न तत्र परस्परं कार्यकारणभावव्यभिचारः, तृणसत्त्वे तार्णवह्नेः, तृणाभावे तार्णवह्न्यभावस्य चोपपत्तेस्तथैवादृष्टजन्यप्रतिभायां व्युत्पत्त्यभ्यासजनितप्रतिभायां च वैजात्याद् यदाऽदृष्टं तदा स प्रतिभाविशेष उत्पद्यते, यदा चाऽदृष्टाभावस्तदा स प्रतिभाविशेषो नोत्पद्यत इति रीत्योक्तव्यभिचारनिराकरणे कारणत्वग्रहे न किञ्चिद् बाधकमिति। इदानीं प्रतिभाकाव्ययोः कारणकार्यभावं निरूपयति—प्रतिभात्वमित्यादिना। प्रतिभा काव्यकारणमिति सामान्यतः काव्यत्वं कार्यताऽवच्छेदकम्, तन्निरूपितायाः प्रतिभानिष्ठकारणतायाश्चावच्छेदकं प्रतिभात्वमित्यर्थः। परन्तु अदृष्टजन्यप्रतिभाजन्यस्य व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यप्रतिभाजन्यस्य च काव्यस्य परस्परविलक्षणत्वेनाऽदृष्टजन्यप्रतिभाविशेषसत्त्वाऽसत्त्वयोः व्युत्पत्त्यभ्यासजन्यप्रतिभाजन्यकाव्याऽसत्त्वसत्त्वयोरन्वयव्यतिरेकव्यभिचारौ स्फुटाविति कथं कारणताग्रहस्तयोरित्यत आह—प्रतिभागतवैलण्यमेवेत्यादि। वैलक्षण्यं च कार्यनिष्ठोत्तमोत्तमत्वादिसमनुकूलमुत्तमोत्तमत्वादिकमेव। अत्र यथा कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यं कार्यताऽवच्छेदकं तथैवादृष्टादिकारणेष्वपि अदृष्टत्वादिव्याप्यं वैलक्षण्यं कार्यवैलक्षण्यानुकूलं कल्प्यम्। अतो न

इस पक्ष मे अदृष्टादि और प्रतिभा के बीच व्यतिरेक-व्यभिचार आपाततः अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि अदृष्टरूपी कारण के अभाव मे भी व्युत्पत्त्यभ्यासद्वय कारण से और व्युत्पत्त्यादिस्वरूप कारण के अभाव मे भी अदृष्टात्मक कारण से प्रतिभा की उत्पत्ति हो ही जाती है। किन्तु विचार करने पर यह दोष नहीं रह जाता। कारण यह है कि अदृष्टजन्य प्रतिभा और व्युत्पत्त्यादिजन्य प्रतिभा उसी प्रकार परस्पर-विलक्षण—भिन्न भिन्न हैं जिस प्रकार तृण से उत्पन्न, मणि से उत्पन्न और अरणिमन्थन से उत्पन्न अग्नि परस्पर-विलक्षण हैं। अतः जैसे 'तृणसत्त्वे तार्णवह्न्युत्पत्तिः' यह अन्वय और 'तृणाऽभावे तार्णवह्न्यभावः' यह व्यतिरेक भी उपपन्न हैं उसी प्रकार 'अदृष्टसत्त्वे तज्जन्यप्रतिभाविशेषोत्पत्तिः' यह अन्वय और 'अदृष्टाऽभावे तज्जन्यप्रतिभाविशेषाऽभावः' यह व्यतिरेक बन जाते हैं। इसी तरह व्युत्पत्त्यभ्यासजन्य प्रतिभाविशेष के साथ व्युत्पत्त्यभ्यास के अन्वय-व्यतिरेक भी उपपन्न हैं। फलतः उक्त व्यतिरेक-व्यभिचार नहीं होता। उभयविध प्रतिभा में जो दो कार्यताएँ हैं उनके अवच्छेदक भी उन दोनों मे रहने वाले 'वैलक्षण्य'

न च सतोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभोत्पत्तिस्तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम् । तत्र तयोस्तादृशवैलक्षण्ये मानाभावेन कारणतावच्छेदकानव-

---

कश्चिद् दोषः । अन्वयव्यभिचारं निराचष्टे—न चेत्यादिना । मानाऽभावेनेति । वैलक्षण्यं प्रतिभोत्पादनाकूलोऽतिशयविशेषः कार्यदर्शनानुमेयः, तद्विषयकानुमित्यभावेन ।

अयमर्थः—वैलक्षण्यस्यातीन्द्रियत्वेन कयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोस्तद्वैलक्षण्यं वर्त्तत इति निर्णयः कार्यहेतुकानुमानेनैव करणीयः। प्रकृते च प्रतिभास्वरूपकार्याऽभावेन तद-नुमानं न प्रक्रमते । प्रमाणान्तरं चात्राऽसम्भवि । तथा च वैलक्षण्यसाधकप्रमाणाऽभावे न तादृशं वैलक्षण्यं तथाविधव्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रसिध्यति । कारणतावच्छेदकाऽभावे च कारणतैव तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोर्नास्तीति तत्र प्रतिभाऽनुत्पत्तिरिष्टैवेति नान्वय-व्यभिचारः, कारणत्वाऽभिमताऽभावे कार्यत्वाऽभिमताऽभावस्येष्टत्वादिति । यत्र पुनर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्विलम्बेन प्रतिभोत्पत्तिस्तत्र दृष्टाऽभावे जनकत्वप्रतिबन्धकं किम-

---

ही क्रमशः हैं । प्रतिभाओं में रहने वाला प्रतिभात्व धर्म प्रतिभानिष्ठ काव्यनिरूपित कारणता का अवच्छेदक है । वस्तुतः दो प्रतिभाओं से उत्पन्न काव्य भी द्विविध ही होते । अतः प्रतिभाओं मे जैसे अदृष्टादिनिष्ठकारणतानिरूपित कार्यताओं के अव-च्छेदक क्रमशः दोनो वैलक्षण्य होते उसी प्रकार प्रतिभाओं में जो काव्यनिष्ठकार्य-तानिरूपित कारणताएँ हैं उनके अवच्छेदक प्रतिभाद्वयनिष्ठ दोनो वैलक्षण्य हीं क्रमशः होते, उभयप्रतिभासाधारण प्रतिभात्व नहीं । इसी प्रकार उभयविध काव्यों मे जो कार्यताएँ हैं उनके अवच्छेदक भी क्रमशः उभयनिष्ठ वैलक्षण्यद्वय ही हैं, उभयकाव्य-साधारण काव्यत्व नहीं । अब प्रश्न यह है कि जब व्युत्पत्ति और अभ्यास के रहने पर भी प्रतिभा की उत्पत्ति नहीं होती तो 'व्युत्पत्त्यभ्याससत्त्वेऽपि प्रतिभोत्पत्त्यभावः' यह अन्वयव्यभिचार क्यों नहीं होता । इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि कारणतावच्छेदक से अवच्छिन्न पदार्थ मे ही कारणता रहती है; व्युत्पत्त्यभ्यासनिष्ठ प्रतिभाविशेषनिरूपित कारणता का अवच्छेदक, सभी व्युत्पत्ति-अभ्यासों से प्रतिभा की उत्पत्ति न होने से, विशेष प्रकार के (=प्रतिभोत्पादनसमर्थ) व्युत्पत्त्यभ्यास-निष्ठ वैलक्षण्य है; वह वैलक्षण्यस्वरूप कारणतावच्छेदक प्रतिभोत्पादन में असमर्थ व्युत्पत्त्यभ्यास में नहीं रहता, अतः उसमे कारणता भी नहीं रहती; अत एव प्रतिभा की उत्पत्ति उस व्युत्पत्त्यभ्यास से नहीं हो पाती । उक्त वैलक्षण्य के न रहने मे कारण यही है कि उसके रहने मे कोई प्रमाण नहीं है । तात्पर्य यह है कि वैलक्षण्य के भाव (अथवा अभाव) का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से हो नहीं सकता, क्योंकि वैलक्षण्य अतीन्द्रिय है । अतः उसके भाव का निर्णय कार्यहेतुक अनुमान से ही सम्भव है । प्रकृत स्थल मे जब कार्य उत्पन्न ही नहीं होता तो कार्यहेतुक

च्छिन्नत्वात् । पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः । प्रतिबन्धकाभावस्य च कारणता समुदितशक्त्यादित्रयहेतुतावादिनः शक्तिमात्रहेतुतावादिनश्चाविशिष्टा । प्रतिवादिना मन्त्रादिभिः कृते कतिपयदिवसव्यापिनि वाक्स्तम्भे विहितानेकप्रबन्धस्यापि कवेः काव्यानुदयस्य दर्शनात् ॥

प्यदृष्टं कल्प्यमेवेत्याह—पापेत्यादि । वाशब्दोऽत्र समुच्चये । प्रतिभाऽनन्तरं काव्यनिर्माणविलम्बेऽप्यैषैव गतिः । एतावतोक्तान्वयव्यभिचारप्रदर्शनमुखेन कार्यात्यन्ताभावेन कार्यबिलम्बेन च जनकीभूताऽदृष्टाऽभावतदुद्बोधविलम्बसाधनद्वारेणादृष्टव्युत्पत्त्यभ्यासत्रितयसाधारणमेव प्रतिभाकारणत्वं पर्यवस्यतीति पूर्वपक्षिण आकूतं निरस्तं वेदितव्यम्, प्रतिभाऽत्यन्ताभावे कारणीभूतव्युत्पत्त्यभ्यासाभावकल्पनेन प्रतिभाविलम्बे चादृष्टविशेषस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनेनैवोपपत्तावदृष्टस्य तत्रापि कारणत्वकल्पने गौरवादिति निष्कर्षः । जनकत्वेनेदृशस्थलेऽदृष्टकल्पनाऽयुक्तत्वेऽपि प्रतिबन्धकीभूताऽदृष्टकल्पनमुभयसम्मतत्वात् प्रामाणिकत्वाच्च न गौरवपराहतमित्याह—**प्रतिबन्धकाऽभावस्येत्यादिना** । शक्तिः = अदृष्टम् । यद्वाऽदृष्टाऽसहकृतत्वरूपमेव वैलक्षण्यम्, तच्चैवंविधस्थलेऽपीति कारणतावच्छेदकावच्छिन्नयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासस्वरूपयोः कारणयोः सद्भावेऽपि कथं न प्रतिभोत्पत्तिरित्यत्रोपपत्तिमाह—**पापविशेषस्येत्यादि** । शेषं कृतव्याख्यानम् ॥

अनुमान की, जो तादृशवैलक्षण्य को मानने मे साधक प्रमाण और न मानने में बाधक प्रमाण होता, तो कोई सङ्गति ही नहीं । इस प्रकार, वैलक्षण्य-साधक प्रमाण न होने से उक्त वैलक्षण्य का अभाव प्रमाणित हो जाता है । यदि कहीं व्युत्पत्त्यभ्यास के बाद बिलम्ब से प्रतिभा की उत्पत्ति होती तो वहाँ कार्योत्पत्तिप्रतिबन्धक अदृष्ट की कल्पना कर विलम्ब का उपपादन करना चाहिए । प्रतिबन्धक के रहते हुई कार्य की उत्पत्ति न होने से प्रतिबन्धकाऽभाव को भी प्रसिद्ध कारण के विशेषण के रूप में (प्रतिबन्धकाभावविशिष्ट कारण) अथवा स्वतन्त्र रूप में एक कारण मानना ही है । प्रतिबन्धकाभाव को कार्य का अन्यतम कारण तो शक्ति (= अदृष्ट), व्युत्पत्ति और अभ्यास—इन तीनों को समुदित रूप में काव्य का कारण मानने वाले पूर्वपक्षी को भी कहना ही होगा, क्योंकि उक्त कारणत्रय के रहने पर भी मन्त्रादि द्वारा कुछ दिनों के लिए वाक्स्तम्भन कर दिये जाने पर अनेक महाकाव्यों के रचयिता भी उतने दिनों तक काव्यनिर्माण नहीं कर पाते । इसकी व्याख्या प्रतिबन्धकाभाव को कारण माने विना असम्भव है । अतः उभयसम्मत एवं प्रामाणिक होने से प्रतिबन्धकाभाव में कारणता मानने में कोई दोष नहीं रह जाता ।

तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा ।

शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम् ॥

कमपीति चमत्कृतिभूमिम् । तेनातिगूढस्फुटव्यङ्ग्ययोर्निरासः ।

उक्तलक्षणं काव्यं विभजते—तच्चेत्यादिना । शब्दार्थावित्यादि । यत्र काव्ये गुणीभावितात्मानौ शब्दार्थौ कमप्यर्थं चमत्कारजनकमभिव्यङ्क्तस्तदुत्तमोत्तममित्यक्षरार्थोऽस्य सूत्रस्य । अर्थश्चात्र यथायथं वाच्यो लक्ष्यो व्यङ्ग्यश्च ग्राह्यः, यत्र व्यङ्ग्यार्थेन व्यङ्ग्यार्थान्तरप्रतीतिर्यथा 'निश्शेषच्युतचन्दनम् इत्यादौ तत्र व्यङ्ग्यस्यापि स्वव्यङ्ग्यान्तरापेक्षया गुणीभावसम्भवात् । यद्वा सर्वत्रैव वाच्यार्थस्य गुणीभावसम्भवात्तावन्मात्रनिवेशेनैव संगतिः । अत एव ध्वन्यालोकवृत्त्यादौ वाच्यार्थमात्रस्य गुणीभाव उक्तो ध्वनिकाव्ये । लक्ष्यव्यञ्जकान्तरव्यञ्जकव्यङ्ग्ययोर्वाच्यापेक्षया प्राधान्येऽपि व्यङ्ग्यप्राधान्याभावान्नातिप्रसंगः ।

अत्र च शब्दार्थयोर्गुणीभावत्वोक्त्या व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं चमत्कारजनकत्वं चेति द्वयमभिप्रेतम् । तत्र प्राधान्यमुपपादकत्वाऽसमानाधिकरणमुपपाद्यत्वम्। विधेयत्वं वा तादृशम्, उपपादकत्वमात्रं च गुणीभाव इत्यवधेयम् । अपराङ्गेऽपि शृङ्गारादेः प्रकृष्टकरुणाद्युपपादकत्वमस्त्येव, विशेषणोपपादके विशिष्टोपपादकत्वस्य न्यायसिद्धत्वात् । अतिशयचमत्कारजनकत्वरूपं तु प्राधान्यमत्र न विवक्षितम्, उत्तमकाव्ये व्यङ्ग्यस्यातिशयचमत्कारित्वेपि तदप्राधान्योक्तेः । इदमुत्तमोत्तमकाव्यमेव ध्वनिकाव्यमित्यप्युच्यते । तदुक्तं ध्वनिकारेण—

यत्राऽर्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः; काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ इति ।

अत्र च व्यञ्जकत्वेनैकतरप्राधान्यमन्यतरस्य चाऽप्राधान्यं सहकारित्वरूपमभिप्रेत्य विकल्पार्थकोऽपि वाशब्दस्तात्पर्यतः समुच्चयार्थ एवेति शब्दार्थयोर्द्वयोरेव गुणभाव इत्याशयेन पण्डितराजेन द्वयोरेव तथात्वं दर्शितम् ।

तेनेति । चमत्कृतिभूमीति व्यङ्ग्यविशेषणेनेत्यर्थः । सहृदयैरपि दुःखवेद्यमतिगूढम्, असहृदयैरप्यनायासवेद्यम् अतिस्फुटव्यङ्ग्यम् । 'कामिनीकुचकलशवद् गूढं

यह काव्य चार प्रकार का होता है—उत्तमोत्तम (ध्वनि), उत्तम, मध्यम और अधम ।

शब्द और यथासम्भव वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ अपने को गौण बना कर जहाँ किसी (चमत्कारजनक प्रधानीभूत व्यङ्ग्य) अर्थ की अभिव्यक्ति करते हों वह आद्य, अर्थात् उत्तमोत्तम, काव्य है ॥

'किसी अर्थ' का अभिप्राय चमत्कारजनक अर्थ है । इससे 'अतिगूढव्यङ्ग्य' और

अपराङ्गवाच्यसिद्धचङ्गव्यङ्गचस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय गुणीभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यङ्गचप्राधान्याभिप्रायकम् ।

चमत्करोति' इति प्रकाशोक्तौ तु गूढमित्यस्येषद्गूढम् इति तात्पर्यम् । उभयोरनयोर्व्यङ्ग्यार्थस्योपपाद्यत्वेन प्राधान्ये सत्यपि तस्य चमत्कारकारणत्वाभावान्नोक्तोत्तमोत्तमकाव्यलक्षणाऽतिव्याप्तिरित्याशयः । असुन्दरव्यङ्ग्येऽप्यचमत्कारिणि प्रकृतविशेषणेनैव निरसनीयाऽतिव्याप्तिः । उदाहरणान्येषां काव्यप्रकाशादिभ्योऽवसेयानि । अभिप्रेतस्य व्यङ्ग्यप्राधान्यस्य व्यावर्त्यमाह—अपराङ्गेत्यादिना । न परो यस्मादिति व्युत्पत्त्या मुख्यः प्रतिपाद्योऽर्थ एवाऽपरोत्र विवक्षितः, तत्पोषकमपराङ्गम्, 'अयं स रसनोत्कर्षी' इत्यादौ यथा शृङ्गारः करुणस्य । अतोऽत्र शृङ्गारमादाय न ध्वनित्वम्, तस्य चमत्कारित्वेपि प्रकृष्टकरुणोप्रपादकत्वात्, तत्राऽतिशयाऽऽधायकत्वेन तदुपपादकत्वादिति तात्पर्यम् । इदन्त्ववधेयम्—अपराङ्गे व्यङ्ग्यान्तरव्यञ्जकव्यङ्ग्यापेक्षयोत्तमोत्तमत्वाभावेऽपि पार्यन्तिकव्यङ्ग्यस्य चमत्कारवत्त्वेनोत्तमोत्तमत्वमव्याहतम् । निमित्तभेदाच्चैकत्रोभयसमावेशे न विरोधः । एतच्चोत्तमकाव्यलक्षणघटकावधारणं व्याचक्षाणेन ग्रन्थकृताऽपि प्रतिपादयिष्यते । यत्र च वाच्यार्थस्यान्यथाऽविश्रान्तस्य विश्रान्तये कश्चन व्यङ्ग्योऽर्थः प्रकल्प्यते तद्वाच्यसिद्धयङ्गव्यङ्ग्यं नामान्यतमद्गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यं प्रकाशादावुक्तम् । 'राघवविरहज्वाला……' इत्यादि पद्यमुत्तमकाव्योदाहरणभूतमस्योदाहरणम् । अनयोः सन्दिग्धप्राधान्यतुल्यप्राधान्यकाक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्यानाञ्च व्यङ्ग्यार्थस्य चमत्कारित्वेऽपि प्राधान्याभावान्नातिव्याप्तिः प्रकृतलक्षणस्येत्यर्थः । व्यङ्ग्यार्थस्य प्राधान्यं लक्षणवाक्ये शब्दत अनुपात्तमपि शब्दार्थयोर्गुणीभावितत्वोक्त्या गम्यत इत्याह—व्यङ्ग्यप्राधान्याऽभिप्रायकमिति ।

'अतिस्फुटव्यङ्ग्य' (तथा 'असुन्दरव्यङ्ग्य') नामक जो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के भेद हैं उनमें इस उत्तमोत्तम काव्य के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि इन काव्यों में जो व्यङ्ग्यार्थ होते वे वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार को उत्पन्न नहीं करते । 'अपराङ्ग' (जिसमें एक व्यङ्ग्य का उपपादन करने वाल दूसरा व्यङ्ग्यार्थ होता उसमें) और वाच्यार्थ के उपपादक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति जहाँ होती उस 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग' (एवम् 'सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य', 'तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य' और 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य) नामक गुणीभूतव्यङ्ग्यों में भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, कारण इनमे व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कारजनक होने पर भी उनकी (व्यङ्ग्यार्थ की) वाच्यार्थापेक्ष प्रधानता नहीं होती । व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता लक्षणवाक्य में यद्यपि स्पष्ट रूप में नहीं कही गई है तथापि लक्षणोक्त शब्दार्थ के गुणीभावित होने का तात्पर्य व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता ही है ।

उदाहरणम्—

शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा सफलीकर्तुमहो मनोरथान् ।
दयिता दयिताननाम्बुजं दरमीलन्नयना निरीक्षते ॥

अत्रालम्बनस्य नायकस्य, सविधशयनाक्षिप्तस्य रहःस्थानादेरुद्दीपनस्य च विभावस्य, तादृशनिरीक्षणादेरनुभावस्य, त्रपौत्सुक्यादेश्च व्यभिचारिणः

शयितेत्यादि । शयितेति आदिकर्मणि भूते कर्त्तरि क्तः, आदिकर्म (व्यापार)-मात्रस्यावसितत्वात् । यद्वा शयितमस्या अस्तीति मत्त्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः । अतो निरीक्षणकालेऽपि तद्व्यापारान्तरसद्भावात् शयानैव सेति तात्पर्यम् । शयनं चात्र शय्यायां शरीरास्तरणमात्रं न निद्रापर्यन्तमिति निरीक्षत इत्यनेन सुव्यक्तमेव । तथा च दयितुः सविधे शयानाऽपि दयिता नवोढा प्रिया स्वमनोरथान् स्वान्त-संस्थितान् शृङ्गारविलासविषयकाभिलाषान् सफलीकर्तुमनीश्वराऽसमर्था दरमी-षन्मीलती सङ्कुचती नयने यस्यास्तथाविधा दयितुर्मुखकमलं निरीक्षत इति पद्यार्थः । अत्र सविधशयनस्य मनोरथसफलीकरणकारणस्य सत्त्वेऽपि कार्यस्य मनोरथसफलीकरणस्याभावादाश्चर्यमहोशब्देन द्योत्यते । विशेषोक्त्यलङ्कारोऽत्र ।

अत्र व्यङ्ग्यमुपपादयति—अत्रेत्यादिना । एकान्तत्वाभावे जनान्तरोपस्थितौ सविधशयनाऽसम्भवात् सविधशयनेनैकान्तस्थानमाक्षिप्यत इत्याह—सविधेत्यादि । आदिपदेन योग्यकालादिपरिग्रहः । तादृशेति । दयिताकर्तृकदरमीलन्नयनकरणक-निरीक्षणस्य, दरमीलन्नयनविशिष्टदयिताकर्तृकनिरीक्षणस्य वा । त्रपेत्यादि । इयं च दरमीलत्पदेन, औत्सुक्यं च निरीक्षणपदेन व्यज्यते । विभावानुभावौ त्वत्र वाच्या-वेव । संयोगादित्यस्य सम्बन्धादित्यर्थः । न चायं वैशेषिकपरिभाषितः संयोगः, तस्य द्रव्यमात्राश्रयत्वात् । तथा च विभावादीनां समेषां समवधानेन प्रकृतवाक्येन व्यज्यते रतिः सम्भोगशृङ्गाराख्यो रसः प्रधानतयेति भवत्युत्तमोत्तमकाव्यत्वमस्येति सन्दर्भार्थः । वक्ष्यत इत्यस्यास्मिन्नेवानन इति शेषः । तदिदं रसध्वनेरुदाहरणमिति स्पष्टम् ।

उत्तमोत्तम काव्य का एक उदाहरण यह है—

"नवोढ़ा नायिका अपने प्रियतम के पास लेटी हुई है । फिर भी बड़े आश्चर्य की बात है कि वह अपने मनोरथों को सफल बनाने में समर्थ नहीं हो पा रही है । ऐसी दशा में वह प्रियतम के मुखकमल को अर्धमुद्रित (अर्थात् अधखुली) आँखों से देख भर रही है ॥'

यहाँ नायिका की नायक-विषयक रति (सम्भोग शृङ्गार) की अभिव्यक्ति व्यञ्जना द्वारा हो रही है, क्योंकि रसाभिव्यञ्जक सामग्री—विभाव, अनुभाव

संयोगाद्रतिरभिव्यज्यते । आलम्बनादीनां स्वरूपं वक्ष्यते। न च यद्ययं शयितः स्यात्तदास्याननाम्बुजं चुम्बेयमिति नायिकेच्छाया एव व्यङ्ग्यत्वमत्रेति वाच्यम्। मनोरथान्सफलीकर्तुमसमर्थेत्यनेन मनोरथाः सर्वेऽस्या हृदि तिष्ठन्तीति प्रतीतेः स्वशब्देन मनोरथपदेन सामान्याकारेण तादृशेच्छाया अपि निवेदनात्। न च मनोरथपदेन मनोरथत्वा-

---

चुम्बनेच्छास्वरूपवस्तुध्वनिरत्र कथं नाङ्गीक्रियत इत्यत्राह—नचेत्यादि। स्वशब्देन = वाचकशब्देन । अस्यैव विवरणम्—मनोरथपदेनेति । मनोरथत्वाकारेण = मनोरथत्वप्रकारेण। तथा च मनोरथत्वेन रूपेण मनोरथमात्रस्य वाच्यत्वात् चुम्बनेच्छात्मकमनोरथस्यापि वाच्यत्वमेव, न व्यङ्ग्यत्वम्। यद्यपि सामान्याकारबोधे सर्वविशेषाणां स्फुटप्रतिपत्तिर्न नियता तथापि चुम्बनस्य शृङ्गारविलासेष्वतिप्रसिद्धत्वेन तदिच्छाया उपस्थितिर्नियतैवेति तात्पर्यं ग्रन्थकृतः।

और सञ्चारियों का सम्बन्ध–विद्यमान है। इसमें नायक आलम्बन विभाव है। एकान्त स्थान और उचित अवसर आदि के विना नायक के समीप नायिका का शयन सम्भव न होने से 'प्रियतम के समीप शयन' द्वारा उसके उपपादक एकान्तस्थानादि का आक्षेप होता हीं है। ये हीं उद्दीपन विभाव हैं। अर्धमुद्रित आँखों से देखना हीं उस 'रति' का अनुभाव (कार्य) है। लज्जा और औत्सुक्य आदि व्यभिचारीभाव भी व्यङ्ग्य हैं हीं, क्योंकि लज्जा के विना जागती हुई नायिका की आँखों का अर्धमुद्रित होना और औत्सुक्यादि के विना निरीक्षण सम्भव नहीं है। इस प्रकार सम्भोगशृङ्गार के अभिव्यंजक सामग्री के उपस्थित होने से उसका अभिव्यक्त होना स्वाभाविक है। इस काव्य (पद्य) में शब्दार्थ की अपेक्षा प्रधानीभूत और अतिशयचमत्कारजनक सम्भोगशृङ्गार की व्यंजना होने से यह उत्तमोत्तम काव्य है। आलम्बन विभाव आदि का वर्णन इसी 'आनन' में रसस्वरूपनिरूपण के प्रसङ्ग में किया जाएगा।

अब यह विचार करना है कि यहाँ चुम्बनेच्छास्वरूप वस्तु को व्यङ्ग्य क्यों न मान लिया जाय, क्योकि नायिका अपने प्रियतम को अर्धमुद्रित नेत्रों से इसी लिए देख रही है कि यदि उसका प्रियतम सो गया हो तो वह उसे चूम ले। इसके उत्तर में यही कहा गया है कि चुम्बनेच्छा जब सामान्य रूप में मनोरथ पद से हीं अभिहित है तो फिर उसे व्यङ्ग्य नहीं माना जा सकता। उदाहृत पद्य में 'अपने मनोरथों को सफल बनाने में असमर्थ' होना कहा गया है जिससे यह स्पष्ट है कि नानाप्रकार के मनोरथ उसके हृदय में विद्यमान हैं। उन्हीं मनोरथों–इच्छाओं—में चुम्बनेच्छा भी अन्यतम है। अतः इच्छार्थक मनोरथ शब्द से चुम्बनेच्छा के रूप में तो

कारेण सामान्येच्छाया अभिधानेऽपि चुम्बेयमिति विषयविशेषविशिष्टे-च्छात्वेन व्यङ्ग्यत्वे किं बाधकमिति वाच्यम्, चमत्कारो न स्यादित्य-स्यैव बाधकत्वात्। न हि विशेषाकारेण व्यङ्ग्योऽपि सामान्याकारेणा-भिहितोऽर्थः सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टे। कथमपि वाच्यवृत्त्य-

---

विषयविशेषेति। विषयविशेषश्चुम्बनं प्रकृते, तद्विशिष्टेच्छात्वेन चुम्बनविषय-केच्छात्वेनेत्यर्थः। बाधकत्वादिति। यद्यपि चमत्काराभावस्य न व्यङ्ग्यत्वे बाध-कत्वम्, भूयसामचमत्कृतानापि व्यङ्ग्यानां दर्शनात्तथापि चमत्काराऽभावे ध्वनित्वा-भावप्रसङ्ग एव प्रकृते बाधकत्वेन विवक्षितः। एनमेवार्थं विशदयति—नहीत्यादिना। कथमपि = सामान्यतो विशेषतश्च। वाच्यवृत्तिरभिधा तयाऽनालिङ्गितस्याऽविषयी-कृतस्येत्यर्थः। आलङ्कारिकैः = ध्वन्यालोककारादिभिः। स्वयमपि द्वितीयानने ससन्देहालङ्कारनिरूपणावसरे प्रतिपादयिष्यत्येतद्विस्तरेण ग्रन्थकृत्। अत एव पर्यायो-क्त्यलङ्कारे व्यङ्ग्यस्य प्रकारान्तरेण वाच्यत्वाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यतैवोक्ता पण्डितराजेन। परन्तु अर्थशक्त्युद्भवध्वनिप्रकरणे कविकल्पितकीर्त्तिकर्मकसानन्दालोकनेन वस्तुना 'साऽहङ्कारसुराऽसुरावलि' इत्यादिपद्ये भ्रान्त्यलङ्कारध्वनिमुदाहरता वाच्यतावच्छेदक-व्यङ्ग्यतावच्छेदकयोर्भेदाद् वाच्यस्यापि व्यङ्ग्यत्वं तस्य च ध्वनित्वमुपपादयता स्वयमेवाऽन्यथा व्याख्यातम्। तत्र विरोधो दुष्परिहरः पूर्वापरसन्दर्भयोः। मर्मप्रकाश-कृत्तु विरोधं परिजिहीर्षुः 'साऽहङ्कार' इत्यादिपद्यव्याख्यानावसरे प्रकृतसन्दर्भस्थस्य 'स्वशब्देन मनोरथपदेन सामान्याकारेण तादृशेच्छाया.........' इत्यादिग्रन्थस्य स्थाने 'स्वशब्देन मनोरथपदेन व्यङ्ग्यतावच्छेदकेच्छात्वरूपजातिरूपेण तादृशेच्छाया......' इत्याद्येव पाठ इत्यङ्गीकुरुते। तत्र व्यङ्ग्यभूतायाश्चुम्बनेच्छाया अतिप्रसक्तमिच्छात्वं कथं व्यङ्ग्यतावच्छेदकं स्यादिति न विद्मः। किञ्च प्रकृतसन्दर्भविरुद्धोप्ययं पाठ इति चिन्त्यं सुधीभिः। 'सामान्याकारेण विशेषालिङ्गितस्यैव भानाद् वाच्यवृत्तिता' इति रसचन्द्रिकोक्तिरपि चिन्त्यैव, एवकारार्थासङ्गतेः। यत्र उपस्थितः परिचितश्च विशेषः

नहीं किन्तु इच्छामात्र के रूप में (= चुम्बनेच्छात्वेन नहीं अपि इच्छात्वेन रूपेण) तो चुम्बनेच्छा का भी अभिधान हो हीं रहा है। अतः जब चुम्बनेच्छा सामान्यरूप में वाच्य है तो फिर उसे व्यङ्ग्य कैसे माना जा सकता?

जिस विशेष रूप में—चुम्बनेच्छा के रूप में—चुम्बनेच्छा वाच्य नहीं है उस रूप मे इसे व्यङ्ग्य मानने में क्या बाधा है?—इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जब सामान्यकार में वाच्य होने से विशेषाकार में व्यङ्ग्य मानने पर भी उसमें चमत्कारजनकता नहीं हो सकती तो उसे व्यङ्ग्य मानने में कोई लाभ नहीं है। सभी प्राचीन आचार्य यह मानते कि जिसका अभिधा द्वारा सामान्य या विशेष रूप में

-नालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालंकारिकैः स्वीकारात्। चुम्ब-नेच्छाया रत्यनुभावतयैव सुन्दरत्वेन तदव्यञ्जने चुम्बामीति शब्दबला-च्चुम्बनेच्छावदचमत्कारित्वाच्च।

एवं त्रपाया अपि न प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वम्, अनुवाद्यतावच्छेदक-

---

सामान्याकारेण प्रतिपाद्यस्तत्र विशेषालिङ्गितस्य सामान्याकारेण भाने स्वीकृतेऽपि तदभावे तथाभानाऽसम्भवात्। वस्तुतः सामान्यशब्देन शब्दमर्यादया सामान्याकारेणैव पदार्थस्योपस्थितिर्न तु कदाचिदपि विशेषालिङ्गितस्येति युक्तम्। तस्मात्पूर्वाऽपरसन्दर्भौ परस्परविरुद्धावेव। अधिकमर्थशक्तिमूलध्वनिप्रकरणे विवेचयिष्यते। अत एवैतावता प्रबन्धेन चमत्काररहितत्वाच्चुम्बनेच्छाया व्यङ्ग्यत्वे फलाभाव इति तस्या व्यङ्ग्यत्वा-भावमुपपाद्य सम्प्रति ससन्देहपर्यायोक्त्यलङ्कारप्रकरणप्रतिपादयिष्यमाणदिशा वाच्याया अपि चुम्बनेच्छाया अवच्छेदकभेदेन व्यङ्ग्यत्वमभ्युपगम्याऽपि रतेर्व्यङ्ग्यत्वं तदनुभावकतयाऽवश्यं स्वीकरणीयमित्याह—चुम्बनेच्छाया इत्यादिना। सुन्द-रत्वेनेति। बलादिना तादृशेच्छासत्त्वेऽपि तस्या असुन्दरत्वमभिप्रेत्येदम्। तद-व्यञ्जने=रत्यव्यञ्जने। अचमत्कारित्वाच्चेति। तथा च यदि चुम्बनेच्छारूप-वस्तुसमाश्रयेणास्य ध्वनित्वमुपपाद्यं तर्हि तादृशेच्छायां चमत्कारित्वस्यावश्यकतया तदर्थं रतिव्यञ्जनमपरिहार्यमिति रतेर्व्यञ्जने स्वीकर्त्तव्ये तामादायैवास्य ध्वनित्वो-पपादनमुचितमित्याशयः।

तदेवं वस्तुध्वनौ निरस्ते त्रपास्वरूपभावध्वनित्वं न्यक्करोति—एवमित्या-दिना। एवम्=यथाऽप्रधानत्वान्न व्यङ्ग्याया अपि चुम्बनेच्छाया ध्वनित्वं तथा। दरमीलन्नयनेत्यनेन त्रपाया व्यङ्ग्यत्वाभ्युपगमात् प्राधान्येनेत्युक्तम्। प्राधान्येन

किसी भी प्रकार से प्रतिपादन न हुआ हो उसी व्यङ्ग्यार्थ में चमत्कार होता, अन्य में नहीं। अतः चुम्बनेच्छा को व्यङ्ग्य मानना व्यर्थ है। यदि चुम्बनेच्छा को व्यङ्ग्य मानना भी हो तो भी रतिपूर्वक उस इच्छा को ही व्यङ्ग्य मानना उचित है, क्योंकि सौन्दर्य इसी प्रकार की चुम्बनेच्छा में हो सकता है, बलादिपूर्वक चुम्बनेच्छा में नहीं। इस लिए चुम्बनेच्छा को चमत्कारयुक्त व्यङ्ग्य यदि कहना हो तो भी उसके कारणीभूत रति का अभिव्यंजन मानना ही होगा। ऐसी दशा में प्रधानता पुनः व्यंग्य रति में हीं विश्रान्त होती, चुम्बनेच्छा में नहीं। अतः उक्त पद्य में शृङ्गारध्वनि हीं सिद्ध होती है, इच्छास्वरूप वस्तु की ध्वनि नहीं।

जिस प्रकार अप्रधानीभूत चुम्बनेच्छा की ध्वनि नहीं मानी जा सकती उसी प्रकार अप्रधानीभूत त्रपास्वरूप सञ्चारी भाव की भी ध्वनि इस पद्य में नहीं मानी जा सकती। इसका कारण यह है कि त्रपा का व्यञ्जक दरमीलन्नयनात्व अनुवाद्य

तया प्रतीतायां तस्यां मुख्यवाक्यार्थत्वायोगात् । न च दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणं विधेयमिति नानुवाद्यतावच्छेदकत्वं तस्या इति वाच्यम् । एवमपि नयनगतदरमीलनस्य तत्कार्यत्वेऽपि दरमीलन्नयनात्वविशिष्टनिरीक्षणस्य रतिमात्रकार्यत्वात् । त्रपाया एव मुख्यत्वेन व्यङ्ग्यत्वे निरीक्षणोक्तेरनतिप्रयोजनकत्वापत्तेः । वाच्य-

---

व्यङ्ग्यत्वम्=ध्वनित्वम् । अनुवाद्यतावच्छेदकतयेति । निरीक्षणकर्त्र्या दयिताया अनुवाद्यत्वम् उद्देश्यत्वम्, तत्कर्तृकदयितृमुखाम्बुजस्य निरीक्षणं च विधेयम् । तत्र दरमीलन्नयना दयितेति बोधाद्दरमीलन्नयनात्वव्यङ्ग्यत्रपाया अनुवाद्यविशेषणतयेत्यर्थः । तथा चास्या न वाक्यार्थे प्राधान्यम्, विधेयस्यैव तत्र प्राधान्यादित्याह—मुख्येत्यादि । कथं निरीक्षत इति जिज्ञासायां दरमीलन्नयना यथा स्यात्तथेत्यादिरीत्या त्रपायास्तद्व्यङ्ग्यायाः कथञ्चिद्विधेयनिरीक्षणक्रियाविशेषणत्वं स्वीकृत्य सत्रपं निरीक्षत इत्यर्थकरणेन कथं त्रपाया न प्रधानव्यङ्ग्यत्वमित्याशङ्कां निराचष्टे—नचेत्यादिना । तावताऽपि तथानिरीक्षणस्याऽन्यथानुपपत्त्या तत्कारणत्वेन रतेरवश्यव्यङ्ग्यतया तस्या एव प्रधानत्वं युक्तमिति समाधत्ते—एवमपीत्यादिना । तत्कार्यत्वेऽपि=त्रपाकार्यत्वेऽपि । अनतिप्रयोजनकेत्यादि । विनापि निरीक्षणं दरमीलनमात्रेण स्वकार्येणैव त्रपाया व्यञ्जनान्निरीक्षणस्य नैरर्थक्यापत्तेरित्यर्थः । रतिर्हि

अर्थात् उद्देश्य, दयिता का विशेषण=अनुवाद्यताऽवच्छेदक है, इस लिए व्यङ्ग्य त्रपा भी उसी अनुवाद्य का विशेषण है । वाक्यार्थ में मुख्यविशेष्यता विधेयनिष्ठ होती । अनुवाद्य तो गौण होता । अतः उसका विशेषण त्रपा भी गौण होगी । गौण व्यङ्ग्यार्थ में चमत्कारजनकता यदि हो भी तो भी उसे 'ध्वनि' नहीं कहा जा सकता । अतः त्रपा मुख्य व्यङ्ग्य—ध्वनि—नहीं है । 'उस प्रकार देख रही है जिससे उसके नेत्र अर्धमीलित हो गए हैं' इस रीति से दरमीलन्नयनात्व तथा उसके व्यङ्ग्य त्रपा को निरीक्षणस्वरूप विधेय का विशेषण(=विधेयतावच्छेदक) मानकर भी त्रपा को मुख्य व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस पक्ष में भी रति को व्यंग्य मानना ही होगा जिससे त्रपा में मुख्यता नहीं आ सकती । कारण यह है कि नेत्र का अर्धमीलित होना तो त्रपा से भी सम्भव है किन्तु अर्धमीलित नेत्रयुक्त होकर प्रियतम का निरीक्षण तो रतिमात्र से सम्भव है, विना उसके नहीं । अतः वाच्य तादृश-निरीक्षण की उपपत्ति के लिए रति को व्यङ्ग्य कहना हीं होगा । फिर तो त्रपा मुख्य व्यङ्ग्य हो नहीं सकती, क्योंकि वैसा मानने पर निरीक्षण के विना हीं नेत्रों के अर्धमीलनमात्र से व्यङ्ग्य त्रपा के लिए और अन्य व्यङ्ग्य के अभाव में उसके लिये भी पद्योक्त निरीक्षण की कोई आवश्यकता न होने से वह निरर्थक

वृत्त्या रतेरनुभावे निरीक्षणे त्रपाया अनुभावस्य दरमीलनस्येव व्यञ्जनया तस्यां तस्या अपि गुणीभावप्रत्ययौचित्यात् ।

यथा वा—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम् ।
दरकुण्डलताण्डवं नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णितासीत् ॥

निरीक्षणव्यङ्ग्या । त्रपाप्राधान्ये तदन्यथानुपपत्तिभिया रतिव्यञ्जनस्वीकाराऽसम्भवे-नेतरस्य च योग्यव्यंग्यस्याभावेन निरीक्षणस्य वाक्यार्थे न कोप्युपयोग इति तात्पर्यम् । त्रपाया विधेयत्वमितोऽपि न सम्भवतीत्याह—वाच्यवृत्त्येत्यादि । अभिधयोपस्थिते रत्यनुभावभूते निरीक्षणे यथाऽभिहितस्य त्रपाऽनुभावस्य विशेषणत्वं वाक्यार्थे तथैव यद्वाच्ययोर्गुणप्रधानभावस्तद्व्यङ्ग्ययोरपि तथेति नियमाद् व्यञ्जनयोपस्थितायास्त्र-पाया अपि निरीक्षणव्यङ्ग्यभूतायां रतौ विशेषणत्वमुचितमिति न त्रपायाः प्रधान-व्यङ्ग्यत्वमिति न तस्या विधेयत्वं न वा तामादायास्य पद्यस्य ध्वनित्वं चेति रति-ध्वनिरेवात्र । विशेषणत्वं च दरमीलन्नयनात्वस्य निरीक्षणे व्यापारमुख्यविशेष्यकशाब्द-बोधवादिनां शाब्दिकानां मीमांसकानां च मते । प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोध-वादिनां नैयायिकानां मते तु कथमत्र संगतिरिति विवेचनीयम्, यतो हि तन्मते दयिताया एव वाक्यार्थमुख्यविशेष्यतया तद्विशेषणीभूतत्वेऽपि दरमीलन्नयनात्वस्य तद्व्यङ्ग्यत्रपायाश्च निरीक्षणाऽपेक्षया प्राधान्यमस्त्येवेति चिन्त्यतां सुधीभिः ।

एतावता सम्भोगशृङ्गाररसध्वनिमुदाहृत्य भावध्वनिमुदाहरति— यथा वेत्या-दिना । अथवा—यदि सत्यपि त्रपाया व्यङ्ग्यत्वे नैतदुदाहरणं भावध्वनेस्तर्हि किन्त-दुदाहरणमित्याशङ्कायामाह—यथा वेति ।

गुरुमध्यगतेति । गुरवोऽत्र श्रेष्ठाः श्वश्र्वादयः, तेषां मध्ये स्थिता नताङ्गी

हो जाएगा । अतः निरीक्षण की सार्थकता के निमित्त भी उसके अनुभावक रति की व्यञ्जना का स्वीकार अपरिहार्य है । साथ हीं, "जिन पदों के वाच्यार्थों में गुण-प्रधानभाव हो उनके व्यङ्ग्यार्थों में भी गुणप्रधानभाव होता" इस नियम के अनुसार जब त्रपा का अनुभाव—कार्य दरमीलन्नयनात्व रति के अनुभाव निरीक्षण का गुणी-भूत है तो दरमीलन्नयनात्व के व्यङ्ग्य त्रपा का भी निरीक्षण के व्यङ्ग्य रति के प्रति गुणीभाव मानना हीं उचित है । अतः त्रपा को मुख्य व्यङ्ग्य मानना सम्भव न होने से रति को हीं मुख्य व्यड्ग्य कहना चाहिए । इसलिये 'शयिता......' आदि पद्य रसध्वनि का हीं उदाहरण है, त्रपापस्वरूपभावध्वनि का नहीं ।

भावध्वनिस्वरूप उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण यह है—

"श्रेष्ठ जनों के बीच बैठी हुई अपने यौवनभार से अवनत प्रियतमा को मैंने जब

अत्र घूर्णितासीदित्यनेनासमीक्ष्यकारिन् ! किमिदमनुचितं कृतवानसीत्यर्थसंबलितोऽमर्षश्चर्वणाविश्रान्तिधामत्वात्प्राधान्येन व्यज्यते। तत्र शब्दोऽर्थश्च गुणः।

यथा वा—

तल्पगतापि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
संप्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति॥

प्रिया मया कमलकोरकेण मन्दं निहता सती मामवलोक्य तथा घूर्णितयुक्ताऽभूद् यथा तस्या घूर्णितं मुखदिक्परिवर्तनमीषत्कुण्डलवत्ताण्डवयुक्तकुटिलभ्रूलतिकमासीदिति पद्यार्थः। अत्र सविशेषणघूर्णितत्वेन किमिदमनुचितमित्यादि व्यङ्ग्यम्, तेन च वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्येनान्ततोऽमर्षो नायिकाया व्यज्यते। अर्थसम्बलितः=उक्तव्यङ्ग्यार्थव्यङ्ग्यत्वेन तद्विशिष्टः। तत्र=परमव्यङ्ग्यभूतेऽमर्षे नायिकानिष्ठे। अर्थः=वाच्यः प्रथमव्यङ्ग्यश्च। गुणः=गुणीभूतः। सोऽयममर्षस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वाद् भावध्वनिः।

सम्प्रति विप्रलम्भशृङ्गाराख्यरसध्वनिमुदाहरति—तल्पगतेति। सुतनुः=सुकुमारतनुः। अयमेव हेतुः श्वासासंगाऽसहने। अत एव च नववधूरित्यनेन विवरणं

कमल की कली से धीरे से ठोकर मार दी तो (क्रोध के कारण) उसने एक नजर मेरे ऊपर डाली और झट से अपना मुँह मोड़ लिया। नजर डालते समय उसके कानों के दोनों कुण्डल कुछ हिल गए थे और भौंहें टेढ़ी हो गई थीं॥"

इस पद्य में जो 'झट से मुँह मोड़ लेने' की बात कही गई है उससे नायिका का 'हे अविवेकपूर्ण कार्य करने वाले प्रियतम ! तुमने यह अनुचित कार्य क्यों किया" यह आक्रोश अभिव्यक्त होता। यतः यह क्षणिक आक्रोश क्षणिक अमर्ष (=क्रोध) के विना सम्भव नहीं अतः इस व्यङ्ग्य आक्रोश से इसके कारणीभूत अमर्ष की मुख्य रूप में व्यञ्जना होती और (यही) सहृदयों का परमास्वाद्य—चर्वणाविषय है। इस अमर्ष के प्रति व्यञ्जक शब्द, उसका वाच्यार्थ और आक्रोशस्वरूप प्रथम व्यङ्ग्यार्थ ये सब के सब गुणीभूत हैं। अतः यह भावध्वनिस्वरूप उत्तमोत्तम काव्य का उदाहरण है।

अब उत्तमोत्तम काव्य का रसध्वनिस्वरूप तृतीय उदाहरण प्रस्तुत है—

"जो कोमल शरीर वाली नवोढ़ा शय्या पर लेटी रहने पर भी अपने प्रियतम के श्वास के सामान्य आघात को भी न सह पा रही थी वही पितृगृह जाने की पूर्वरात्रि में अपनी छाती पर रखे गए पति के हाथों को धीरे-धीरे हटा रही है॥"

इदं च पद्यं मन्निर्मितप्रबन्धगतत्वेन पूर्वसाकाङ्क्षमिति दिङ्मात्रेण व्याख्यायते—या नववधूः पल्यङ्कशयिता श्वासस्यासङ्गमात्रेणापि संकुचदङ्गलतिकाऽभूत्सा संप्रति प्रस्थानपूर्वरजन्यां प्रवत्स्यत्पतिका प्रियेण सशङ्केन समर्पितं हृदि पाणिं नववधूजातिस्वभाव्यादाक्षिपति, परं तु मन्दम्। अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याख्यः स्थायी संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यते। उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रम-

---

कठोरतापादकप्रियशरीरसङ्गाद्यभावादिति बोध्यम्। आसङ्ग ईषत्स्पर्शः। श्वासश्च प्रियस्यैव, प्रकरणात्। नववधूर्हि पतिगृहं प्राप्याऽचिरादेव पितृगृहं प्रत्यावर्त्तत इति प्रसिद्धिः। अत एव प्रियेणेत्यस्य सशङ्केनेतिविशेषणमुपापद्यते। चिरं पतिगृहवासे तु क्रमेण शङ्कापहारात्तदनुपपन्नमेव स्यात्। प्रवत्स्यत्पतिकेत्यनेन मन्दाक्षेपे हेतुर्भीतिरुक्ता; शीघ्राक्षेपे हि प्रियस्य कुपितत्वं सम्भाव्येत येन पुनर्मिलनसन्देहः स्यात्। आक्षिपति = स्वस्थानं प्रापयति। व्यञ्जकस्य मन्दाक्षेपस्य क्रमिकत्वाद्रतिरपि क्रमशो व्यज्यमाना चरमेणाक्षेपव्यापारेण पूर्णतोऽभिव्यज्यते। व्यज्यत इत्यनेन च स्थायिनो रत्याख्यस्य रसरूपतोच्यते। व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः क्रमे पौवापर्ये संलक्ष्ये सँलक्ष्यक्रमो ध्वनिः। स च यद्यपि न स्थाय्यादीनां 'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः' इति वदतां प्राचीनानामभिमतस्तथापि युक्तिसिद्धत्वात्स स्वीकार्य एवेत्यस्मिन्नाननेऽन्ते निरूपयिष्यते। उपमानिरूपणावसरे चित्रमीमाँसायामप्येतत्समर्थितम् अभिनवगुप्तादिवचनैः। अयमेवोत्तमोत्तमकाव्याख्यः प्रभेदो ध्वनिनाम्ना प्राचीनतन्त्रे प्रसिद्ध इत्याह—अमुमेवेत्यादि।

यह पद्य मेरे हीं प्रबन्ध—भामिनीविलास का है। इसका सम्बन्ध पूर्ववर्त्ती वर्णन से है। अतः अर्थ को स्पष्ट करने के लिए इसकी संक्षिप्त व्याख्या की जा रही है–"जिस नवोढ़ा कामिनी की कोमल शरीररूपी लता पलंग पर लेटी रहने पर भी अपने प्रियतम के श्वास के साधारण आघातमात्र से संकुचित हो जाया करती थी वही प्रियतम को छोड़कर अपने पिता के घर जाने की पूर्वरात्रि में अपनी छाती पर शंकापूर्वक रखे गए प्रियतम के हाथों को वहाँ से हँटा तो रही है, पर धीरे-धीरे।" यहाँ प्रियतम के हाँथ को उसके स्वाभाविक स्थान पर शनैः शनैः लौटाने से रतिस्वरूप स्थायीभाव (विप्रलम्भशृङ्गार) व्यङ्ग्य है। अतः यहाँ विप्रलम्भशृङ्गारध्वनि है। यह ध्वनि व्यञ्जक एवं व्यङ्ग्य में विद्यमान पौर्वापर्य के सुव्यक्त होने से संलक्ष्यक्रमध्वनि है। यद्यपि कुछ आचार्यों ने रसध्वनि आदि को असंलक्ष्यक्रम हीं माना है तथापि यह उचित नहीं है। ये ध्वनियाँ भी संलक्ष्यक्रम हो हीं सकती हैं। इसका उपपादन इसी आनन के अन्त में किया जाएगा। इसी उत्तमोत्तम काव्य को 'ध्वनि काव्य' भी कहा जाता है।

व्यङ्ग्यत्वम् । अमुमेव च प्रभेदं ध्वनिमामनन्ति ।

यत्तु चित्रमीमांसायामप्पय्यदीक्षितैः 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इति पद्यं ध्वन्युदाहरणप्रसङ्गे व्याख्यातम्—'उत्तरीयघर्षणेन चन्दनच्युतिरित्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निःशेषग्रहणम् । ततश्चन्दनच्युतेः स्नानसाधारण्यव्यावर्तनेन संभोगचिह्नोद्घाटनाय तटग्रहणम् । स्नाने हि सर्वत्र चन्दनच्युतिः स्यात्, तव स्तनयोस्तटउपरिभाग एव दृश्यते । इयमाश्लेषकृतैव । तथा निर्मृष्टरागोऽधर इत्यत्र ताम्बूलग्रहणविलम्बात्प्राचीनरागस्य किंचिन्मृष्टतेत्यन्यथासिद्धिपरिहाराय निर्मृष्टराग इति रागस्य निःशेषमृष्टतोक्ता । पुनः स्नान-

---

व्यञ्जकस्याऽसन्दिग्धत्वमव्यभिचरितत्वमप्पय्यदीक्षितोक्तं निराकर्तुं प्रथमं तन्मतमाह–यत्त्वित्यादिना । यत्त्वित्यस्य तदेतदलङ्कारशास्त्रतत्त्वाऽनवबोधनिबन्धनमित्यनेनान्वयः । चन्दनच्युतिः स्नानेनाऽपि सम्भवति संभोगेन चेति तस्याः स्नानसाधारण्यम् । तद्व्यावर्त्तनाय सम्भोगमात्रजन्यच्युतिप्रतिपादनाय च तटग्रहणमित्याह-स्नाने हीत्यादि । तट इत्यस्यैव विवरणमुपरिभाग इति । आश्लेषः = करमर्दनम् । 'चाऽऽमृष्टरागो' इत्यनुक्त्वा 'निर्मृष्टरागो' इत्युक्तौ निर्मृष्टपदप्रयोगस्य प्रयोजनमाह—तथेत्यादिना । निःशेषेण मृष्टो रागस्ताम्बूलचर्वणे बिलम्बेन न सम्भवतीति निर्मृष्टकथनेन तज्जन्यत्वनिरासः । एवमपि स्नानेन निर्मृष्टरागतायाः सम्भवात्तस्याः स्नानसाधारण्यमिति तन्निरासाय सम्भोगकृतत्वमात्रसमर्थनाय च व्याचष्टे—पुनः स्नानेत्यादिना । अस्यैवोपपादनम्—उत्तरोष्ठ इत्यादि । एवमेव चित्र-

---

चित्रमीमांसा में अप्पय्य दीक्षित ने ध्वनि का उदाहरण देते समय 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' आदि पद्य भी उद्धृत किया है । इसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है—

"(स्तनों से) चन्दन का मिटना तो दुपट्टे के घर्षण से भी सम्भव है। अतः 'पूर्णरूप में (निश्शेष) चन्दन का मिटना' कहा गया है। किन्तु पूर्णरूप में चन्दन का मिटना वापी-स्नान से भी हो सकता है । अतः 'यह सम्भोग से ही मिटा है' इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए स्तनों से नहीं अपितु केवल उनके 'तटों, अर्थात् 'ऊपरी हिस्सों' से चन्दन का मिटना बताया गया है । स्नान से यदि चन्दन मिटा होता तो पूरे स्तनों से वह पूरी तरह धुल गया होता न कि केवल उनके ऊपरी भागों से । अतः ऊपरी भाग मात्र से चन्दन मिटने के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह कार्य सम्भोगकालिक गाढ़ आलिङ्गन से हुआ है; वापी-स्नान से नहीं । इसी तरह 'निर्मृष्टरागोऽधरः' (अधरोष्ठ की लालिमा पूरी तरह मिट चुकी है) इस अंश में लालिमा का पूरी तरह मिट जाना इसी लिए कहा गया कि उसका थोड़ा सा मिटना (फीका पड़ जाना) तो पान खाने में विलम्ब होने से भी सम्भव है, केवल सम्भोगकालिक गाढ़ चुम्बन

साधारण्यव्यावर्तनेन सम्भोगचिह्नोद्धाटनायाधर इति विशिष्य ग्रहणम्। उत्तरोष्ठे सरागेऽधरोष्ठमात्रस्य निर्मृष्टरागता चुम्बनकृतैव' इत्यादिना 'इदमपि ध्वनेरुदाहरणम्' इत्यन्तेन संदर्भेण। 'तटादिघटिता वाक्यार्थाः स्नानव्यावृत्तिद्वारा संभोगाङ्गानामाश्लेषचुम्बनादीनां प्रतिपादनेन प्रधान-व्यङ्ग्यव्यञ्जने साहायकमाचरन्ति' इति।

तदेतदलङ्कारशास्त्रतत्त्वानवबोधनिबन्धनम्, प्राचीनसकलग्रन्थविरुद्धत्वा-दुपपत्तिविरोधाच्च। तथा हि पञ्चमोल्लासशेषे 'निःशेषेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति।

मीमांसायां 'दूरम्', 'पुलकिता' 'मिथ्यावादिनि' इत्येतेषामपि व्यङ्ग्यानुगुणत्वमुक्त्वो-पसंहृतं निर्दिशति—इदमपीत्यादि। दीक्षिताशयमुपसंहरति— तटादिघटिता इत्यारभ्य आचरन्ति इत्यन्तेन।

दीक्षितमतं निरस्यति—तदेतदित्यादि सन्दर्भेण। निराकरणे हेतुद्वयमुक्तम्—प्राचीनसकलग्रन्थविरुद्धत्वमुपपत्तिविरुद्धत्वं च। तत्राद्यमुपपादयति— तथाहीत्या-

---

से नहीं। किन्तु वापी में देर तक शरीर-मर्दनपूर्वक स्नान करने से भी ओष्ठों की लालिमा मिट सकती है, केवल सम्भोग से नहीं। अतः यह सम्भोगमात्र से मिटी है—इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए केवल अधरोष्ठ की लालिमा का पूरी तरह मिटना बताया गया है। यदि यह वापी-स्नान से मिटी होती तो दोनों ओष्ठों की, केवल अधरोष्ठ की नहीं। उत्तरोष्ठ (ऊपर की ओठ) की लालिमा ज्यों की त्यों बनी रहे पर अधरोष्ठ की मिट जाय—यह तो केवल सम्भोगकालिक गाढ़ चुम्बन या अधर-पान से हीं सम्भव है, वापी-स्नान से नहीं।......अतः यह भी ध्वनिकाव्य का एक उदाहरण है।" इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा है—'तट आदि से विशिष्ट विशेषण-वाक्यों के अर्थ, उक्त रीति से, इन सारे लक्षणों की वापी-स्नान से उत्पन्न होने की सम्भावना का निराकरण करते हुए और गाढ़ आलिङ्गन, चुम्बन तथा अधर-पान आदि सम्भोगचिह्नों को प्रकट करते हुए 'रमण करने के लिए उसके पास हीं गई थी' इस मुख्य व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना में सहायता करते।"

किन्तु अप्पय्य दीक्षित का उक्त मत अलङ्कारशास्त्रीय तत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न होने से अनुचित है, क्योंकि यह तो सभी प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से भी विरुद्ध है और युक्ति से भी। काव्यप्रकाशकार ने पञ्चम उल्लास के अन्त में कहा है—"निश्शेष-च्युतचन्दनम्······"आदि पद्य में जिन चन्दनच्युति आदि लक्षणों को व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव करने वाले महिम भट्ट व्यङ्ग्यार्थ के अनुमापक हेतु मानते वे चिह्न तो अन्य कारणों से भी हो सकते, क्योंकि इसी पद्य में इन्हें वापी-स्नान से

यतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि' इति काव्यप्रकाशकृतोक्तम्। तथा तत्रैव तेन—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मालिदो तेण।
गोलाणइकच्छनिकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥

इत्यादौ लिङ्गजलिङ्गिज्ञानरूपेणानुमानेन व्यक्तिं गतार्थयतो व्यक्तिविवेक-

---

दिना। गमकतया=हेतुतयाऽनुमितिवादिभिः। प्रतिबद्धानीति। प्रतिबन्धो व्याप्तिः, अतो व्याप्यानीत्यर्थः। अनैकान्तिकानि=व्यभिचारीणि, हेत्वाभासा इति यावत्। आभासत्वे हेतुश्च कारणान्तरतोऽप्येषां सम्भवः पूर्वमुक्त एव। तत्रैव=पञ्चमोल्लास एव। पूर्वोद्धृतसन्दर्भात्पूर्वमिति शेषः।

'भम धम्मिअ' इत्यस्येयं संस्कृतच्छाया—

भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुहरवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इति।

गोदावरीतटेऽभिसरणाय कृतसङ्केता काचित् पुंश्चली तत्राऽभिसरणकाले पुष्पाण्यवचिन्वन्तं कञ्चन गृहश्वभीरुं धार्मिकं भीषयितुं कथयत्येतदिति प्रसिद्धमवतरणम्। गाथासप्तशत्यामिदमुपलभ्यते। पद्यार्थस्तु हे धार्मिक ! सम्प्रति विश्वस्तः सन् भ्रम=विचर, यतो यस्य गेहस्थशुनो भयाद् ग्रामे पुष्पावचयं परित्यज्य महता क्लेशेनाऽत्र गोदातट आगत्य पुष्पाण्यवचिन्वन् भ्रमसि स श्वाऽद्य गोदाकच्छकुहरवासिना दृप्तेन सिंहेन मारित इति। गोदातटाद् ग्राममागत्य गृहश्वनिधातशौर्येणात्र सिंहस्य दृप्तता। तेनेति विशेषणं सिंहस्य प्रसिद्धिप्रतिपादनाय, येन पुंश्चल्युक्तौ मिथ्यात्वाभावो द्योत्यते

अनुमानेनेति। अयमाशयः—अत्र 'स शुनकोऽद्य मारितस्तेन' इत्यनेन धार्मिके

उत्पन्न कहा गया है। अतः ये चिह्न सम्भोगमात्र से सम्बद्ध (इनकी व्याप्ति सम्भोग मात्र से) नहीं हैं। अत एव ये व्यभिचरित हेतु हैं, इनसे अनुमान हो नहीं सकता।" अतः इन वाच्यार्थों द्वारा 'वापी-स्नान से ये नहीं हुए हैं' इस प्रकार की वापी-स्नानव्यावृत्ति और सम्भोगमात्र के ये असाधारण चिह्न हैं—इसका समर्थन करने के लिए दीक्षित द्वारा प्रयास काव्यप्रकाश में प्रतिपादित मान्यता से विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त, काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में हीं—

"ओ धार्मिक ! तुम अब आश्वस्त होकर घूमो, क्योंकि तुम्हारे गाँव का वह कुत्ता (जिससे डर कर तुम गोदावरी के तट पर फूल चुनने आये हो) तो गोदावरी के तट पर गुफा में रहने वाले उस (प्रसिद्ध) उद्धत सिंह द्वारा मारा जा चुका ॥"

इस पद्य के विषय में हेतुज्ञान से साध्यज्ञान के साधक अनुमान द्वारा व्यञ्जना को गतार्थ करने वाले महिम भट्ट के मत का खण्डन करते हुए यह माना है कि

कृतो मतं प्रत्याचक्षाणेन व्यभिचारित्वेनासिद्धत्वेन च संदिह्यमानादपि

भीरुत्वं प्रतीयते। तत्र भयकारणस्य निवृत्तेर्भ्रमणं प्रतिपाद्यते। देशविशेषस्य चाऽनुल्लेखाद् बोद्धव्यवैशिष्ट्येन ग्रामे गोदावरीकच्छकुहरे चाविशेषेण प्राप्तमपि भ्रमणं ग्रामे विधेयत्वेन गोदावरीकच्छकुहरे च निषेध्यत्वेन प्रतीयते। तत्र च विधिरस्य वाच्य एवात्र पद्ये, प्रतिपन्नभीरुत्वधार्मिकभ्रमणस्य तद्धेतोर्भयकारणीभूतश्वनिवृत्तेः श्वविशेषणत्वेन ग्रामस्य च प्रतिपादितत्वात्। गोदाकच्छकुहरे भ्रमणनिषेधश्चाऽवाच्योऽपि तत्र व्यापकीभूतभीरुभ्रमणसाधनस्वभावविरुद्धस्य भयकारणीभूतदृप्तसिंहस्योपलब्धेरनुमेयो भवत्येव—अत्र भ्रमणं मा कार्षीः, दृप्तसिंहसत्त्वात्—"गोदाकच्छकुहरं त्वत्कर्तृकभ्रमणाऽयोग्यम्, (भयकारणीभूत)सिंहवत्त्वात्" इति। अनर्थसंशयाऽभावनिश्चयादेव प्रवृत्तिरिति मते तु 'यत्र यत्र प्रवृत्तिः तत्र तत्रानर्थसंशयाभावनिश्चयः' इति व्याप्तौ व्यापकीभूतस्यानर्थसंशयाभावनिश्चयस्य विरुद्धो यो गृहश्वमारकगोदावरीकच्छकुहरस्थदृप्तसिंहकर्त्तृकोऽनर्थसंशयस्तस्य सद्भावादपि तत्र भ्रमणनिषेधोऽनुमेयः। अयमेव द्वितीयः प्रकारः प्रकाशादावुपन्यस्तः शब्दान्तरेण।

जिसके बारे में व्यभिचार तथा असिद्धि नामक हेत्वाभास सन्दिग्ध भी हो उस ज्ञापक से भी अभिव्यञ्जन होता है, अनुमिति नहीं। उक्त पद्य किसी अभिसारिका की एक भीरु धार्मिक के प्रति उक्ति है। अपने अभिसरण में उस धार्मिक भी उपस्थिति के प्रतिबन्धक होने से वह उस धार्मिक से प्रकारान्तर से यही बताना चाहती कि वह स्थान उसके भ्रमण के लिए योग्य नहीं है। अतः उसे वहाँ से हट जाना चाहिए। यहाँ व्यञ्जनाविरोधी महिम भट्ट का यही मत है कि पद्य के प्रतिपाद्य 'गोदावरीतट तुम्हारे भ्रमण के योग्य नहीं है' का बोध अनुमान प्रमाण से हीं हो जाने से व्यञ्जना वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। उनके मत का सारांश यह है—

"गाँव के कुत्ते की हत्या का भ्रमण के कारण के रूप में निर्देश से उस धार्मिक की भीरुता स्पष्ट है। पद्य में भ्रमण का क्षेत्र निर्दिष्ट नहीं है, अतः ग्राम तथा गोदावरीतट इन दोनों ही स्थानों में सामान्य रूप से प्राप्त भ्रमण का भयकारणीभूत कुत्ते के मार दिये जाने के कारण ग्राम में विधान और भयकारणीभूत दृप्त सिंह के उपलब्ध होने से गोदावरीतट पर निषेध ये दोनों हीं इस पद्य से अवगत होते। इनमें ग्राम में भ्रमण का विधान तो शब्दवाच्य है—यह सुनिश्चित है। गोदातट पर भ्रमण का निषेध वाच्य नहीं, अपितु अनुमेय है। तात्पर्य यह है कि भयकारणीभूत कुत्ते के वध का भ्रमण के हेतु के रूप में निर्देश से यह निश्चित है कि भीरु धार्मिक का भ्रमण वहीं सम्भव है जहाँ भयकारण की उपलब्धि न हो। इस प्रकार

लिङ्गाद्व्यञ्जनमभ्युपगतम् । इत्थमेव च ध्वनिकृतापि प्रथमोद्योते । एवं च व्यञ्जकानां साधारण्यं प्रतिपादयतां प्रामाणिकानां ग्रन्थैः सहाऽसाधारण्यं प्रतिपादयतस्तव ग्रन्थस्य विरोधः स्फुटः ।

अत्र ग्रामगोदावरीकच्छकुहरयोर्भ्रमणविधिनिषेधस्वरूपार्थयोर्वाच्यत्वाऽनुमेयत्वाभ्यां वाक्याद् 'भ्रम धार्मिक' इत्यादेरवगमेऽपि निषेध एव बाध्यबाधकभावनिश्चयकृता वाक्यार्थस्य विश्रान्तिः, द्वयोर्विधिनिषेधार्थयोः परस्परविरुद्धयोरेकाश्रयत्वासम्भवेन तयोः समुच्चयाऽभावात्, विकल्पेन प्रतिपाद्यत्वे वचनाऽनर्थक्यात्, परस्परविरुद्धत्वेनाऽङ्गाङ्गिभावाऽभावाच्चेति महिमभट्टाशयः । वयं त्ववगच्छामः—ग्रामे भ्रमणविधेर्वाच्यत्वे गोदाकच्छकुहरे च भ्रमणनिषेधस्यानुमेयत्वे विधिनिषेधयोर्भिन्नाश्रयत्वेन विरोधो न भवत्येव । अतो गोदावरीकच्छकुहरे स मा भ्रमीदित्येतावन्मात्रस्य पुंश्चल्यभिप्रेतत्वेन ग्रामे भ्रमेन्मा वा भ्रमीरित्यस्य च सर्वथैव तदभिप्रायाऽविषयत्वेन 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायेनैव निषेधे वाक्यार्थविश्रान्तिर्लभ्यत इति । व्यक्तिम्=व्यञ्जनाम् । लिङ्गात्=ज्ञापकात्, तत्त्वेनाभिमताद्वा । सोऽयं विशेषोऽनुमानाद् व्यञ्जनाया भेदं प्रमाणयति । अनुमितिर्हि अव्यभिचारिणो (व्याप्यत्वेन निर्णीतात्) पक्षधर्मतया च निर्णीताल्लिङ्गाद् भवति, न तु तथात्वेन सन्दिह्यमानादपि । यथोक्तम्—

> यावच्चाऽव्यतिरेकित्वं शतांशेनाऽपि शङ्क्यते ।
> विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम् ।। इति ।।

भ्रमण (की योग्यता) का साधक जो भयकारणोपलब्ध्यभाव उसके स्वभाव से विरुद्ध भयकारणीभूतदृप्तसिंहोपलब्धि होने से गोदातट पर उसके भ्रमण (की योग्यता) के निषेध (=अभाव) की अनुमिति होती है । किन्तु जो लोग किसी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति वहीं मानते जहाँ किसी प्रकार के अनर्थ के सन्देह का न होना सुनिश्चित हो उनके अनुसार गोदातट पर (भ्रमणात्मक) प्रवृत्ति के व्यापक अनर्थसंशयाभावनिश्चय के विरुद्ध दृप्तसिंहनिमित्तक अनर्थ का संशय होने से वहाँ उस भीरु धार्मिक की भ्रमणात्मक प्रवृत्ति के अभाव की अनुमिति हो जाती है । इसी द्वितीय प्रकार का (सामान्यरूप मे तो नहीं अपितु विशेष रूप मे) काव्यप्रकाश मे निर्देश किया गया है । इस प्रकार हेतु भयकारणनिवृत्ति और उसके वाच्य साध्य भ्रमण के बीच सहानवस्थानस्वरूप विरोध का निश्चय हो जाने से प्रकृत पद्य का तात्पर्यार्थ भ्रमणनिषेध हीं होता, केवल भ्रमण का विधान अथवा विधान और निषेध दोनों नहीं, क्योंकि समानविषयक विधि और निषेध के परस्पर-विरुद्ध होने से उन दोनों का समुच्चय या अङ्गाङ्गिभाव असम्भव है । यदि 'घूमो' या 'मत घूमो' यह विकल्प अभिप्रेत होता तब तो पुंश्चली के कथन की कोई आवश्यकता हीं न रह जाती ।

अव्यतिरेकित्वम्=अव्यभिचारित्वम्, तस्य संशयोऽव्यभिचारसंशयो व्यभिचार-संशयैककोटिकः। विपक्षस्य=विपक्षे। गमनिकाबलम्=अनुमापकत्वम्। व्यञ्जनं पुनस्तथात्वेन सन्दिह्यमानादपि लिङ्गाद् भवत्येव। प्रकृते च गुर्वाज्ञयादिना भीरुधार्मिकस्य सिंहसत्त्वेऽपि भ्रमणसम्भवाद्धेतोः भ्रमणाभावस्वरूपसाध्याभाव(भ्रमण)वत्यपि गोदाकच्छकुहरात्मके पक्षे वृत्तित्वसंशयाद् व्यभिचारसंशयः स्फुटः। पुंश्चलीवाक्यस्याऽप्रमाणत्वेन तद्वचनेन तत्र दृप्तसिंहसत्त्वाऽनिर्णयात् पक्षधर्मताऽपि सन्दिग्धैवेति भवत्यसिद्धत्वसंशयोऽप्यत्र। धार्मिकस्य पापजनकश्वस्पर्शाद् बिभ्यतोऽपि यदि वीरत्वम् तर्हि सिंहस्य तद्भयकारणत्वाऽभाव इति सिंहवत्त्वस्य हेतोऽर्भ्रमणाभावाभावस्वरूप-साध्याभावव्याप्तिसंशयाद्विरुद्धत्वसंशयोऽप्यत्रेति नाऽनुमानेन व्यञ्जना गतार्थयितुं शक्येति प्रकाशस्थसन्दर्भाशयः। अतश्च गोदाकच्छकुहरे भ्रमणनिषेधो नानुमेयोऽपितु व्यङ्ग्य एव बोद्धव्यवैशिष्ट्येन। वक्तृवैशिष्ट्यमप्यत्र कथञ्चित्सहकारीति वक्तुं शक्यते। न चात्र विपरीतलक्षणया निषेधावगमः, पदार्थोपस्थित्यनन्तरमेव बाधग्रहे सति तस्याः प्रसरात्। प्रकृते तु बोद्धव्यादिवैशिष्ट्यपर्यालोचनानन्तरमेव बाधग्रहो न पदार्थोपस्थित्यनन्तरमिति न तया निर्वाहः। अत एवोक्तं महिमभट्टेनाऽपि—'द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितणिजर्थस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूप-

उक्त रीति से तात्पर्यविषयीभूत अर्थ—'यहाँ मत घूमो' की प्रतीति अनुमान प्रमाण से हीं हो जाने से उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जनानामक शब्दव्यापार की कोई आवश्यकता नहीं।"

इस मत का निराकरण करते हुए काव्यप्रकाशकार ने यह स्पष्ट किया है कि उक्त उदाहरण (तथा अन्यत्र भी) अभिप्रेत अर्थ के ज्ञापक पदार्थ शुद्ध हेतु नहीं हैं अपितु उनके हेत्वाभास होने का संशय है। अतः वे अनुमापक नहीं हो सकते। व्यञ्जक होना तो सम्भव है, क्योंकि अभिव्यञ्जन हेत्वाभासों से भी होता। उक्त उदाहरण मे सिंहोपलब्धि को गोदातट पर भ्रमणयोग्यत्व के अभाव का अनुमापक माना गया है। किन्तु सिंहोपलब्धि होने पर भी गुरु या राजा की आज्ञा से अथवा किसी खजाने की प्राप्ति की आशा से भीरु धार्मिक आदि का भ्रमण सम्भव है। अतः साध्य (भ्रमणाभाव) का गोदा तट पर अभाव (भ्रमण) होने पर भी सिंहोपलब्धिस्वरूप हेतु के रहने से साध्याभाववद्वृत्तित्व (विपक्षसत्त्व)—स्वरूप साधारण-व्यभिचार नामक हेत्वाभास (हेतुदोष) सन्दिग्ध है। अतः सिंहोपलब्धि भ्रमणाभाव का अनुमापक नहीं हो सकती। अनुमान के लिए हेतु का पक्ष में प्रामाणिक अस्तित्व (=पक्षधर्मता) भी अनिवार्य है। किन्तु यहाँ वह भी सन्दिग्ध है, क्योंकि व्यभिचारिणी स्त्री के वचन के प्रामाणिक न होने से उसके कथनानुसार गोदातट पर गुफा

किं च यदिदं निश्शेषेत्याद्यवान्तरवाक्यार्थानां वापीस्नानव्यावृत्तिद्वारेण

णेन सामर्थ्यात् प्रतीतिपथमवतरति' इति । प्रकृतमुपसंहरति—एवं चेति । प्रामाणिकानामिति । काव्यप्रकाशकारमतस्य भृशं निराकरणात् ध्वन्यालोकाभिमतस्याऽपि क्वचित्स्वयमनादृतत्वात् कथं तेषां प्रामाणिकत्वमिति चिन्त्यम्, अंशतोऽविरोधस्तु दीक्षितेनाऽपि समानः, तथाऽपि दीक्षितेन तेषां प्रामाण्यमभ्युपगतमेवेत्यत एतदुक्तम् ।

'तव ग्रन्थस्य विरोधः स्फुटः' इत्यन्तेन ग्रन्थेन प्राचीनसकलग्रन्थविरुद्धत्वं चित्रमीमांसाकृत उपपाद्योपपत्तिविरोधमुपपादयति—किञ्चेत्यादिना । अयमाशयः—यथाऽपूर्ववाक्यस्थले शब्दप्रामाण्यस्याऽवश्यस्वीकर्त्तव्यतयाऽन्यत्रापि शब्दप्रयोगे तत एवार्थाऽधिगतिरिति तान्त्रिकप्रसिद्धिस्तथैव व्यभिचरितलिङ्गादिस्थले व्यञ्जनाया अवश्यस्वीकरणीयत्वेन यत्राऽपि काव्ये लिङ्गस्याऽव्यभिचरितत्वं तत्रापि व्यञ्जनयै-

में सिंह है यह निश्चय नहीं हो सकता। इस प्रकार पक्षधर्मताज्ञानस्वरूप 'सिद्धि' के अभाव में हेतु के 'असिद्ध' हेत्वाभास होने का भी संशय है हीं। साथ हीं, यह भी संभव है कि वह धार्मिक वीर हो, किन्तु कुत्ते से इस लिए डरता हो कि उसके स्पर्श से शरीरादि मे अपवित्रता आ जाएगी। ऐसी स्थिति में उस धार्मिक का सिंहयुक्त स्थान पर भ्रमण हो हीं सकता है। वीर पुरुष तो सिंहादियुक्त स्थान पर भी ज्ञानपूर्वक घूमते। इस प्रकार साध्याभाव (=भ्रमणाभावाभाव=भ्रमण) के साथ सिंहोपलब्धि-स्वरूप हेतु की व्याप्ति के सन्दिग्ध होने से यहाँ विरोधनामक हेत्वाभास का भी संशय है। अनुमान सद्धेतु से होता, निश्चित या सन्दिग्ध हेत्वाभास से नहीं। अतः सिंहोपलब्धि से भ्रमणाभाव का अनुमान नहीं हो सकता। यह यो व्यञ्जना-मात्र से गम्यमान है। इस लिए अनुमान प्रमाण से व्यञ्जना को गतार्थ नहीं किया जा सकता।

काव्यप्रकाश के उपर्युक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि व्यञ्जनास्थल में ज्ञापक का असाधारण (व्यङ्ग्यार्थमात्र से सम्बद्ध) होना अपेक्षित नहीं है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में भी यही बात कही गई है। अतः अप्पय्य दीक्षित का असाधारण्य-प्रतिपादन के लिए किया गया प्रयास पूर्वोक्त प्रमाणिक आचार्यों के ग्रन्थों (में निर्णीत सिद्धान्त) से विरुद्ध है जहाँ व्यञ्जकों को व्यङ्ग्य तथा उससे भिन्न अर्थोंके साथ समान रूप से सम्बद्ध कहा गया है। अतः दीक्षित का प्रयास अनुचित है।

अप्पय्य दीक्षित का उक्त प्रयास उपपत्तिविरुद्ध भी है। 'निश्शेषच्युतचन्दनं स्तन-तटम्' आदि विशेषणीभूत वाक्य के अर्थों को वे वापीस्नान से असम्भव बतलाते हुए केवल व्यङ्ग्यार्थ के असाधारण कार्य के रूप में क्यों सिद्ध करना चाहते? व्यङ्ग्यार्थ

व्यङ्ग्यासाधारण्यं संपाद्यते तत्किमर्थमिति पृच्छामः ? व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जनार्थमिति चेत् ? न, व्यञ्जकगताऽसाधारण्यस्य व्यञ्जनाऽनुपायत्वात् ।

औण्णिद्दं दोब्बल्लं चिंता अलसंतणं सणीससिअम् ।
मह मंदभाइणीए केरं सहि तुह वि परिभवइ ॥

इत्यादौ साधारणानामेवौन्निद्र्यादीनां वक्त्रादिवैशिष्ट्यवशादर्थविशेषव्यञ्जकताया अभ्युपगतेः । प्रत्युताऽसाधारण्यस्य व्याप्त्यपरपर्यायस्यानुमानानुकूलतया व्यक्तिप्रतिकूलत्वाच्च ।

वार्थाऽवसायो न गुरुतरेणानुमानेनेति कथमत्र निश्शेषच्युतचन्दनमित्यादौ दीक्षितस्य असाधारण्यप्रतिपादनं व्यर्थम्, युक्तिसिद्धत्वात्तस्येत्यत उपपत्तिविरुद्धत्वं तस्य प्रदर्शयति प्रकृतेन सन्दर्भेण । तथा च व्यञ्जनास्थले सर्वत्रैव साधारण्यं लिङ्गस्य, न क्वचिदसाधारण्यमिति स्वयमेव वक्ष्यति । व्यङ्ग्यस्य=तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीत्यस्यार्थस्य ।

'औण्णिद्दम्......' इत्यस्य संस्कृतच्छाया—

औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि परिभवति ॥ इति ॥

साधारणानाम्=उत्कटसंभोगवियोगादिजन्यत्वाऽविशेषाणाम् । अर्थविशेषः=उत्कटसम्भोगः । असाधारण्यस्य=अव्यभिचरितत्वस्य । व्यक्तिः=व्यञ्जना ।

के स्पष्ट अभिव्यंजन के लिए तो ऐसा करना उचित नही है, क्योंकि अभिव्यंजन के साधकों के लिए व्यंग्यार्थ के असाधारण धर्म होने की कोई आवश्यकता तो है नहीं । इसी लिए—

"अरी सखी ! मुझ अभागिन के चलते जागरण, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और दीर्घनिश्श्वास ये सब दोष तुझे भी पीड़ित कर रहे हैं ॥"

नायिका द्वारा उसके पति के साथ छिपकर सम्भोग कर आने वाली दूती के प्रति कहे गये इस पद्य में सम्भोग एवम् उत्कट वियोग आदि में समान रूप से होने वाले जागरण आदि को वक्त्री नायिका तथा बोद्धव्य दूती के प्रभाव से 'दूती के सम्भोग' का व्यंजक सभी मानते । इसलिए व्यंजक साधकों के लिए व्यङ्ग्यार्थ का असाधारण धर्म होना आवश्यक नहीं है । व्यंजक यदि व्यङ्ग्य का असाधारण धर्म हो तब तो दोनों के बीच व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध हो जाएगा, क्योंकि दो पदार्थों का असाधारण्य (=अव्यभिचरित होना) हीं तो व्याप्ति है । ऐसी स्थिति में असाधारण्य अनुमान ले लिए हीं अनूकूल होगा, व्यंजना के लिए तो यह सर्वथा प्रतिकूल होगा । अतः व्यंजनावादी दीक्षित का ऐसा मानना असंगत है ।

अथ तटादिघटितत्वेऽपि न निश्शेषेत्यादिवाक्यार्थानामसाधारण्यम्, सलिलार्द्रवसनकरणकप्रोञ्छनादिनापि तत्संभवादिति चेत् ? तर्हि वापीस्नानव्यावर्तनेन कः पुरुषार्थः ? एकत्रानैकान्तिकत्वस्येव बहुष्वनैकान्तिकताया अपि ज्ञाताया अनुमितिप्रतिकूलत्वाद्व्यक्त्यप्रतिकूलत्वाच्च। अपि चात्र हि तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति व्यङ्ग्यशरीरे तदन्तिकगमनं रमणरूपफलां-

---

इदानीं नाऽसाधारण्यप्रतिपादनममिप्रेतमपि तु वापीस्नानमात्रव्यावर्त्तनमित्याशङ्कां प्रतिपादयति—अथेति। यद्वा निश्शेषच्युतचन्दनत्वादेर्वापीस्नानजन्यत्वव्यावर्त्तनेऽपि नाऽसाधारण्यम्, क्लिन्नवस्त्रप्रोञ्छनादिनाऽपि तथा सम्भवादित्याशङ्कां प्रस्तौति—अथेति। यथा विलन्नवस्त्रप्रोञ्छनादिना सम्भोगेन च समानं निश्शेषच्युतचन्दनत्वादि स्तनतटादेस्तथैव वापीस्नानेनापि भवतु मा भूद्वा नाम, उभयोरपि व्यञ्जकत्वानुपयोगेन तदर्थप्रसाधननैरर्थक्यं स्पष्टमित्याशयेन समाधत्ते प्रतिप्रश्नमुखेन-तर्हीत्यादिना। ननु वापीस्नानस्य व्यञ्जकत्वविरोधित्वात्तद्व्यावृत्तेस्तद्विरोधिनिराकरणं तन्मुखेन च व्यञ्जनासहकारित्वमित्येवार्थः, क्लिन्नवस्त्रादिप्रोच्छनादेश्चानुपस्थितत्वात्तद्व्यावृत्तौ न यतितमित्यत आह—अपि चेत्यादि। व्यङ्ग्यत्वस्य

'निश्शेष······' आदि विशेषणवाक्यों के 'तट' आदि शब्दों से घटित होने पर भी उन वाक्यों के अर्थों से वापी-स्नान मात्र की व्यावृत्ति अभीष्ट है; वे व्यङ्ग्य के असाधारण धर्म हैं ऐसा कहना नहीं, क्योंकि वे तो गीले वस्त्र से पोंछने आदि से भी सम्भव हैं—यह कहकर भी उक्त मत के दोष का निराकरण नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि वे विशेषणवाक्यार्थ अन्य कारण से भी सम्भव हैं तो फिर उन्हें वापी-स्नान मात्र से असम्भव कह कर कौन सा अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो सकता ? अनैकान्तिकता (=व्यभिचार) तो किसी हेतु की एक स्थान में ज्ञात हो या अनेक में, अनुमान के लिए समान रूप से वह प्रतिकूल है। व्यंजना के लिए तो वह प्रतिकूल नहीं है। अतः उक्त विशेषणवाक्यार्थों को व्यङ्ग्य से अतिरिक्त गीले वस्त्र से पोंछने आदि से सम्बद्ध मानने के साथ-साथ यदि वापी-स्नान से भी सम्बद्ध मान लिया जाय तो भी अभिप्रेत अर्थ के अभिव्यंजन में कोई बाधा नहीं आती। अत एव व्यंजकों को व्यङ्ग्य के असाधारण धर्म कहने की कोई आवश्यकता नहीं। और भी, 'तू रमण के लिए उसी के पास गई थी' इस व्यंग्यार्थ में दो अंश हैं—'रमण (के लिए)' और 'उसके पास गई थी'। दीक्षित के मत में 'उसके पास गई थी' इस अंश को व्यंग्य कहना असम्भव है। यह अंश तो विपरीत-लक्षणा से ही प्रतीत हो जायगा। जब विशेषणवाक्यार्थ की उपपत्ति सम्भोगमात्र से सम्भव है, तब तो उस अधम नायक के पास जाना ही दूती के लिए आवश्यक है, वापी-स्नान के

शश्चेति द्वयं घटकम् । तत्र तावत्तदन्तिकं गतासीत्यंशस्य त्वन्मते व्यङ्ग्यत्वं दुरुपपादम् । त्वदुक्तरीत्या विशेषणवाक्यार्थानां निश्शेषेत्यादिप्रतिपाद्यानां वाच्यार्थे वापीस्नाने बाधितत्वाद्वाच्यकक्षागतप्रधानवाक्यार्थीभूतविधिनिषेध-प्रतिपादकाभ्यां गता न गतेति शब्दाभ्यां विरोधिलक्षणया निषेधस्य विधेश्च प्रतीतेरुपपत्तेः । नहि मुख्यार्थबाधेनोन्मीलितेऽर्थे व्यक्तिवेद्यतोचिता । यथा 'अहो पूर्णं सरो यत्र लुठन्तः स्नान्ति मानवाः' इत्यत्र कर्तृविशेषणानुपपत्त्य-धीनोल्लासे पूर्णत्वाभावे ।

दुरुपपादत्वमेवोपपादयति तदर्थस्य लक्ष्यत्ववर्णनमुखेन—त्वदुक्तरीत्येत्यादिना । बाधितत्वादित्यनेन विशेषणवाक्यार्थाऽन्वयबाधं लक्षणामूलमुपदर्शयति । (वापीं स्नातुमितो) गताऽसीत्यनेन मुख्यार्थान्वयबाधमूलिकया विपरीतलक्षणया न गताऽसीति, (तस्याऽधमस्यान्तिकं) न गताऽसीत्यनेन च तथैव लक्षणया गताऽसीति प्रतीतेः सम्भवान्न तत्र व्यञ्जना, वृत्त्यन्तराऽप्रतिपादितार्थस्यैव व्यञ्जनाविषयत्वादिति तदन्तिकं गताऽसीत्यंशस्य व्यङ्ग्यत्वाऽनुपपत्तिरिति सन्दर्भार्थः । वाक्ये शक्त्यभावाद् वाक्यार्थस्य वाच्यत्वाऽभावेऽपि वाच्यतुल्यत्वात्तस्य वाच्यकक्षागतेति विशेषणम् । लक्ष्यस्य व्यङ्ग्यत्वाऽभावे दृष्टान्तमाह—यथेति । अत्र लुठन्तः (='इतस्ततः परिवर्त्त-मानाः) इति स्नानक्रियाकर्तृभूतमानवानां विशेषणस्य पूर्णशब्दवाच्यार्थे विवक्षिते संगतिर्न भवतीति विपरीतलक्षणया पूर्णशब्दः पूर्णत्वाऽभावं गमयति । स चाऽभावो

लिए नहीं । ऐसी स्थिति में विशेषणवाक्यार्थ की 'तस्याधमस्यान्तिकं न गताऽसि' इस मुख्यांश के वाच्यार्थ के साथ सङ्गति न होने से '...न गताऽसि' का विपरीत-लक्षणा से 'गताऽसि' यही संगत अर्थ होगा । इसी तरह विशेषणवाक्यार्थ, जो सम्भोगमात्रजन्य हैं, की संगति 'वापीं स्नातुं गताऽसि' इस अंश के वाच्यार्थ के साथ न होने से यह अंश भी विपरीत-लक्षणा द्वारा 'वापीं स्नातुं न गताऽसि' (वापी में स्नान के लिए नहीं गई थी) का ही प्रतिपादक होगा । इस प्रकार विपरीत-लक्षणा से अवगत 'तदन्तिकं गताऽसि' इस अर्थ को व्यंग्य मानना सर्वथा अनुचित होगा, क्योंकि मुख्य वृत्ति (अभिधा) तथा मुख्यार्थबाधमूलक वृत्ति (लक्षणा) से जो अर्थ प्रतीत नहीं होता उसी की प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति द्वारा सर्व-मान्य है । जैसे—"अहा ! यह सरोवर जल से कितना भरा हुआ है जिससे लोग इसमें लोटते हुए स्नान कर रहे हैं !" इस वक्तव्य में स्नान करने वाले लोगों के विशेषणीभूत 'लुठन्तः' इस पद के मुख्यार्थ 'लोटते हुए' के साथ पूर्णशब्द के मुख्यार्थ के अन्वय का बाध होने से विपरीत-लक्षणा द्वारा प्रतीयमान पूर्ण शब्द के लक्ष्यार्थ

अथ तदन्तिकगमनस्य लक्षणावेद्यत्वेऽपि रमणस्य फलांशस्य लक्ष्यशक्तिमूलध्वननवेद्यत्वमव्याहतमेवेति चेत् ? 'अधमत्वमप्रकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्यापकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति' इत्यादिना संदर्भेण भवतैवार्थापत्तिवेद्यतायाः स्फुटं वचनात्। अन्यलभ्यस्य

लक्ष्यत्वाद् यथा न व्यङ्ग्यस्तथा प्रकृते तदन्तिकगमनरूपार्थोऽपीत्याशयः। कर्तृविशेषणस्यानुपपत्तावधीन उल्लासः प्रत्ययो यस्य पूर्णत्वाऽभावस्य तस्मिन्नित्यक्षरार्थः।

अस्तु तर्हि रमणमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वम्, विश्वनाथादिभिरुरीकृतं च तदेवेत्याशङ्कते—अथेति। लक्ष्यशक्तीत्यादि। लक्ष्यं तदन्तिकगमनम्, तस्य च या शक्तिः सामर्थ्यं तन्मूलं यद्ध्वननं व्यञ्जना, तद्वेद्यत्वं रमणस्येति। केवलविशेषणवाक्यार्थात्सम्भोगाऽसाधारणात् संभोगस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि तन्नायकसम्भोगस्याऽव्यङ्ग्यत्वात् तदन्तिकगमनं लक्ष्यमेव विशेषणवाक्यार्थोपबृंहितं रमणं व्यनक्ति प्रकृत इति तात्पर्यम्। प्रमाणान्तरानधिगतार्थस्यैव व्यङ्ग्यत्वम् इति नयेनार्थापत्त्याऽनुमानेन वा प्रतिपन्नस्य रमणस्याप्यव्यङ्ग्यत्वमेति न युक्तस्तन्मात्रस्यापि व्यङ्ग्यत्वपक्ष इत्याह—अधमत्वमित्यारभ्य अस्वीकृतेः इत्यन्तेन। प्राचीनः सर्वे एवापराधः सोढ एवोत्तमनायिकया, अन्यथा तदन्तिकं दूतीप्रेषणानुपपत्तेः, अतः प्राचीनापराधनिमित्तको नाधमपदप्रयोगोऽपि तु दूतीसम्भोगरूपापराधप्रयुक्त एवेति भवत्यर्थापत्त्या रमणबोधः, दूतीसम्भोगस्वरूपापराधं विनाऽधमपदप्रयोगानुपपत्तेरित्याशयो दीक्षितग्रन्थस्य।

'अपूर्ण' को कोई भी व्यंग्य नहीं मानता। इस प्रकार 'तदन्तिकं गताऽसि' इस अंश की व्यंग्यता की अनुपपत्ति से भी अप्पय्य दीक्षित का असाधारण्योपपादनप्रयास असंगत सिद्ध हो जाता।

अच्छा तो 'तदन्तिकगमन' को लक्ष्य हीं मान लिया जाय और इसमें विशेषणवाक्यार्थो की सहायता से परिस्फुट जो सम्भोग-प्रत्यायक सामर्थ्य है उससे सम्भोगमात्र को, जो तदन्तिकगमन का फल है—व्यंग्य मानने में क्या बाधा है ? बाधा यही है कि सम्भोग को इस पक्ष में व्यंग्य कहना सम्भव न हो सकेगा। अप्पय्य दीक्षित ने स्वयं कहा है "उत्तम नायिका नायक के जातिगत अपकर्ष [हीनता] का ख्यापन तो कर नहीं सकती, क्योंकि जब दोनों के बीच दाम्पत्यसम्बन्ध बन ही गया तो अब अपने नायक के जातिगत अपकर्ष का ख्यापन नायिका के लिए अनुचित एवं निन्दनीय होगा—इससे नायिका का उत्तमत्व विनष्ट हो जाएगा·········।" इससे स्पष्ट है कि उनके अनुसार दूतीसम्भोगादि से भिन्न किसी अपराध के चलते नायक का अधमत्व उपपन्न न होने से दूतीसंभोगादि की कल्पना की जाती है। इससे जब

च शब्दार्थताया अस्वीकृतेः। अन्यच्च, यथाकथंचिदङ्गीकुरु वाऽत्र व्यञ्जनाव्यापारं तथापि न तवेष्टसिद्धिः, वाच्यानां निश्शेषच्युतचन्दनस्तनतटत्वादीनामधमत्वस्य च त्वदुक्तरीत्या प्रकारान्तरेणानुपपद्यमानतया दूतीसंभोगमात्रनिष्पाद्यत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वप्रसङ्गात्। एवं चोपपत्तिविरोधोऽपि स्फुटतर एव। तस्माद्वाच्यार्थसाधारण्यमेवोचितमतिविदग्धनायिकानिरूपितानां विशेषणवाक्यार्थानाम्।

तथा हि—'अयि बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे स्वार्थपरायणे स्नानकाला-

---

ननु प्राचीनापराधाऽतिरिक्तोत्कटापराधत्वेन रमणस्योपपादकत्वादर्थापत्तिविषयत्वेऽपि रमणत्वेन तदविषयत्वात् पर्यायोक्तिप्रकरणस्थरीत्या रमणस्य व्यङ्ग्यत्वं नाऽनुपपन्नमित्यत आह—अन्यच्चेत्यादि। यथाकथञ्चित् = उपपादकतावच्छेदकातिरिक्तेन रमणत्वेन रूपेण। इष्टसिद्धिः = ध्वनिकाव्यत्वोपपत्तिः। गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं चात्र वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वरूपमभिप्रेतम्। वाच्यार्थः = वापीस्नानरूपार्थः। निरूपितानाम् = प्रतिपादितानाम्।

सम्प्रति वापीस्नानसाधारण्येन विशेषणवाक्यार्थं व्याचक्षाणो यथाऽत्र व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिस्तथा निरूपयति—तथा हीत्यादिना। सम्भोगस्य व्यङ्ग्यत्वसंरक्षणायाऽ-

---

दूतीसंभोग की अर्थापत्तिप्रमाणविषयता सिद्ध है तो फिर उसे व्यंग्य कहना सम्भव नहीं, क्योंकि शब्द किसी भी वृत्ति द्वारा उसी अर्थ का प्रतिपादक होता जो उस प्रकरण में अन्य प्रकार से प्रतीत न होता हो। अतः यदि सम्भोग अर्थापत्तिवेद्य है तो उसे व्यंग्य मानना सम्भव नहीं।

यदि प्राचीन अपराधों से भिन्न किसी उत्कट अपराध के रूप में सम्भोग को अर्थापत्ति का और सम्भोगत्वेन रूपेण सम्भोग को, पर्यायोक्त्यलङ्कारप्रकरण में वर्णन किये जाने वाले प्रकार से, व्यङ्ग्य मान भी लिया जाय तो भी अप्पय्य दीक्षित का मत समर्थित नहीं होता। उन्होंने उक्त पद्य को ध्वनिकाव्य माना है। किन्तु उनकी उपपादनविधि से तो इसे 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग' नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होना चाहिए, ध्वनिकाव्य नहीं। कारण यह है कि उनके द्वारा वर्णित विशेषणवाक्यार्थों एव अधमपदार्थ की उपपत्ति सम्भोग के विना न होने से सम्भोगस्वरूप व्यङ्ग्यार्थ तो वाच्यार्थ का साधक हो जाता है। इस प्रकार उपपत्तिविरुद्ध होने से भी अप्पय्य दीक्षित का मत असंगत है। अतः विदग्धा नायिका द्वारा उक्त 'निश्शेषच्युतचन्दनं 'स्तनतटम्' आदि विशेषणवाक्यों के अर्थों को व्यङ्ग्य सम्भोग तथा वाच्य वापी-स्नान इन दोनों के समान रूप से हीं कार्य मानना चाहिए।

अतः उपर्युक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—"अरी सखी! तू

तिक्रमभयवशेन नदीमदीयप्रिययोरन्तिकमगत्वैव वापीं स्नातुमितो ममान्तिकाद्गतासि, न पुनस्तस्य परवेदनानभिज्ञतया दुःखदातृत्वेनाऽधमस्यान्तिकम्। यतो निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव नोरःस्थलम्, वापीगतबहुलयुवजनत्रपापारवश्यादंसद्वयलग्नाग्रस्वस्तिकीकृतभुजलतायुगलेन तटस्यैवोन्नततया मुहुरामर्शात्। एवं त्वरया सम्यगक्षालनेनोत्तरोष्ठो न निर्मृष्टरागोऽधरस्तु तदपेक्षया गण्डूषजल-रदनशोधनाङ्गुल्यादीनामधिकसंमर्दमावहतीति तथा। किं च सम्यगक्षालनेन नेत्रे जलमात्रसंसर्गाद्दूरमुपरिभाग एवानञ्जने। शीतवशात्तानवाच्च तव तनुः पुलकितेति।' एवं तस्या विदग्धाया गूढतात्पर्यैवोक्तिरुचिता, अन्यथा वैदग्ध्यभङ्गापत्तेः। एवं साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात्तात्पर्यार्थस्य झटित्यनाकलनात्कुतोऽत्र लक्षणा-

---

धमत्वमन्यथोपपादयति—परवेदनेत्यादिना। वेदना=वियोगनिमित्तकं दुःखम्। निश्शेषच्युतचन्दनत्वादेः स्तनतटादिगतस्य वापीस्नानसाधारण्यमुपपादयति—वापीगतेत्यादिना। अंशद्वयलग्नेत्यादिप्रतिपादिता वाप्यादिस्नानमुद्रा रमणीषु प्रसिद्धा। आमर्शात्=भूयोभूयो जलस्पर्शात्। तथा=निर्मृष्टरागः। शीतवशादपि कठोरस्य बलवतः शरीरस्य पुलकितत्वं कदाचिन्न भवेदिति तत्र हेत्वन्तरत्वेन तानवं कोमलत्वमप्युपात्तम्—तानवाच्चेति। गूढतात्पर्या=गूढमीषद्गूढं तात्पर्यं व्यङ्ग्यं यस्याः सा तथा। साधारणेषु=वापीस्नानसाधारणेषु। झटिति=वक्त्रादिवैशिष्ट्यावगतेः

अपनी सखी की पीड़ा को नहीं समझती। तूँ तो स्वार्थसिद्धि में हीं लगी हुई है। इसी लिए तो स्नान-वेला कहीं बीत न जाय इस डर से दूरवर्त्ती नदी में स्नान करने नहीं गई बल्कि पास की वापी [तालाब] में हीं स्नान करने यहाँ से चली गई। दूसरों की पीड़ा को न समझने के कारण दुःख देने वाले मेरे उस अधम पति के पास तो गई हीं नहीं। तभी तो तेरे स्तनों के ऊपरी हिस्से से हीं चन्दन पूरी तरह घुल पाया है, तेरे वक्षःस्थल से नहीं, क्योंकि उस वापी में स्नान करते हुए बहुत-से युवकों से लज्जित होने से तूँने बार-बार अपने दोनों हाथों को स्वस्तिक मुद्रा में कन्धों पर रखकर अपने उन्नत स्तनों के ऊपरी हिस्सों को हीं छिपाया होगा। इसी तरह तेरे ऊपरी होंठ की लाली भी धुल न सकी, क्योंकि तूँने लज्जा के कारण जल्दी-जल्दी स्नान करके उसे पूरी तरह धुलाया न होगा। हाँ, तेरे अधर की लाली तो पूरी तरह सही में धुल गई है, क्योंकि स्नान करने के पहले बार-बार कुल्ला करने और दाँत साफ करने से तेरे अधर पर तेरी अङ्गुलियों से खूब रगड़ पड़ी होगी। और भी, अच्छी तरह स्नान [या सफाई] न करने से तेरी आँखों के ऊपरी हिस्से का हीं आँजन कुछ-कुछ घुल पाया है। ठंढ और सुकुमार होने से तेरे शरीर पर अब भी रोमाञ्च है।"

वकाशः ? अनन्तरं च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्वक्तृबोद्धव्यनायकादीनां वैशिष्टयस्य प्रतीतौ सत्यामधमपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दुःखदातृत्वरूपो धर्मः साधारणात्मा वाच्यार्थदशायामपराधान्तरनिमित्तकदुःखदातृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसंभोगनिमित्तकदुःखदातृत्वाकारेण पर्यवस्यतीत्यालंकारिकसिद्धान्तनिष्कर्षः। एतेन 'अधमत्वमपकृष्टत्वम्, तच्च जात्या कर्मणा वा भवति। तत्र जात्याऽपकर्षं नोत्तमनायिका नायकस्य वक्ति। नापि स्वापराधपर्यवसायिदूतीसंभोगादिहीनकर्मातिरिक्तेन कर्मणा। तादृशं च दूतीसंप्रेषणात्प्राचीनं सोढमेवेति नोद्धाटनार्हमितीतरव्यावृत्त्या संभोगरूपमेव पर्यवस्यति' इति यदुक्तम् तदपि निरस्तम्। विदग्धोत्तमनायिकायाः सखीसमक्षं तदुपभोगरूपस्य स्वनायकापराधस्य स्फुटं प्रकाशयितुमतितमामनौचित्येन प्राचीनानामेव सोढानामप्यपराधानामसह्यतया दूतीं प्रति प्रतिपिपादयिषितत्वादिति दिक् ॥

पूर्वम्। लक्षणाऽवकाश इति। एतेन तदन्तिकमेव गताऽसीत्यस्य लक्ष्यत्वं वदन्तो निराकृताः। स्वप्रवृत्तिः=अधमपदस्य प्रवृत्तिः प्रयोगः। अपराधान्तरमत्र स्वरमणीवियोगवेदनाऽनभिज्ञता। तथा च वियोगवेदनाऽनभिज्ञतानिमित्तकदुःखदातृत्वेनाऽधमत्वं वाच्यम् इत्यर्थः। अनौचित्येनेति। नानानिमित्तकस्याप्यधमत्वस्य विशेषणवाक्यार्थमहिम्ना दूतीसम्भोगनिमित्तकदुःखदातृत्वनिमित्तकत्वेन रूपेण नियन्त्रितत्वाद्व्यङ्ग्यस्य वाच्यत्वापत्तिरपि दूषणान्तरं दीक्षितमते बोध्यम्। अयमेव दिगर्थोऽत्र ॥

एक विदग्ध नायिका द्वारा ऐसा हीं वक्तव्य देना उचित है जिसका तात्पर्य पूरी तरह स्पष्ट या नितान्त अस्पष्ट न हो। नहीं तो उसकी विदग्धता हीं नष्ट हो जायेगी। इस प्रकार विशेषणवाक्यार्थों के सम्भोग एवं वापी-स्नान इन दोनों से समानरूप से सम्बद्ध होने के कारण उनका अन्वय वाच्य वापी-स्नान के साथ आपाततः हो हीं रहा है। तात्पर्यार्थ का बोध तो वक्तृबोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य का अवगम होने से पूर्व हो नहीं सकता। अतः वाच्यार्थ के बोध के समय तात्पर्यानुपपत्तिस्वरूप लक्षणा-बीज भी नहीं है। अतः लक्षणा से 'सम्भोग के लिए नायक के पास जाने' की प्रतीति का कोई प्रश्न हीं नहीं उठता। पहले तो वाच्यार्थ के आधार पर हीं वाक्यार्थबोध हो जाता। किन्तु जब वक्तृ-बोद्धव्य-वैशिष्टय की प्रतीति हो जाती तब 'मेरी प्रचण्ड विरहवेदना को न समझने के कारण नीच' यह अधम पद का वाच्यार्थ हीं व्यञ्जनाव्यापार द्वारा 'प्राचीन अपराधों से अतिरिक्त किसी उत्कट अपराध करने,' अर्थात् 'दूतीससम्भोग स्वरूप अपराध द्वारा दुःख देने से नीच' इस रूप में प्रतिफलित हो जाता है।

यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम् ॥

वाच्यापेक्षया प्रधानीभूतं व्यङ्ग्यान्तरमादाय गुणीभूतं व्यङ्ग्यमादाया-

---

क्रमप्राप्तमुत्तमकाव्यं लक्षयति—यत्रेत्यादिना ।

अवधारणप्रयोजनमाह—वाच्येत्यादिना । पराभिमतेऽपराङ्गे 'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य रत्यात्मकस्य शृङ्गारस्य वाच्यार्थापेक्षया प्रधानत्वेऽपि व्यङ्ग्यान्तरकरुणाऽपेक्षयाऽप्रधानत्वमिति न तच्छृङ्गारमादाय तत्रोत्तमकाव्यलक्षणाऽतिव्याप्तिरित्याशयः । तेन तस्य=पराभिमताऽपराङ्गस्य ध्वनित्वमेव । यद्यपि काव्यप्रकाशकारादिमते चमत्कारातिशयजनकस्यैव प्राधान्यं सिध्यति तथापि पण्डितराजमते उपपाद्यत्वस्यैव तत्त्वमित्यावेदितपूर्वम् । अतश्च पराभिमतेऽपराङ्गे नागेशादिमते वाच्यस्यैव शृङ्गारापेक्षयाऽतिशयचमत्कारवत्त्वेपि न तत्र वाच्यस्य प्राधान्यम्, उपपादकत्वात्तस्य । यत्र पुनर्व्यङ्ग्यस्योपपाद्यत्वेन प्रधानत्वेऽपि चमत्कारजनकत्वं वाच्यार्थस्यैव तत्र पण्डितराजमते मध्यमकाव्यत्वमेव । इदन्तु बोध्यम्—पण्डितराजमते यावन्मात्रं विवक्षितं तन्मात्रेणैव प्राधान्याऽप्राधान्यव्यवस्था,

---

उपर्युक्त रीति से अप्पय्य दीक्षित का निम्नलिखित कथन भी निरस्त हो जाता है—

"अधमत्व, अर्थात् नीचता दो कारणों से सम्भव है—जाति से अथवा कर्म से । यहाँ नायक की जातिगत नीचता का प्रतिपादन तो विदग्ध नायिका कर नहीं सकती । साथ हीं, दूतीसम्भोगात्मक अपराध जैसे हीन कर्म से भिन्न किसी पूर्व कुकर्म के कारण भी वह नायक की नीचता नहीं बतला सकती, क्योंकि वैसे सभी पूर्वकृत कुकर्मों को तो वह सह चुकी है, अब उनके उद्घाटन का कोई प्रयोजन नहीं है । यदि वे कुकर्म नायिका को असह्य होते तो वह नायक के पास अब दूती को भेजती हीं क्यों ? अतः जाति या प्राचीन कुकर्मों के अधमत्व का प्रयोजक न होने से अन्ततो गत्वा दूतीसम्भोगस्वरूप कुकर्म या अपराध हीं उस का प्रयोजक सिद्ध होता है ।"

इस कथन के निरस्त हो जाने का कारण यह है कि कोई भी अत्यन्त विदग्ध नायिका अपनी सखी [दूती] के समक्ष तो उसी के साथ अपने पति के सम्भोग की बात स्पष्ट रूप में कह नहीं सकती, क्योंकि उसके लिए ऐसा कहना अत्यन्त गर्हित होगा । वह तो उसके समक्ष व्यक्त रूप में प्राचीन अपराधों को हीं असह्य बताकर अपना उत्कट आक्रोश चतुराई से अभिव्यक्त करना चाहेगी । अतः दीक्षित का मत अयुक्त है ॥

जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान होकर हीं चमत्कारातिशयजनक हो उसे द्वितीय, अर्थात् उत्तम काव्य कहते हैं ॥

इस लक्षण में व्यङ्ग्यार्थ के विषय में 'अप्रधान होकर हीं' यह अप्रधानता का

तिव्याप्तिवारणायावधारणम् । तेन तस्य ध्वनित्वमेव । लीनव्यङ्ग्यवाच्य-

---

न त्वविवक्षितयत्किञ्चिदादाय । अत एव 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादौ दूतीसम्भोगेन विप्रलम्भश्रृङ्गारस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि न दूतीसम्भोगस्य प्राधान्यं हीयते, विप्रलम्भस्याऽविवक्षितत्वात् । इतरथोत्तमोत्तमत्वस्य निर्विषयत्वापत्तिः । एवकारव्यावर्त्यस्याऽपराङ्गस्य ध्वनित्ववर्णनेन चान्तरालिकव्यङ्ग्यमादाय पण्डितराजमते नोत्तमत्वादिव्यवहार इत्यपि सूच्यते । अतः 'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादौ यच्छृङ्गारमादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमुक्तं पूर्वं तन्मतान्तराऽभिप्रायेण । पण्डितराजमते तु पार्यन्तिकव्यङ्ग्यं करुणमादायैव व्यवस्थेति तस्योत्तमोत्तमत्वमेवेति । अथवोत्तमोत्तमकाव्ये व्यङ्ग्यस्य प्रधानत्वेऽवधारणाभावात् पार्यन्तिकव्यङ्ग्यापेक्षयाऽप्रधानत्वेऽपि वाच्यापेक्षया श्रृङ्गारस्य रत्यात्मकस्य प्राधान्येन बहूनां प्रकाशटीकाराणां मते चमत्कारित्वेन च तमादायैव ध्वनित्वमस्य निर्वाह्यम् । 'उअ णिच्चलणिप्पन्दा' इत्यादेरपि प्रकृतैवकारव्यावर्त्यत्वमस्येव । अत ईदृशस्याप्युत्तमोत्तमत्वं निर्व्यूढम् । लीनव्यङ्ग्येत्यादि । लीनमस्फुटं व्यङ्ग्यं यत्र तादृशे वाच्यचित्र इत्यर्थः । यद्वा

अवधारण किया गया है जिससे यह स्पष्ट है कि उसे सर्वथा अप्रधान हीं होना चाहिए, किसी की भी अपेक्षा प्रधान नहीं । इसी लिए जहाँ एक व्यङ्ग्यार्थ अन्य व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान हो उसे उत्तम काव्य नहीं कहाँ जा सकता । वह तो अन्तिम चमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ के आधार पर उत्तमोत्तम काव्य ही होगा जिसे ध्वनिकाव्य भी कहा जाता है । अतः उक्त अवधारण के विना उसमें उत्तम काव्य के लक्षण की अतिव्याप्ति अपरिहार्य हो जाती, क्योंकि वहाँ भी पूर्व व्यङ्ग्यार्थ अन्तिम व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान है हीं । इस तरह के ध्वनिकाव्य का एक उदाहरण काव्यप्रकाश आदि में दिया हुआ 'अपराङ्ग' का उदाहरण है—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

भूरिस्रवा की कटी हुई बाँह को देखकर विलाप करती हुई उसकी पत्नी की यह उक्ति है । इसमे पूर्वकालिक रशनाकर्षण आदि श्रृंगार-विलासों से व्यङ्ग्य श्रृंगार (=रति) प्रधानीभूत करुण की अपेक्षा गुणीभूत होकर भी वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान है । अतः श्रृंगारस्वरूप व्यङ्ग्य को लेकर इसे उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता । यह तो करुणस्वरूप मुख्य व्यङ्ग्य के आधार पर ध्वनिकाव्य हीं है । पण्डितराज के मत मे अन्त्य व्यङ्ग्य के आधार पर हीं उत्तमोत्तमत्वादि की व्यवस्था होती है, आन्तरालिक व्यङ्ग्य के आधार पर नहीं । यह विषय संस्कृत टीका में स्पष्ट किया गया है । इसी अवधारण से 'उअ णिच्चलणिप्पन्दा' आदि ध्वनिकाव्य

अस्फुटव्यङ्ग्ये वाच्यचित्रे चेति। व्यङ्ग्यस्याऽस्फुटत्वादेव च तत्र चमत्काराऽभावः।

काव्यप्रकाशोक्तं गुणीभूतव्यङ्ग्यमेवात्रोत्तमं काव्यमिति टीकाकाराः। वयन्त्ववगच्छामः—पण्डितराजलक्षणे व्यङ्ग्यस्याऽप्रधानत्वेऽपि वाच्यार्थाऽपेक्षयाऽतिशयचमत्कारित्वं यत्र तस्यैवोत्तमत्वमभिप्रेतम्। अत एव समप्राधान्ये मध्यमकाव्यत्वोक्तिरपि संगच्छते। प्रकाशादौ पुनरतिशयचमत्कारजनकत्वं व्यङ्ग्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्येषु न सम्भवत्येव। अत उभयोस्तमःप्रकाशवद्भेदः। किञ्चाऽसुन्दरव्यङ्ग्यादौ चमत्कारो नास्त्येव व्यङ्ग्यस्येति कथं तस्योत्तमत्वं पण्डितराजमते? अतो यत्र प्रकाशाद्यभिमतगुणीभूतेषु व्यङ्ग्यस्य सहृदयावर्जकत्वं प्रतीतिबलादायातं प्रधानत्वं तु वक्तृतात्पर्यमुख्यविषयत्वाभावेन न विद्यते तेषामेवात्रोत्तमत्वमिति। अयं च भेदो वस्तुतः प्रधानत्वस्वरूपविषयकभेदाश्रयः। प्रधानत्वं पण्डितराजमत उपपादकत्वाऽसमानाधिकरणमुपपाद्यत्वं वक्तृतात्पर्यमुख्यविशेष्यतारूपं वैवक्षिकमिति पूर्वमस्माभिरुक्तमेव। तथा च पण्डितराजाभिमतप्राधान्याभावादुत्तमे व्यङ्ग्यस्यैतन्मतेऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं सुघटम्। परं यद् गुणीभूतव्यङ्ग्यशब्देन प्रकाशादिष्वभिप्रेतं न तदत्र, शब्दसाम्यं नाऽर्थसाम्यमिति विवेकः। अधिकं विज्ञैर्विवेचनीयम्।

एतावता पण्डितराजाभिमतगुणीभूतव्यङ्ग्यशब्दार्थनिर्णयाद् यद् गुणीभूतव्यङ्ग्यं काव्यप्रकाशे 'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्' इति लक्षितम् तन्निरस्तं वेदितव्यम्, तस्याऽशब्दार्थत्वात्। किञ्च तदीयाधमकाव्ये अर्थचित्रे व्यङ्ग्यस्य वाच्याऽपेक्षयाऽतिशायित्वाभावात्तदीयगुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणस्याऽतिव्याप्तिरपीत्यतोऽपि हेयं तल्लक्षणम्। यत्पुनस्तट्टीकाकारैरेतदतिव्याप्तिवारणायैतल्लक्षणे

में भी अतिव्याप्ति का निराकरण समझना चाहिए। जिस वाच्यचित्र काव्य में व्यङ्ग्यार्थ रहकर भी अत्यन्त अस्पष्ट रहने से चमत्कारजनक नहीं होता उसमें उत्तमकाव्य के लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए व्यङ्ग्यार्थ को 'चमत्कारजनक' कहा गया है। इसी काव्य को वास्तविक 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' समझना चाहिए। जो आचार्य अतिशयचमत्कारजनक अर्थ को हीं प्रधान मानते तथा काव्य के तीन हीं भेद—उत्तम, मध्यम और अधम स्वीकार करते उनके मत में पण्डितराजसम्मत उत्तम काव्य भी ध्वनिकाव्य हीं है।

काव्यप्रकाशकार ने व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ से अल्पचमत्कारजनक होने पर काव्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' कहा है। किन्तु वाच्यचित्र काव्य में इस लक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है, क्योंकि उसमें व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार को उत्पन्न न करने से उनके मत में गुणीभूत है हीं। उनके कुछ टीकाकार इस अतिव्याप्ति

चित्रातिप्रसङ्गवारणाय चमत्कारेत्यादि। यत्तु 'अतादृशि गुणीभूत-व्यङ्ग्यम्' इत्यादिकाव्यप्रकाशगतलक्षणे चित्रान्यत्वं टीकाकारैर्दत्तम्, तन्न। पर्यायोक्तिसमासोक्त्यादिप्रधानकाव्येष्वव्याप्त्यापत्तेः। तेषां गुणीभूतव्यङ्ग्य-तायाश्चित्रतायाश्च सर्वालंकारिकसंमतत्वात्।

उदाहरणम्—

राघवविरहज्वालासंतापितसह्यशैलशिखरेषु।
शिशिरे सुखं शयानाः कपयः कुप्यन्ति पवनतनयाय॥ इति।

अत्र जानकीकुशलावेदनेन राघवः शिशिरीकृत इति व्यङ्ग्यमाकस्मिक-

चित्रान्यत्वे सतीति विशेषणं प्रक्षिप्तं तदप्यसमञ्जसमित्याह—तन्नेत्यादिना। एतत्तु प्रतीयते यदत्रत्यो गङ्गाधरग्रन्थः शब्दसाम्याल्लेखकेनांशतोऽपरामृष्टः। मूलं त्वित्थं सम्भाव्यते—"यत्तु 'अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम्' इति काव्यप्रकाशगतं लक्षणं तदयुक्तम्, अर्थचित्रेऽतिव्याप्तेः। यत्तु लक्षणे चित्रान्यत्वं ………।" इति।

राघवविरहेत्यादिपद्ये सह्य इति शैलनाम। पदार्थः स्पष्टः। व्यङ्ग्यम्=जानकीकुशलावेदनम्। आकस्मिकेत्यस्यानुक्तहेतुकेत्यर्थः। कामपि=वाच्यार्थाति-शायिनीम्। अत्र च व्यङ्ग्यस्यातिशयचमत्कारित्वेऽपि कुप्यन्तीतिपदवाच्यकोप-साधकतया अप्राधान्यमिति भवत्युत्तमत्वमस्येति सन्दर्भार्थः।

प्रागुक्तम्='तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यत्र वर्णितम्। व्यङ्ग्येनैव=रत्याख्यस्थायिनैव। अतश्च तस्याप्युत्तमत्वं युक्तं न तूत्तमोत्तमत्वमित्याशङ्कार्थः। तत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यातिरिक्ते नाप्युपपत्तौ सहृदयाह्लादजनकस्य व्यङ्ग्यस्य न वाच्या-

---

का निराकरण करने के लिए इस लक्षण में 'चित्रान्यत्वे सति' (अर्थात् उसे चित्र काव्य से भिन्न भी होना चाहिए) यह विशेषण जोड़ते, परन्तु इससे भी निर्वाह नहीं होता, क्योंकि तब तो पर्यायोक्ति आदि अलङ्कारों से हीं प्रधान रूप मे घटित काव्य को, जिसे सब आचार्य गुणीभूतव्यङ्ग्य होने के साथ-साथ चित्र काव्य भी मानते, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहना सम्भव न हो सकेगा। अतः उक्त विशेषण जोड़ने पर भी उनका लक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त होगा। अत एव यह लक्षण असंगत है।

उत्तम काव्य का उदाहरण यह है—

"रामचन्द्र के जानकीविरहाग्नि की ज्वालाओं से सन्तप्त सह्य-नामक पर्वत के शिखरों पर शिशिर ऋतु में आराम से सोये हुए बन्दर पवनपुत्र हनूमान् (जिन्होंने जानकी की सूचना देकर रामचन्द्र के विरहाग्नि को घटा दिया) पर क्रुद्ध हो उठे॥"

इस पद्य में बन्दरों द्वारा हनूमान् पर किए गए क्रोध का कारण, जो वाच्यार्थ से स्पष्ट न हो रहा था, यह व्यङ्ग्यार्थ है कि उसने (हनूमान् ने) जानकी का कुशल-समाचार रामचन्द्र को बतला कर उनके विरहानल के ताप को शान्त (शीतल)

कपिकर्तृक-हनूमद्विषयककोपोपपादकतया गुणीभूतमपि दुर्दैववशतो दास्य-मनुभवद्राजकलत्रमिव कामपि कमनीयतामावहति। नन्वेवं प्रागुक्तमाक्षेप-गतं मान्द्यमपि नववधूप्रकृतिविरोधादनुपपद्यमानं व्यङ्ग्येनैवोपपाद्यत इति कथमुत्तमोत्तमता तस्य काव्यस्येति चेत्? न। यतो ह्यनुदिनसख्यु-पदेशादिभिरनतिचमत्कारिभिरप्युपपद्यमानं मान्द्यमिदं प्रथमचित्तचुम्बिनीं विप्रलम्भरतिमप्रकाशयन्न प्रभवति स्वातन्त्र्येण परनिर्वृतिचर्वणागोचरता-माधातुम्। इत्थमेव निश्शेषच्युतचन्दनमित्यादिपद्ये ष्वधमत्वादीनि

ऽपेक्षमप्रधानत्वम्, प्रकृते पुनर्वाच्यस्य कोपस्य व्यङ्ग्यातिरिक्तकारणेनानुपपत्तौ भवति व्यङ्ग्यस्य वाच्याङ्गत्वमिति नानयोः साम्यमित्याशयेनोत्तरति—यत इत्यादिना। व्यङ्ग्यविप्रलम्भरत्यपेक्षया न्यूनचमत्कारजनकत्वेन सख्युपदेशादेरनतिचमत्कारि-त्वमुक्तम्। सहृदयहृदये चमत्कारजनकार्थ एव प्रथमं भासत इति विप्रलम्भरतिरेव तत्राऽऽक्षेपगतमान्द्यकारणत्वेन प्रथमं विषयीभवतीत्यतः प्रथमचित्तचुम्बिनीमिति विशेषणं प्रदत्तं प्रकृते विप्रलम्भरतेः। परा या निर्वृतिरानन्दः तस्य या चर्वणा आस्वादस्तद्गोचरतां तद्विषयतामित्यर्थः। 'तल्पगताऽपि' इत्यत्रोक्तं न्यायं 'निश्शेष-

---

कर दिया। यह व्यङ्ग्यार्थ यद्यपि वाच्य कपिनिष्ठ क्रोध का गुणीभूत अवश्य है, क्योंकि वाच्य क्रोध की इसके विना उपपत्ति न होने से यही उसका उपपादक (अत एव अप्रधान) है तथापि चमत्कारजनकता तो इसमे उसी प्रकार विद्यमान है जैसे दुर्भाग्यवश दासी का स्थान प्राप्त करने वाली रानी में सौन्दर्य अक्षुण्ण बना हीं रहता है। अतः इस पद्य में व्यङ्ग्य के वाच्यसिद्ध्यङ्गभूत होने पर भी चमत्कारा-तिशयजनक होने से इसमें उत्तमकाव्यत्व उपपन्न है।

तो फिर 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इस पूर्वोदाहृतपद्य में भी प्रिय के करकमल को हँटाने में जो प्रियतमाकी मन्दता कही गई है वह भी नवोढ़ा के स्वभाव से विरुद्ध होने से स्वतः अनुपपन्न है; ऐसो स्थिति में उक्त व्यङ्ग्यार्थ—संलक्ष्यक्रम रति के भी वाच्य मन्दता का उपपादक होने उसे कैसे उत्तमोत्तम काव्य (अर्थात् वहाँ भी व्यङ्ग्य के वाच्यसिद्ध्यङ्ग होने से उत्तम काव्य क्यों नहीं) कहा गया है? यहाँ वाच्य मन्दता तो प्रकरण से अविरुद्ध जो सखियों के उपदेश आदि हैं (कि प्रियतम के साथ कठोर व्यवहार कभी नहीं करना चाहिए) उनसे भी उपपन्न है हीं। अतः वाच्यार्थबोध के पश्चात् सहृदयों को शीघ्र हीं प्रतीत होने वाला व्यङ्ग्यभूत विप्रलम्भशृंगार वाच्यार्थ का उपपादक न होने से गुणीभूत नहीं है। किन्तु अतिशय चमत्कार का जनक तो यह है हीं, क्योंकि यही सहृदयों को वाच्यार्थबोध के बाद झट से प्रतीत होता और इसकी प्रतीति के विना

वाच्यानि व्यङ्ग्यातिरिक्तेनार्थेनापाततो निष्पन्नशरीराणि व्यञ्जकानीति न तत्रापि गुणीभावः शङ्कनीयः। अनयोर्भेदयोरनपह्नवनीयचमत्कारयोरपि

च्युतचन्दनम्' इत्यत्रापि योजयति—**इत्थमेवेत्यादिना**। व्यङ्ग्यातिरिक्तार्थेन = परवेदनानभिज्ञतारूपेणार्थेन। आपातत इति व्यङ्ग्यातिरिक्तार्थस्याधमत्वोपपादकत्वं वक्तृतात्पर्याऽविषयीभूतमित्याशयेनोक्तम्। उत्तमोत्तमोत्तमयोर्व्यङ्ग्यस्य चमत्कारातिशयवत्त्वेऽपि को भेद इत्याह—**अनयोरित्यादिना**।

अत्रेदं चिन्त्यम्—वक्तृतात्पर्यविषयीभूतस्यैव व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याऽप्राधान्यनिरूपणं प्रकृतोपयोगि न वेति। तत्रान्त्यः पक्षो न शोभते, एवं हि सति 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादावपि दूतीसंभोगस्वरूपस्य व्यङ्ग्यस्य विप्रलम्भशृंगारात्मकव्यङ्ग्यान्तराङ्गत्वेनाऽप्राधान्यादुत्तमोत्तमत्वव्याघातः। अतो वक्तृतात्पर्यविषयीभूतव्यङ्ग्यस्यैव यथायथं प्राधान्याऽप्राधान्यनिरूपणं करणीयम्। तात्पर्यनिर्णयश्च प्रकरणादिना प्रसिद्ध एव। अतश्च गतोऽस्तमर्क इत्यादेरपि व्यङ्ग्यः स एवार्थो यो वक्तृबोद्धव्यानुरूपः। अन्ये त्वर्था बोद्धव्यान्तरबोधविषयास्तद्व्यञ्जकवाक्यसाम्यप्रयुक्तप्रकृतवाक्याऽभेदभ्रमेण। कारणस्य भ्रान्तत्वेऽपि फलस्य भ्रान्तत्वं न नियतम्। यद्वाऽर्थान्तरबोधोऽनुमानेनैव सुकरः। तदेवं वक्तृतात्पर्यविषयीभूतस्यैव व्यङ्ग्यस्य काव्यार्थपर्यालोचनायां परिग्रहे सिद्धे यथा 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' इत्यादौ दूतीसम्भोगस्यैवान्ततोऽधमत्वहेतुत्वं व्यववस्थितं तथैव 'राघवविरह······' इत्यादिपद्येऽपि जानकीकुशलावेदनस्यैवान्ततो वक्तृतात्पर्यविषयतया वाच्यकोपहेतुत्वम्। ततश्च यद्यपि जानकीकुशलावेदनमिव दूतीसम्भोगादेरप्यधमत्वहेतुत्वेनाधमत्वोपपादकत्वमेव न तु तदुपपाद्यत्वमिति तत्रापि पूर्वोक्तोपपादकत्वाऽसमानाधिकरणोपपाद्यत्वं प्राधान्यं न सम्भवति तथाऽपि 'बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे' इत्यनेनापाततः प्रतीयमानेन प्रकरणाद्यविरुद्धेन विरहवेदनानभिज्ञत्वरूपेणार्थान्तरेणाधमत्वप्रतीत्या वाक्यार्थविश्रान्तेः पश्चाद् वक्त्रादिवैशिष्ट्येन प्रतीतस्य दूतीसम्भोगस्याधमत्वज्ञाप्यत्वादुपपाद्यत्वमक्षतम्। एवमेव 'तल्पगताऽपि च सुतनुः' इत्यत्रापि योज्यम्। 'राघवविरहज्वाला' इत्यादौ तु कोपस्य यद्यपि विलम्बातिशयादिनाप्युपपत्तिः सम्भवति तथापि तस्य प्रकरणादिविरुद्धत्वेन न कोपोपपादकत्वं येन जानकीकुशलावेदनस्य दूतीसम्भोगादिवदुपपाद्यत्वं

परमानन्द का अनुभव भी हो नहीं सकता। अतः इसे उत्तमोत्तम काव्य माना गया है, उत्तम काव्य नहीं। इसी प्रकार 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' आदि पद्य में भी नायक का अधमत्व और स्तनतट का पूरी तरह चन्दनरहित हो जाना आदि वाच्यार्थ के प्रकरणाद्यविरुद्ध वियोगवेदनानभिज्ञता और गीले वस्त्र से पोंछने आदि से हीं उपपन्न हो जाने से वहाँ भी अधमत्वादि दूतीसम्भोगादि के व्यञ्जक हीं हैं, न कि उनके उपपादक। अतः उक्त पद्य में भी व्यङ्ग्य को वाच्यसिद्धि का अङ्ग—गुणीभूत

प्राधान्याऽप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित्सहृदयवेद्यो विशेषः ।

यत्तु चित्रमीमांसाकृतोक्तम्—

"प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेण वा
किमुत सकले याते वाऽह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥ इति ॥

स्यात्, अपि तु प्रकरणाऽविरुद्धेन जानकीकुशलावेदनेनैव वाच्यकोपोपपत्तौ सत्यां वाक्यार्थविश्रान्तिरिति न तस्य कोपोपपाद्यतेनि न प्राधान्यमपीति नात्र ध्वनित्वम्, अपि तु वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वमेव । । तथा च यत्र काव्ये वाच्यस्य प्रकरणाद्यविरुद्धेन व्यङ्ग्यातिरिक्तेनार्थेनोपपत्त्या वाक्यार्थविश्रान्तिरनन्तरं च वक्त्रादिवैशिष्ट्यादर्थान्तरव्यक्तिस्स ध्वनेर्विषयः, यत्र पुनर्वाच्यस्य प्रकरणाद्यविरुद्धव्यङ्ग्यातिरिक्तार्थनिमित्तोपपाद्यत्वाऽभावस्स सति व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वे द्वितीयस्योत्तमकाव्यलक्षणस्य विषय इति सारम् । तदिदमुक्तम्—अस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशेष इति ।

प्रहरविरतावित्यादि । अतिदूरं जिगमिषुं प्रियं दिनमात्रमपि तद्वियोगसहनाऽसमर्था प्रियतमा कथयति—हे प्रिय ! 'अह्नो दिवसस्य प्रहरमात्रापगमे सति (प्रहरानन्तरमेव), मध्ये=द्वितीयप्रहरे, ततोऽपि परेण=तृतीये प्रहरे वा, किमुत सकलेऽह्नि याते=व्यतीते वा त्वम् इह=मत्सकाशमेष्यसि ?' इति इत्येवंविधैः सबाष्पगलज्जलैरालापैर्बाला दिनशतप्राप्यमसंख्यदिनप्राप्यमतिदूरदेशं यियासतो गन्तुमिच्छतः प्रियतमस्य गमनं हरति=निवारयति—इति पद्यार्थः ।

नहीं माना जा सकता । अत एव यह भी उत्तमोत्तम काव्य है । उत्तमोत्तम और उत्तम भेदों में व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशयचमत्कारजनक होने से साम्य होने पर भी दोनों में यही अन्तर है कि प्रथम में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता जब कि द्वितीय में अप्रधान । यह सूक्ष्म अन्तर केवल सहृदय समझ सकते हैं, जनसामान्य नहीं ।

चित्रमीमांसाकार ने गुणीभूतव्यङ्ग्य का यह उदाहरण दिया है—

"किसी नवोढ़ा नायिका का प्रियतम इतना दूर जाना चाहता है कि वहाँ पहुचने में हीं महीनों लग जायेंगे । उस समय शीघ्रभावी दीर्घ विरह को सहने में असमर्थ उस झरझराती आँखों वाली नवोढ़ा ने रुँधे गले से अपने प्रियतम से 'क्या तुम एक पहर बीतते हीं मेरे पास लौट आओगे या दूसरे पहर या तीसरे पहर मे या उसके बीत जाने के बाद हीं, शाम में ? ये हृदयस्पर्शी प्रश्न पूछ कर उसकी यात्रा स्थगित कर दी ॥"

अत्र सकलमहः परमावधिस्ततः परं प्राणान्धारयितुं न शक्नोमीति व्यङ्ग्यं प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गमतो गुणीभूतव्यङ्ग्यम्" इति तन्न। सबाष्पगलज्जलानां प्रहरविरतावित्याद्यालापानामेव प्रियगमननिवारणरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गतया व्यङ्ग्यस्य गुणीभावाभावात्। आलापैरिति तृतीयया प्रकृत्यर्थस्थ हरणक्रियाकरणतायाः स्फुटं प्रतिपत्तेः। न च व्यङ्ग्यस्यापि वाच्यसिद्ध्यङ्गताऽत्र संभवतीति तथोक्तमिति वाच्यम्, निश्शेषच्युतचन्दनमित्यादावविवाधमत्वरूपवाच्यसिद्ध्यङ्गताया दूतीसंभोगादौ संभवाद्गुणीभावापत्तेः। अस्तु वा ततः परं प्राणान्धारयितुं न शक्नोमीति

अत्र वाच्यैरालापैरेव वाच्यान्तरस्य प्रियगमननिवारणस्योपपत्तौ वाक्यार्थविश्रान्तेः पश्चात् प्रतीयमानं 'सकलमहः परमावधिस्ततः परं प्राणान् धारयितुं न शक्नोमि' इति व्यङ्ग्यं न वाच्यसिद्ध्यङ्गमिति न तदादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वोपपादनमुचितं दीक्षितस्येत्याशयेन निरस्यति तन्मतम्—तन्नेत्यादिना। प्रकृत्यर्थस्य = आलापात्मकस्य। व्यङ्ग्यस्याऽपीत्यत्रापिना आलापानामपि संग्रहः। यथा आलापा गमननिवारणसमर्थास्तथैव व्यङ्ग्यमपि तत्समर्थमिति भावः। ननु प्रकृतानामालापानां प्रेमाऽतिशयप्रकाशनमेव फलम्, तथा च कथं गमननिवारणहेतुत्वमित्यतः प्रकारान्तरेण तन्मतं खण्डयति—अस्तु वेत्यादिना। तथा च व्यङ्ग्यभेदेन यद्यपि 'प्रहर-

---

यहाँ 'दिन भर तो मैं तुम्हारे विना जीवित रह सकती, पर उसके बाद नहीं' यही व्यङ्ग्य अर्थ है। यह यात्रानिवारणस्वरूप वाच्यार्थ का उपपादक होने से उसका अङ्ग—अप्रधान है। अतः यह 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' है। यही अप्पय्य दीक्षित का मन्तव्य है। किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि यात्रानिवारणस्वरूप वाच्यार्थ का उपपादक तो 'क्या तुम एक पहर बीतते हीं मेरे पास लौट आओगे' इत्यादि वाच्यार्थ हीं हैं। अतः यहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थोंपपादक न होने से गुणीभूत नहीं। 'आलापैः' इस पद में करणार्थक तृतीया विभक्ति से हीं यह स्पष्ट हो जाता कि आलाप यहाँ निवारण का करण है। उक्त व्यङ्ग्य के भी यात्रानिवारणात्मक वाच्यार्थ का उपपादक हो सकने से उसे वाच्यसिद्ध्यङ्ग मान कर 'गुणीभूत' कहना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि तब तो उन्होंने जो 'निश्शेषच्युतचन्दनम्' आदि पद्य को ध्वनिकाव्य कहा है वह भी सम्भव न हो सकेगा। कारण यह है कि वहाँ भी दूतीसंभोगादि वाच्यार्थ अधमत्वादि के एक उपपादक हैं, अतः उन्हें भी गुणीभूत कहना होगा। यदि उक्त प्रश्नों को नायक के प्रति नायिका के प्रगाढ़ प्रेम का प्रतिपादक मान लिया जाय तो उपर्युक्त व्यङ्ग्य वाच्यसिद्ध्यङ्ग हो सकता है परन्तु उक्त पद्य को तो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य कहना उस परिस्थिति में भी सम्भव नहीं है, क्योंकि

व्यङ्ग्यस्य वाच्यसिद्धयङ्गतया गुणीभावस्तथापि नायकादेर्विभावस्य बाष्पादेरनुभावस्य चित्तावेगादेश्च संचारिणः संयोगादभिव्यज्यमानेन विप्रलम्भेन ध्वनित्वं को निवारयेत् ॥

यत्र व्यङ्ग्यचमत्काराऽसमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत्तृतीयम् ॥

विरतौ' इत्यादेरुभयं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं ध्वनित्वं च तथापि वक्तृतात्पर्यविषयीभूतपार्यन्तिकव्यङ्ग्यप्राधान्याऽप्राधान्यनिमित्तक एव ध्वनित्वोत्तमत्वादिव्यवहार इति ध्वनित्वमेवास्योचितमिति पण्डितराजाकूतम् ।

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥

इति स्वीकुर्वन्तः प्राञ्चस्तु यथासम्भवं पार्यन्तिकमान्तरालिकं च व्यङ्ग्यमादाय ध्वनित्वादिव्यवहारं मन्यन्ताम्। किन्तु सम्पूर्णवाक्यार्थपर्यालोचनायां पार्यन्तिकव्यङ्ग्यमादायैव ध्वनित्वादिव्यवहारौचित्यमभिप्रयन्ति गङ्गाधरकृतः । 'ग्रामतरुणम्' इत्यादौ च पार्यन्तिकव्यङ्ग्यं विप्रलम्भात्मकमादाय ध्वनित्वं भवत्येव। ध्वन्यालोकस्य तृतीये 'पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन' इत्यादौ ध्वनित्वं समुदाहरता वृत्तिकृता स्पष्टीकृतोऽयमर्थः । यदि च 'ग्रामतरुणम्' इत्यादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव स्वीकर्त्तव्या तर्हि विप्रलम्भाभासस्याऽविवक्षितत्वमेव कल्प्यम् येन स्वयंकृतसङ्केताऽपि सा न तत्र गतेत्यस्यैव पार्यन्तिकत्वमुपपद्येत । मर्मप्रकाशोक्तिस्तूद्योतोक्तिविरुद्धेत्युपेक्ष्यैवेत्यलम् ॥

यत्रेत्यादि । यत्र=काव्ये । असमानाधिकरण इति । वाच्यचमत्कारापेक्षयोत्कृष्टव्यङ्ग्यचमत्कारो हि सहृदयहृदये प्रायेण भासत इत्युत्कृष्टव्यङ्ग्यचमत्कार-

---

यहाँ विप्रलम्भश्रृङ्गारध्वनि अनिवार्य है। जब विभाव नायिकादि, अनुभाव बाष्प आदि इसमें निर्दिष्ट हैं और चित्तावेगादि सञ्चारिभाव भी व्यङ्ग्य हैं हीं तब इनके संसर्ग से अभिव्यज्यमान विप्रलम्भश्रृंगारध्वनि का निवारण कौन कर सकता ? अतः इस पद्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' का उदाहरण नहीं माना जा सकता ॥

जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ के चमत्कार के अधिकरण में वाच्यार्थ का चमत्कार न हो उसे तृतीय, अर्थात् मध्यम काव्य कहते ॥

वाच्यार्थ को व्यङ्ग्यचमत्कार का असमानाधिकरण कहने का तात्पर्य यह है—वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशयचमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ हीं सहृदयों की आत्मा में स्थान प्राप्त करता है, अल्पचमत्कारजनक अथवा चमत्काराजनक व्यङ्ग्यार्थ नहीं।

यथा यमुनावर्णने—'तनयमैनाकगवेषणलम्बीकृतजलधिजठरप्रविष्ट-हिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्याः सखी' इति। अत्रोत्प्रेक्षा

स्यापकृष्टवाच्यचमत्कारस्य च सामानाधिकरण्यं प्रसिद्धम्। तथा च यदि व्यङ्ग्यचमत्कारो वाच्यचमत्कारापेक्षयोत्कृष्टो न प्रकाशते तर्हि व्यङ्ग्यचमत्कारो वाच्यचमत्कारसमानाधिकरणो न भवति। एषा च स्थितिर्वाच्यचमत्कारस्य व्यङ्ग्यचमत्कारसमकक्ष्यत्वे तदपेक्षोत्कर्षवत्त्वे चेति बोध्यम्। यद्वा 'व्यङ्ग्यचमत्कारापमानाधिकरणः' इत्येव पाठः। तत्रापमानमधिकरोतीति कर्त्तरि ल्युट्, करणे वा। तथा च यत्र काव्ये वाच्यचमत्कारो व्यङ्ग्यचमत्कारमपमानयति तन्मध्यमम्। अपमानश्च वाच्यचमत्कारकृतस्तस्य व्यङ्ग्यचमत्कारापेक्षयोत्कर्षेण तत्तुल्यकक्ष्यत्वेन चेति पूर्ववदेव व्यवस्था। अत्र वाच्यचमत्कृतेर्विशेष्यतयोपन्यासेऽपि तत्प्राधान्ये नाग्रहः। अत एव समप्राधान्ये मध्यमत्वं वक्ष्यति स्वयमेव। अत एवात्र तस्याः प्राधान्यं साक्षादन्यथा वा नोक्तम्।

तनयमैनाकेत्यादि। मैनाको हिमालयस्य तनयः क्रुद्धेन्द्रकर्तृकपक्षच्छेदनभिया जलधिं प्रविष्ट इति पुराणम्। हिमालयात्प्रभूता गङ्गाऽपि जलधिं प्रविष्टैव। तत्रोत्प्रेक्ष्यते—तनयेत्यादिना। तनयो मैनाकस्तस्य गवेषणाय लम्बीकृता जलधिजठरप्रविष्टा या हिमगिरिभुजा तामिव आचरन्त्या भागीरथ्याः सखीत्यर्थः। पुँल्लिङ्गेन भुजशब्देन विग्रहस्तु न युक्त एव। उत्प्रेक्षा=स्वरूपोत्प्रेक्षा,

---

अतः अतिशयचमत्कारजनक वाच्यार्थ के साथ उक्तविध व्यङ्ग्यार्थ का किसी एक अधिकरण में रहना सम्भव नहीं। इस विषय को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि उपर्युक्त वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ विषयता सम्बन्ध से सहृदयों के एक ज्ञान में आश्रित हो नहीं सकते। इससे स्पष्ट है कि मध्यम काव्य में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार का जनक नहीं होता, वह या तो समानस्तर के चमत्कार को उत्पन्न कर सकता है या हीन स्तर के चमत्कार को। उक्त रीति से सामानाधिकरण्य तो अल्पचमत्कारजनक अथवा चमत्काराजनक वाच्यार्थ एवम् अतिशयचमत्कारजनक व्यङ्ग्यार्थ का हीं हो सकता। लक्षणवाक्य में वाच्यार्थ का विशेष्य रूप मे निर्देश कर ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मध्यम काव्य में वाच्यार्थ हीं चमत्कारजनक होता, व्यङ्ग्यार्थ उससे अधिक चमत्कार का जनक कदापि नहीं होता।

इसका उदाहरण मेरे यमुनावर्णन-नामक काव्य का यह वाक्य है—"यमुना उस भगवती भागीरथी की सखी है जो मानो, हिमालय की वह भुजा है जो उसके (हिमालय के) पुत्र मैनाक को ढूँढ़ने के लिए फैलाई गई और समुद्र के उदर में

वाच्यैव चमत्कृतिहेतुः । श्वैत्यपातालतलचुम्बित्वादीनां चमत्कारो लेशतया सन्नप्युत्प्रेक्षाचमत्कृतिजठरनिलीनो नागरिकेतरनायिकाकल्पित-काश्मीरद्रवाङ्गरागनिगीर्णो निजाङ्गगौरिमेव प्रतीयते । न तादृशोस्ति कोऽपि वाच्यार्थो यो मनागनामृष्टप्रतीयमान एव स्वतो रमणीयतामाधातुं प्रभवति । अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूत-व्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलङ्कारप्रधानं काव्यम् ॥

भागीरथीस्वरूपद्रव्ये भुजात्वजात्यवच्छिन्नस्य तादात्म्येनोत्प्रेक्षा । वाच्यैवेति । 'उपमानादाचारे' इति पाणिनिसूत्रविहितस्य क्यङ उत्प्रेक्षावाचकत्वात् । अत्र विशेष उत्प्रेक्षा-निरूपणावसरे वक्ष्यते । ग्रन्थकृताऽपि विस्तरेण तत्रैतद्विषये विवेचितम् । चुम्बित्वादीनामिति । व्यङ्ग्यानामितिशेषः । नागरिकेतरेति । ग्राम्येत्यर्थः । एतेन प्रसाधनाऽनैपुण्यं तत्प्रयुक्तं चाधिकलेपनं सूच्यते । काश्मीरद्रवः=केसररसः । वाच्यस्य व्यङ्ग्य-संस्पर्शेणैव रमणीयत्वमित्याह— न तादृश इत्यादि । अनयोरेवेत्यादि । द्वितीये काव्यप्रभेदेऽपि व्यङ्ग्यार्थो गुणीभूतः, तृतीयेऽपि तथैव; परं द्वितीये तस्य वाच्यापेक्षया चमत्कारातिशयजनकत्वम्, तृतीये पुनर्न तथा । इदमेव चमत्कारातिशयजनकत्वं व्यङ्ग्यस्य प्रकृते जागरूकत्वम्, तदभावश्चाऽजागरूकत्वम् । द्वितीये जागरूकत्वं गुणीभूतस्य व्यङ्ग्यस्येति पर्यायोक्तिप्रभृत्यलङ्कारप्रधानस्य काव्यस्य समावेशोऽत्रैव, पर्यायोक्त्याद्यलङ्कारेषु व्यङ्ग्यस्य गुणीभूतत्वेऽपि वाच्यापेक्षयाऽतिशयचमत्कारजनक-त्वात् । दीपकाद्यलङ्कारप्रधानस्य तु काव्यस्य तृतीये प्रकारेऽन्तर्भावः, तेष्वलङ्कारेषु गुणीभूतव्यङ्ग्यसत्त्वेपि चमत्कारातिशयजनकत्वाभावादिति ग्रन्थार्थः । अत्र

पैठी हुई है ।'' यहाँ 'भुजायमाना' पद में 'उपमानादाचारे' इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार विहित 'क्यङ्' प्रत्यय का वाच्य जो भागीरथी में हिमालय की भुजा की उत्प्रेक्षा है वही चमत्कारजनक है । यद्यपि इस उत्प्रेक्षा से भागीरथी की श्वेतता और उत्प्रेक्ष्यमाण भुजा के 'जलधिजठरप्रविष्ट' इस विशेषण के माहात्म्य से उस (भागीरथी) का पाताल में प्रविष्ट होना आदि व्यङ्ग्य अवश्य हैं तथापि इन व्यङ्ग्यों का थोड़ा सा चमत्कार उत्प्रेक्षा के चमत्कारातिशय में उसी तरह विलीन है जिस तरह प्रसाधन की कला से अनभिज्ञ ग्राम्य युवती की गौरिमा (=धवलता) उसके मुखमण्डल पर अत्यधिक मात्रा में लगाए गए केसररस की धवलता में विलीन हो जाती । अतः चमत्कार व्यङ्ग्यार्थ का निगूढ़ तो है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यङ्ग्यार्थ का सर्वथा अभाव है, क्योंकि विना उसके सम्पर्क के कोई भी वाच्यार्थ स्वतः चमत्कारजनक हो नहीं सकता । मुख्य रूप में पर्यायोक्ति, समासोक्ति आदि अलङ्कारों से युक्त काव्य का द्वितीय काव्य-प्रभेद (उत्तम) में और दीपकादि

यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम् ॥

यथा—

मित्रात्रिपुत्रनेत्राय त्रयीशात्रवशत्रवे ।
गोत्रारिगोत्रजत्राय गोत्रात्रे ते नमो नमः ॥ इति ।

अत्रार्थचमत्कृतिः शब्दचमत्कृतौ लीना । यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्य-

---

चालङ्कारशब्देनार्थालङ्कार एव गृह्यते, शब्दालङ्कारप्रधानस्य काव्यस्य सत्यामर्थचमत्कृतौ चतुर्थे समावेशस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥

यत्रेत्यादि । यस्मिन् काव्ये वाच्यार्थजन्यचमत्कारपोषिता शब्दजन्यचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थं काव्यमित्यक्षरार्थः । वाच्यादेश्चमत्कारजनकत्वं वाच्यार्थादिज्ञानस्य तथात्वादुक्तम् ।

मित्रेत्यादि । मित्रः सूर्यः, अत्रिपुत्रश्चन्द्रः, तौ नेत्रे यस्य तस्मै । त्रयी ऋग्यजुःसामानि तद्विषयं शात्रवं शत्रुत्वं यस्य दैत्यादेस्तस्य शत्रवे शातयित्रे विनाशकाय । गोत्रस्य पर्वतस्य अरेरिन्द्रस्य गोत्रे जाता ये देवास्तेषां त्रो रक्षको यस्तस्मै, गोः पृथिव्या धेनोश्च त्रात्रे रक्षकाय तुभ्यं विष्णवे शिवाय वा नमो नम इति पद्यार्थः ।

लीना=अत्यन्तमस्फुटा । यद्यप्यत्रापि न व्यङ्ग्यरहितत्वम्, व्यङ्ग्यार्थेन मनागपि वाच्यार्थस्य स्पर्शाभावे स्वरूपतस्तस्य चमत्काराऽजनकत्वमित्यनुपदमेव तृतीयकाव्यलक्षणनिरूपणोपसंहारे स्वयमेवोक्तत्वात् तथापि भगवद्विषयभावादेर्व्यङ्ग्यस्य वाच्यचमत्कृतौ (तस्याश्च शब्दचमत्कृतौ) निलीनत्वात् प्रतीतिविषयत्वाभाव इत्यतः सतोऽपि व्यङ्ग्यस्याऽनिर्देशो नानुपपन्न इत्यवधेयम् । चमत्कारमात्रजनकतारहितार्थविशिष्टचमत्कारजनकशब्दघटितयमकबन्धादिवाक्यस्य काव्यपञ्चमभेदत्वेनाधमाऽधमत्वेन लक्षणं कथं न कृतमित्यत्र युक्तिमाह—**यद्यपीत्यादिना ।** तत्र तत्र काव्येषु=किरातार्जुनीयादिषु । अर्थस्यापि चमत्कारजनकत्वे तच्चमत्कारस्य च शब्दचमत्कारो-

---

अलङ्कारों से युक्त काव्य का तृतीय काव्य-प्रभेद (मध्यम) में समावेश हो जाता है । अतः उनके समावेशार्थ किसी स्वतन्त्र काव्य-प्रभेद को मानने की आवश्यकता नहीं हैं ।

जिस काव्य में अर्थचमत्कार से परिपोषित शब्दचमत्कार हीं प्रधान हो उसे चतुर्थ, अर्थात् अधम, काव्य कहते ॥

जैसे—"मित्र (सूर्य) और अत्रि-पुत्र (चन्द्र) जिनके नेत्र हैं, वेदत्रयी के साथ शत्रुता रखने वाले दैत्यादि के जो विघातक हैं और पर्वत के पंखों को काटने वाले इन्द्र के गोत्र में उत्पन्न, अर्थात् देवों, के जो रक्षक हैं उन पृथिवी के अथवा धेनु के पालक भगवान् विष्णु या शिव को मेरा शतशः प्रणाम हो ॥"

शून्या शब्दचमत्कृतिस्तत्पञ्चममधमाधममपि काव्यविधासु गणयितुमुचितम्, यथैकाक्षरपद्यार्धावृत्तियमकपद्मबन्धादि। तथापि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूपकाव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरुन्धानैस्तत्र तत्र काव्येषु

पस्कारकत्वेऽधमकाव्यत्वम्; शब्दचमत्कारस्यार्थचमत्कारोपस्कारकत्वे तु मध्यमकाव्यत्वम्, व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शमन्तरेण वाच्यार्थस्य चमत्कारजनकत्वाभावात्तत्रापि हीनचमत्कारजनकव्यङ्ग्यार्थसद्भावे तुल्यचमत्कारजनकव्यङ्ग्यार्थसद्भावे वा वाच्यस्य व्यङ्ग्यचमत्काराऽसमानाधिकरणत्वाऽक्षतेरिति वक्ष्यत्यनुपदमेव। सम्प्रति तत्परिगणनाऽभावे हेतुमाह—तथापीत्यादिना। काव्यत्वं सामान्यं व्यापकं काव्यविशेषत्वं च तद्व्याप्यम्। तथा चैकाक्षरादौ पद्येऽर्थस्य रमणीयत्वाभावेन विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावात्मककाव्यत्वाभावाद् व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तिरिति न्यायेन तत्र काव्यत्वाभाववति काव्यविशेषत्वाभावः सिद्ध इति न पृथग्गणनामर्हतीत्याशयः।

सम्प्रति मम्मटाद्यभिमतं काव्यप्रकारत्रयमाक्षिपन्नाह—केचिदित्यादि। निराकरणे हेतुमाह—तत्रेत्यादिना। अत्रोक्तेन दोषेण सह व्यङ्ग्यप्राधान्याऽप्राधान्यसद्भावादुत्तमोत्तमोत्तमद्वयभेदास्वीकारोऽपि युक्तिविरुद्धत्वाद् दोषो बोध्यः। 'विनिर्गतम्' इत्यादिपद्यं काव्यप्रकाशेऽर्थचित्रस्योदाहरणम्। पूर्णं पद्यं यथा—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती॥ इति॥

भर्तृमेण्ठविरचिते हयग्रीववधाऽभिधे नाटके हयग्रीववर्णनमिदम्। यं हयग्रीवाभिधं दैत्यं मानदं शत्रूणां मानं द्यति खण्डयतीति मानदस्तमात्मगृहाद् यदृच्छया न त्वमरावतीविजिगीषयाऽपि विनिर्गतं सन्तमुपश्रुत्य कर्णाकर्णिकया श्रुत्वा ससम्भ्रमेण सभयेनेन्द्रेण द्रुतं पातिता अर्गला यस्यास्तादृशी अमरावती कपाटद्वयपिधानेन निमीलिताऽक्षीव भवति—इति पद्यार्थः। अत्रोत्प्रेक्षाया एव वाच्यायाः कविसंरम्भगोचरतया व्यङ्ग्योऽपि वीरादिर्लीनो वाच्यचमत्कारे इति भवत्येतदुदाहरणमर्थचित्रा-

---

इस पद्य में अर्थचमत्कार शब्दचमत्कार में विलीन है। इस लिए उपर्युक्त लक्षण के अनुसार यह अधम काव्य है। यद्यपि एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्ति यमक से घटित पद्य और पद्मबन्ध आदि वाक्यों को भी, जहाँ अर्थ में कोई भी चमत्कार है हीं नहीं अपितु केवल शब्द में हीं चमत्कार है, स्वतन्त्र काव्यप्रकार के रूप मे परिगणित करना आपाततः उचित प्रतीत होता तथापि वास्तविक रूप में विचार करने पर यह स्पष्ट है कि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक न होने से उन्हें जब काव्य कहना हीं सम्भव नहीं तो फिर काव्य-विशेष कैसे कहा जा सकता? इस

निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्, वस्तुस्थितेरेवानुरोध्यत्वात् ।

केचिदिमानपि चतुरो भेदानगणयन्त उत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधमेव काव्यमाचक्षते । तत्रार्थचित्र-शब्दचित्रयोरविशेषेणाधमत्वमयुक्तं वक्तुम्, तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः । को ह्येवं सहृदयः सन् 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्', 'स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' इत्यादिभिः काव्यैः 'स्वच्छन्दोच्छलद्' इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामविशेषं ब्रूयात् ? सत्यपि तारतम्ये यद्येक-

---

ऽभिधस्याऽधमकाव्यस्येति तदाशयः । परमत्र हयग्रीवप्रभावातिशयलक्षणस्य व्यङ्ग्यस्य जागरूकतया तस्य च प्राधान्ये ध्वनित्वमप्राधान्ये च परमते गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवोचितमिति प्रदीपकृदादिभिर्निर्णीतत्वान्नैतदुदाहरणमुपपन्नमर्थचित्रस्येत्यत्राऽपरितुष्यन् चित्रमीमांसास्थमर्थचित्रोदाहरणमाह—'स च्छिन्नमूलः' इति । रघुवंशेऽजसमरवर्णनमिदम् । पूर्णं पद्यमिदम्—

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात् पवनाऽवधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाऽवभासे ।। इति ।।

इन्दुमतीमुद्वहन्तमजं यदा तत्पित्रपहृतवैभवत्वात्तेन स्वयम्वरेऽपमानितत्वाच्च राजन्यगणः पथि रुरोधाऽथच तयोस्तुमुलं युद्धं प्रवृत्तं तत्रोत्थितः सान्द्रो रेणुः युद्धक्षतजेन रक्तेनाधस्तादञ्जितः सन् भूमिलग्न उपरिष्टाच्च पवनावधूतः सन् नभसि प्रसृतस्तदा तस्य रेणोर्नभःप्रसृत ऊर्ध्वभागः अङ्गारशेषस्य निर्धूतोल्मुकावशेषस्य हुताशनस्य अग्नेः पूर्वोत्थितो धूम इवाऽवभास इत्यर्थः । अत एव 'धूम' इति कालिदासस्योपनाम प्रसिद्धमिति दिनकरादयः । अत्र रेणौ धूमसम्भावनयेवशब्दवाच्योत्प्रेक्षैव युद्धगतभयानकादिव्यङ्ग्यापेक्षयाऽतिशयेन चमत्कारं जनयतीति हेतोरिदं वाच्यचित्रमर्थचित्रापरपर्यायं परमतेऽधमं स्वमते मध्यमं काव्यमिति भावः । स्वच्छन्दोच्छलदिति । एतच्च पद्यं यथा—

लिए वस्तुस्थिति का अनुसरण करते हुए हमने उन्हें स्वतन्त्र काव्यविधा के रूप में परिगणित नहीं किया है यद्यपि इतना तो सत्य है कि प्राचीनपरम्परा के अनुरोधी कुछ महाकवियों ने अपनी रचनाओं में इनका समावेश अवश्य किया है ।

काव्यप्रकाशकार आदि कुछ आलङ्कारिक काव्य के उपर्युक्त चार प्रकार न मानकर तीन हीं प्रकार मानते—उत्तम (ध्वनि), मध्यम (गुणीभूतव्यङ्ग्य) और अधम (शब्दचित्र और अर्थचित्र) । किन्तु अर्थचित्र एवं शब्दचित्र को समान रूप से एक स्तर का काव्य मानना असंगत है, क्योंकि दोनों में चमत्कारजनकता की दृष्टि से अन्तर स्पष्ट है । क्या ऐसा भी कोई सहृदय मिल सकता जो 'विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' (काव्यप्रकाश) तथा 'स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुः' (चित्रमीमांसा) आदि अर्थचित्र काव्यों की 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ...' (काव्यप्रकाश)

भेदत्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोरीषदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः ? यत्र च शब्दार्थचमत्कृत्योरैकाधिकरण्यं तत्र तयोर्गुणप्रधानभावं पर्या-

---

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाऽऽह्निकाऽह्लाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ।। इति ।।

शब्दचित्रस्योदाहरणमिदं काव्यप्रकाशे दत्तम् । अत्र वृत्त्यनुप्रासो नाम शब्दालङ्कारः । शब्दचित्रत्वं तु स्फुटमेवास्य । मन्दाकिनीविषयप्रीतेर्भक्त्यपरपर्यायाया अत्र व्यङ्ग्यत्वेऽपि तस्या अस्फुटतरत्वेन कविविवक्षाऽविषयत्वेन वा न तामादायास्य शब्दचित्रत्वव्याघात इति तदाशयः । तदुक्तमानन्दवर्धनेन—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ।। इति ।।

अत्रालङ्कारशब्दोऽर्थालङ्कारस्य शब्दालङ्कारस्य च वाचकः । तथा च रसादिविवक्षाविरहे सत्यर्थालङ्कारयोजनेऽर्थचित्रत्वं शब्दालङ्कारयोजने च शब्दचित्रत्वं तन्मत इति विशेषः । **ईषदिति ।** स्वमताभिप्रायेणैतदुपपद्यते, स्वमते हि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्व्यङ्ग्यस्य चमत्कारातिशयाधायकत्वे समानेऽपि पूर्वस्मिन् प्राधान्यं तस्य परस्मिश्चाऽप्राधान्यमित्येवाल्पीयान् भेदः । परमते पुनरन्त्ये चमत्कारातिशयजनकत्वं व्यङ्ग्यस्य नास्तीति महान् भेदोऽनयोरिति स्पष्टम् । तथा च कथं परमतानुसारेणैतदुक्तं युक्तमिति चिन्त्यं सुधीभिः ।

ननु शब्दचित्रस्याऽकाव्यत्वेऽपि उभयचित्रस्य 'वराहः कल्याणं वितरतु स वः

आदि शब्दचित्र के साथ समानता मानता हो ? यदि स्पष्ट तारतम्य रहने पर भी दोनों को एक कोटि में रखा जाय तब ध्वनि एवम् गुणीभूतव्यङ्ग्य को भिन्न-भिन्न कोटि में रखने का दुराग्रह क्यों ? इन दोनों में भी तो इतना ही अन्तर है कि प्रथम में व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है जब कि द्वितीय में गौण । अतः अर्थचित्र एवं शब्दचित्र को परस्पर-भिन्न कोटियों में रखना हीं उचित है । एवञ्च यदि किसी एक काव्य में अर्थचमत्कार भी हो और शब्दचमत्कार भी तो अर्थचमत्कार के प्रधान सिद्ध होने पर उसे मध्यमकाव्य और शब्दचमत्कार के प्रधान होने पर उसे अधम काव्य कहना चाहिए । यदि दोनों के गुणप्रधानभाव का निर्णय न हो सके तो उसे मध्यम काव्य हीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ के वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक न होने से उसमें व्यङ्ग्यचमत्काराऽसमानाधिकरण वाच्यचमत्कार माना जा सकता है ।

लोच्य यथालक्षणं व्यवहर्तव्यम् । समप्राधान्ये तु मध्यमतैव ।

यथा—

उल्लासः फुल्लपङ्केरुहपटलपतन्मत्तपुष्पंधयानां
निस्तारः शोकदावानलविकलहृदां कोकसीमन्तिनीनाम् ।
उत्पातस्तामसानामुपहतमहसां चक्षुषां पक्षपातः
संघातः कोऽपि धाम्नामयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् ॥

अत्र वृत्त्यनुप्रासप्राचुर्यादोजोगुणप्रकाशकत्वाच्च शब्दस्य प्रसादगुण-

---

कल्पविरमे' इत्यादेः काव्यत्वस्याऽनपलाप्यत्वात् पुनरपि चतुर्धाविभागोनुपपन्न एवेत्यत आह—यत्रेत्यादि । अयं च यत्र इत्यारभ्य मध्यमतैव इत्यन्तो ग्रन्थो व्याख्यातपूर्वः ।

समप्राधान्योदाहरणमाह—उल्लास इति । फुल्लानां विकसितानां पङ्केरुहाणां कमलानां पटले समूहे पततां मत्तानां पुष्पन्धयानां मधुकराणामुल्लास उल्लासकारणम्, शोक एवान्तर्दाहकत्वाद्दावानलस्तेन विकलं हृद् यासां तासां कोकसीमन्तिनीनां चक्रवाकवधूनां निस्तारो दुःखनिवारकः, अपहृतं लघीयस्तेजो यैस्तेषां तमःसमूहानामुत्पातो विनाशकः, यद्वोपहतमहसामिति चक्षुषां विशेषणम्, तथा चोपहतं महो दृष्टिसामर्थ्यं येषां चक्षुषामन्धकारे तेषां पक्षपातः सहायकः प्रतिबन्धकीभूततमःपुञ्जविनाशकत्वात्, एतादृशो यः कोऽपि विलक्षणो धाम्नां संघातः सूर्यः सोऽयमुदयगिरिप्रान्ततः प्रादुरासीत् । 'प्रादुरास्ते' इत्युचितम् ॥

अत्रेत्यादि । अयमर्थः—अत्र लकारपकारादेरसकृन्निर्देशाद् वृत्त्यनुप्रासः, एकवाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैरभिधानाद्, विशेषणानां साऽभिप्रायत्वाद्वौजो गुणस्तत्प्रकाशकवर्णसत्त्वाद् यावदर्थकपदघटितत्वाच्च प्रसादगुणः । ततश्च वाक्यार्थबोधानन्तरमत्र रूपकं प्रतीयते, रत्नाकरादिमतेन कारणे कार्यारोपस्यापि रूपकत्वात् । ये पुनरूपमेय उपमानारोपमेव रूपकं मन्यन्ते तन्मतेऽत्रोल्लासादिकारणे

इसका उदाहरण यह है—

"विकसित कमल के पत्तों पर टूट पड़ने वाले उन्मत्त भौंरों के लिए उल्लास (-कारक), वियोगस्वरूप दावानल से सन्तप्त हृदय वाली चक्रवाकियों के विरह-शोक का विनाश (-कारक), अन्धकार के समूह के लिए उत्पात (-कारक=विनाशकारक) और रात्रि में जिनकी ज्योति मन्द पड़ जाती उन आँखों के प्रति पक्षपात (करने वाला) यह कोई विलक्षण तेजःपुञ्ज (से सम्पन्न सूर्य) उदित हो रहा है ॥"

इस पद्य में वृत्त्यनुप्रास शब्दालङ्कार का प्रचुर प्रयोग है । साथ हीं शब्दविन्यास ओजःपूर्ण एवं प्रसादगुणयुक्त है । अतः शब्दगत चमत्कार स्पष्ट है । इसके

योगादनन्तरमेवाधिगतस्य रूपकस्य हेत्वलंकारस्य वा वाच्यस्य चमत्कृत्यो-स्तुल्यस्कन्धत्वात्सममेव प्राधान्यम् ॥

तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरू-प्यन्ते—द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणामूलश्च। तत्राद्यस्त्रिविधः—रसवस्त्वलंकारध्वनिभेदात्। रसध्वनिरित्यलक्ष्यक्रमोपलक्षणाद्रसभावतदा-भासभावशान्तिभावोदयभावशबलत्वानां ग्रहणम्। द्वितीयश्च द्विविधः—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च। एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते—

कार्यस्योल्लासादेरारोपात् तदभाव इति हेतुहेतुमतोरभेदाऽभिधानस्वरूपो हेत्व-लङ्कारोऽत्र। अयं चालङ्कारो पण्डितराजेनाऽव्याख्यातोऽप्यत एव तत्सम्मत इति प्रतीयते। पूर्वं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यत्र हेत्वलङ्काराभावाभिमतत्वोक्तिस्तु तन्मात्र-विषयकः, तत्र सूर्यास्तस्य तत्तत्कार्यज्ञापकत्वेऽपि कार्यकारणयोरभेदेनाऽभिधाना-भावात्। ज्ञाप्यस्य चार्थस्य व्यञ्जनयैव प्रतीतिरुपपद्यते। अत एव तत्र हेत्वलङ्कारो दण्डिसम्मतोऽपि नाभिमतः पण्डितराजस्य, तादृशहेतूपादानस्य विच्छित्त्यनाधाय-कत्वात्। हेतुहेतुमदभेदाऽभिधानस्याप्यलङ्कारत्वं न सर्वसम्मतम्, आयुर्घृतमित्यादौ तथाविधे चमत्काराभावात्। यत्र पुनस्तथाविधे चमत्कारस्तत्र काव्यलिङ्गेनापि निर्वाहसम्भवे व्यर्थं हेत्वलङ्कारकल्पनम्। अत एव भामहेनोक्तम्—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नाऽलङ्कारतया मतः।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥इति ॥

यद्वाऽत्र हेत्वलङ्कारोऽपि भट्टोद्भटाद्यनुरोधेनैवोक्त इति सुधियो विभावयन्तु। तथा चात्र वृत्त्यनुप्रासादिघटितशब्दचमत्कारस्य रूपकस्य हेत्वलङ्कारस्य वा वाच्य-भूतस्य चमत्कारस्य तुल्यकक्ष्यत्वादेकतरप्राधान्यनिर्णयाभावे सममेवोभयोः प्राधान्य-मिति युक्तं मध्यमकाव्यत्वमस्येति ॥

केऽपि = प्रमुखाः। अर्थान्तरसङ्क्रमित इत्यजहत्स्वार्थाऽपरपर्यायोपादान-लक्षणास्थलाभिप्रायेण। अत्यन्ततिरस्कृत इति जहत्स्वार्थाभिधानलक्षणलक्षणास्थला-भिप्रायेणोक्तम्। तदात्मा = तस्य रसध्वनेर्विषयः। अभिधीयत इति। रसानुभूति-

---

अतिरिक्त जो कार्य-कारण में अभेदारोप को भी रूपक मानते उनके अनुसार इसमें रूपकालङ्कार और जो केवल उपमान और उपमेय के अभेदारोप को हीं रूपक मानते उनके मत में हेत्वलङ्कार है। इस अर्थगत अलङ्कार में चमत्कारजनकता है हीं। ये दोनों हीं चमत्कार समानकोटि के हैं, क्योंकि इनमें से किसी भी एक को उत्कृष्ट मानने का कोई स्पष्ट आधार नहीं है। अतः शब्दचमत्कार तथा अर्थ-चमत्कार दोनों की हीं प्रधानता समानरूप से है। अत एव यह मध्यम काव्य का

समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्त-दीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादि-

प्रक्रियाऽभिधानमेवात्र रसाभिधानं विवक्षितम् ।

समुचितेत्यादि । समुचितो रसाभिव्यक्त्यनुकूलोऽत एव ललितो यः शब्दार्थ-गुम्फनस्वरूपः सन्निवेशस्तेन चारुणा काव्येन समर्पिता उपस्थापिताः । अयमाशयः—ये शकुन्तलादयः पूर्वमालम्बनकारणादिपदव्यपदेश्या आसन् त एव सहृदयहृदयं प्रापिताः सन्तः सहृदयानां या सहृदयता रत्यादिवासना प्राक्तनी तया सहकृतेन चर्वणापरपर्यायभावनाविशेषस्य काव्यार्थविषयकपुनःपुनरनुसन्धानात्मकस्य महिम्ना-ऽलौकिकीक्रियन्तेऽत एव विभावानुभावव्यभिचारिभावव्यपदेशं लभन्ते, विभावना-द्यलौकिकव्यापारवत्त्वात् । एते चालौकिका मानसा विभावादयो मानसप्रत्यक्षवेद्याः, साक्षिप्रत्यक्षवेद्या इति परमार्थः । तथा च वक्ष्यत्यग्रे । अस्याश्चालौकिक्यामवस्थायां लोकसम्बन्धः सर्वथा परिहृतो भवतीति हेतोः ये शकुन्तलादयो दुष्यन्तरमणीत्वादिना प्रतीयन्ते स्म त एव रमणीत्वादिना साधारणेन रूपेण प्रतीयमाना भवन्ति । अत एव च पुरुषविशेषसम्बन्धोऽपि परिहृतो भवति, रमणीमात्रस्य योग्यमात्र-साधारणत्वौचित्यात् । अत एव च पूर्वार्जितायाः शकुन्तलादिविषयकरत्यादिवा-सनाया अपि शकुन्तलादिविषयकत्वाद्यंशो विगलितो भवति येन प्राक्तनरत्यादि-वासनया सहास्या वासनाया भेदोऽपि तावत्कालं विगलितो भवति । प्रादुर्भावितेन=

उदाहरण है ।।

उपर्युक्त चतुर्विध काव्यों के बीच उत्तमोत्तम, अर्थात् ध्वनिकाव्य के अनन्त भेद हैं । इनमें कुछ प्रमुख भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

ध्वनि के दो भेद हैं—अभिधामूल ध्वनि एवम् लक्षणामूल ध्वनि । प्रथम के तीन उपभेद हैं—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि । इनमें रसध्वनि सभी असंलक्ष्यक्रम ध्वनियों का उपलक्षण है । अतः इससे रस के साथ-साथ भाव, रसा-भास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता इन सबका ग्रहण करना चाहिए । लक्षणामूल ध्वनि के भी दो उपभेद हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ।

उपर्युक्त पाँच प्रकार की ध्वनियों में रसध्वनि सर्वाधिक रमणीय है । अतः रसध्वनि के विषयभूत रस का निरूपण किया जा रहा है—

सर्वप्रथम रत्यादि के आलम्बन कारण शकुन्तला आदि, उद्दीपन कारण चन्द्रिका आदि, इनके कार्य अश्रुपात आदि और चिन्ता आदि सहकारियों का रसोचित पद-विन्यास के कारण ललित काव्यादि द्वारा सहृदय अनुभव करते । तत्पश्चात् प्राक्तन रत्यादिवासनास्वरूप सहृदयता से वे उन कारण-कार्यों का पुनः पुनः अनुसन्धान

भिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैः, चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैः, अश्रुपातादिभिः कार्यैः, चिन्तादिभिः

व्यापारितेन। अलौकिकेन व्यापारेण = व्यञ्जनाख्येन व्यापारेण। अस्या अलौकिकत्वन्तु आनन्दांशावरणनिवर्त्तकत्वस्वरूपालौकिककार्यकारित्वादलौकिकविभावादिचर्वणोपात्तसामर्थ्याच्च। अलौकिककाव्यनिष्ठत्वेनाऽलौकिकत्वं तु न युक्तम्, व्यञ्जनायाः काव्यतदितरसाधारणत्वात्। यद्वा विभावादिचर्वणया एकतो व्यञ्जनया वासनारूपाणां रत्यादीनामभिव्यक्तिरपरतश्चान्येन केनचनालौकिकव्यापारेण विभावनादिव्यापारेण स्वजनितेनाऽऽनन्दांशावरणनिवृत्तिः। अथवा स्वसंबेदनात्मकेन रत्याद्युपहितानन्दांशसाक्षिप्रत्यक्षेण रसो व्यङ्ग्यः। अत्रैव व्यञ्जनोपयोगः। तत्कालम् = विभावादिचर्वणासमकालम्। अत एव न सर्वदा रसास्वादप्रसङ्ग इति वक्ष्यति। प्रमातृत्वम् = अन्तःकरणस्य अविद्याकार्यत्वाज्जडत्वादानन्दांशावरकत्वेन चैतन्यविशेषणत्वम्। निजेत्यादि। निजस्वरूपानन्देन सह प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव गोचरीक्रियमाणो रस इत्यन्वयः। अत एवास्वाद्यमान एव रसः। वस्तुतोऽयमास्वादोऽपि नातिरिक्त आस्वाद्यमानादिति गौण एव रसस्यास्वाद इति व्यपदेशः। अत एव स्वसम्वेदनसिद्धो रसोऽप्रमेयः कथ्यते। एतदेव स्थायिनो रसस्य वैलक्षण्यम् यदास्वाद्यमानो रत्यादिर्लभते रससंज्ञाम्, अनास्वाद्यमानस्तु स्थायिव्यपदेशम्। प्राग्विनिविष्टवासनारूप इत्यनेन च सामाजिकनिष्ठानां वासनात्मकतया स्थितानां रत्यादीनामेवास्वाद्यमानानां रसत्वप्रतिपादनम्। अत एव सामाजिकानां रसास्वादोऽञ्जसोपपद्यते। काव्यार्थानुसन्धानादिना तु जायमानया रत्यादिवासनया व्यञ्जनाव्यापारोद्बुद्धया तत्तादात्म्यापन्नसामाजिकनिष्ठरत्यादिवासनोद्बोध एवाभिप्रेतोऽत्र। यद्वा भावनाविशेषमहिम्ना विगलितत्वात् शकुन्तलादिविषयत्वादे रत्यादिवासनेदानीन्तन्यपि सामाजिकनिष्ठेव। अस्मिंश्च पक्षे इदानीन्तनवासनायाः प्राक्तनरत्यादिवासनोद्बोधकतया सार्थकत्वं बोध्यम्।

करते। इसी अनुसन्धान को 'भावना' या 'चर्वणा' भी कहते। इस भावना के प्रभाव से पूर्वानुभूत आलम्बनकारण आदि अलौकिक स्वरूप अर्थात् मानस तत्त्व का आकार ग्रहण कर लेते। इस अवस्था में इनके नाम भी लौकिक उक्त कारण आदि से विलक्षण हो जाते। अतः आलम्बन कारण को आलम्बन 'विभाव', उद्दीपन कारण को उद्दीपन 'विभाव', अश्रुपातादिस्वरूप कार्य को 'अनुभाव' और चिन्ता आदि सहकारियों को 'व्यभिचारिभाव' कहा जाने लगता है। भावनाप्रसूत इस अवस्था में 'यह अमुक की प्रियतमा है, अमुक की नहीं या मेरी है या मेरी नहीं'—इस प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्धों का बोध नहीं होता। अतः जो पहले दुष्यन्त की प्रियतमा के रूप में प्रतीत हो रही थी वही शकुन्तला मात्र प्रियतमा कामिनी के रूप में प्रतीत होने

सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिर्वर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा

अयमर्थः—प्राक्तनरत्यादिवासनावासितहृदया सहृदयाः यदा नाट्यावलोकनं काव्यपाठं काव्यश्रवणं वा कुर्वन्ति तदा नाट्ये वेषभाषाद्यारोपितदुष्यन्तादितादात्म्यवतां नटानां श्रव्ये च शब्दोपात्तदुष्यन्तादीनां व्यापारमवगत्य ततो दुष्यन्तादिनिष्ठशकुन्तलादिविषयकरत्याद्यनुमितिं कुर्वन्ति व्यञ्जनया वाऽनुभवन्ति रत्यादीन् यतश्चानन्तरं वासनारूपेण दुष्यन्तादिनिष्ठशकुन्तलादिविषयका रत्यादयस्तदन्तःकरणे सन्तिष्ठन्ते। अनन्तरं च यदा ते काव्यार्थान् पुनः पुनरनुसन्दधते (=काव्यार्थभावनां कुर्वन्ति) तदा पूर्ववासनासहकृतकाव्यार्थभावनामहिम्ना काव्यार्थानुभवकाले रत्याद्यालम्बनकारणादिरूपेण प्रतीयमानाः शकुन्तलादयो विभावनानुभावनव्यभिचारणाख्यत्रितयालौकिकव्यापारनिमित्तकं क्रमेण विभावानुभावव्यभिचारिस्वरूपमलौकिकं व्यपदेशं भजन्ते। एते चालौकिका विभावादयोऽन्तःकरणधर्मभूता मानसप्रत्यक्षवेद्याः साक्षिभास्या भवन्तीति वक्ष्यते। भावनाविशेषलब्धस्वरूपत्वाद् विभावादीनामस्यामवस्थायां लोकसम्बन्धः सर्वथा परिहृतो भवतीति हेतोर्दुष्यन्तरमणीत्वादिना पूर्वं प्रतीता अपि शकुन्तलादयो रमणीत्वादिसाधारणरूपेणैव प्रतीयन्ते। अत एवैतत्साधारणीकरणमित्यप्युच्यते। यदा चैते विभावादयः सम्भूय सहृदयैश्चर्व्यन्ते तदाऽलौकिकत्वादेवैषां व्यञ्जनया वासनारूपेण स्थिताः शकुन्तलादिविषयकरत्यादयः केवलं विगलितव्यक्तिविशेषसम्बन्धेन रत्यादिरूपेणैवाभिव्यज्यन्ते=प्रतीतियोग्यतां प्राप्यन्ते येन प्राक्तनरत्यादिवासनेदानीन्तनरत्यादिवासनयोश्चाभेदावसायो भवति। अलौकिकविभावादिचर्वणापर्यन्तमेव लब्धसामर्थ्येन व्यञ्जनाख्येनानेन व्यापारेण अलौकिकरसास्वादसहकारित्वादप्यलौकिकेतिव्यपदेश्येन वासनात्मकरत्याद्यवच्छिन्नचैतन्यस्यानन्दांशावरकमज्ञानं यावद्विभावादिचर्वणाकालं निवर्त्यते। एतेन चिदंशावर-

---

लग जाती। इसी प्रकार जो चन्द्रिका आदि दुष्यन्त की रति के उद्दीपन के रूप में प्रतीत होते थे वे अब केवल रति के उद्दीपन के रूप में प्रतीत होने लग जाते। दुष्यन्त की शकुन्तलानामक स्वकीय कान्ता में अनुभूत रति भी अब केवल कान्ताविषयक रति के रूप में सहृदय के अन्तःकरण में उपस्थित रहती जिससे प्राक्तन रत्यादिवासना और आधुनिक रत्यादिवासना में एकदेशस्थता के कारण कोई भेद नहीं रह जाता। इस प्रकार अब विभावादिरूप में सहृदय उन सबकी सम्मिलित रूप मे चर्वणा—भावना करने लग जाते। विभावादि की सामूहिकरूप में की गई इस चर्वणा से व्यञ्जनानामक अलौकिक काव्यव्यापार का उद्भावन होता जिससे एक ओर तो सहृदय की आत्मा के आनन्दस्वरूप (और चित्स्वरूप) पर पड़ा हुआ अज्ञान का आवरण (=पर्दा) उस समय (चर्वणा-काल तक) निरस्त

स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः ॥

कस्याज्ञानस्यापि तावत्कालं निवृत्तिर्दर्शितैव। सदंशस्त्वनावृत एव। यद्वाऽन्येनैवालौकिकेन व्यापारेणावरणनिवृत्तिः। ततश्च वासनात्मकरत्यादेरन्तःकरणस्थतया तस्यैव चान्तःकरणस्य प्रमातृचैतन्यविशेषणतया तत्तच्चैतन्यभेदसाधकत्वाभावेन रत्याद्यवच्छिन्नचित आनन्दांशावरणनिवृत्त्या प्रमातृचैतन्यानन्दांशावरणनिवृत्तिरपि सम्पन्नैवेति हेतोरन्तःकरणस्याज्ञानकार्यस्य चैतन्यावरकत्वाभावाद्विशेषणत्वं व्याहतमुपाधित्वं च कार्यानन्वयित्वरूपमागतमेव। अयमेव प्रमातृत्वादिपरिमितधर्माणां प्रमोष उक्तः। सर्वज्ञत्वादिपरमात्मस्वरूपापत्तिस्तु नार्थः, अशास्त्रीयत्वादसंगतेश्च। तथा च रत्याद्यवच्छिन्नचितः प्रमातृचैतन्यस्य चानन्दांशावरणनिवृत्त्योभयोश्च चितोर्विभाजकैकदेशस्थतयैकत्वेन व्यञ्जनापादितभासनयोग्यत्वस्य रत्यादेः स्वरूपानन्देन सह स्वरूपचितैव अन्तःकरणोपहितत्वेन साक्षिव्यपदेश्यया भासनम्। इदमेवास्वादनमुच्यते। अनेनैवास्वादनेन वा व्यङ्ग्यः प्राग्विनिविशिष्टवासनात्मा रत्यादिरधिगतो रसपदवीम् इति पूर्वोऽलौकिकव्यापारो व्यञ्जनाभिन्न एव कश्चित्। काव्यमूलकत्वाच्चास्या रस-

---

हो जाता[1] और दूसरी ओर वासनारूप में सहृदय के अन्तःकरण में विद्यमान रत्यादि-स्थायी भाव उद्बोधित होकर आस्वादनयोग्य बन जाते। अथवा व्यञ्जना से रत्यादि में आस्वादयोग्यता आती और किसी अन्य अलौकिक व्यापार से आवरण-भङ्ग होता। चिदंश के आवरण के निरस्त हो जाने से आत्मा का प्रमातृत्व (=अन्तःकरण की विशेषणता जिसके चलते वह चैतन्य प्रकाशित न हो पाता था वह) भी विनष्ट हो जाता और उसमें साक्षित्व (अर्थात् अन्तःकरण में उपाधित्व जिससे वह आत्मा का व्यावर्त्तक—भेदक होकर भी उसके स्वयंप्रकाशनस्वरूप और प्रकाशनात्मक कार्य पर आघात नहीं पहुँचा सकता वह) प्रकट हो जाता। अब अज्ञानावरणरहित आत्मस्वरूप आनन्द के साथ अन्तःकरण में निहित वासनात्मक रत्यादि स्थायीभाव का साक्षिप्रत्यक्ष होने लगता। इसी साक्षिप्रत्यक्षवेद्य (आस्वाद्यमान) स्थायी भाव को 'रस' कहा जाता है। इस साक्षिप्रत्यक्ष को हीं 'रसास्वाद' कहा जाता है जो रत्याद्युपहित साक्षी के स्वरूप से पृथक् नहीं है। अत एव आस्वाद्यमान रस तथा आस्वाद में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं प्रतीत होता।

---

१. यह आवरणभङ्ग इसलिये आवश्यक है चूँकि इसके बिना रसास्वाद आनन्द-स्वरूप नहीं हो सकता। कारण यह है कि अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त में आनन्द आत्मा का स्वरूप है। सांसारिक पदार्थों में आनन्द की जो प्रतीति होती वह तो उस आत्मा के आनन्द के सम्पर्क से हीं, स्वरूपतः नहीं।

(१) तथा चाहुः—'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः' इति । व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः । व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित् । यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ संनिहितान्पदार्थान्प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंबलितान्रत्यादीन् । अन्तःकरणधर्माणां

व्यञ्जनायाः काव्यनिष्ठत्वव्यपदेशोऽपि । आस्वाद्यमानश्च रत्यादिर्वासनात्मतया सहृदयहृदयस्थितो रस इत्युच्यते । अत्र च सर्वा अनुपपत्तयोऽलौकिकत्वादेव समाधेया इति । यदि त्वलौकिकोऽयमास्वादो विभावादिसमुदितरत्यादेरभिमतः समूहालम्बनात्मकस्तर्हि वासनारूपेणान्तःकरणधर्माणां विभावादीनामपि रत्यादिभिः सह साक्षिभास्यत्वम् बोध्यम् ।

उक्तार्थे मम्मटोक्तिं प्रमाणयति—**तथेत्यादिना** । यद्यपि मम्मटोक्तौ 'व्यक्तः' इत्यस्य व्यञ्जनया प्रकटीकृतः इति चर्वित इति चार्थः साम्प्रदायिकस्तथाऽपि "यो वै भूमा तत्सुखम्, अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्यादिश्रुतेः चिदात्मन एवानन्दरूपत्वेन तदितरस्य च स्वत आनन्दरूपत्वाभावेनात्मानन्दसंस्पर्शमन्तरेण आस्वाद्यमानस्य रत्यादेरानन्दरूपत्वं न सम्भवतीत्यतोऽन्यथा व्याचष्टे—**व्यक्तिविषयीकृत** इत्यादिना । व्यक्तिः=प्रकाशः, सा च भग्नावरणा चिदेव, आवृतायास्तस्याः परमार्थतः प्रकाशात्मकत्वेऽपि तत्त्वेनाऽस्फुरणात् । **एवमित्यादि** । दीपवदात्मचैतन्यमपि अज्ञाना-

---

उक्त प्रक्रिया में यह भी कहा जा सकता है कि उक्त साक्षिप्रत्यक्षस्वरूप स्वसम्वेदन से पूर्ववृत्ती स्थायीभाव की अभिव्यक्ति होने से रस को व्यङ्ग्य कहा गया है । यतः इस अभिव्यक्ति का मूल स्रोत काव्य है अतः रस को इस पक्ष में भी काव्य से व्यङ्ग्य कहा जा सकता है । किन्तु इतना स्पष्ट है कि सामाजिकनिष्ठ पूर्ववासनात्मक रत्यादि हीं रसस्वरूप में अभिव्यक्त होते, दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि नहीं, भले हीं पूर्वोक्त रीति से व्यक्तिगत सम्बन्ध के विलीन हो जाने से दुष्यन्त की रति का भी सामाजिकनिष्ठ रति से भेद न रहा हो । इसीलिए स्वगत रत्यादि का हीं सामाजिक को आस्वाद होता, परगत रत्यादि का नहीं ।

ऐसा हीं मम्मट ने कहा है—'उन विभाव आदि से 'व्यक्त' स्थायीभाव उन विभावादि के साथ हीं 'रस' कहलाता है ।' इसमे 'व्यक्त' शब्द का अर्थ है 'व्यक्ति' का विषय बना हुआ । 'व्यक्ति' उस आत्मस्वरूपभूत 'चित्' को कहते जिसका आवरण भग्न हो चुका हो, अर्थात् जो स्वयंप्रकाश स्वरूप मे प्रकट हो चुका हो । जिस प्रकार पुरवे आदि से ढका दीपक उस ढक्कन को हँटा देने पर स्वयम् प्रकाशित होने लगता और स्वसन्निकृष्ट पदार्थों को भी प्रकाशित करने लगता उसी प्रकार आत्मस्वरूपभूत चैतन्य भी अज्ञानावरण के निवृत्त हो जाने पर स्वयम् भी प्रकाशित

साक्षिभास्यत्वाभ्युपगतेः विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रङ्गरजतादीनामिव साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्। व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरण-

---

वृतं सदावरकाज्ञाननिवृत्तौ सन्निहितान् अन्तःकरणधर्मान् विभावादीन् तदभिव्यक्तं रत्यादिञ्च प्रकाशयति स्वयं च प्रकाशते। विभावादिसम्बलितानित्यस्य समूहालम्बनात्मकास्वादपक्षे विभावादिविशिष्टान् इति, इति पक्षान्तरे च विभावाद्युपलक्षितानिति भावः। अत्राद्य एव पक्षो युक्तः, विभावादीनामन्तःकरणधर्माणामास्वादकालेऽपि विद्यमानत्वात्। अधिकं विज्ञैर्विवेचनीयम्। स्वप्नतुरगादीनामिति। स्वप्नतुरगादयोऽन्तःकरणवासनाकल्पिता इति वेदान्तसिद्धान्तः। तथा च श्रुतिः—'न तत्र रथा रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगात् पथः सृजते' इति। तथा च शुद्धचैतन्याधिष्ठानस्यापि स्वप्नतुरगस्यान्तःकरणद्वारा मायापरिणामत्वपक्षेऽन्तःकरणधर्मत्वोपपत्तिः। रङ्गरजतेत्यादिदृष्टान्तान्तरम्। विषयचैतन्याध्यस्तस्यापि रङ्गरजतस्य प्रतिभासकाले विषयचैतन्यान्तःकरणोपहितचैतन्ययोरऽभिन्नतया विषयचैतन्याऽध्यस्तमपि रङ्गरजतं भवत्यन्तःकरणधर्मः कथञ्चित्। तथा च प्रतिभासिकपदार्थानां यावत्प्रतिभासमवस्थितेः प्रतिभासात्पूर्वमनवस्थानेन तत्र बाह्यकरणव्यापाराऽसम्भवात् तेषां केवलसाक्षिवेद्यत्वमुक्तं वेदान्ते। तथैव विभादीनामपि मानसत्वात्तत्र बाह्यकरणव्यापाराऽसम्भवेन साक्षिवेद्यत्वमुपपन्नमित्याशयः। दृष्टान्तद्वयं च स्वप्नजाग्रद्भेदाभ्यां दृढप्रतिपत्तये वेति बोध्यम्। रत्यादिभिः सहावस्थितस्यानन्दस्यात्मस्वरूपभूतस्य आस्वादस्य चानन्दाऽभिन्नस्य नित्यत्वात् स्थायिनोऽपि रसास्वादात् पूर्वं परतश्चावस्थानात् कथं रसस्योत्पादविनाशौ व्यपदिश्येते इत्यत आह—व्यञ्जकेत्यादि। यद्वा रत्यादेरेवास्वाद्यमानस्य रसस्वरूपतया स्थायित्वाच्च तस्य आस्वादकाले ततः पूर्वं परतश्च सत्त्वात् कथं रसोत्पत्ति-

---

होता और स्वसम्बद्ध विभावादि से 'सम्वलित' रत्यादि स्थायी भावों को भी प्रकाशित करने लग जाता है। विभावादि से 'सम्बलित' होने के दो अर्थ हो सकते हैं—विभावादि से विशिष्ट और उनसे उपलक्षित। विशेषण व्यावर्त्तक—भेदक होने के साथ-साथ विधेय—कार्य से भी जुड़ा रहता। जो समूहालम्बनात्मक रस मानते उनके मत में रस में स्थायी के साथ-साथ विभावादि के भी जुड़े होने से प्रथम अर्थ समझना चाहिए। किन्तु जो वैसा नहीं मानते उनके अनुसार विभावादि से उपलक्षित रत्यादि स्थायी भावों का हीं आनन्दांश के साथ प्रकाशन होता। यह प्रकाशन भग्नावरणा चित् से होता जिसे 'साक्षी' कहा जाता। अतः विभावादि के साथ-साथ रत्यादि का प्रकाशन साक्षी द्वारा हीं होता। ऐसे हीं पदार्थों को साक्षिभास्य कहा जाता। अत एव विभावादि से सम्बलित रत्यादि भी साक्षि-भास्य हैं। शकुन्तला आदि तो बाह्य पदार्थ अवश्य हैं, परन्तु जब ये विभाव आदि का स्वरूप

भङ्गस्य वोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रसे उपचर्येते वर्णनित्यतायामिव

विनाशावास्वादतदनन्तरकालयोरित्येवमवतारणीयो ग्रन्थः । विभावादिचर्वणाया उत्पत्तिविनाशाभ्यामलौकिकस्य व्यापारस्य तत्कार्यकारित्वस्य वोत्पत्तिविनाशौ, ततश्चावरणभङ्गस्यापि ताविति आस्वादस्याप्युत्पत्तिविनाशौ स्थायिनश्च तावुपचर्येते । चर्वणाया आस्वादाद् अलौकिकव्यापारावरणभङ्गाभ्यामतिव्यवहितत्वाच्चर्वणोत्पत्तिविनाशाभ्यां रसास्वादादेरुत्पत्तिविनाशोपचारे दीर्घपरम्पराश्रयणमित्यतस्तदव्यवहितोत्तरावरणभङ्गोत्पत्तिविनाशयोरेव तत्रारोप उचित इत्याशयेनावरणभङ्गस्येति विकल्प उपात्तः । तथाचाद्ये स्वाश्रयभावनाजन्यजन्योत्तरत्वं परम्परासम्बन्धः, द्वितीये तु स्वाश्रयोत्तरत्वमेवेति प्रथमोपचारनिमित्तापेक्षया द्वितीयोपचारनिमित्तसम्बन्धे लाघवम् । उभयत्र स्वमुत्पत्तिविनाशौ । आद्ये तदाश्रयो भावना तज्जन्यस्तदुद्बोधितो वाऽलौकिको व्यापारस्तज्जन्य आवरणभङ्गस्तदुत्तरत्वं रसस्य आस्वाद्यमानस्थायिन इति समन्वयः । उत्तरत्र स्वमुत्पत्तिविनाशौ तदाश्रय आवरणभङ्गस्तदुत्तरत्वं रसस्येति समन्वयः । परम्परासम्बन्धेनोत्पत्तिविनाशोपचारप्रसिद्धयर्थं दृष्टान्तमाह—**वर्णेत्यादि** । कर्ममीमांसकमते वर्णा नित्याः, कण्ठताल्वाद्यभिघातास्तु तेषां व्यञ्जका एव न तूत्पादका इति सिद्धान्तः । तत्र यथाऽभिव्यञ्जकानां कण्ठताल्वाभिघातानामुत्पत्तिविनाशयोर्वर्णेष्वारोपात् ककारादेरुत्पादविनाशशालित्वप्रतीतिः 'उत्पन्नः ककारः', 'विनष्टः ककारः' इत्यकारिका तथैव प्रकृतेप्यावरणभङ्गस्योत्पत्तिविनाशाभ्यां रसेऽप्युत्पादविनाशप्रतीतिरित्यर्थः । वर्णस्थले च स्वाश्रयाऽभिव्यङ्ग्यत्वं नाम परम्परासम्बन्धः । स्वमुत्पत्तिविनाशौ तदाश्रयः कण्ठताल्वाद्यभिघातास्तदभिव्यङ्ग्यत्वं वर्णेष्विति समन्वयः । स्वरूपानन्देन सह स्थायिनो

धारण करते तब ये बाह्य न रहकर आन्तर पदार्थ—अन्तःकरण के धर्म कहे जाते । अद्वैतवेदान्त का यह सिद्धान्त हैं कि अन्तःकरण के धर्म साक्षिभास्य होते, उनके बोध के लिए बाह्य चक्षुरादि करणों को वृत्ति अपेक्षित नहीं होती । अतः जैसे स्वाप्निक अश्व, रथ आदि तथा जाग्रदवस्था के शुक्ति-रजत आदि के अन्तःकरणधर्म होने से उनको वेदान्तमत में साक्षिवेद्य कहा जाता उसी तरह अन्तःकरण के धर्म विभावादि को भी साक्षिभास्य कहना उचित है । इस प्रकार आनन्दांश की दृष्टि से तो रस अनादि-अनन्त—नित्य है हीं, साथ हीं उस आनन्द के साथ प्रकाशमान स्थायी भाव भी प्रकाशन से पहले भी और बाद में भी बने रहते । ऐसी स्थिति में रस को अनित्य—आस्वादनकालमात्र में रहने वाला तो वास्तविक दृष्टि से कहा नहीं जा सकता । किन्तु रस के व्यञ्जक विभावादि की चवर्णा अथवा 'अलौकिक व्यापार' द्वारा चिदानन्दांश के आवरण की निवृत्ति के उत्पाद-विनाश का हीं रस में भी उपचार करके कभी रस को भी अनित्य कहा जाता है । इस प्रकार की

व्यञ्जकताल्वादिव्यापारस्य गकारादौ। विभावादिचर्वणावधित्वादावरण-भङ्गस्य, निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्याऽऽवृतत्वाद्विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।

यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुप-

---

रत्यादेः कथं न सर्वदा प्रकाश इत्यत्र युक्तिमाह—विभावादीत्यादिना। विभावादीनां समवेतानां या चर्वणा तन्मूलकादेवालौकिकव्यापारात् स्थायिनः प्रतीतियोग्यतापादनमानन्दांशावरकाज्ञानस्य च निवृत्तिस्तत्प्रकाशनिमित्तमिति चर्वणायाः पूर्वं परस्ताच्च विद्यमानोप्यानन्दः स्थायी च न प्रकाशेते इत्याशयः।

उक्ते पक्षेऽलौकिकव्यापारेण चर्वणोद्भावितेन आनन्दाकारवृत्तिमन्तरेणैवानन्दांशावरणनिवृत्तिवर्णनादशास्त्रीयत्वम्, तेन व्यापारेणानन्दाकारवृत्तिस्तया चानन्दांशावरणभङ्ग इति स्वीकारेऽलौकिकव्यापारकल्पनेन भावनाया लोकसिद्धावारणनिवर्त्तकत्वस्वभावाऽनभ्युपगमेन च गौरवमित्यतः पक्षान्तरमाह—यद्वेत्यादि। विभावादीनां या पुनःपुनरनुसन्धानात्मकभावनाऽपरपर्याया सम्भूय चर्वणा तस्या महिम्नेति भावः। समाधौ=सविकल्पके समाधौ, निर्विकल्पके वृत्तिनिरोधात्। अत्र च पक्षे आनन्दोपाधेः स्थायिनः प्रतीतिर्व्यञ्जनयैव बोध्या। अत्र च वृत्तावानन्दस्य विशेष्यतया विषयत्वाद्रसेऽपि तस्यैव विशेष्यत्वमुचितमिति वस्तुतस्तु इत्यादिनाऽनुपदमेव वक्ष्यति। तन्मयीभवनम्=आनन्दमयीभवनम्. तत्त्वं

औपचारिक अनित्यता अन्यत्र भी मानी गई है। जैसे—मीमांसकमत में वर्ण नित्य है, कण्ठतालु आदि के व्यापारों से वर्ण की अभिव्यक्ति होती, उत्पत्ति नहीं। किन्तु अभिव्यञ्जक कण्ठताल्वादिव्यापारके उत्पाद-विनाश का हीं अभिव्यज्यमान वर्ण पर आरोप करके वर्ण को भी व्यवहार में अनित्य कह दिया जाता है। अतः वर्ण की अनित्यता वास्तविक नहीं अपितु औपचारिक हीं है। अतः औपचारिक रूप में रस को भी अनित्य कह देना असंगत नहीं है। इस प्रकार स्थायीभाव के रसास्वाद से पूर्व एवं पर काल में विद्यमान रहने पर भी उसका प्रकाशन तभी तक होता जब तक आत्मस्वरूपभूत प्रकाश (और आनन्द) का आवरण निवृत्त रहता, उसके पहले या बाद में नहीं। यह आवरणभङ्ग विभावादि की चर्वणा जब से जब तक होती तभी तक होता। इसी लिए सर्वदा स्थायी का प्रकाशन हो नहीं पाता।

उक्त मत में विभावादि की सामूहिक रूप में की गई चर्वणा से प्रादुर्भूत अलौकिक व्यापार (व्यञ्जना अथवा उसके अतिरिक्त किसी विलक्षण व्यापार) से आनन्दाकार चित्तवृत्ति के विना हीं आनन्दांश के आवरण का भङ्ग बताया गया है किन्तु आनन्दाकारा वृत्ति के विना उसके आवरण का भङ्ग शास्त्र-सम्मत नहीं है।

जायते, तन्मयीभवनमिति यावत् । आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात् । इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम् ।

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः । सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय

चानन्दप्राचुर्यात् तत्र वृत्तौ बोध्यम् । अनया च वृत्त्यानन्दांशावरणभङ्गे स्वप्रकाशचितैव स्वरूपानन्दस्तदुपाधिभूतः स्थायी च प्रकाशेते । अस्यानन्दस्यालौकिकत्वमाह— आनन्द इत्यादिना । अलौकिकत्वे हेतुः—अनन्तःकरणेत्यादि । न अन्तःकरणस्य वृत्तिरनन्तःकरणवृत्तिस्तद्रूपत्वादित्यर्थः । लौकिकानन्दो हि वेदान्तमतेऽन्तःकरणवृत्तिरूपः। अयंतु आत्मस्वरूपभूतस्तद्विलक्षण इत्याशयः ।

आस्वादस्यानन्दप्रधानत्वाद्, वृत्तौ चानन्दस्य विशेष्यत्वात् श्रुतिसम्मतत्वाच्चानन्दप्रधान एव रस इति स्वमतमाह—वस्तुतस्त्विति । वक्ष्यमाणेति । 'रसो वै सः' इत्याद्येति भावः । सर्वथैव = पक्षद्वयेऽपि । विशेषणमिति भग्नावरणचिद्-

---

अतः यह पक्षान्तर उपस्थित किया गया है कि सहृदय की सहृदयता के प्रभाव से की गई विभावादि की सामूहिक चर्वणा से रत्यादि स्थायीभाव से उपहित आत्मस्वरूपभूत आनन्द के आकार की—आनन्दांशाकारा कोई विलक्षण अन्तःकरणवृत्ति उसी प्रकार हो जाती जिस प्रकार सविकल्पक समाधि में योगी की आनन्दाकारा वृत्ति हो जाती है । यहाँ आनन्दाकारा वृत्ति से प्रकाशाकारा वृत्ति भी अपेक्षित है, क्योंकि उसके विना प्रकाशांश के आवरण का भङ्ग न होने से वह आनन्द प्रकाशित न हो सकेगा । अथवा आनन्दांश और प्रकाशांश इन दोनों को विषय बनाने वाली एक हीं चित्तवृत्ति मानी जा सकती, क्योंकि अलौकिक विभावादि की सामूहिक चर्वणा से उक्त प्रकार की अलौकिक चित्तवृति सम्भव है । उक्त आनन्दाकारा वृत्ति का अभिप्राय यह है कि सहृदय का अन्तःकरण आनन्दमय (आनन्द की प्रचुरता से सम्पन्न) हो जाता है । यह आनन्द आत्मा का स्वरूप है, अत एव यह अलौकिक है । इसके विपरीत लोक में जिसे आनन्द कहा जाता है वह तो अन्तःकरण की इष्टवस्तुविषयक एक वृत्ति है । अत एव रसस्वरूप आनन्द लौकिक आनन्द से विलक्षण है । इस प्रकार अभिनव गुप्त तथा मम्मट आदि के ग्रन्थों का स्वारस्य इसी में है कि भग्नावरणा चित् से विशिष्ट रत्यादि स्थायीभाव हीं रस है । इस पक्ष में प्रधानता स्थायीभाव की है, चित् की नहीं ॥

वस्तुतः रसस्वरूप में भग्नावरण चित् की प्रधानता ही उचित है, क्योंकि "रसो वै सः" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सच्चिदानन्द तत्त्व हीं पारमार्थिक रस

नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं च सिद्धम्। रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च। चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा। इयं च परब्रह्मास्वादात्समाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंबलितचिदानन्दालम्बनत्वात्। भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्।

विशिष्टस्थायिनो रसत्वपक्षे। विशेष्यमिति च रत्याद्यवच्छिन्नाया भग्नावरणायाश्चितो रसत्वपक्षे। रसश्चर्व्यत इति प्रतीतिमस्मिन् पक्षे सङ्गमयति —चर्वणेत्यादिना। आवरणभङ्गश्चाभावरूपत्वादधिकरणात्मकः। अधिकरणं चावरणस्याश्रयतया जीवो विषयतया च सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्म। तत्र जीवनिष्ठावरणभङ्गस्यैव ब्रह्मसाक्षात्कार उपयोगादुक्तावरणभङ्गस्य जीवरूपत्वाभ्युपगम एवावश्यक इति रसस्य चर्वणेत्यस्य रसस्य जीव इत्यर्थः पर्यवस्यति, स चातितमामनुपयुक्त इत्यत आह—तदाकारेति। विभावादिसम्बलितानन्दाकारेत्यर्थः। अत्रान्तःकरणस्य जीवावच्छेदकत्वेन तद्वृत्तेर्जीवनिष्ठत्वमुपपन्नम्। इयं च=चर्वणा च रसस्य चित्तवृत्त्यात्मिका। समाधेः=निर्विकल्पकसमाधेः। वैलक्षण्ये हेतुः—विभावादीत्यादिः। निर्विकल्पके हि समाधौ निर्विषयं सच्चिदादन्दब्रह्म भासते, अत्र तु चर्वणायां सविषयमिति भेदः। भाव्या=उत्पाद्या। काव्यव्यापारः=व्यञ्जना। तयैव रत्यादेर्वासनारूपस्य प्रतीतियोग्यत्वापादनात्। चर्वणा हि रत्याद्यवच्छिन्नभग्नावरणचिदानन्दस्य रसस्य, तत्राव-

---

है। अतः उस रस से कुछ हीन स्तर के काव्यरस में भी प्रधानता उस पारमार्थिक रस—भग्नावरणा चित् की हीं माननी चाहिए। अत एव रत्यादि स्थायीभावों से उपहित भग्नावरणा चित् हीं रस है। यह रस नित्य और स्वयम्प्रकाश है। अभिनव गुप्त आदि के मत में रसस्वरूप—आवरणरहित चित् से विशिष्ट रत्यादि में विशेषणीभूत चित् को लेकर और रत्यादि से उपहित भग्नावरणा चित् को रस मानने वालों के मत में विशेष्यभूत चित् को लेकर रस की नित्यता और स्वयम्प्रकाशता स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त रत्यादि की, जो प्रथम मत मे विशेष्य और द्वितीय मत में विशेषण है, अनित्यता और पर-प्रकाशता के कारण रस को अनित्य एवं पर-प्रकाश भी कहा जा सकता है। यह रसचर्वणा निर्विल्पक समाधि में होने वाले ब्रह्मास्वाद से विलक्षण है, क्योंकि रसचर्वणा में विभावादि से सम्बलित सच्चिदानन्द का आस्वाद होता जब कि निर्विकल्प समाधि में शुद्ध—विषयसम्पर्कशून्य सच्चिदानन्द ब्रह्म का आस्वाद होता। यह रसचर्वणा केवल काव्यव्यापार—व्यञ्जनाव्यापार से सम्पन्न होती। इसका कारण यही है कि जिस रत्यादि का रस में विशेषण के रूप में समावेश कहा गया है वह वासनारूप में हीं सामाजिक में विद्यमान होने से आस्वादयोग्य नहीं होता। अतः व्यञ्जनाव्यापार से उसका उद्बोधन मानना पड़ता है जिससे उसका आनन्द के साथ आस्वादन हो सके।

अथास्यां सुखांशभाने किं मानमिति चेत् ? समाधावपि तद्भाने किं मानमिति पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात् । 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' इत्यादिः शब्दोऽस्ति तत्र मानमिति चेत् ? अस्त्यत्रापि 'रसो वै सः', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' इति श्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षं चेति प्रमाण-

---

च्छेदकीभूतस्य रत्यादेः व्यञ्जनया प्रतीतियोग्यतापादनमन्तरेण अन्तःकरणवृत्तिस्तदाकारा न स्यात्, अयोग्यस्य वृत्त्यविषयत्वात् । अत एव धर्मादीनामन्तःकरणधर्मत्वाऽविशेषेप्ययोग्यत्वान्न सुखादिवद् वृत्तिविषयत्वमिति वेदान्तसिद्धान्तः । तथा चोक्तान्तःकरणवृत्तिसिध्यर्थं तद्विषये तद्योग्यत्वसम्पादनं व्यञ्जनात्मककाव्यव्यापारमन्तरेण न सम्भवतीत्यतस्तन्मात्रभाव्यत्वमुक्तम् ।

अस्याम् = चित्तवृत्त्यात्मकचर्वणायाम् । मूलाऽविद्याविनाशं विनाऽऽनन्दभानस्यानभ्युपगमादियमाशङ्का । चर्वणात्मिकाहि चित्तवृत्तिर्न शुद्धचैतन्याकारा, मूलाविद्यानाशकत्वं पुनः शुद्धचैतन्याकाराया एव वृत्तेरित्ययं शङ्कार्थः । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा' इत्याद्या श्रुतिः शुद्धचैतन्याकारचित्तवृत्तिविषयिण्येव, न तु तदितरवृत्तिविषयिणीति यद्युच्यते तदाऽप्याह प्रमाणान्तरम्—सकलसहृदयप्रत्यक्षमिति । यथा ब्रह्मानन्देऽनुभवोऽपि प्रमाणं योगिनां तथैवात्रापीति भावः । द्वितीयपक्षे = यद्वेत्युक्त-

---

अन्यथा वासनारूप में अयोग्य होने से उसका आस्वादन (साक्षि-प्रत्यक्ष) असम्भव है । अद्वैतमत में भी योग्य अन्तःकरण-धर्मों का हीं साक्षि-प्रत्यक्ष माना गया है, अयोग्य का नहीं । इसीलिए सुखादि के समान अदृष्ट के भी अन्तःकरण-धर्म होने पर भी योग्य सुखादि का साक्षि-प्रत्यक्ष होता, अयोग्य अदृष्टादि का नहीं ।

इस चित्तवृत्तिस्वरूप रसचर्वणा में आनन्द का भान कैसे होता—यह प्रश्न तो समानरूप में निर्विकल्प समाधि में मान्य आनन्द के भान के विषय में भी है । अतः जिस आधार पर उक्त समाधि में आनन्द का भान होता उसी आधार पर रसचर्वणा में भी आनन्दांश का भान मानना चाहिए । यदि कहा जाय कि "जो अतीन्द्रिय आत्यन्तिक सुख है वह बुद्धिवृत्ति से ग्राह्य होता" यह गीतावचन तथा इसी के समानार्थक वचनान्तर समाधिकाल में आनन्द के भान में प्रमाण हैं तो रसचर्वणा में भी आनन्दांश के भान के प्रमापक "वह आत्मा तो रस हीं है", "रसस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर हीं यह जीव आनन्दित—आत्मस्वरूपानन्दाकारा वृत्ति से सम्पन्न होता" इत्यादि श्रुतियाँ हैं । इसके अतिरिक्त, सच्चिदानन्द ब्रह्म के समान सभी सहृदयों का साक्षात्कारात्मक अनुभव भी इसमें आनन्दांशभान का प्रमापक है हीं । अतः रसचर्वणा में आनन्द-भान अप्रमाणिक नहीं है । पूर्वोक्त द्वितीयपक्ष में जो स्थाय्युपहित आनन्द के आकार में चित्त की वृत्ति को रसचर्वणा

द्वयम् । येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता सा शब्दव्यापारभाव्यत्वाच्छाब्दी । अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका तत्त्वंवाक्यजबुद्धिवत् । इत्याहुरभिनवगुप्ताचार्यपादाः ॥

(२) भट्टनायकास्तु "ताटस्थ्येन रसप्रतीतावनास्वाद्यत्वम् । आत्मगत-

---

पक्षे, वस्तुतस्त्वित्यादिपक्षे वा । अथवा वस्तुतस्त्वित्यादिपक्षे प्रथमं चिद्गतावरण-भङ्गस्य चर्वणापदार्थत्वं निरूप्य पश्चात् स्थाय्युपहितानन्दाकारचित्तवृत्तेः तत्त्वमुक्तम् । तत्रान्त्यः पक्ष एव चर्वणास्वरूपविषयोत्र द्वितीयपक्षः । स्थाय्युपहितानन्दाकारचित्त-वृत्तिरत्र तदाकारचित्तवृत्तिशब्देन विवक्षिता । शब्दव्यापारेत्यादि । शब्दोऽत्र काव्यात्मकः, तेन स्वगतव्यञ्जनव्यापारद्वारा भाव्यत्वाद् भावनापरपर्यायचर्वणा-विषयीकरणादित्यर्थः । व्यञ्जनापादितभानयोग्यत्वेन स्थायिनोपहितस्यैवानन्दस्य चर्वणाविषयत्वादेतदुक्तम्। शाब्दी=शब्दप्रमाणजन्या। तथा सत्यस्याश्चर्वणायाः कथं न परोक्षत्वमित्याशङ्कायां विषयस्वभावकृते परोक्षत्वाऽपरोक्षत्वे, न पुनः प्रमाणस्वभाव-कृते इति 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ प्रसिद्धमिति विवरणकृन्मतानुसारेण समाधत्ते—अपरोक्षेत्यादि। सुखस्य ब्रह्मस्वरूपानन्दस्य 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादिश्रुते-रपरोक्षत्वमिति हृदयम् । तत्र श्रुतौ 'अपरोक्षाद्' इत्यस्याऽपरोक्षमित्यर्थो वेदान्त-सम्प्रदायप्रसिद्ध एव । उक्तार्थ एव श्रौतं दृष्टान्तमाह—तत्त्वमित्यादि । 'तत्त्वमसि' इत्युपदेशमहावाक्याज्जायमाना 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारान्तःकरणवृत्तिर्यथा शब्द-जन्याप्यपरोक्षब्रह्मविषयत्वादपरोक्षा तथैव प्रकृतवृत्तिरपीति भावः । तत्त्वमित्यस्य प्रत्यक्षत्वमिति रसचन्द्रिकाविवरणन्तु न स्वाभाविकम् । अभिनवगुप्तपादा इत्याद-रार्थं बहुवचनम् ॥

सम्प्रति भट्टनायकस्य भरतव्याख्यातृष्वन्यतमस्य मतमुपन्यस्यति—भट्टेत्यादिना ।

कहा गया है वह काव्यात्मक शब्द के व्यापार—व्यञ्जना व्यापार द्वारा जन्य होने से शाब्दी—शब्दप्रमाणजन्य है, किन्तु इसके विषय आनन्द के स्वतः अपरोक्ष होने से यह चर्वणा अपरोक्षस्वरूप है । वेदान्त-सम्प्रदाय में विवरणकार के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान (=ब्रह्माकारा चित्तवृत्ति, चित्त की ब्रह्म-प्रवणता) 'तत्त्वमसि' आदि उपदेशवाक्य से होता, किन्तु ब्रह्म के अपरोक्ष होने से वाक्यजन्य होने पर भी वह ज्ञान परोक्ष न होकर अपरोक्षात्मक होता । उनके मत में ज्ञान का परोक्षत्व या अपरोक्षत्व प्रमाण के स्वभाव पर निर्भर नहीं अपितु विषय के स्वभाव पर निर्भर होता । अतः शाब्द ब्रह्म-ज्ञान की तरह शाब्दी रसचर्वणा भी अपरोक्षात्मक है । अभिनवगुप्त का रस के विषय में यही मत है ॥

भरत (नाटचशास्त्र के अन्यतम व्याख्याकार भट्टनायक का रसास्वाद के

ताटस्थ्येनेति। तटस्थो नाट्ये नटः, श्रव्ये च दुष्यन्तादिः, तन्निष्ठत्वेन परगतत्वेनेत्यर्थः। अनास्वाद्यत्वमित्यस्य सामाजिकानामिति शेष इति प्राचीना व्याख्या। वस्तुतस्तु ताटस्थ्यं हेतुरत्रानास्वाद्यत्वस्य। यदि परगतत्वेन रत्यादिः प्रतीयेत तर्हि सामाजिकानां तदास्वादो न स्यात्, तेषामपकृष्टत्वे 'परसम्पदुत्कर्षो हीनसम्पदं दुःखाकरोति' इति स्वभावाद्रत्यादिविषये सामाजिकानां मात्सर्यम् शोकादिविषये त्वानन्दोऽनुभूयेतेति अनुभवविपर्ययः स्यात्। अथ सामाजिकानामुत्कृष्टानामेव सहृदयत्वं तदाऽपि परगतत्वेन रसप्रतीतौ 'दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इति सामाजिकप्रतीत्या रत्यादौ स्वगतत्वबाधात्तत औदासीन्यमापद्येत सामाजिकानामिति नात्र पक्षे रसस्य सामाजिकास्वादविषयत्वमुपपद्यत इत्येवं योजनीनो ग्रन्थः। अत्र चात्मगतत्वेनेति परकल्पानुरोधेन परगतत्वेनेति पूरणीयम्। ताटस्थ्यस्य परगतरत्यादिविषयकप्रतीत्यनाश्रयत्वे सामाजिकानां हेतुत्वं भट्टनायकमतानुवादपरकेण लोचनग्रन्थेनाऽपि—'ननूक्तं भट्टनायकेन—रसो यदा परगततया प्रतीयेत तर्हि ताटस्थ्यमेव स्याद्' इत्यादिना स्पष्टम्। अत्र च रसशब्दः स्थाय्यर्थकः, आस्वाद्यत्वं रसत्वम्, अनास्वाद्यत्वम् रसत्वाभावः। परगतत्वे रत्यादेः सामाजिकेभ्यो रसत्वं न स्यात्, तेषां तत्रौदासीन्यादिति भावोऽस्य ग्रन्थस्य। पूर्वव्याख्यायान्तु ताटस्थ्यपदार्थस्वरसभङ्गोऽपि। अधिकं विज्ञैर्विवेचनीयम्।

विषय में यह मत है—"रस की प्रतीति होती है—यह कहना असंगत है, क्योंकि इसके दो हीं अर्थ हो सकते हैं—(क) रस की प्रतीति दुष्यन्त आदि नायकों को होती या (ख) सामाजिक को होती। किन्तु ये दोनों हीं अर्थ असंगत हैं। यदि रस की प्रतीति सामाजिक को न होकर दुष्यन्त आदि को होती—यह माना जाय तब तो सामाजिक में उससे उदासीनता (तटस्थता) आ जाएगी, फलतः वह रत्यादि सामाजिकों का आस्वाद्य न हो सकेगा। ऐसी स्थिति में अनास्वाद्य रत्यादि को सामाजिक के लिए रस कहना सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि जो आस्वाद्य है वही तो रस है। अतः रसप्रतीति सामाजिक से भिन्न व्यक्ति—दुष्यन्तादि को होती—(परगत होती)—यह नहीं कहा जा सकता। अब रही बात सामाजिक द्वारा रसप्रतीति की। किन्तु विचार करने पर इसमें भी संगति नहीं दीखती, क्योंकि जब दुष्यन्त की पत्नी शकुन्तला सामाजिक के लिए विभाव का स्वरूप हीं प्राप्त नहीं कर सकती तो फिर सामाजिक में शकुन्तलाविषयक रति कहाँ से हो सकती? विना विभाव के तो रति हो नहीं सकतीं, अतः सामाजिक को रसास्वाद असम्भव है। अब यह प्रश्न है—विभावतावच्छेदक से अवच्छिन्न पदार्थ हीं विभाव होता। विभावतावच्छेदक है कान्तात्व, वह जब शकुन्तला में भी है हीं तो फिर वह सामाजिक के लिए विभाव क्यों न हो सकती? इसका उत्तर यही है कि केवल (सर्वकान्ता-साधारण) कान्तात्व विभावतावच्छेदक हो नहीं सकता, क्योंकि तब तो

त्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः, शकुन्तलादीनां सामाजिकान्प्रत्यविभावत्वात् । विना विभावमनालम्बनस्य रसादेरप्रतिपत्तेः । न च कान्तात्वं साधारणं विभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम् । अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गिताऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य

आत्मगतत्वेन रत्यादिप्रतीतिं निरस्यति—आत्मगतत्वेनेत्यादिना । साधारणं सकलकान्तासाधारणम् । साधारणविभावतावच्छेदकमित्यपपाठः, विभावतावच्छेदकस्य विभावमात्रसाधारण्येन व्यावर्त्याभावात्, विभावातिरिक्तेऽवर्त्तमानत्वेन च साधारण्याभावात् साधारण्यस्य तद्विशेषणत्वानुपपत्तेः । अत एव लोचने 'कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुभूतविभावतायां प्रयोजकम्' इत्याद्युक्तम् । केवलस्य कान्तात्वस्य विभावतावच्छेदकत्वे तदवच्छिन्ने विभावत्वमव्याहतमित्याशङ्कार्थः । **अप्रामाण्येत्यादि ।** इयमगम्या इत्याकारकं ज्ञानमगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानम् । तत्रेदम्पदेनोपस्थिता कान्ता विशेष्यभूता । तथा च यस्या विषये इयमगम्येति ज्ञानं भवति तस्यां विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धेन इयमगम्येति ज्ञानं वर्त्तते, यस्यां पुनरियमगम्येति ज्ञानं न भवति तस्यां विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धेनेयमगम्येत्याकारकागम्यात्वप्रकारकस्य ज्ञानस्य विरहो वर्त्तते । यस्य च विरहः=अभावः स तस्याभावस्य प्रतियोगी । प्रकृते चेयमगम्येत्याकारकज्ञानस्याभावो विवक्षित इति तादृशं ज्ञानं प्रतियोगि भवत्यस्याभावस्य । तादृशे ज्ञाने च प्रतियोगिता, तादृशं ज्ञानत्वं च प्रतियोगिताऽवच्छेदको धर्मः । येन च सम्बन्धेन कश्चिदभावो ग्राह्यः स सम्बन्धोऽभावीयप्रतियोगिताऽवच्छेदकः, सा च प्रतियोगिता तेन सम्बन्धेनाऽवच्छिन्ना । येन च सम्बन्धेन प्रतियोगी क्वचित् सम्भवति, असति विशेषानुल्लेखे तेनैव सम्बन्धेन तदभावोऽपि गृह्यते । यथा—भूतले घटः संयोगेन सम्भवतीति तत्र घटाभावोऽपि संयोगेन विवक्षित इति घटनिष्ठाऽभावीयप्रतियोगितावच्छेदकः संयोगः, घटनिष्ठा प्रतियोगिता च संयोगसम्बन्धावच्छिन्ना । प्रकृते च यदि कान्तायामियमगम्येति ज्ञानं भवेत् तर्हि विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धेनैव नाऽन्येनेति तादृशज्ञानस्याभावोऽपि तस्यां तत्सदृश्यां वाऽन्यस्यां कान्तायां विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धेनैव वर्त्ते-

---

सामाजिक के लिए उस कान्तात्व से युक्त होने के कारण उनकी बहन एवं अन्य कान्ताएँ भी विभाव हो जाएगीं । इससे महान् अनर्थ होगा । अतः 'विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितागम्यात्वप्रकारकज्ञानाभाव से विशिष्ट कान्तात्व' को हीं विभावतावच्छेदक मानना उचित है । इसका तात्पर्य यही है कि जिस कान्ता के विषय में सामाजिक को 'यह गमन करने योग्य नहीं है' इस प्रकार का प्रमात्मक बोध अथवा 'यह गमन करने योग्य है या नहीं' इस

प्रकार का संशयात्मक बोध होता हो उससे अन्य कान्ता हीं विभाव हो सकती है। उक्त विभावतावच्छेदक का विश्लेषण इस प्रकार करना चाहिए—अगम्यात्व है प्रकार (=विशेषण) जिस ज्ञान में उसे 'अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान' कहा जाता। इसका स्वरूप है—'इयम् अगम्या'। किसी भी विषय के ज्ञान के विषय में तीन कोटियाँ सम्भावित हैं—प्रमात्वनिश्चय—'इदं ज्ञानं प्रमैव', प्रमात्वसंशय—'इदं ज्ञानं प्रमा न वा ?' (इसी को अप्रमात्वसंशय भी कह सकते, क्योंकि एक कोटि तो प्रमात्वसंशय में अप्रमात्व हीं है) और अप्रमात्वनिश्चय—'इदं ज्ञानम् अप्रमैव'। अतः 'इयमगम्या' इस ज्ञान के विषय में भी उक्त तीन कोटियाँ हो सकती हैं—(क) ''इयमगम्या'—इति ज्ञानं प्रमैव', ''इयमगम्या'—इति ज्ञानं प्रमा न वा ?' और ''इयमगम्या'—इति ज्ञानमप्रमैव।' इनमें प्रथम को प्रामाण्यनिश्चयालिङ्गिता-गम्यात्वप्रकारक ज्ञान, द्वितीय को प्रामाण्यसंशयालिङ्गितागम्यात्वप्रकारक ज्ञान अथवा अप्रामाण्यसंशयालिङ्गितागम्यात्वप्रकारक ज्ञान और तृतीय को अप्रामाण्यनिश्च-यालिङ्गितागम्यात्वप्रकारक ज्ञान कहा जाता। यह भी ज्ञातव्य है कि निश्चय यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी। अब यह स्पष्ट है कि उक्त तीनों ज्ञानों में प्रथम और द्वितीय ज्ञान को 'अप्रामाण्यनिश्चयाऽनालिङ्गितागम्यात्वप्रकारक ज्ञान' कहा जा सकता है। उक्त त्रिविध अगम्यात्वप्रकारकज्ञानविषयक प्रमात्वनिश्चय आदि में से प्रथम या द्वितीय प्रकार के होने पर रति सम्भव या उचित नहीं है। अतः उक्त दोनों हीं प्रकारों के ज्ञान का अभाव जिस कान्ता के विषय में होगा वहीं उक्त विभा-वतावच्छेदक धर्म रहेगा और वही कान्ता सामाजिक की रति का विभाव हो सकती है, अन्य, अर्थात् जिसके बारे में प्रथम या द्वितीय प्रकार का अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान हो वह, विभाव नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रथम और द्वितीय इन दोनों के अभाव को स्वतन्त्ररूप में व्यक्त करने पर दो अभाव कहने पड़ते। इन दोनों का समावेश करने के लिए 'अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानाभाव' कहा गया है।

अब यह विचारणीय है कि इस अभाव को विभावतावच्छेदक में विशेषणरूप में कैसे रखा जाय, क्योंकि विभावतावच्छेदक (चाहे उसका विशेषणांश हो या विशेष्यांश) को विभावता के अधिकरण—विभाव में रहना हीं चाहिए। 'इयमगम्या' यह ज्ञान समवाय सम्बन्ध से सामाजिक में आश्रित है, अतः यदि सामाजिक में यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तो इस ज्ञान के अभाव की (इसी ज्ञान में रहने वाली) प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय होगा, क्योंकि जिस अधिकरण में प्रतियोगी (=जिसका अभाव विवक्षित हो वह पदार्थ) जिस सम्बन्ध से रह सकता उस अधिकरण में उसके अभाव को भी, यदि किसी विशेष सम्बन्ध का निर्देश न

तेति भवति तादृशज्ञानविरहो विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः। यद्यपीयमगम्येत्याकारकज्ञानविरहः समवायेन नायकेऽपि वर्त्तते तथापि विभावभूतायां कान्तायां विद्यमान एव तादृशज्ञानविरहो विभावतावच्छेदककोटौ निवेश्यः, न त्वाद्यः, व्यधिकरणत्वात्। अतः 'विशेष्यतासम्बन्धः समवायः' इति नागेशोक्तिश्चिन्त्या। इयमगम्येतिज्ञानविषये इदं ज्ञानं प्रमेत्याकारकः प्रमात्व- (प्रामाण्य)-निश्चयः, इदं ज्ञानं प्रमा न वेत्याकारकः प्रमात्वसंशयोऽप्रमात्वसंशयो वा, इदं ज्ञानमप्रमेत्याकारकोऽप्रमात्वनिश्चयश्चेति त्रिविधं ज्ञानं सम्भवति। तत्र प्रथमे इयमगम्यैवेति निश्चयः, द्वितीये इयं गम्याऽगम्या वेति संशयः, तृतीये इयं गम्यैवेति निश्चयः प्रतिफलति। तत्र प्रथमे ज्ञाने कस्याश्चिदपि कान्ताया विषये जाते न तत्र रत्युदयः। द्वितीयेऽपि अनर्थसंशयान्न रत्युदयः, तृतीये तु भवत्येव रत्युदयः। यद्यपि इयमगम्या न वेति संशयसत्त्वेऽपि शकुन्तलादौ दुष्यन्तादे रतिरुदिता तथाऽपि स रत्याभास एवेति न दोषः। यद्वा 'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा'

किया हो तो, उसी सम्बन्ध से माना जाता है। दूसरे शब्दों में, अन्योन्याभाव (भिन्नता) से अतिरिक्त अभाव को संसर्गाभाव कहा जाता। इसमें एक पदार्थ (प्रतियोगी) के अधिकरण विशेष (अनुयोगी) में उस संसर्ग का प्रतिषेध किया जाता जिस संसर्ग से प्रतियोगी का अनुयोगी में अस्तित्व सम्भावित हो। यही संसर्ग अभावीयप्रतियोगितावच्छेदक संसर्ग कहलाता। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक, जिसमें 'इयमगम्या' यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होता उसमें समवायसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारकज्ञानाभाव रहेगा। किन्तु यह अभाव विभावनिष्ठ न होने से विभावतावच्छेदककोटि में विशेषणरूप से प्रविष्ट हो नहीं सकता। अतः इस अभाव को उस रूप में व्यक्त करना है जिससे यह विभाव में आश्रित हो। इसीलिए ग्रन्थकार ने समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक उक्त अभाव का निवेश न कर विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अगम्यत्वाप्रकारकज्ञानाभाव का निवेश किया है। इसका तात्पर्य यह है—'इयमगम्या' यह अगम्यत्वाप्रकारक ज्ञान समवाय सम्बन्ध से तो सामाजिक में अवश्य रहता, परन्तु जिस कान्ता के विषय में यह ज्ञान होता उस कान्ता-स्वरूप विषय में भी यह ज्ञान विषयता सम्बन्ध से रहता हीं है। विषय तीन प्रकार के होते हैं—विशेषण, विशेष्य और दोनों का संसर्ग। इसलिए विशेषण में विशेषणताख्य या प्रकारताख्य विषयता रहती, विशेष्य में विशेष्यताख्य विषयता और संसर्ग में संसर्गताख्य विषयता।[1] अत एव विषयतासम्बन्ध

---

1. निर्विकल्पक ज्ञान में विशेषण आदि का भान न होने से उस ज्ञान की विषयता स्वतन्त्र प्रकार की होती है।

इत्यादिनाऽगम्यात्वप्रकारकज्ञानेऽप्रामाण्यनिश्चये जात एव रत्युदय इति मन्तव्यम्। एषु च ज्ञानेषु प्रतिफलितेषु प्रथमद्वितीये त्वप्रमाण्यनिश्चयानालिङ्गिते। अत एतयोरन्यतरस्यापि सत्त्वे रत्युदयाभावाद् अनयोरभावः कान्ताविषये रत्युदयेऽपेक्षितः। अन्त्यस्तु निश्चयः स्वयमेव रत्युदयहेतुरिति तस्याभावो नाऽपेक्षितस्तत्रेति हेतोः प्रथमद्वितीयज्ञानाभावयोर्लाघवेन संग्रहाय अप्रामाण्यनिश्चयाऽनालिङ्गितेति विशेषणमगम्यात्वप्रकारकज्ञानस्योपात्तम्। अप्रामाण्यनिश्चयश्च प्रमात्मको भ्रमात्मको वा भवेदविशेषेण रत्युदयहेतुः। अत एव वस्तुतोऽगम्यायामपि इयमगम्येत्याकारकं ज्ञानमप्रमेति भ्रमात्मकाप्रामाण्यनिश्चये रत्युदयो भवत्येव। अगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं हि इयमगम्येत्येकम् इयमगम्या न वेति द्वितीयम्। आद्यं निश्चयरूपं द्वितीयं तु संशयरूपम्। अनयोरुभयोरपि रत्युदयप्रतिबन्धकत्वादुभयसंग्रहाय अगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानमुपात्तम्, न त्वगम्यात्वप्रकारकनिश्चयः तथाविधः संशयो वेति बोध्यम्। अप्रामाण्यनिश्चयालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानाभावेपि तदनालिङ्गितज्ञानाभावे इयं गम्येति ज्ञानसत्त्वे रतेः सम्भवादभावमुखेन निवेशः।

तदेवमेतद् पर्यवसितम्—न केवलं कान्तात्वं विभावतावच्छेदकमपि तु विशेष्यता-

---

के तीन भेद हो जाते—विशेषणताख्य (या प्रकारताख्य) विषयतासम्बन्ध, विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्ध और संसर्गताख्यविषयतासम्बन्ध। यतः 'इयमगम्या' इस ज्ञान का विषयीभूत कान्ता उस ज्ञान में विशेष्य है अतः उस कान्ता में उक्त ज्ञान विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्ध से रहेगा। इसके विपरीत जिस कान्ता के विषय में 'इयमगम्या' यह ज्ञान नहीं होता उस कान्तास्वरूप विषय में उक्त ज्ञान के अस्तित्व का अभाव विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्ध से हीं रहेगा। इसीलिए विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अगम्यात्वप्रकारकज्ञानाभाव उस कान्ता में रहेगा जिसके विषय में 'इयमगम्या' इस प्रकार के अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितज्ञान—(क) 'इयमगम्या—इति ज्ञानं प्रमैव' और (ख) 'इयमगम्या—इति ज्ञानं प्रमा न वा ? ये दोनों ज्ञान—न हुए हों। अतः स्पष्ट है कि 'विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितज्ञानाभावविशिष्ट कान्तात्व' को हीं विभावतावच्छेदक मानना उचित है। यतः शकुन्तला दुष्यन्त की प्रियतमा है अतः उसके बारे में प्रमाण्यनिश्चयालिङ्गित (=अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गित) अगम्यात्वप्रकारकज्ञान का अभाव नहीं। अत एव शकुन्तला में सामाजिक की दृष्टि से उक्त विभावतावच्छेदक के विशेषण उपर्युक्तज्ञानाभाव के न रहने से उससे विशिष्ट कान्तात्व (विभावतावच्छेदक) नहीं रहता, अतः विभावता भी नहीं रहती। फिर शकुन्तला सामाजिक की रति का विभाव कैसे

विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्तेः। एवमशोच्यत्वकापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य

ष्यविषयतासम्बन्धावच्छिन्नाऽप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानत्वाव — च्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविशिष्टं कान्तात्वम्। शकुन्तलायाः परनायिकात्वेन तत्रेयमगम्येत्याकारकमगम्यात्वप्रकारकं ज्ञानं प्रामाण्यनिश्चयालिङ्गितं सदप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितमेवेति तद्विषयेऽप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानमेव न तु तद्विरह इति विभावतावच्छेदकविशेषणीभूतस्य तादृशज्ञानविरहस्याऽसत्त्वाद्विशिष्टस्य विभावताऽवच्छेदकस्याप्यसत्त्वमिति न शकुन्तलादौ परकीयनायिकायां सामाजिकान् प्रति विभावत्वमिति। विषयतासम्बन्धस्य वृत्तिनियामकत्वमभिप्रेत्यायं निवेशो विभावतावच्छेदककोटौ संगतः। तस्य वृत्त्यनियामकत्वे तु अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वाभावविशिष्टं कान्तात्वमेव तथेति बोध्यम्। एष चाऽभावस्तदात्म्येन कान्तायां वर्त्तमानः। तादृशविरहस्य विभावतावच्छेदककोटावनिवेशेऽतिप्रसङ्गमाह—**अन्यथेति**। तत्त्वापत्तेः = विभावत्वापत्तेः।

रसान्तरेऽपि विभावतावच्छेदकस्वरूपनिर्धारणमनयैव रीत्येत्याह—**एवमित्यादि**। तथाविधस्य = विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाऽप्रामाण्यनिश्चयाना-

---

हो सकती? शकुन्तला के समान हीं अपनी बहन तथा अन्य सपिण्ड-सगोत्र स्त्रियों में भी उक्त ज्ञानाभावस्वरूप विशेषण के न रहने से विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव[1] स्वरूप विभावतावच्छेदकाभाव है।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त प्रमात्वादिनिश्चय यथार्थ भी हो सकते हैं, अयथार्थ भी। अतः यदि किसी गम्या स्त्री के विषय में किसी को पहले 'इयमगम्या' यह बोध हो और सोचने पर उसे यह भ्रमात्मक प्रमात्वनिश्चय हो जाय—'इदं ज्ञानं प्रमैव' तो उसमें रति नहीं हो सकती। इसके विपरीत, यदि किसी अगम्या स्त्री के विषय में किसी को पहले 'इयमगम्या' ज्ञान हो और पीछे

---

१. विशेषणयुक्त विशेष्य का अभाव (=विशिष्टाभाव) केवल विशेषण के, केवल विशेष्य के और दोनों के अभाव के आधार पर भी माना जाता है। प्रथम को विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, द्वितीय को विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव और तृतीय को उभयभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव कहते। नीलघटविशिष्ट भूतल में रक्त घट का अभाव, उसी भूतल में नील पट का अभाव और उसी भूतल में रक्त पट का अभाव क्रमशः उक्त तीनों विशिष्टाभावों के उदाहरण हैं।

करुणरसादौ । तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः । स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरेव तथेति चेत् ? न,

---

लिङ्गिताऽशोच्यत्वकापुरुषत्वप्रकारकज्ञानविरहविशिष्टपुरुषत्वादेः करुणरसादौ विभावतावच्छेदकत्वं वाच्यमित्यर्थः । शकुन्तलादौ सामाजिकानाम् इयमगम्येत्याकारकाप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितज्ञानस्यानुत्पाद एव कथं न भवतीत्याशङ्कायामाह—तादृशेति । निर्वचनमिति । एतेन योग्यस्य तादृशज्ञानोत्पादप्रतिबन्धकस्याभावः सूच्यते । यस्य पुनरुन्मादादिना तथाविधज्ञानानुदयो दृष्टस्तस्य रतिरेव नोत्पद्यत इति न तस्यापि विभावः शकुन्तलादिरिति बोध्यम् । तथा च योग्यप्रतिबन्धकाभावसहकृतोत्पादसामग्रीसत्त्वात् परकीयनायिकाविषये तथाविधं ज्ञानं जायत एव सभ्यानामिति न शकुन्तलादौ तेषां विभावत्वमिति निष्कर्षः । जगन्मातृत्वेनाभिमते सीतादौ

चलकर उसे यह भ्रमात्मक अप्रमात्वनिश्चय हो जाय—'इदं ज्ञानमप्रमैव' तो उसमें रति हो हीं सकती है ।

इस सन्दर्भ में एक विषय पर ध्यान देना आवश्यक है—विषयतासम्बन्ध वृत्तिनियामक (जिस सम्बन्ध से किसी पदार्थ का किसी अधिकरण में रहना प्रसिद्ध हो वह सम्बन्ध) है या नहीं—यह विवादग्रस्त है । अतः विशेष्यताख्यविषयतासम्बन्ध की वृत्तिनियामता मानने पर तो उक्त वर्णन उचित है । किन्तु इसे वृत्तिनियामक न मानने पर विभावतावच्छेदक का स्वरूप होगा—अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वाभावविशिष्ट कान्तात्व । इस पक्ष में अभावीय प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध होगा तादाम्य । अतः निष्कर्ष यह है कि वही कान्ता विभाव हो सकती है जो अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान का विशेष्य न हो ।

शृङ्गार के समान हीं करुण के प्रसङ्ग में अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गिताशोच्यत्वप्रकारकज्ञानाभावविशिष्ट पुरुषत्वादि को, वीररस के प्रसङ्ग में अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितकापुरुषत्वज्ञानाभावविशिष्ट पुरुषत्वादि को विभावतावच्छेदक समझना चाहिए । प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध का स्वरूप पूर्ववत् है । अतः स्पष्ट है कि शकुन्तलादि सामाजिक के लिए विभाव नहीं हो सकते; क्योंकि उनके विषय में उक्त अगम्यात्वप्रकारकज्ञान हीं उत्पन्न होता, उसका अभाव नहीं । हाँ, यदि कोई योग्य प्रतिबन्धक होता तो शकुन्तलादि के विषय में उक्त ज्ञान उत्पन्न न होता और वे विभाव हो जाते । किन्तु विचार करने पर कोई वैसा प्रतिबन्धक प्रस्तुत किया नहीं जा सकता । यह तो सम्भव नहीं कि सामाजिक नाटचादि देखते-पढ़ते समय यह भूल जाते कि वे दुष्यन्त से भिन्न हैं, क्योंकि दुष्यन्त आदि के कुछ अलौकिक गुणों—धीरोदात्तता, साम्राज्य-सम्पन्नता आदि आदि—के अपने में अभाव

नायके धराधौरेयत्वधीरत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्वादेर्वैधर्म्यस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोधस्यैव दुर्लभत्वात् ।

किं च केयं प्रतीतिः ? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाव्दीति चेत् ? न। व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यहृद्यत्वापत्तेः ।

सामाजिकान् प्रत्यविभावत्वन्तु इतोऽपि स्फुटतरम् । तथा = तादृशज्ञानोत्पादप्रतिबन्धकः । वैधर्म्यस्येति । एतदुपलक्षणमलोकसामान्यस्य नायकादिगतधर्मवैधर्म्यस्य । तथा च यद्यपि धराधौरेयत्वादेर्नायकधर्मस्य क्वचित्सामाजिकेऽपि सम्भव इति तत्राभेदप्रतीतिः शक्या स्वीकर्तुम् तथापि रामादेरलौकिकगुणसम्पन्नस्य साधर्म्यं न लौकिकेषु पुरुषेषु सम्भवतीत्यभेदबुद्धिस्तत्र नायकसामाजिकयोरशक्यसम्पादैवेति नाऽभेदबुद्धिमादाय तादृशज्ञानोत्पादप्रतिबन्ध इत्याशयः ।

एतावता परगतत्वेन स्वगतत्वेन च रसप्रतीतेरशक्यत्वमुपपाद्य प्रतीतेरपि पराभिमताया अलौकिककाव्यव्यापारानपेक्षलौकिकप्रमाणवेद्यत्वे अहृद्यत्वापत्तिमुखेन अयुक्तत्वं प्रतिपादयन् 'प्रतीयते रसः' इति पक्षं निराकर्तुकाम आह— किञ्चेत्यादि । रसप्रतीतिरत्र प्रतीतिशब्देन विवक्षिता । प्रमाणान्तरं शब्दातिरिक्तं प्रत्यक्षादि, तदभावात् काव्यात्मकशव्दप्रमाणजन्यैव रसप्रतीतिरित्यर्थः प्रतिप्रश्नस्य । व्यावहारिकशब्दान्तरेति । एतच्चोपलक्षण लौकिकप्रमाणमात्रस्य प्रत्यक्षादेरपि । अहृद्यत्वापत्तेरिति । एतच्चाऽसहृदयत्व भट्टनायकस्य ख्यापयति, यतो हि भङ्गिभेदेन शाब्दप्रतीतेरपि हृद्यत्वस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । अथवा यादृशं हृद्यत्वमलौ-

---

होने से वे अपने को दुष्यन्त आदि से अभिन्न कैसे समझ सकते ? अतः नायक से अपने को अभिन्न समझने के कारण भी शकुन्तला आदि को सामाजिक की रति का विभाव मानना असम्भव है। अतः रस की स्वगत प्रतीति भी नहीं हो सकती ।

उक्त रीति से प्रतीति के परगत या स्वगत न होने से उस पक्ष का निराकरण कर अब भट्टनायक उपयुक्त प्रमाण न होने से भी रसप्रतीति-पक्ष का खण्डन कर रहे हैं, क्योंकि परगत रत्यादि की सामाजिक को बाह्य प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, कारण आन्तरिक पदार्थ चाहे स्वगत हो या परगत वह बाह्येन्द्रिययोग्य होता ही नहीं। यदि चेष्टा आदि से उसकी अनुमिति हो भी तो भी उसमें अलौकिकता नहीं आ सकती। काव्यात्मक शब्द-प्रमाण से प्रतीति मानने पर भी अलौकिकास्वाद की समस्या पूर्ववत् बनी रहेगी, क्योंकि इतिहास-पुराणादि के वाक्यों से होने वाली नायक-नायिका के प्रेमाख्यान की प्रतीति मे अलौकिक आनन्द किसी को नहीं मिलता। उक्त रत्यादि की मानस-प्रतीति होती है (सामाजिक को)—यह कहना भी

नापि मानसी, चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या वैलक्षण्योपलम्भात् । न च स्मृतिः, तथा प्रागननुभवात् ।

तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणाऽगम्यत्वादिरस-

---

किञ्च रसप्रतीतावनुभवसिद्धं सहृदयानां तादृशं हृद्यत्वं शब्दात् तत्प्रतीतौ न स्यादित्याशयेनेदम् । तादृशालौकिकं हृद्यत्वं मानस्यामपि तत्प्रतीतौ न स्यादित्याशयेनाह—नाऽपीति । चिन्तेत्यादि । पुनः पुनरनुसन्धानं चिन्ता, तयोपनीतानां ज्ञानलक्षणसन्निकृष्टानां काव्यार्थानां शकुन्तलादीनां विभावत्वादिना मानस्यां प्रतीतौ यथा नालौकिकं हृद्यत्वं तथैव रसस्यापि मानस्यां प्रतीतौ न स्यात्, इष्यते तु तत् । अतो न रसप्रतीतिर्मानसी भवितुमर्हतीत्याशयः । अलौकिकगुणस्य नायकादेः स्मृतिरेव रसप्रतीतिः सामाजिकानाम्, अलौकिकविषयकत्वादेव चेयं स्मृतिरपि रमणीया स्यादित्याशङ्कां निराकुरुते—न च स्मृतिरिति । अनुभवो हि पूर्वकालिकः स्वजन्यसंस्कारद्वारा स्मृतिहेतुरिति प्रसिद्धम् । प्रकृते च तादृशगुणविशिष्टनायकादेः सामाजिकानुभवविषयत्वाभावेन न तद्विषयकः संस्कारः सामाजिकानां येन तद्विषया स्मृतिः स्यादिति न स्मृतिरूपाऽपि रसप्रतीतिः शक्याऽभ्युपगन्तुम् इत्यर्थः । तदेवं रसप्रतीतिपक्षे निराकृते रसोत्पत्त्यभिव्यक्तिपक्षावपि लोचनाद्युक्तभट्टनायकयुक्त्या निराकरणीयौ पाठकैः । तथा हि लोचन उक्तम्—'उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात् । तन्नोत्पत्तिरपि । नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात् । तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः । तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रसः' इति ।

अधुना स्वमतमाह भट्टनायकः—तस्मादित्यादिना । अभिधयेत्युपलक्षणं लक्षणाया अपि । यथावत्पदार्थप्रतिपादनमभिधाया लक्षणायाश्च कृत्यमत्र मते । तद-

---

सम्भव नहीं, क्योंकि एक तो दूसरे के रत्यादि आन्तरिक पदार्थों का सामाजिक को मानस प्रत्यक्ष हो नहीं सकता और दूसरे, पुनः पुनः अनुसन्धान किये गये काव्यार्थभूत शकुन्तलादि की विभावादिरूप में होने वाली मानस-प्रतीति में वह आनन्द नहीं मिलता जो रसप्रतीति में अभीष्ट है। उन अलौकिकानन्दमय दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि का सामाजिक को नाटयदर्शनादि के पूर्व अनुभव न होने से उनकी स्मृति भी असम्भव है। अतः रस-प्रतीति की मान्यता सर्वथा हेय है। इसी तरह, रसोत्पत्ति-पक्ष भी असंगत है, क्योंकि तब तो नायक के शोक से सामाजिक में भी शोक की उत्पत्ति माननी होगी जिसका अर्थ यही होगा कि एक बार करुण-रसप्रधान नाटक-काव्य देख-सुनकर शोकातुर सामाजिक पुनः कभी उन्हे देखने-सुनने में

विरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकालवयोऽवस्थादिषु, पञ्चौ पूर्वव्यापारमहिमनि, तृतीयस्य भोगकृत्त्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयो रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षा-

नन्तरं भावकत्वाख्यकाव्यव्यापारकृत्यं दर्शयति—भावकत्वेति। तथा च भावकत्वव्यापारस्य साधारणीकरणं फलम्। तदाह—एवमिति। पूर्वव्यापारः = भावकत्वव्यापारः। निगीर्णयोरित्यादिना भोजकत्वापरपर्यायभोगकृत्त्वाख्यतृतीयकाव्यव्यापारस्य रजस्तमोवृत्तिनिरोधः फलम्। ततश्च सत्त्वोद्रेकाज्जायमानेन मानसेन विलक्षणेन साक्षात्कारेण भोगापरपर्यायेण भुज्यते विषयीक्रियते रस इत्ययमाशयो भट्टनायकस्य बोध्यः। निजचिदित्यादि। निजस्य = सामाजिकस्यात्मनः, चित्स्वभावनिर्वृतिः = आवरणनाशादात्मस्वभावभूतचितः स्फुरणम्, चिदित्युपलक्षणमानन्दरूपस्यापि, तस्या विश्रान्तिः = चिदानन्दात्मभिन्नवस्त्वगोचरत्वम्, तदेव लक्षणं सादृश्येन ज्ञापकं यस्य तेन साक्षात्कारेण परब्रह्मसाक्षात्कारसदृशेन साक्षात्कारेणेति तात्पर्यम्। सत्त्वोद्रेकाच्च रससाक्षात्कारः सुखात्मकोऽत्र मते, सत्त्वस्य सुखरूपेण परिणामात्। एतावतैव चास्य मतस्य सांख्यीयत्वप्रवादोऽपि। साधारणात्मेत्यनेनेदं सूचितं यत्परगत एव रत्यादिः सामाजिकैर्भुज्यते, परन्तु भावकत्वव्यापारेण साधारणीकरणात्मना परगतत्वं न गोचरीक्रियते इत्ययं विशेषः।

प्रवृत्त नहीं होंगे, जब कि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। यदि यह रसोत्पत्ति नायकादि में ही मान्य हो तो सामाजिक का इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? रसाभिव्यक्तिपक्ष भी त्याज्य है, क्योंकि अभिव्यक्ति पूर्वसिद्ध पदार्थ की होती। अतः पूर्वसिद्ध रत्यादि की हीं अभिव्यक्ति माननी होगी। यदि ये रत्यादि नायकनिष्ठ हैं तो सामाजिक पुनः उनसे उदासीन हो जायेंगे। सामाजिक में उन रत्यादि की स्थिति तो है नहीं। ऐसी स्थिति में किसकी सामाजिक में अभिव्यक्ति होगी? साथ हीं, अभिव्यञ्जक की स्थिति में तो तारतम्य के आधार पर रसाभिव्यक्ति में भी तारतम्य मानना होगा।[1] किन्तु रसस्वरूपभूत अखण्ड आनन्द की अभिव्यक्ति में तारतम्य मानना असंगत है। अतः अभिव्यक्ति-पक्ष भी अनुचित है।

अतः रस की भुक्ति (भोग—साक्षात्कार) उचित है। इसकी व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए—सर्वप्रथम तो अभिधावृत्ति द्वारा काव्यादि से वाच्यार्थ की

१. वस्तुतः यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि अभिव्यञ्जकतारतम्यप्रयुक्त अभिव्यङ्ग्य की अखण्डता में अन्तर नहीं पड़ता। भट्टनायक के 'विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः' कथन का कोई दूसरा अभिप्राय हो, अथवा पाठ शुद्ध न हो!

त्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी रसः । तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः । सोऽयं भोगो विषयसंबलनाद्ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते । एवं च त्रयोंऽशाः काव्यस्य-"अभिधा

अत्र पक्षे स्थायिनो भोगस्य च विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावाद् भुज्यमानः स्थायी स्थायिविषयकभोगो वा रस इत्याह—तत्रेत्यादिना । पूर्वकल्पे साक्षात्कारस्यैव सत्त्वोद्रेकजनितस्य सुखमयत्वेन रसस्यापि सुखमयत्वं बोध्यम् । विषयसम्बलनादित्यनेन विषयासम्बलितब्रह्मास्वादाद्भिन्नत्वं रसास्वादस्य दर्शितम् । सविधत्वं च रसास्वादस्यानन्दप्रचुरत्वात्तत्प्राधान्याद्वा प्रतीत्यपेक्षात् । भट्टनायकमतं तदुक्त्यैवोपसंहरति—एवं चेत्यादिना । त्रयोंशाः=त्रयो व्यापाराः, अभिधा, भावना, भोगीकृतिः (भोजकत्वं) चेति । तत्राभिधा वाच्यार्थविषयिणी=वाच्यार्थोपस्थापिका, भावना=भावकत्वं साधारणीकरणद्वारा सामाजिकैः सह रत्यादेः सम्बन्धस्य प्रतिपादिका, भोजकत्वं च सहृदयविषयम्=रसास्वादजनकम् इति । एतेन भट्टनायको व्यञ्जनां नोरीकरोतीत्यपि सुव्यक्तमेव । अभिनवगुप्तभट्टनायकमतयोर्विशेषं निरू-

---

उपस्थिति होती है । इस दशा में शकुन्तलादि से दुष्यन्तादि का सम्बन्ध बना रहता है जिससे सामाजिक को रस-साक्षात्कार होने में बाधा पड़ती । इसलिए काव्य में अभिधा से भिन्न एक 'भावकत्व' नामक व्यापार मानना चाहिए । इस व्यापार के प्रभाव से 'साधारणीकरण' होता, अर्थात् रस-भोग में बाधकीभूत शकुन्तलादिविषयक परकीयत्व, अगम्यात्व, शकुन्तलात्व आदि धर्मों का प्रतिबन्ध और कान्तात्व आदि रस-भोगानूकूल धर्मों का उद्भावन होता । इसी से शकुन्तलादि के वय, अतीत काल आदि रस-प्रतिबन्धक तत्त्वों का भी विलोप हो जाता है । अत एव दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादिविषयक रति भी केवल कान्ताविषयक रति रूप में प्रस्फुटित होने लगती । इससे सामाजिक को उस रति के विषय में जो परकीत्व-बोध हो रहा था वह भी विलुप्त हो जाता । 'भावकत्व' व्यापार का कृत्य यहीं समाप्त हो जाता है । किन्तु इतने से हीं, विना भोग-साधन के, रस का भोग हो नहीं सकता । भोग-साधन तो वह चित्त हो सकता है जिस में सत्त्वगुण का अत्यन्त प्रकर्ष हो । यह कार्य चित्त के रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव को सर्वथा समाप्त किए विना असम्भव है । अतः 'भोगकृत्त्व' (=भोजकत्व) व्यापार के प्रभाव से रजोगुण और तमोगुण का प्रभाव सर्वथा क्षीण हो जाता जिसके फलस्वरूप सत्त्वगुण का चित्त में 'उद्रेक' हो जाता । इससे चित्त प्रकाशानन्दमय हो जाता । इसके सम्पर्क से रत्यादि में भी आनन्दमयता प्रकट हो जाती है । इसी 'चित्तसत्त्व' (=सत्त्वातिशयविशिष्ट चित्त) से साधारणीकरणसाधनीभूत भावकत्व

भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च" इत्याहुः। मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद्भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः। भोगकृत्त्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम्। अन्या तु सैव सरणिः॥

(३) नव्यास्तु काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु

पयति—मतस्यैतस्येत्यादिना। व्यक्तिः=भग्नावरणा चित्, तस्या एव साक्षात्कारात्मकत्वात्, 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः। यद्यपि भट्टनायकमते चित्तसत्त्ववृत्त्यात्मक एवानन्दः प्रतीयते तथापि ब्रह्मातिरिक्तस्यानानन्दत्वात्तत्सम्पर्कं विना कस्याप्यानन्दरूपत्वं न सम्भवतीत्यौपनिषदमताभिप्रायेणेयमुक्तिः पण्डितराजस्येति प्रतीयते। व्यञ्जनात्=व्यञ्जनव्यापारात्। तदुक्तं लोचने—'भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चिद्' इति। अन्या=आस्वाद्यमानः स्थाय्येव रसः, साधारणीकरणं चेत्याद्या पूर्ववर्णिता। अत्र भट्टनायकमते भावकत्वाख्यकाव्यव्यापारेण साधारणीकरणम्, पूर्वमते च भावनाविशेषेणेति विशेषः॥

रसविषये तृतीयं मतमाह—नव्यास्त्वित्यादिना। प्रकाशितेषु=कविना शब्देन नटेन चाभिनयाद्युपस्कृतेन शब्देन सहृदयहृदयं प्रापितेषु। विभावादिष्विति।

व्यापार द्वारा पहले से हीं सहृदय के अन्तःकरण में उपस्थापित परकीयत्वसम्बन्धरहित रत्यादि का सामाजिक को आनन्दमय तत्त्व के रूप में भोग (=साक्षात्कार) होता। यह रसस्वरूप आनन्द उस ब्रह्मानन्द जैसा होता जिसमें आत्मा के चिदानन्दस्वभाव की प्रकटता की पराकाष्ठा मानी जाती, क्योंकि सत्त्वोद्रेकमयचित्तगत आनन्द अन्य चित्तगत आनन्दों में उत्तम होता। अन्तर दोनों में यह है कि ब्रह्मानन्द वृत्तिभिन्न है जबकि रसानन्द रत्यादिविषयक चित्तवृत्ति है। अतः भोगविषयीकृत रत्यादि या रत्यादिविषयक उक्त भोग (=साक्षात्कार) हीं रस है। इस प्रकार काव्य के तीन व्यापार हुए, जैसा भट्टनायक ने स्वयं कहा है—"अभिधा, भावना (=भावकत्व) और रसभोगीकृति, अर्थात् भोजकत्व (ये तीन काव्यव्यापार हैं)।"

इसमें पूर्वमत (अभिनवगुप्त के मत) से यही अन्तर है कि इसमें एक 'भावकत्व' नामक अतिरिक्त काव्यव्यापार की कल्पना की गई है। भट्टनायक का 'भोग' तो 'व्यक्ति'—भग्नावरणा चित् हीं हैं; केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं, क्योंकि साक्षात्कार "यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भग्नावरणचित्स्वरूप हीं है। इनका 'भोजकत्व' व्यापार भी व्यञ्जनाव्यापार से भिन्न नहीं है, क्योंकि दोनों का कृत्य एक हीं है। अन्य प्रक्रिया दोनों की समान हैं॥

कुछ नवीन आचार्य (जिनके नाम अज्ञात हैं) सामाजिक में उत्पन्न अनिर्वचनीय

व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरं च सहृदय-तोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वाव-च्छादिते स्वात्मन्यज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्य-मानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः ।

एतेन मतेऽस्मिन्नालम्बनकारणादीनां शकुन्तलादीनां विभावादिपदवीप्रापणाय न भावनाविशेषस्य न वा भोजकत्वव्यापारस्य प्रयोजनमिति प्रतीयते, आलम्बनकारणा-दीनामेव नामान्तराणि विभावादय इति ज्ञायते। सहृदयता=प्राक्तनी काव्यार्थ-वासना, रत्यादिवासनेति यावत्। तया सहृदयतया उल्लासितस्य=सहकृतस्य, शुक्तिरजतभ्रमोऽपि तस्यैव भवति यस्य रजतविषयकसंस्कारः पूर्वत एव वर्त्तते। अतोऽत्र रत्यादिभ्रमेऽपि वासनाख्यः कश्चन रत्यादिविषयकः संस्कारविशेषः सहृदये नितरामपेक्षितः। तस्य चोद्बोधो दुष्यन्तादिस्थानीयनटकर्तृकरत्यनुकूलविलासादि-ज्ञानेन काव्याध्ययनश्रवणजन्यतज्ज्ञानेन वा यथायथमवगन्तव्यः। सेयं वासना रत्या-देर्भ्रमात्मकदुष्टफलजनकत्वाद्दोष इत्युच्यते। स्वतस्तु वासनाया दोषत्वं दुर्घटम्। यद्वा भावनात्मकदोषसहकारितया रत्यादिवासनाया दोषत्वं निर्वाह्यम्। भावने-त्यादि। काव्यार्थस्य पुनः पुनर्नैरन्तर्येणानुसन्धानं भावना, सा चात्र सामाजिक-गतस्वत्वस्य (=दुष्यन्तादिभिन्नत्वस्य) अपलापकत्वेन दोष इत्यभिहिता। अनेनैव भावनाविशेषस्वरूपदोषेण स्वस्मिन् दुष्यन्तरूपेण प्रतीतिः। अयं च दुष्यन्तादि-रनिवर्चनीयो यावत्प्रतिभासमवस्थानात् प्रातिभासिक इत्युच्यते वेदान्तनये। दुष्यन्तकल्पनायां च दुष्यन्तत्वमपि कल्पितं भवत्येवेति दुष्यन्तत्वमपि प्रातिभासिकं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं तत्रोत्पद्यत एव। इदमेव प्रातिभासिकत्वं सामाजिके दुष्यन्तत्वादेः कल्पितत्वमुक्तं ग्रन्थे। यदा च सामाजिके दुष्यन्तादिः कल्प्यते तदा दुष्यन्तत्वादिः तत्सहचरितो रत्यादिरपि शकुन्तलादिविषयकः कल्पित एव रज्ज्वे रजत-स्य कल्पनायां रजतत्वबहुमूल्यत्वादिकल्पनवत्। कल्पितेत्यादि। अज्ञानावच्छिन्नेऽत एव दुष्यन्तत्वाद्यवच्छादिते स्वात्मनीत्यन्वयः। यदा भावनास्वरूपदोषवशात्सामा-जिकस्य स्वत्वं दुष्यन्तादिभिन्नत्वमवच्छाद्यते आव्रियते तदा भेदाग्रहात् सामाजिकः स्वं दुष्यन्तमभिमन्यमानः 'दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इति प्रत्येति। अस्यां प्रतीतौ शकुन्तलाविषयिणी रतिर्विशेषणीभूता दुष्यन्तत्वविशिष्टश्च विशेष्य

(सदसद्विलक्षण—प्रातिभासिक) रत्यादि को ही रस मानते। इस रस की उत्पत्ति प्रक्रिया इस प्रकार है—सर्वप्रथम सामाजिक काव्य या नाटच का अध्ययन या अव-लोकन करते। इससे काव्य में कवि द्वारा वर्णित और नाटच में नट द्वारा अभि-नीत विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारिभावों की यथासम्भव प्रत्यक्षात्मक या अनुमित्या-

अयं च कार्यो दोषविशेषस्य। नाश्यश्च तन्नाशस्य। स्वोत्तरभाविना

इति भवति दुष्यन्तत्वं विशेष्यतावच्छेदकमत्र। इदमेव दुष्यन्तत्वस्य स्वात्मावच्छादकत्वमत्राभिमतमिति वक्ष्यत्यनुपदमेव ग्रन्थकृत्।

अयम् = रत्यादिः। दोषविशेषस्य = सहृदयतोल्लासितभावनाविशेषस्य। तन्नाशस्य = उक्तदोषविशेषनाशस्य। एतेन पूर्वोक्तमतसिद्धं नित्यत्वं निराकृतं रसस्येति बोध्यम्। अनिर्वचनीयरत्यादे रसपदाभिलप्यस्य कथं सुखपदव्यपदेश इत्यत्र हेतुमाह—**स्वोत्तरभाविनेत्यादिना**। अयमाशयः—रत्यादिसाक्षिप्रत्यक्षस्य स्वरूपत आनन्दरूपत्वाऽभावेऽपि आस्वादात्मकस्यास्य प्रत्यक्षस्यालौकिककाव्यव्यापारभावनाजन्यरत्यादिविषयकतयाऽलौकिकाह्लादजनकत्वम्, आह्लादाच्चाऽव्यवहिताद् भेदे-

---

त्मक प्रतीति उन्हें (सामाजिक को) होती। इन विभाव आदि की सहायता से व्यञ्जित दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादिविषयक रत्यादि का उन्हें बोध होता। उसके पश्चात् विभावादिसम्बलित रत्यादि की जब वे अपनी सहृदयता से सम्बलित भावना, अर्थात् पुनः पुनः अनुसन्धान करते तो इसी भावनास्वरूप दोष के प्रभाव से उनका स्वत्व (दुष्यन्तादिभिन्नत्व) अज्ञानावृत हो जाता और उनमें कल्पित (अनिवर्चनीय) दुष्यन्तत्वादि धर्म की उत्पत्ति हो जाती जिससे उनका व्यक्तित्व अवच्छादित हो जाता। शव्दान्तर में, वे अपने को 'शकुन्तलादिविषयकरत्यादि के आश्रय दुष्यन्तादि' समझने लग जाते—"शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तोऽहम्[1]" इत्यादि बोध उन्हें होने लगता। ऐसी स्थिति में उनमें शकुन्तलादिविषयक रति की उत्पत्ति भी हो हीं जाती है, अन्यथा उक्त बोध हो नहीं पाता। यह रति वास्तविक (व्यावहारिक) तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह है तो दुष्यन्त में हीं हो सकती है, सामाजिक में नहीं। अतः यह प्रातिभासिक पदार्थ जिसकी स्थिति प्रतिभासकालपर्यन्त होती, उससे पूर्व या पश्चात् नहीं। यह रति प्रतिभास जबतक होता तभी तक होती, उससे पहले या पश्चात् नहीं। इस अनिवर्चनीय रति की उत्पत्ति सामाजिक में उसी प्रकार होती जिस प्रकार अद्वैत-मत में अज्ञानावृत शुक्तिका में काचादिदोष के प्रभाव से रजतत्व एवं तत्सहचरित बहुमूल्यत्व आदि धर्मों की प्रतिभासकालमात्र में उत्पत्ति होती। प्रातिभासिक पदार्थ को अद्वैतमत में साक्षिभास्य माना जाता। अतः सामाजिक में उत्पन्न रत्यादि को भी साक्षिभास्य मानना चाहिए। यतः रसास्वादन सामाजिक को हीं होता अतः सामाजिक में रत्यादिस्वरूप रस का अस्तित्व अनिवार्य है। इसीलिए उनमें इस प्रातिभासिक रत्यादि

---

१. स्पष्टता के लिए केवल रति को लेकर उदाहरण दिया गया है। यही प्रक्रिया रसान्तर के प्रसङ्ग में भी समझनी चाहिए।

लोकोत्तराह्लादेन भेदाऽग्रहात्सुखपदव्यपदेश्यो भवति। स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात्तद्रतित्वेनैकत्वाध्यवसानाद्वा व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्चोच्यते।

नानध्यवसीयमानो रत्यादिः सुखपदव्यपदेश्योऽपि भवति। अस्मिंश्च पक्षे सुखमाह्लादापरपर्यायं चित्तवृत्त्यात्मकमेव, आनन्दरूपावरणनिवृत्त्यभावेन आत्मानन्दाऽस्फुरणात्। प्रातिभासिकपदार्थतत्प्रतिभासयोस्तुल्यकालत्वाद्रत्यादिप्रत्यक्षोत्तरजायमानस्याप्याह्लादस्य रत्याद्युत्तरभावित्वमुक्तम्। यद्वाऽनिवर्चनीयरत्यादिविषयकसाक्षिप्रत्यक्षरूपेण जायमानयाऽविद्यावृत्त्या स्वात्मानन्दावरणनिवृत्तिः, ततश्च स्वात्मभूतानन्देन सह पूर्ववद् गोचरीक्रियमाणत्वाद्रत्यादेः सुखपदव्यपदेशः। अस्य च सुखस्यात्मस्वरूपभूततया अलौकिककाव्यव्यापारप्रयोज्यतया चाऽलौकिकत्वम्, विशेषणीभूतस्य विशेष्यभूतस्य वा रत्यादेः काव्यार्थभावनाजन्यतया वा जन्यत्वमुपपाद्यम्। अथवा रत्यादेः सुखजनकत्वेन सुखत्वव्यपदेशः। सुखस्य नित्यत्वेऽपि रत्याद्युपहितसुखस्य जन्यत्वमुक्तम्। अस्मिंश्च पक्षे शोकादेरप्यनिवर्चनीयस्य सुखव्यपदेश इष्टश्चेदात्मस्वरूपभूतानन्दसंस्पर्शादेव, 'सरसिजमनुबिद्धं शैवलेनाऽपि रम्यम्' इतिवदिति वक्ष्यति। तदेवमस्मिन् मते सामाजिककर्तृकरसानुभवोपपादनाय सामाजिकेषु प्रतिभासिकरत्याद्युत्पत्तिसाधनमेव विशेष इति बोध्यम्। अस्य सामाजिनिष्ठरत्यादेरनिवर्चनीयस्य भावनादोषजन्यतया साक्षिप्रत्यक्षविषयतया व्यङ्ग्यत्वव्यपदेशः अनिर्वचनीयत्वेन च वर्णनीयत्वव्यपदेशः कथमित्युपपादयति—स्वपूर्वेत्यादिना। उपस्थितेन = व्यङ्ग्येन वर्णनीयेन च। रत्यादिनेत्यस्य दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिविषयकेणेत्यादिः। तदग्रहात् = भेदाग्रहात्। ननु ब्रह्मजगदध्यासे धर्मिणोः परस्पराध्यासाद्धर्मयोरपि परस्पराध्यासो यद्यपि प्रसिद्धस्तथापि लोके यस्मिन् यद्भेदाग्रहस्तत्रानुयोगिनि प्रतियोगिधर्माध्यास एव प्रसिद्धः, यथा शुक्तौ रजतधर्माध्यासः, तथा चानिर्वचनीयसामाजिकनिष्ठरत्यादिधर्मस्य दुष्यन्तादिनिष्ठशकुन्तलादिविषयकरत्यादिधर्मिण्यध्याससम्भवेऽपि तद्विपर्ययेणानिर्वचनीयरत्यादौ दुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादेः सामाजिकैर्व्यञ्जनया गृहीतस्य यो धर्मो व्यङ्ग्यत्वं तस्याध्यासोऽनुपपन्न एवेत्यतः समाधानान्तरमाह—एकत्वाध्यवसानाद्वेति। इदन्त्वाद्यारोपादुत्तरान्तरमेव वा। अत्रैव हेतुः—रतित्वेनेति। रतित्वं ह्युभयसाधारणम्, यश्च पूर्वोपस्थिते व्यङ्ग्ये रत्यादौ दुष्यन्तादिनिष्ठत्वं नाम भेदको धर्मस्तस्य च भावनास्वरूपदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रतीतिरेव नेति न तद्धर्मस्य तयोर्भेदकत्वमिति सूपपादोऽनयोरेकत्वाध्यवसाय इत्याशयः। तथा च रसे व्यङ्ग्यत्वमुपचरितमेवेति बोध्यम्।

की उत्पत्ति माननी पड़ती है।

यह अनिर्वचनीय रत्यादिस्वरूप रस भावनात्मक दोषविशेष से उत्पन्न होने

अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव । अवच्छादकं च रत्यादि-विशिष्टबोधे विशेष्यतावच्छेदकत्वम् । एतेन—"दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रत्यादेरनास्वाद्यत्वान्न रसत्वम् । स्वनिष्ठस्य तु तस्य शकुन्तलादिभिरतत्संबन्धिभिः कथमभिव्यक्तिः ? स्वस्मिन्दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपराहता" इत्यादिकमपास्तम् । यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तं तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वादिप्रकारकबोधजनकैः प्रतिपाद्यमानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम् । अतोऽवश्यकल्प्ये दोषविशेषे तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा ।

सम्प्रति नव्यमतानुसारेण भट्टनायकमतपूर्वपीठिकां निराकरोति—एतेनेत्यात्यादिना । अस्यापास्तमित्यनेनाऽन्वयः । एतेनेत्यस्य च सामाजिके दुष्यन्ताभेदबुद्धयाऽनिवर्चनीयरत्याद्युत्पत्तिसम्भवेनेत्यर्थः । अनास्वाद्यत्वादिति । अनास्वाद्यत्वं च सामाजिकस्य तादृशरत्यादिं प्रति ताटस्थ्येनोपपद्यते । बाधबुद्धिपराहतेत्यादि भट्टनायकमतनिरूपणावसरे व्याख्यातम् । साधारण्यमित्यस्य भट्टनायकमते भावकत्वव्यापारेण काव्यनिष्ठेनेत्यादिः, अभिनवगुप्तादिमते च भावनाविशेषणेत्यादिः । विशेषप्रतिपादकशब्दस्य विशेषधर्मपुरस्कारेणैवार्थप्रतिपादकत्वमित्याह — शकुन्तलादिशब्दैरित्यादिना । शकुन्तलादिष्विति । अत्र विषयत्वं सप्तम्यर्थः । तथा च शकुन्तलादिविषयको यो दोषविशेषो भावनाविशेषात्मकस्तस्य कल्पनं विनेत्यर्थः । भावकत्वव्यापारोऽपि फलतो भावनाविशेषाऽव्यतिरिक्त एवेति हृदयम् । तेनैव=दोषविशेषेणैव ।

अत्र च पक्षे दुष्यन्तादिनिष्ठवास्तवरत्यादेरेव स्थायित्वम् ।

स्वोत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाऽग्रहादेकत्वाध्यवसायाद्वा रसस्य सुखत्वव्यपदेशः पूर्वं समर्थितः । स च रतिविषये सम्भवति, तस्या इष्टत्वेन तद्बोधोत्तरं सुखानुभवस्यानुभविकत्वात् । यत्र त्वनिर्वचनीयशोकाद्यप्रियभावोत्पत्तिः सामाजिके तत्र तदुत्तरं सुखानुभवाऽभवात् कथं शोकाद्यात्मकस्य करुणादेः सुखत्वव्यपदेश उप-

---

के कारण तभी तक सामाजिक में रहता जब तक उक्त दोषविशेष बना रहता है। उसके नष्ट होते ही यह रस भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि यह रस स्वरूपतः सुख-स्वरूप नहीं है तथापि स्वोत्तरभावी लोकोत्तर आह्लाद से इसका भेद-ज्ञान न होने से इसे सुखरूप भी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि स्वनिष्ठ अनिर्वचनीय रत्यादि के अनुभव (=साक्षिप्रत्यक्ष) के बाद काव्यव्यापार (=व्यञ्जना) के प्रभाव से उक्त अनुभव से सामाजिक को अलौकिक सुख होता। (करुण आदि रस के सन्दर्भ में प्रातिभासिक सामाजिकनिष्ठ शोकादि से अलौकिक सुख होता है या नहीं—यह विचार बाद में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे।) दोनों—रत्यादि और तत्समकालिक

नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्। प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्? न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तं न कल्पितस्येति नायकानामेव

पद्यत इत्याशङ्कते—नन्वेवमपरीत्यारभ्य चेदित्यन्तेन ग्रन्थेन। कल्पितस्येत्यस्य शोकादेरिति शेषः। कल्पितत्वं चात्र प्रातिभासिकत्वरूपं ग्राह्यम्। समाधत्ते—सत्यमित्यादिना। सहृदयेत्यादि। तदुक्तं विश्वनाथेन—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥ इति।

उसके साक्षिप्रत्यक्षात्मक आस्वाद तथा इससे होने वाले अलौकिक सुख में अव्यवधान आदि के कारण भेद-बोध नहीं होता और इसी से प्रतिभासमान रत्यादि और अलौकिक आह्लाद में भी भेद-बोध न होने से रत्यादिस्वरूप रस को सुखरूप कहा जाता है। यह प्रातिभासिक रत्यादिस्वरूप रस स्वतः न तो व्यङ्ग्य है और न वर्णनीय (=अनिवर्चनीयभिन्न) हीं फिर भी इससे पूर्व सामाजिक द्वारा अनुभूत जो दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि हैं वे तो व्यङ्ग्य एवम् वर्णनीय हैं हीं। रसस्वरूप रत्यादि का दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि से भेद-बोध न होने से अथवा दोनों के बीच सादृश्यमूलक एकत्वभ्रम से रसस्वरूप रत्यादि को भी व्यङ्ग्य और वर्णनीय कह दिया गया है। पहले सामाजिक के स्वत्व को कल्पित दुष्यन्तत्वादि धर्मों से अवच्छादित और दुष्यन्तत्वादि धर्मों को स्वत्व का अवच्छादक कहा गया है। इसका अभिप्राय यहीं है कि सामाजिक को जो बोध होता—"दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्" उस बोध में वही कल्पित दुष्यन्तत्व विशेष्यतावच्छेदक हो जाता है, क्योंकि उक्त बोध में शकुन्तलाविषयकरत्यादिमत्त्व विशेषण है और दुष्यन्त विशेष्य है जिससे दुष्यन्तत्व का दुष्यन्तनिष्ठविशेष्यता का अवच्छेदक होना स्पष्ट है।

इससे भट्टनायक आदि का यह मत निरस्त हो जाता कि दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि से सामाजिक के उदासीन होने से उस रत्यादि का सामाजिक को आस्वाद हो नहीं सकता; सामाजिक में जो रत्यादि हैं उनका शकुन्तला आदि के साथ किसी अपेक्षित सम्बन्ध के न होने से उसकी भी सामाजिक में अभिव्यक्ति नहीं हो सकती; जहाँ तक दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुन्तलादिविषयक रत्यादि का सामाजिक द्वारा आस्वाद का प्रश्न है वह तो उठता हीं नहीं, क्योंकि सामाजिक और दुष्यन्तादि में इतना वैधर्म्य है कि दोनों में अभेदभ्रम हीं असम्भव है। जहाँ तक भट्टनायक द्वारा भावकत्वव्यापार से और अभिनवगुप्त द्वारा भावनाविशेष से साधारणीकरण की बात

अत एव करुणप्रधानकाव्यनाट्याध्ययनदर्शनादौ भूयो भूयः प्रवृत्तिः सहृदयानां संगच्छते । काव्यव्यापारस्य = व्यञ्जनायाः, यद्वा दोषत्वेनाभिमताया भावनायाः । विश्वनाथमते तु लौकिकशकुन्तलादिपदार्थानलौकिकविभावादिपदवीं नयन्तो विभावनादिव्यापारा एवात्र विवक्षिताः । आह्लादप्रयोजकत्वम् = आनन्दजनकत्वप्रयोजकत्वम् । यद्यपि दुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादौ स्वरूपतोऽप्यानन्दजनकत्वमस्त्येव तथापि प्रातिभासिके रत्यादौ सामाजिकनिष्ठे यदाह्लादजनकत्वं तद्दुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादिव्यञ्जनाजन्यभावनाप्रयोज्यमेव, तद्व्यञ्जनामन्तरेण तादृशभावनायास्तां च विना सामाजिके रत्यादेरनुत्पत्तेरिति हृदयम् । दुःखप्रतिबन्धकत्वम् = शोकादावनिर्वचनीये दुःखजनकत्वप्रतिबन्धकत्वम् । अनुकूलपरिस्थितौ भावितः पूर्वशोकादिरपि सुखमेव जनयतीति प्रसिद्धम् । तथा चोक्तम्—

है वह भी शकुन्तलादिविषयक दोषविशेष की कल्पना किये विना असंगत है, क्योकि काव्य द्वारा शकुन्तला आदि विशेषार्थक शब्दों से तो सामान्यतया शकुन्तलात्वादि-प्रकारक अर्थों का हीं बोध सम्भव है, कान्तात्वादिसाधारणधर्मप्रकारक बोध नहीं । यह दोष भावना हीं हो सकती या उसके स्थान में स्वीकृत भावकत्व व्यापार, क्योंकि इससे अतिरिक्त किसी दोष की कल्पना असम्भव है । अतः जब साधारणीकरण के उपपादनार्थ प्रचीनों को भी भावनास्वरूप अथवा उसके समानान्तर भावकत्वव्यापाररूप दोषविशेष मानना हीं है तो उसी से सामाजिक को दुष्यन्तादि से अभिन्न होने का भ्रम भी हो हीं सकता है । इसलिए अभेदभ्रम न होने की बात असंगत है ।

अब प्रश्न यह है—रति तो प्रिय वस्तु है, इसलिए जैसे दुष्यन्तादि में वह प्रिय सुख का उत्पादन करती वैसे ही सामाजिक में भी उत्पन्न प्रातिभासिक रति काव्य-व्यापार की महिमा से उनमें अलौकिक सुख का उत्पादक हो सकती है । किन्तु करुण आदि रसों के सन्दर्भ में तो सामाजिक में भी प्रातिभासिक शोकादि हीं उत्पन्न होंगे । जैसे नायक में शोकादि दुःख को उत्पन्न करते वैसे हीं सामाजिक में भी उन प्रातिभासिक शोकादि से दुःख हीं उत्पन्न होना चाहिए । ऐसी स्थिति में करुण आदि रसों को सामाजिक में अलौकिकसुख का जनक कैसे माना जा सकेगा ? नायकनिष्ठ शोकादि सत्य (व्यावहारिक) होने से दुःखजनक होते, किन्तु सामाजिकनिष्ठ शोकादि प्रातिभासिक होने से दुःखजनक नहीं होते—यह कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि वैसा मानने पर रज्जुसर्पादि से जो द्रष्टा में भय, कम्पन आदि की उत्पत्ति देखी जाती उसकी व्याख्या न की जा सकेगी । साथ हीं, कल्पित शोकादि को दुःखजनक न मानने पर सामाजिक में कल्पित रति से सुख भी न हो सकेगा । ऐसी स्थिति में सामाजिक में अनिर्वचनीय रत्यादि की उत्पत्ति

दुःखम्, न सहृदयस्येति वाच्यम्। रज्जुसर्पादेर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः। सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखकनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्? सत्यम्। शृंगारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तर-काव्यव्यापारस्यैंवाह्लादप्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्। अथ यद्याह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति।

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थान्
आसेदुषोः सद्मसु चित्रवन्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यापि दण्डकेषु
सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥ इति।

एतेन व्यञ्जनाऽजन्यदुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादेर्न रसत्वमित्यपि सूचितं भवतीति वेदितव्यम्, तस्य स्वोत्तरभाविनाऽलौकिकाह्लादेन भेदाऽग्रहाऽसम्भवात्। यस्तूत्तर-कालिकस्तद्रत्यादिजन्माऽऽनन्दः स तु लौकिक एवेति विवेचनीयम्। उभयम् = रत्यादे-राह्लादः शोकादेर्दुःखं च।

मानकर भी करुण आदि रसों के सन्दर्भ में अलौकिक सुख का समर्थन कैसे सम्भव है? इसका समाधान निम्नलिखित है—करुण आदि रसों के सन्दर्भ में दो पक्ष हैं, एक तो शृंगारादि की तरह वहाँ भी सुख माना जाय और दूसरे यह कि वहाँ विलक्षण दुःख हीं, सुख नहीं, माना जाय। इनमें यदि प्रथम पक्ष सहृदयों के अनुभव से समर्थित हो तब तो जिस प्रकार अलौकिक काव्यव्यापार (व्यञ्जना)[1] को सामाजिकमें उत्पन्न प्रातिभासिक रत्यादि से विलक्षण सुखजनकता का प्रयोजक माना जाता उसी प्रकार उसी काव्यव्यापार को (सामाजिकनिष्ठ शोकादि में भी विलक्षण सुखजनकता का प्रयोजक मानने के साथ-साथ) उन (शोकादि) में दुःखजनकता का प्रतिबन्धक भी मानना होगा, क्योंकि जैसा कार्य देखा जाता तदनुरूप कारण की भी कल्पना करनी होती है। काव्यव्यापार की अलौकिकता का यह भी एक लक्षण है कि वह व्यापार स्वविषयीभूत नायकनिष्ठ रत्यादि से जिस सामाजिकनिष्ठ रत्यादि का एकत्वज्ञान होता उसमें सुखजनकता और शोकादि में सुखजनकता के साथ-साथ दुःखजनकता के अभाव का भी प्रयोजक है। यह स्थिति किसी अलौकिक पुरुष के व्यवहार से भी समर्थित है। अतः सामाजिक में

---

१. विश्वनाथ के अनुसार लौकिक पदार्थ को अलौकिक विभावादिरूप देने वाले विभावन आदि व्यापार हीं प्रकृत व्यापार हैं।

अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुम्, कथं प्रवृत्तिः, अनिष्ट-साधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वात् इति चेत् ? इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च

करुणादौ दुःखाङ्गीकारे तत्प्रधानकाव्ये कथं सामाजिकानां कवीनां च प्रवृत्ति-रित्याशङ्कते—अथेत्यादिना । श्रोतुमित्युपलक्षणम् द्रष्टुमित्यपि बोध्यम् । समाधत्ते—इष्टस्येत्यादिना । चरमफलज्ञानकाल एव प्रायेण दुःखम्, पूर्वमङ्गरसा-द्यनुभवकाले च सुखमेव जायत इति भवतीष्टस्याधिक्यमनिष्टस्य चाल्पीयस्त्वम् । तथा च बलवदनिष्टानुबन्धित्वाभावात् करुणादिप्रधानकाव्याद्यध्ययनादावपि

उत्पन्न शोकादि भी रत्यादि की तरह विलक्षण सुख को हीं उत्पन्न करते, दुःख को नहीं। इसके विपरीत यदि द्वितीय पक्ष, अर्थात् करुण आदि रस दुःखात्मक हीं होंते—यह पक्ष प्रामाणिक हो तब तो जैसे सुख के प्रसिद्ध कारण रत्यादि से सामा-जिक को सुख होता वैसे हीं दुःख के कारण के रूप में प्रसिद्ध शोकादि से सामाजिक को दुःख का हीं अनुभव होगा।

इस प्रकार यदि करुण आदि रसों को दुःखस्वरूप मान लिया जाय तब करुणादि-रसप्रधान काव्यों और नाटचों की रचना में कवियों की और उस प्रकार के काव्यों के अध्ययन तथा नाटचों के दर्शन में सहृदयों की भूयो भूयः प्रवृत्ति की व्याख्या की समस्या उठ खड़ी होती। कारण यह है कि कवियों की काव्य-नाटच की रचना में प्रवृत्ति का अन्यतम प्रयोजन है रसिकों को आनन्दित करना जो दुःखप्रद करुणादि-प्रधान काव्यों-नाटचों द्वारा सिद्ध हो नहीं सकेगा। इसी प्रकार, प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनताज्ञान के कारण होने से अनिष्टसाधनीभूत करुणादिप्रधान काव्यादि के अध्ययनादि में यदि अज्ञानवश सहृदयों की एक बार प्रवृत्ति हो भी जाय तो भी दूसरी बार तो उनकी प्रवृत्ति कथमपि नहीं होनी चाहिए थी, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि उक्तविध काव्यादि के अध्ययन-दर्शन में सहृदयों की बार-बार प्रवृत्ति होती हीं है। करुणादिरसप्रधान काव्यादि के दुःखप्रद होने पर यह कैसे सम्भव है ? इसका यही समाधान है कि यदि किसी विषय में सुख अधिक और दुःख स्वल्प हो तो उसमें प्रवृत्ति होती हीं है। जैसे चन्दन-घर्षणादि में स्वल्प दुःख होने पर भी उसकी सुगन्धि और शीतलता आदि से होने वाले सुख की मात्रा की अधिकता होने से उसमें प्रवृत्ति लोकसिद्ध है उसी प्रकार करुणादिप्रधान काव्यादि के अध्ययन-दर्शन में अन्तिम फल के दुःखद होने पर भी आदि के कथांशों तथा अङ्गरसाभिव्यक्ति आदि में भी यथासम्भव सुख होने से सुख का आधिक्य और दुःख का अल्पत्व स्पष्ट होने के कारण वैसे काव्यादि के अध्ययननादि में सहृदयों की भूयो भूयः प्रवृत्ति होना सम्भव है। वस्तुतः उक्तविध काव्यादि के अध्ययनादि में सहृदयों की भूयो भूयः

न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः। केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव। अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात्। अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्वर्णनाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति।

न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिमद्दशरथादितादात्म्यारोपे यद्याह्लादस्तदा स्वप्नादौ संनिपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितीहापि तदेव युक्तमिति वाच्यम्। अयं हि लोकोत्तरस्य

सचेतसां प्रवृत्तिरुपपन्नैव। ये तु रसमात्रं सुखरूपं मन्यन्ते तन्मते तु तत्र प्रवृत्तिरनिष्टसाधनताज्ञानाभावान्निष्प्रत्यूहं भवत्येवेत्याह—केवलेत्यादिना। ननु यदि करुणप्रधानकाव्याद्यध्ययनादपि सुखमेव जायते तर्हि कथन्तदध्ययनादेरश्रुपातादयो जायन्ते, तेषां दुःखैकमात्रजन्यत्वादित्याशङ्कां व्यभिचारप्रदर्शनद्वारा समाधत्ते—अश्रुपातेत्यादिना। ननु यद्यानन्दानुभवादपि भवन्त्यश्रुपातादयस्तर्हि श्रृङ्गारादावपि ते स्युरित्यत आह—तत्तदिति। शोकादिभावनाजन्यप्रातिभासिकशोकादिविषयकानुभवजन्यानन्द एवाश्रुपातादिजनकत्वं कार्यानुरोधेन कल्प्यत इत्यतो न श्रृङ्गारादौ तत्प्रसक्तिरित्याशयः।

करुणादौ सुखाभावप्रसाधकं पूर्वपक्षान्तरं निरस्यति—नचेत्यादिना। सन्निपातो ज्वरविशेषः, आदिपदात् शोकादिजनकरोगान्तरपरिग्रहः। ननु भवतु स्वप्नादावपि शोकादिजन्यं सुखमेवेत्यत आह—आनुभविकमित्यादि। तथा चानुभवविरुद्धत्वान्न तत्र सुखमभ्युपगन्तुं शक्यम्, तदनुरोधेन च करुणादावपि न सुखाभ्युपगम उचित इति पूर्वपक्षाशयः। अमुमेव पूर्वपक्षं न च वाच्यमित्यनेन निराचष्टे। निराकरणे हेतुमाह—अयं हीत्यादिना। काव्य-

---

प्रवृत्ति से हीं वहाँ सुख के आधिक्य की अनुमिति कथञ्चित् करनी चाहिए। जो आचार्य करुणादि रसों को भी आह्लादस्वरूप हीं मानते उनके मत में तो प्रवृत्ति, विना किसी प्रतिबन्ध के, उपपन्न है हीं, क्योंकि इस पक्ष में अनिष्टसाधनताज्ञान, जो प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक है, नहीं होता। अब प्रश्न यह है कि करुणरसप्रधान काव्यादि के अध्ययनादि से सहृदयों में जो अश्रुपातादि देखे जाते वे कैसे सम्भव हैं, क्योंकि ये तो दुःख के चिन्ह हैं न कि सुख के; ऐसी स्थिति में करुणादि रसों को सुखस्वरूप कैसे माना जा सकता? इसका उत्तर यही है कि ये अश्रुपादि दुःखमात्र से नहीं, अपि तु सुख से भी होते। क्या भगवत्कथाश्रवण में भी भक्तों को कुछ दुःख होता? फिर भी अश्रुपात आदि तो उस समय भी होते हीं। अतः सुखस्वरूपता में अश्रुपातादि को प्रतिकूल लक्षण नहीं कहा जा सकता॥

काव्यव्यापारस्य महिमा यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्थ आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। विलक्षणो हि कमनीयः काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्। जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादि-विषयकत्वम्। तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः। शकुन्तलादावगम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धया प्रति-बध्यते' इत्याहुः ॥

(४) परे तु 'व्यञ्जनव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागु-क्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयक-

---

व्यापारस्य = व्यञ्जनायाः। **अरमणीया** इति। लोके दुःखजनकत्वेन प्रसिद्धा अपीत्यर्थः। प्रमाणान्तरजात् = प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्यात्। शोकाद्यास्वादस्य काव्य-व्यापारजन्यत्वं कथमुक्तं तस्य सामाजिकतन्निष्ठानिर्वचनीयशोकादिजन्यत्वादित्यतः काव्यव्यापारजन्यत्वं परिष्करोति—**जन्यत्वमित्यादिना**। स्वं काव्यव्यापारो व्यञ्जना, तज्जन्या रत्यादिभावना तज्जन्यः सामाजिके प्रातिभासिको रत्यादिस्त-द्विषयकत्वं तदास्वादस्येति काव्यव्यापारस्यास्वादजनकत्वं परम्परया समागत-मित्यर्थः। यद्यपि भावनाऽपि न काव्यव्यापारजन्या तथापि विषयतया भावना-जनकीभूतदुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादेरभिव्यञ्जकतया व्यञ्जनाया भावनाजनकत्वमुक्त-मित्यपि बोध्यम्। भावनारूपदोषविशेषमहिम्ना सामाजिके दुष्यन्तत्वोत्पत्तिद्वारेण या दुष्यन्ताभेदबुद्धिरहं दुष्यन्त इत्याकारिका तस्याः प्रभावेण शकुन्तलादावगम्यात्व-प्रकारकज्ञानाभावमुपपादयति—**शकुन्तलादावित्यादिना**। अगम्यात्वप्रकारकज्ञाने हि सति तद्विषयकरतिमत्त्वबोधाभाव एव सामाजिकानां स्यादित्यर्थः ॥

भावनारूपदोषवशात् सामाजिकेऽनुत्पन्नस्यैव रत्यादेर्भ्रमात्मको बोधः 'अहं शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तः' इत्याद्याकारको रस इति चतुर्थं मतमाह—**परे त्वित्यादिना**। अत्र च मते दुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादिरनुमेय एव, व्यञ्जनाया अनभ्युप-गमात्। भावनावशात् स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदभ्रमे कृते सामाजिके प्रातिभासिकरत्या-द्युत्पादाभ्युपगमेनेति मतस्यैतस्य सारम्। तदेतदाह—**व्यञ्जनव्यापारेत्यादिना**।

कुछ अन्य आचार्य तो रस के विषय मे यह मानते हैं—दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि के बोध के लिए व्यञ्जना वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। रत्यादि-बोध तो अनुमान से हीं सम्भव है। इसी तरह सामाजिक में प्रातिभासिक रत्यादि की उत्पत्ति मानने का भी कोई प्रयोजन नहीं है। तब सामाजिक को रस-प्रतीति कैसे होती—इस प्रश्न के उत्तर में यही समझना चाहिए कि सर्वप्रथम काव्य के अध्ययन या श्रवण से सामाजिक को दुष्यन्तादि तथा उनके रत्यादि के व्याप्य चेष्टा आदि का शाब्द ज्ञान होता। नाटच के अवलोकन से तो

रत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः। स्वाप्नादिस्तु तादृशबोधो न काव्यार्थचिन्तनजन्मेति न रसः। तेन तत्र न तादृशाह्लादापत्तिः। एवमपि स्वस्मिन्नविद्यमानस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात् ? मैवम्। न ह्ययं लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, येनावश्यं

अनिर्वचनीयख्यातेः—सामाजिकेऽनिर्वचनीयरत्यादिप्रतीतेस्तत्समकालिकतदुत्पत्तेश्च। प्रागुक्तोदोषोऽत्र रत्यादिभावनात्मकः। मानस इति आत्माश्रयत्वाद्रत्यादिबोध-स्योक्तम्। काव्यार्थभावनेति। काव्यस्य वाच्यो लक्ष्यो वा योऽर्थस्तस्यानुसन्धानम्। इयं च भावना प्रागुक्तदोषात्मकभावनाया अनुमितरत्यादिविषयिकाया अभिन्नैवेति बोध्यम्। इयमेव ज्ञानलक्षणसन्निकर्षः। विलक्षणेति। विषयतायां वैलक्षण्यं चात्राऽसद्विषयाश्रितत्वमेव बोध्यम्। भ्रम इति। तथा च विषयसद्भावाऽभावेपि यथा शुक्तिरजतस्य चाकचिक्यदर्शनसमुद्बोधितरजतविषयकसंस्कारजन्यस्मरणात्मक-ज्ञानलक्षणजन्यो भ्रमात्मकः साक्षात्कारोऽलौकिको नैयायिकादिभिः स्वीक्रियते तथैव प्रकृतेऽपीति भावः। धर्म्यंशे त्वयमपि बोधः साक्षात्कारात्मको लौकिक एवेति बोध्यम्। अत्र च मते बोधस्यैवास्वादरूपस्य रसत्वाभ्युपगमाद् 'रसस्यास्वादः' इति

दुष्यन्तादिस्थानीय नट की दुष्यन्तादिचेष्टासदृश चेष्टा आदि को देखकर दुष्यन्तादि की रत्यादिव्याप्य चेष्टा आदि की अमुमिति और उस अनुमित चेष्टादि से दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि की अनुमिति हो जाती है। उसके बाद जब सामाजिक उस रत्यादि की भावना करता तब इसी भावनास्वरूप दोष के प्रभाव से सामाजिक को दुष्यन्तादि के साथ अपने तादात्म्य का भ्रम होता और वह अपने को शकुन्तला-दिविषयक रत्यादि से युक्त समझने लग जाता। यह समझना मानस बोध है, क्योंकि रत्यादि का आत्मनिष्ठ पदार्थ के रूप में बोध मनोजन्य हीं हो सकता है। इस बोध के विषय अपने में वस्तुतः अविद्यमान रत्यादि में जो विषयता होती वह सद्विषय-निष्ठ विषयता से विलक्षण हीं होती। अविद्यमान रत्यादि जो सामाजिक के बोध का विषय होता वह काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसन्धान (=भावना) के कारण। (यही अनुसन्धान ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष का कार्य करता जिससे सामाजिक को आत्मनिष्ठ रूप में रत्यादि का अलौकिक प्रत्यक्ष होता।) उक्त रत्यादिबोध हीं 'रस' है। स्वप्न आदि में भी यद्यपि 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याद्याकारक बोध हो सकता है तथापि उसे 'रस' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह काव्यार्थभावना से उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् उस बोध में विशेषणीभूत रत्यादि का ज्ञानलक्षणसन्निकर्षजन्य अलौकिक साक्षात्कार नहीं होता। अतः स्वाप्नादि-बोध को 'रस' कहना सम्भव नहीं। इसलिए स्वाप्नादि-बोध में लोकोत्तर आह्ला-

विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात्। अपि तु भ्रमः। आस्वादनस्य रसविषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बनः' इत्यपि वदन्ति ॥

एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मितावच्छेदकशकुन्तलादिविषयकरतिवैशिष्ट्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्टदुष्यन्ततादात्म्यावगाही, स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वशकुन्तलाविषयकरत्यौर्वै-

---

व्यवहार आस्वादविषयीभूते रत्यादौ रसत्वारोपनिबन्धन इत्याह—आस्वादनस्येत्यादिना। 'राहोःशिरः' इतिवदभेदार्थिकैव रसस्येति षष्ठीत्यपि समाधानान्तरमूह्यम्।

विशेषणविशेष्यभावे विनिगमकाभावादुक्तबोधस्य रसत्वेनाभिमतस्य त्रैविध्यं दर्शयति—एतैश्चेत्यादिना। 'दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान्', 'शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तोहम्', 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमांश्च' इति क्रमेण बोधत्रयम्। प्रथमे बोधे रतिनिष्ठा प्रकारता, तन्निरूपिता धर्मिता (=विशेष्यता) अहम्पदार्थे सामाजिके तस्या अवच्छेदकं दुष्यन्तत्वम्। अतोत्र दुष्यन्तत्वं धर्मितावच्छेदकं यस्य रत्याख्यस्य धर्मस्य तस्य वैशिष्ट्यं (दुष्यन्तवत्वशिष्टे) अहम्पदार्थे भासते। अतोऽयं बोधो दुष्यन्यत्वविशिष्टे रतिवैशिष्ट्यावगाही भवति। अत एवात्र प्रथमं स्वात्मनि दुष्यन्तत्वस्य तदनन्तरं च दुष्यन्तत्वविशिष्टे स्वात्मनि प्रकारतया रतेर्भानमिति भावः। द्वितीये रतिर्दुष्यन्ते विशेषणम्, तादृशश्च दुष्यन्तः स्वात्मनि अभेदेन विशेषणमिति स्वात्मत्वमेव विशेष्यतावच्छेदकमत्र। रतेश्च स्वात्मविशेषणीभूते दुष्यन्ते विशेषणत्वेन विशेषणताऽवच्छेदकत्वम्। विशेषणे यद् विशेषणं तदेव विशेषणतावच्छेदकमित्युच्यते। अतोऽत्र रतिविशिष्टस्य दुष्यन्तस्य स्वात्मनि वैशिष्ट्यं भासते। तृतीये च बोधे दुष्यन्तत्वं रतिश्च स्वात्मनि प्रकारतया भासेते। व्यञ्जनाया अत्र मतेऽनभ्युपगमात् कथं रत्यादि-

---

दात्मकता नहीं आती। अब प्रश्न यह है कि जब सामाजिक में शकुन्तलादिविषयक रत्यादि रहता हीं नहीं तो उसे उसका उपर्युक्त बोध होता कैसे। इसका उत्तर यही है कि लौकिक प्रमात्मक साक्षात्कार के लिए हीं विषय का अस्तित्व आवश्यक होता। भ्रमात्मक साक्षात्कार में तो विषय का अस्तित्व होता हीं नही। उस मे तो ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से असद् विषय का हीं भ्रमात्मक अलौकिक साक्षात्कार होता। जैसे—शुक्ति में रजत का भ्रमात्मक साक्षात्कार। वहाँ शुक्ति और रजत दोनों के चमकीले होने से चमकीली शुक्ति को देख कर (और दोष के कारण शुक्तित्व का ज्ञान न होने से) पूर्वानुभूत देशान्तरीय रजत का स्मरण होता। यतः 'इदं रजतम्' यह बोध प्रत्यक्षात्मक है और वहाँ रजत के न होने से उसके साथ द्रष्टा के चक्षुका लौकिक संयोग सन्निकर्ष हो नहीं पाता। अतः रजतस्मरणस्वरूप ज्ञान हीं चक्षु और वहाँ

शिष्टयावगाही, वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाभ्युपेयः। तत्र रतेर्विशेषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद्व्यञ्जनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम् ॥

बोधः सामाजिकस्येत्युपपादयति—रतेरित्यादिना। अत्र च मते नटेऽपि शङ्कुकमतवच्चित्रतुरगादिन्यायेन दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिः स्वीकर्त्तव्या, तदभावे नटचेष्टादिभिर्दुष्यन्तनिष्ठरतेरनुमित्यसम्भवादिति ध्येयम्। यद्वा सादृश्यादिना नटचेष्टादौ दुष्यन्तादिचेष्टादितादात्म्यारोपाद् भेदाग्रहाद्वा नटे दुष्यन्तादितादात्म्यारोपस्तद्भेदाग्रहो वा मन्तव्यः। अत्र च पक्षे दुष्यन्तादौ नटसमवेतचेष्टादेरभावादेतच्चेष्टादेर्हेत्वाभासत्वेन दुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादेरनुमितिरपि यद्यप्याभासरूपैव तथापि तत्र रत्यादिसत्त्वं न विरुध्यते, बाधातिरिक्तहेत्वाभासानां साध्यसाधकत्वाभावेऽपि साध्याऽभावाऽसाधकत्वात्। अथवा रत्यादिवासनावतः सामाजिकस्य नटे रत्यादिव्याप्यचेष्टासदृशचेष्टादर्शनाद्दुष्यन्तादिनिष्ठतादृशचेष्टानुमितिः, तस्याश्च दुष्यन्तादिनिष्ठरत्याद्यनुमितिः सुलभैवेति व्याख्येयम् ॥

अविद्यमान रजत के बीच सन्निकर्ष का कार्य करता। यद्यपि इस ज्ञान में इदम्पदार्थ के साथ चक्षु का संयोग और अविद्यमान किन्तु स्मर्यमाण रजत के साथ ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष होता तथापि 'इदं रजतम्' इत्यकारक ज्ञान एक हीं होता, दो नहीं, क्योंकि अनेक सन्निकर्षो से एक ज्ञान की उत्पत्ति विषयान्तर में भी प्रसिद्ध है। इसी से यह भी स्पष्ट है कि इस मत में जिस रत्यादिबोध को रस कहा गया है उस बोध में धर्मी अहम्पदार्थ का तो लौकिक सन्निकर्ष-संयोग से मन द्वारा प्रत्यक्ष होता जब कि धर्म—विशेषणीभूत रत्यादिका ज्ञानलक्षणसन्निकर्षजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष हीं होता। परन्तु उभयसन्निकर्षजन्य यह मानस साक्षात्कार एक है, अनेक नहीं—यह पहले हीं कहा जा चुका है। साथ हीं, यह बोध भ्रमात्मक है, क्योंकि जिस रत्यादि का स्वनिष्ठ रूप में बोध होता वह वस्तुतः सामाजिक में रहता नहीं। ज्ञानलक्षण-सन्निकर्षजन्य बोध भी यथार्थ हो सकता है यदि उसका विषय जहाँ ज्ञात हो रहा है वहाँ सत् हो। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है 'सुरभि चन्दनम्' यह प्रत्यक्ष। इस मत में आस्वादात्मक बोध के ही 'रस' होने से रस तथा आस्वाद दोनों एक वस्तु के ही दो नाम हैं, रस विषय हो और आस्वाद रसविषयक बोध हो—ऐसा नहीं। अतः 'रस का आस्वाद होता है' यह प्रसिद्धि औपचारिक है, वास्तविक नहीं। जिस रत्यादि के बोध को रस कहा जाता वह रत्यादि हीं औपचारिक रूप में 'रस' कहलाता जिसको विषय बनाते वाला है, आस्वादात्मक बोध (=रस)।

उक्त रसात्मक बोध के तीन रूप हो सकते हैं—(१) "दुष्यन्तोऽहं शकुन्तला-

(५) 'मुख्यतया दुष्न्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते'

लोल्लटाद्यनुसारेणाह—मुख्यतयेत्वादि। रसो रत्यादिरितिवचनेनास्मिन् मते स्थायिभाव एव रसो न तु बोधात्मकः पूर्वमतवदिति स्पष्टम्। कमनीयेत्यादि। कमनीयो यो विभावादीनामभिनयस्तत्प्रदर्शने कोविदो निपुणस्तस्मिन्। अभिनयप्रदर्शनकोविदत्वेनेदं बोध्यते यन्नटकर्तृकाभिनयस्य कृत्रिमत्वेऽप्यकृत्रिमवत् प्रतीतिः सामाजिकानामिति नटे दुष्यन्तत्वारोपः सुकर इति। दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमानिति प्रत्यक्षाकारप्रदर्शनेन चेदमपि स्पष्टमेव यत्प्रथमं नटे दुष्यन्तत्वारोपस्तदनन्तरं च तस्मिन् शकुन्तलाविषयकरत्यारोपः। एतच्च ज्ञानं सामाजिकानां जायमानं साक्षात्कारात्मकम्, तच्चेदम्पदार्थोपस्थितस्य चक्षुषा संयोगात्तदंशे लौकिकम्, आरोप्यस्य च रतेस्तद्वतो दुष्यन्तत्वस्य च चक्षुषा सह संयुक्तसमवायो न सम्भवति, तयोरारोप्ययोस्तत्राऽसत्त्वात्। अत आरोप्येण सह चक्षुषो ज्ञानलक्षणात्मकोऽलौकिक एक एव सन्निकर्ष इत्युभाभ्यामपि सन्निकर्षाभ्यामेकमेव पूर्वोक्तवत्साक्षात्कारात्मकं भ्रमज्ञानं जायते। यच्च रत्यादिज्ञानं सन्निकर्षस्थानीयं

विषयकरतिमान्", (२) "शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्तोऽहम्" और (३) "अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमांश्च।" प्रथम बोध में अहम्पदार्थ धर्मी, दुष्यन्तत्व धर्मितावच्छेदक है। अतः दुष्यन्तत्वविशिष्ट अहम्पदार्थ में रतिका वैशिष्टय–सम्बन्ध विषय होता। अतः इसमें पहले दुष्यन्तत्व का और उसके बाद रति का सम्बन्ध प्रकट होता। द्वितीय बोध में रति दुष्यन्त का विशेषण है और रतिविशिष्ट दुष्यन्त अहम्पदार्थ का विशेषण है। इसमें विशेषण (दुष्यन्त) का विशेषण होने से रति को विशेषणतावच्छेदक कहा जाना चाहिए। तृतीय बोध में रति तथा दुष्यन्त दोनों हीं अहम्पदार्थ के विशेषण हैं। इस मत में रति का बोध दुष्यन्तादिनिष्ठ तत्त्व के रूप में अनुमान प्रमाण द्वारा पहले होता और बाद में भावना के आधार पर दुष्यन्त से अपना भेद न समझने के कारण सामाजिक को ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से उसका अलौकिक प्रत्यक्ष होता। इस अनुमान में हेतुभूत है दृश्य काव्य में दुष्यन्तस्थानीय नट में दुष्यन्तचेष्टासदृश चेष्टा (का ज्ञान) और श्रव्य (या पाठ्य) काव्य में शब्द से होने वाले दुष्यन्त की चेष्टा का ज्ञान॥

अब ग्रन्थकार भरतसूत्र के एक व्याख्याकार लोल्लट के मत को प्रस्तुर कर रहे हैं—रसस्वरूप रत्यादि वास्तविक रूप में तो दुष्यन्तादि में हीं रहते। किन्तु विभाव आदि के रोचक (अत्यन्त स्वाभाविक) अभिनय के प्रदर्शन में निपुण नटों में पहले दुष्यन्तादि के सादृश्यातिशय के कारण दुष्यन्तत्व आदि का आरोप सहृदय

इत्येके। मतेऽस्मिन्साक्षात्कारो दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलादिविषयकरतिमानि-त्यादिः प्राग्वद्धर्म्यंशे लौकिक आरोप्यांशे त्वलौकिकः॥

तत्काव्यात्मकशब्दजन्यं नटवृत्तिदुष्यन्तादिचेष्टालिङ्गकानुमितिर्वा। यद्वा नटे दुष्यन्तत्वारोपप्रयुक्त एव नटचेष्टादौ दुष्यन्तचेष्टादिभेदाऽग्रहस्तदेकत्वाध्यवसायो वेति सुलभा रत्याद्यनुमितिः। अनुमितिपक्षेऽपि न तावन्मात्रेण विश्रान्तिः, परोक्षात्मिकाया अनुमितेरलौकिकास्वादाननुभवादिति साक्षात्कारपर्यन्तानुधावनम्। तथा चास्मिन् मते दुष्यन्तादिनिष्ठरत्यादिरेवारोपितदुष्यन्तादितादात्म्ये नटे समारोपितः सामाजिकैः साक्षात्क्रियमाणो रस इति प्रतिफलति॥

आरोपितदुष्यन्तत्वे नटे रत्यनुमितेर्न ज्ञानलक्षणसन्निकर्षत्वम्, लौकिकाऽनुभवसामग्र्या अलौकिकानुभवसमग्रीतो बलवत्त्वात्; अत एव पर्वतो वह्निमानित्यादौ न वह्निस्मृतेर्ज्ञानलक्षणसन्निकर्षत्वमाश्रित्य वह्निप्रत्यक्षमपि त्वमुमितिरेव; लौकिक-प्रत्यक्षसामग्र्या अनुमितिसामग्रीतो बलवत्त्वमपि समानविषयकत्वे सत्येव, नान्यथेति धर्मिणो लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वेपि तन्निष्ठत्वेनाभिमतरत्यादेरनुमितिसामग्र्या एव सत्त्वेन रत्यादेरनुमितिरेव, न प्रत्यक्षं लौकिकम्, तद्विषयकलौकिप्रत्यक्षसामग्र्य-

---

कर लेते जिसके कारण दुष्यन्तादिनिष्ठ रत्यादि का भी नटों में आरोप स्वतः प्राप्त हो जाता। अब नटनिष्ठ आरोपित रत्यादि का सहृदयों को होने वाला ज्ञान—'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमाम्' यतः साक्षात्कारात्मक है। अत एव इसे ज्ञानलक्षणन्निकर्ष द्वारा होने वाला अलौकिक साक्षात्कार माना जाता, क्योंकि परगत रत्यादि आन्तरिक पदार्थों के साथ सहृदयों के इन्द्रिय का कोई लौकिक सन्निकर्ष बन नहीं सकता। यह साक्षात्कार भी प्रमात्मक न होकर भ्रमात्मक है, क्योंकि जिस नट में रत्यादि का साक्षात्कार होता उसमें रत्यादि हैं नहीं। यदि उसमें अन्य प्रकार के रत्यादि हों भी तब भी शकुन्तलादिविषयक रत्यादि, जिनका अलौकिक साक्षात्कार होता वे तो निश्चित हीं नहीं हैं। हाँ, रत्याभास हो सकता है नट में भी, किन्तु उसके साक्षात्कार को रससाक्षात्कार नहीं कहा जा सकता। अतः यह रत्यादिसाक्षात्कार शुक्ति में रजतत्व-साक्षात्कार के समान भ्रमात्मक होता। आनन्द तो भ्रमज्ञान से भी होता हीं है। उक्त साक्षात्कार में भी, पूर्वनिर्दिष्ट मत के समान, अलौकिकता केवल धर्मांश—आरोपित रत्यादि में हीं है, धर्मी—दुष्यन्त के रूप में प्रतीयमान इदम्पदार्थ नट के अंश में तो लौकिकता हीं है, क्योंकि उसके साथ तो सहृदय के चक्षु का संयोगात्मक लौकिक सन्निकर्ष होता हीं है॥

भरतसूत्र के अन्य व्याख्याकार शङ्कुक आदि का रसास्वाद विषयक-मत लोल्लट-

(६) 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभिः

भावात्; यदापि साध्यधर्मविशिष्टधर्मिणोऽनुमेयत्वं तदाऽपि नटमात्रविषयकलौकिक-प्रत्यक्षसामग्र्या रत्यादिविशिष्टनटानुमितिसामग्रीबाधकत्वं न, समानविषयत्वाभावात्; अलौकिकप्रत्यक्षसामग्री तु तद्विषयविशिष्टविषयकलौकिकानुभवसामग्र्याऽपि बाध्यत एव, अनुभवबलादिति न लोल्लटाद्यभिमतो रत्यादिः साक्षात्क्रियमाणोऽपि त्वनुमीयमान एव रसः, अनुमीयमानस्यापि रत्यादेरलौकिकाह्लादजनकत्वन्तु विषयस्वभावबलादेवास्थेयमिति मन्यमानानां शङ्कुकादीनां मतं प्रस्तौति—दुष्यन्तादिगत इत्यादिना। अत्रापि मते रत्यादिरेव रस इति स्पष्टमेव। दुष्यन्तत्वेन गृहीत इति। दुष्यन्तत्वग्रहश्च नटे मुख्यतः शब्दादेव। क्वचित् पूर्ववासनाऽपि निमित्तभावमुपयात्यत्र। पोषितश्चायं दुष्यन्तचेष्टादिसदृशचेष्टादि-

आदि के मत से कुछ भिन्न है। जहाँ तक रत्यादिस्वरूप रस के मुख्य आश्रयों की बात है वह तो पूर्ववत् दुष्यन्त आदि हीं है। दुष्यन्त तथा शकुन्तला आदि के स्वाभाविक क्रियाकलापों के अभिनय में पूर्ण सफल नट-नटी आदि में सादृश्यातिशय के कारण दुष्यन्तत्व-शकुन्तलात्व आदि का समारोप तथा नट-नटी के चेष्टादि में दुष्यन्त-शकुन्तला आदि के चेष्टादि का आरोप भी पूर्ववत् इन्हें मान्य है। किन्तु सहृदयों को जो—'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषतकरतिमान्' इत्याकार बोध होता वह अलौकिक भ्रमात्मक साक्षात्कार नहीं, अपि तु अनुमित्यात्मक है। इसका कारण यह है कि अलौकिकसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष का लौकिक अनुभव की सामग्री बाधक होती। इसी लिए 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि स्थलों में व्याप्तिस्मरणरूप ज्ञान को अलौकिक सन्निकर्ष मानकर नैयायिक वह्नि का अलौकिक प्रत्यक्ष नहीं, अपि तु अनुमिति हीं मानते। अतः जहाँ 'सुरभि चन्दनम्' आदि में सुरभि अंश का अलौकिक प्रत्यक्ष मान्य है वहाँ अनुमितिसामग्री का फल के आधार पर अभाव मानना चाहिए। हाँ, लौकिक-प्रत्यक्ष की सामग्री अन्य परोक्षज्ञान की सामग्री से प्रबल अवश्य है। इसी लिए कहीं यदि किसी विषय के प्रत्यक्ष और अनुमित्यादि की भी सामग्रियाँ समानकाल में उपस्थित होतीं तो वहाँ उस विषय का प्रत्यक्षज्ञान हीं होता, अनुमित्यादिस्वरूप परोक्षज्ञान नहीं। अत एव न्यायदर्शन के प्रत्यक्ष सूत्र की तात्पर्यटीका में वाचस्पति मिश्र ने अपने आचार्य की उक्ति उद्धृत की है—

शब्दजत्वेन शाब्दं चेत् प्रत्यक्षं चाक्षजत्वतः।
स्पष्टग्रहणसम्बन्धाद् युक्तमैन्द्रियकं हि तत्॥

किन्तु यह बाध्यबाधकभाव विरोध होने पर हीं होता है, अन्यथा नहीं। विरोध समानविषयता होने पर हीं सम्भव है, इसके विना नहीं। अतः 'पर्वतो वह्निमान्'

कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्रया बलवत्त्वादनुमीयमानो रसः' इत्यपरे ॥

(७) 'विभावादयस्त्रयः समुदिता रसाः' इति कतिपये ॥ (८) 'त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोऽपि न' इति वहवः ॥ (९) 'भाव्य-

---

बोधेन । अकृत्रिमतयेति । अत्र हेतुरभिनयपाटवादिः । शेषो ग्रन्थो व्याख्यातप्रायः । अनुमानप्रयोगश्च—दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तद्रतिव्याप्यचेष्टादिमत्त्वात्, तादृशचेष्टादिमत्पुरुषान्तरवत् । यद्वा आत्मैव दृष्टान्तोऽत्र । अत्र च नटे दुष्यन्ततदीयशकुन्तलाविषयकरतेः, तद्व्याप्यचेष्टादेश्च पूर्वारोपसादृश्यादिनैकत्वाध्यवसायादारोपितत्वेनेयमनुमितिः भ्रमात्मिकैव, न प्रमात्मिकेति स्पष्टम् । अत्र प्रयोगे ऐतिहासिकदुष्यन्तस्य दृष्टान्तत्वं रसचन्द्रिकायामुक्तं विज्ञैर्विवेचनीयम् ॥

सप्तमं मतमाह—विभावादय इत्यादिना । समुदिता इत्यनेन प्रत्येकं रसत्वनिरासः । एते समुदिता रस्यमानत्वाद्रसा इत्यभिप्रायः । एतेषां समुदितानां रसनमेव तदास्वाद इति बोध्यमत्र मते । पुनर्मतान्तरमाह—त्रिष्वित्यादिना । विभावानुभावव्यभिचारिषु य एव कविकल्पनातिशयावाप्तप्रकर्षाच्चमत्कारजनकः स एव रस्यमानत्वाद्रस इत्याशयः । अत्रापि मते रसनमेवास्वादो मन्तव्यः । अतः परं सूत्रप्रतिकूलानि मतानि । तत्र प्रामुख्याद्विभावस्यैव रसत्वमिति मतान्तरमाह—

इस ज्ञान में पर्वतविषयक प्रत्यक्षसामग्री वह्निविषयक अनुमिति-सामग्री का बाधक नहीं होती, क्योंकि दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। यदि वह्निविशिष्ट पर्वत को भी अनुमेय माना जाय तो भी समानविषयता नहीं है, क्योंकि पर्वतत्वविशिष्ट पर्वत की प्रत्यक्षसामग्री और वह्निविशिष्ट पर्वत की अनुमिति-सामग्री में भिन्नविषयता के कारण कोई विरोध नहीं है। अतः वह्नि अथवा वह्निविशिष्ट पर्वत की अनुमिति हीं अनुभवसिद्ध है। अत एव यह स्पष्ट है कि भिन्नविषयता होने पर अनुमिति-सामग्री प्रत्यक्ष-सामग्री से प्रबल होती। एवञ्च प्रकृत में नट की प्रत्यक्ष-सामग्री होने पर भी रत्यादिविशिष्ट नट की अनुमिति-सामग्री के विद्यमान होने पर रत्यादिविशिष्ट नट की अनुमिति हीं होती, अलौकिक या लौकिक प्रत्यक्ष नहीं। यही अनुमीयमान रत्यादिस्वरूप स्थायी भाव रसपदवाच्य है और उसकी अनुमिति उस रस का आस्वाद है। अथवा रसानुमिति के पश्चात् होने वाला मानस-प्रत्यक्षात्मक अनुव्यवसाय को ही रसास्वाद कहना चाहिए ॥

कुछ आचार्य विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव इन तीनों को समुदितरूप में ही रस मानते ॥ बहुत से आचार्यो का यो यह मत है कि विभाव आदि तीन

मानो विभाव एव रसः' इत्यन्ये ।। (१०) 'अनुभावस्तथा' इतीतरे ।। (११) 'व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति' इति केचित् ।।

तत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति सूत्रं तत्तन्मत-परतया व्याख्यायते—'विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयोगाद्व्यञ्जना-द्रसस्य चिदानन्दविशिष्टस्थाय्यात्मनः स्थाय्युपहितचिदानन्दात्मनो वा निष्पत्तिः स्वरूपेण प्रकाशनम्' इत्याद्ये । 'विभावानुभावव्यभिचारिणां सम्यक्साधारणात्मतया योगाद्भावकत्वव्यापारेण भावनाद्रसस्य स्थाय्युप-हितसत्त्वोद्रेकप्रकाशितस्वात्मानन्दरूपस्य निष्पत्तिर्भोगाख्येन साक्षात्कारेण

भाव्यमान इति । भावनाविषयीभूतः । विभावस्य प्रामुख्यं च स्यायिभावाश्रयत्वा-द्बोध्यम् । मतान्तरमाह—**अनुभावस्तथेति** । तथा = भाव्यमानः । रस इति शेषः । भाव्यमान इत्यनेन तदभावे न रस्वमिति सूचितम् । अन्त्यं मतमाह—**व्यभि-चार्येवेति** । तथा = भाव्यमानः । तथा = रसरूपेण ।।

तदेवमेकादश मतानि रसविषये पण्डितराजेन वर्णितानि, स्वमतं च प्रथममेव निरूपितम् । एषु चरमाणि त्रीणि मतानि विहायान्येषु भरतसूत्रं यथा व्याख्यातव्यं तदाह—तत्रेत्यादिना । रसस्वरूपविषय इत्यर्थः । अत्र चाद्येष्वष्टसु मतेषु सूत्रस्थ-संयोगनिष्पत्तिशब्दयोरर्थभेदमाश्रित्य सूत्रसमन्वयः प्रदर्श्यते । धातूनामनेकार्थतया चोक्तशब्दद्वयस्य तत्तदर्थपरत्वं स्वीकृतम् । तत्तदर्थश्च पूर्वमेव तत्तन्मतव्याख्यानावसरे

में जो चमत्कारातिशयजनक हो वही रस है । अतः कहीं चमत्कारातिशयजनक विभाव, कहीं वैसा अनुभाव और कहीं तादृश सञ्चारिभाव ही रस है ।। अन्य आचार्यों का मन्तव्य यह है कि भावनाविषयीभूत विभाव हीं रत्यादि का आश्रय होने से रस है ।। कुछ आचार्य अनुभाव के रत्यादि-प्रकाशन में सामर्थ्य प्रकट होने से अनुभाव हीं भावना—पुनः पुनः अनुसंधान के फलस्वरूप रसरूप में परिणत हो जाता ।। जब कि कुछ आचार्य परिपोषक होने से भावना-विषयीभूत व्यभिचारि-भाव का हीं रसरूप मे परिणाम मानते ।।

अब 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतकृत रस-सूत्र की विभिन्नमतानुसारिणी व्याख्या की जा रही है । इस सूत्र में आए 'संयोग,' 'रस' और 'निष्पत्ति' शब्द हीं अनेकार्थक माने गये हैं । प्रथममतानुसारिणी व्याख्या यह है कि विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भाव के संयोग, अर्थात् उन तीनों से व्यञ्जित होने पर, रस, अर्थात् चिदानन्दविशिष्ट रत्यादि स्थायी भाव की अथवा रत्याद्युपहित चिदानन्द की विष्पत्ति, अर्थात् स्वरूपप्रकाशन, होती । द्वितीयमत के अनुसार 'संयोग' का अर्थ है सम्यग्-योग—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों

विषयीकृतिः' इति द्वितीये। 'विभावानुभावव्यभिचारिणां संयोगाद्भावनाविशेषरूपाद्दोषाद्रसस्यानिर्वचनीयदुष्यन्तरत्याद्यात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति तृतीये। विभावादीनां संयोगाज्ज्ञानाद्रसस्य ज्ञानविशेषात्मनो निष्पत्तिरुत्पत्तिः' इति चतुर्थे। 'विभावादीनां सम्बन्धाद्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरारोपः' इति पञ्चमे। 'विभावादिभिः कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैः संयोगादनुमानाद्रसस्य रत्यादेर्निष्पत्तिरनुमितिः, नटादौ पक्ष इति शेषः' इति षष्ठे। 'विभावादीनां त्रयाणां संयोगात्समुदायाद्रसनिष्पत्ती रसपदव्यवहारः' इति सप्तमे। 'विभावादिषु सम्यग्योगाच्चमत्कारात्' इत्यष्टमे। तदेवं

विवृत उपपादितश्चेति नेह पुनः प्रयत्यते तत्र। नटादौ पक्ष इति। एतच्च वस्तुगत्या, न शब्दतः, अनुमितौ हि तस्य दुष्यन्तत्वेनोपस्थितया नटशब्देनानुपात्तत्वात्। तदेवमिति। मिलितानामेव विभावानुभावव्यभिचारिणां रसोपकारित्वे रसत्वे वा सूत्रेण समर्थिते सतीत्यर्थः। त्रिषु मतेषु=प्रत्येकं विभावादीनां रसत्वसमर्थकेषु

की (सम्यक् =) साधारण रूप में (योग=) भावकत्व-व्यापार द्वारा भावना, उससे रस, अर्थात् भोजकत्व व्यापार द्वारा चित्त में हुए सत्त्वगुण के प्रकर्ष से प्रकाशित और रत्यादि से उपहित आत्मस्वरूपानन्द[1], की भोगस्वरूप साक्षात्कार द्वारा निष्पत्ति (स्थाय्युपहित आनन्द को विषय बनाया जाना) होती है। तृतीय मत में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग (=भावनाविशेषस्वरूप दोष) से रस, अर्थात् अनिर्वचनीय रत्यादि, की सामाजिक में निष्पत्ति, अर्थात् उत्पत्ति हीं सूत्रार्थ है। विभाव आदि के संयोग—ज्ञान से ज्ञानविशेषस्वरूप रस की निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है—यह चतुर्थमतानुसारी सूत्रार्थ है। पञ्चममत में विभावादि के संयोग (=सम्बन्ध) से सामाजिक में रत्यादि स्वरूप रस की निष्पत्ति—आरोप ही सूत्र का तात्पर्य है। षष्ठमतानुसारिणी व्याख्या यह है कि कृत्रिम होने पर भी नटादि की अभिनयचातुरी से अकृत्रिम रूप में समझे जाने वाले विभाव आदि के साथ रत्यादि का संयोग=अनुमान=व्याप्ति सम्बन्ध होने से व्याप्य विभावादि के द्वारा नट में सामाजिक को व्यापकीभूत रत्यादिस्वरूप रस की निष्पत्ति, अर्थात् अनुमिति, होती है। सप्तम मत के अनुसार भरत के रससूत्र का यह अर्थ है—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग=समुदाय के कारण हीं रसनिष्पत्ति, अर्थात् समुदित रूप में इनके लिए रस-पद का प्रयोग होता।

---

१. यद्यपि भट्टनायक के मत में चित्तसत्त्वगत आनन्द की हीं प्रतीति माननी चाहिए तथापि वास्तविक आनन्द के आत्मस्वरूपभूत होने से आत्मानन्द कहा है पण्डितराजने।

पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्रविरोधः। विभावानुभावव्यभिचारिणामेकस्य तु रसान्तरसाधारणतया नियतरसव्यञ्जकतानुपपत्तेः सूत्रे मिलितानामुपादानम्।

एवं च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे यत्र क्वचिदेकस्मादेवासाधारणाद्रसोद्बोधस्तत्रेतरद्वयमाक्षेप्यम्। अतो नानैकान्तिकत्वम्। इत्थं

अन्त्येषु त्रिषु पक्षेषु 'भाव्यमानो विभाव एव रसः' इत्यादिषु। **रसान्तरसाधारणतयेति**। अत्र काव्यप्रकाश उक्तम्—'व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव रौद्राद्भुतवीराणाम्। अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृंगारस्येव करुणभयानकयोः। चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव करुणवीरभयानकानाम्' इति।

उपसंहरति—**एवं चेत्यादिना**। प्रामाणिके=सूत्रसमर्थिते। व्यञ्जकत्व इति स्वमतानुरोधेन। **एकस्मादेवेति**। असाधारणाद् विभावात्, तथाविधादनुभावात्,

---

अष्टम मत के अनुकूल यह व्याख्या है—विभाव आदि में संयोग, अर्थात् चमत्कार के कारण किसी एक, चाहे वह चमत्कारी विभाव हो या वैसा अनुभाव या वैसा व्यभिचारिभाव, को रस कहा जाता है। नवम, दशम और एकादश मतों में तो क्रमशः केवल विभाव, केवल अनुभाव और केवल व्यभिचारिभाव को रस कहे जाने से तीनों को समुदित रूप से रसोपयोगी बताने वाले उक्त रससूत्र का विरोध स्पष्ट हीं है। विभावादि तीनों का सम्मिलितरूप में उल्लेख आवश्यक भी है, क्योंकि कुछ विभावों, कुछ अनुभावों और कुछ व्यभिचारिभावों के अनेक रसों में समान रूप से उपयुक्त होने के कारण किसी एक विभाव या अनुभाव या व्यभिचारिभाव से किसी एक रस का अभिव्यञ्जन, इन मतों के अनुसार, मानना सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ व्याघ्र आदि पदार्थ भयानक, रौद्र तथा वीर इन तीनों हीं रसों के विभाव हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में केवल व्याघ्रादि विभाव को रस मानने पर उनसे किसी एक रस की अभिव्यक्ति कैसे हो सकेगी? इसी तरह अश्रुपात आदि अनुभाव शृङ्गार, वीर, करुण और भयानक रसों के प्रसङ्ग में समानरूप से होते। अतः केवल अनुभाव या केवल व्यभिचारिभाव को रस मानने में वही आपत्ति है जो केवल विभाव को रस मानने में कही गई है। सभी विभावों, या सभी अनुभावों या सभी व्यभिचारिभावों के रसान्तरसाधारण न होने पर भी उनमें किसी एक के समुदाय को रस कहना सम्भव नहीं, क्योंकि विभाव-समुदाय आदि के व्यक्तिभेद से भिन्न-भिन्न होने से समुदाय का स्वरूप हीं स्पष्ट करना असम्भव है। अतः किसी एक को रस कहने वाले सभी पक्ष सूत्रविरुद्ध हैं।

इस प्रकार विभावादित्रितय के रसव्यञ्जक सिद्ध हो जाने से जब किसी ऐसे काव्य से सामाजिकों को रसाभिव्यक्ति होती जहाँ तीनों—विभाव, अनुभाव और

नानाजातीयाभिः शेमुषीभिर्नानारूपतयावसितोऽपि मनीषिभिः परमाह्लादाविनाभावितया प्रतीयमानः प्रपञ्चेऽस्मिन् रसो रमणीयतामावहतीति निर्विवादम् ॥

स च—

शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव ॥

तादृशाद्व्यभिचारिणो वेत्यर्थः। क्रमेणोदाहरणं च 'वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघम्', 'परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः,' 'दूरादुत्सुकमागते' इत्यादि काव्यप्रकाशादिभ्यो ज्ञेयम्। आद्ये मुग्धादयितमेघादिरूपाणामालम्बनोद्दीपनविभावानाम्, द्वितीयेऽङ्गम्लानिविषयवैतृष्ण्यादीनामनुभावानाम्, तृतीये चौत्सुक्यव्रीडादीनां व्यभिचारिणां केवलं निर्देशेऽपि द्वयोरन्ययोराक्षेपः प्रकरणादिवशाद् भवत्येव, रसाभिव्यञ्जकत्वस्य ताभ्यां विनाऽनुपपत्तेः। एवमेव यदि क्वचिद् द्वयोर्निर्देशस्तत्रावशिष्टमेकं समाक्षेप्यमवगन्तव्यम्। संगृहीतं चैतद् दर्पणेऽपि—

सद्भावश्चेद् विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ॥ इति।

वस्तुतस्त्वाक्षेपोदाहरणतया मुक्तकमेव प्रदर्शनीयम्। प्रबन्धे नाट्ये च पूर्वापरसन्दर्भत एवेतरप्रतीतेः सुलभत्वादिति विज्ञांसो विभावयन्तु। नाऽनैकान्तिकत्वमिति। क्वचिदेकेन द्वाभ्यां वा रसव्यञ्जनामादाय त्रितयपर्याप्तरसव्यञ्जकत्वाभ्युपगमे व्यतिरेकव्यभिचारो नेत्यर्थः। रसस्वरूपविषये मतभेदेऽप्याचार्याणां यावदविप्रतिपन्नं तदुदीरयन्नुपसंहरति रससामान्यविवेचनम्—इत्थमित्यादिना ॥

एतावता प्रबन्धेन रसस्वरूपं सामान्यतो निरूप्य तद्भेदनिरूपणाय तद्भेदानाह पूर्वाचार्योक्तपद्येन—स चेत्यादिना। अस्य पद्यस्यार्वाचीनत्वेनाप्रामाण्यशङ्का स्यादिति

व्यभिचारिभाव निर्दिष्ट नहीं हैं तो वहाँ भी निर्दिष्ट विभाव या अनुभाव या व्यभिचारिभाव मात्र में रसव्यञ्जकता नहीं माननी चाहिए अपि तु निर्दिष्ट विभाव आदि के आधार पर अनिर्दिष्ट अनुभाव आदि का आक्षेप करके तीनों के समुदाय में हीं। अतः समुदाय में रसाभिव्यञ्जकत्वपक्ष वैसे काव्यों में भी व्यभिचरित नहीं होता। इस प्रकार यद्यपि रस के स्वरूप के विषय में विभिन्न प्रकार की प्रतिभाओं वाले मनीषियों में मतैक्य नहीं है तथापि यह सर्वसम्मत है कि अलौकिक आह्लाद रूप में प्रतीयमान 'रस' इस विश्व में रमणीयतम तत्त्व है ॥

यह रस नौ प्रकार का है—ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत है—"शृङ्गार, करुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स ये नौ रस हैं ॥"

इत्युक्तेर्नवधा। मुनिवचनं चात्र मानम्।
केचित्तु—

तन्निरासायाह—मुनिवचनमित्यादि। नाट्यशास्त्रस्य षष्ठाध्यायस्यान्ते भरतमुनि-प्रोक्तं वचनमित्यर्थः। यद्यपि बहुष्वादर्शपुस्तकेषु शान्तरसप्रकरणं न लभ्यते तथापि अभिनवगुप्ताचार्यैः स्पष्टमङ्गीकृतत्वाच्चिरन्तनपुस्तकानुरोधेनेति पण्डितराजेनापि स्वीकृतमेतद्युक्तमेव। यत्तु पूर्वं भरतेनोक्तम्—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥
(ना० शा० ६।१५)

इति तद् पूर्वाचार्यानुरोधेनेति स्पष्टमेव—

"एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना" इति तदुक्त्या ज्ञायते। स्वयन्तु भरतर्षिणा शान्तस्यापि रसत्वं स्वीकृतमेव।

यद्वा अष्टाविति पाठः शान्ताऽपलापिनामिति स्पष्टमेवाभिनवगुप्ताचार्यैरुक्तम्। ततश्च शान्तपक्षपातिनां मते प्रोक्तवचनोत्तरार्धम्—'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नाट्ये नव रसाः स्मृताः' इत्येव पठनीयम्। इदमेवात्राभिप्रेतं मुनिवचनं गङ्गाधरकृत इति सम्प्रदायः। वस्तुतश्चैतदुपलक्षणमेतदध्यायान्तेऽभिनवगुप्तादिपठितस्य सकलस्य शान्तविषयकनाट्यशास्त्रीयसन्दर्भस्य।

इन रसों के समर्थन में भरतमुनि का वचन भी प्रमाण है—

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नाट्ये नव रसाः स्मृताः॥

यद्यपि उक्त कारिका का पाठान्तर भी प्रचलित है जिसमें उत्तरार्ध का स्वरूप—

बीभत्साद्भुतशान्ताश्चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

इस प्रकार उपलब्ध होता तथापि यह पाठान्तर शान्तरस का अपलाप करने वालों द्वारा गढ़ा गया है—ऐसा आचार्य अभिनवगुप्त ने इस पद्य की टीका में कहा है[1]।

---

१. सम्पूर्ण सन्दर्भ को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता कि अभिनवगुप्त भी शान्तरस के विषय में दृढ़ विचार नहीं रखते। विशेष विवेचन विद्वानों को स्वयं करना चाहिए।

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात् ।
अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

इत्याहुः । तच्चापरे न क्षमन्ते । तथा हि—नटे शमाभावादिति हेतुरसंगतः, नटे रसाभिव्यक्तेरस्वीकारात् । सामाजिकानां शमवत्त्वेन तत्र रसोद्बोधे बाधकाभावात् । न च नटस्य शमाभावात्तदभिनयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, तस्य भयक्रोधादेरप्यभावेन तदभिनयप्रकाशकताया अप्यसंगत्यापत्तेः । यदि च नटस्य क्रोधादेरभावेन वास्तवतत्कार्याणां वधबन्धादीनामुत्पत्त्यसंभवेऽपि कृत्रिमतत्कार्याणां शिक्षाभ्यासादित

शान्तापलापिनां मतमुपन्यस्यति—केचित्त्वित्यादिना । शमसाध्यत्वादित्यस्य शमस्थायिकत्वादित्यर्थः । तदसम्भवादिति । नटस्य शमवत्त्वे हि तस्य नटत्वानुपपत्तिरित्याशयः । एतन्मतं निरस्यन्नाह—तच्चेत्यादि । असङ्गतः = असिद्धः, अपक्षधर्मत्वादित्यर्थः । यत्र सामाजिके शान्तरसोद्बोध इष्टस्तत्र शमाभावस्य पराभिमतस्य हेतोरसत्त्वेन शान्तरसोद्बोधाभावसाध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिमत्त्वेऽपि पक्षावृत्तित्वेन स्वरूपासिद्धोऽयं शमाभावात्मको हेतुः । यत्र तु स वर्त्तमानस्तत्र नटादौ

कुछ लोग मानते हैं—

"शान्त रस का स्थायी भाव है शम जो नट में हो नहीं सकता । अतः नाट्य में आठ हीं रस होते, शान्त रस तो वहाँ हो नहीं सकता ॥"

परन्तु इससे सब आचार्य सहमत नहीं है । इसका कारण यह है—नाट्य में शान्त रस के न होने का जो हेतु 'नट में शम का अभाव' बताया गया है वह असंगत है । वह संगत तब होता जब जिन सामाजिकों को रसानुभूति होती उनमें शम न होता । परन्तु सामाजिकों में तो शम हो हीं सकता है । ऐसी स्थिति में उनमें शमाभाव तो है नहीं । हाँ, नट में शमाभाव अवश्य है, किन्तु उसे तो रसानुभूति नट के रूप में होती हीं नहीं । तो फिर नट में शमाभाव से नाट्य में शान्तरस के अभ्युपगम में कौन सी बाधा आती ? नट में शम न होने से वह शान्तरसानुकूल अभिनय हीं नहीं कर सकता—यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि तब तो उसमें अभिनय-काल में वास्तविक भय एवं शोक आदि के भी न रहने से वह भयानक, करुण आदि रसों के अभिव्यञ्जक अभिनय भी न कर पाता । अतः अन्य रसों के अनुकूल अभिनय के प्रसंग में यह मानना हीं होगा कि नट में वास्तविक भय आदि तथा उनके कार्य आदि का अभाव होने पर भी अभिनय करने की शिक्षा तथा अभिनय के अभ्यास आदि के प्रभाव से वह भय आदि के कार्यों का अभिनय कर लेता है । ऐसी स्थिति में शम के अभाव में भी शम के कार्यों का

उत्पत्तौ नास्ति बाधकमिति निरीक्ष्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम् ।

अथ नाट्ये गीतवाद्यादीनां विरोधिनां सत्त्वात्सामाजिकेष्वपि विषयवैमुख्यात्मनः शान्तस्य कथमुद्रेक इति चेत् ? नाट्ये शान्तरसमभ्युपगच्छद्भिः फलबलात्तद्गीतवाद्यादेस्तस्मिन्विरोधिताया अकल्पनात् । विषयचिन्तासामान्यस्य तत्र विरोधित्वस्वीकारे तदीयालम्बनस्य संसारानित्यत्वस्य तदुद्दीपनस्य पुराणश्रवण-सत्सङ्ग-पुण्यवन-तीर्थावलोकनादेरपि विषयत्वेन विरोधित्वापत्तेः । अत एव च चरमाध्याये संगीतरत्नाकरे—

अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।
तदचारु, यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः ॥

शान्तोद्बोधाभावसाधकत्वमस्त्येवेत्याह—नट इत्यादिना । तत्कार्याणाम् = क्रोधादिकार्याणामाङ्गिकाद्यभिनयानाम् ।

सामाजिके शमवत्त्वस्य बाधितत्वमाशङ्कते—अथेत्यादिना । विरोधितायाः = बाधकतायाः । विषयत्वेनेति । विषयत्वस्य केवलान्वयित्वादिति भावः । शेषो ग्रन्थो निगदव्याख्यातः ॥

प्रदर्शन उसके द्वारा हो हीं सकता है जिससे शान्त रस की सामाजिकों में अभिव्यक्ति हो जाती है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि (शान्त रस के) विरोधी गीत-वाद्य आदि के अभिनय-काल में आवश्यक होने से सामाजिकों में विषयवैराग्यात्मक शान्तरस का उद्बोध कैसे होगा । इसका यही उत्तर है कि कि जो नाट्य में शान्तरस मानते उनके मत में विशेष प्रकार के गीत-वाद्य आदि शान्त रस के उद्बोध में प्रतिबन्धक नहीं हैं, क्योंकि जब गीत-वाद्य आदि के रहने पर भी सामाजिकों में नाट्यावलोकन से शान्तरसोद्बोधरूप फल प्रामाणिक है तो फिर गीत-वाद्य आदि उसके प्रतिबन्धक कैसे हो सकते ? यदि विषयमात्र (=सभी विषयों) के चिन्तन को शान्तरसोद्बोध का विरोधी मान कर विषयान्तर्गत गीत-वाद्य आदि को भी उसका विरोधी कहा जाय तब गीत-वाद्य आदि को हीं क्यों, शान्तरस के (=शम के) आलम्बन विभाव—संसाराऽनित्यत्व और उद्दीपनविभाव—पुराणश्रवण, सत्संग, पुण्यवन और तीर्थादि के दर्शन-भ्रमण आदि को भी वे विरोधी क्यों नहीं कहते, कारण, ये सब भी तो विषय हीं हैं । अतः शान्तरस के विरोध में दी गई युक्ति असंगत है । इसी लिए सङ्गीतरत्नाकर के अन्तिम अध्याय में नाट्य में भी शान्तरस की स्थापना करते हुए कहा गया है—

"कुछ लोग ऐसा कहते कि नाट्य में आठ ही रस होते । किन्तु यह अशो-

इत्यादिना नाट्येऽपि शान्तो रसोऽस्तीति व्यवस्थापितम्। यैरपि नाट्ये शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः। अत एव 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इत्युपक्रम्य 'शान्तोऽपि नवमो रसः' इति मम्मटभट्टा अप्युपसमहार्षुः॥

अमीषां च—

रतिः शाकश्च निर्वेदक्रोधोत्साहाश्च विस्मयः।
हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी॥

रसेभ्यः स्थायिभावानां घटादेर्घटाद्यवच्छिन्नाकाशादिव प्रथम-

स्थायिभावानामित्यस्य भेदो बोध्य इत्यनेनान्वयः। भेदस्वरूपमाह—घटादेरित्यादिना। व्यक्ति(=भग्नावरणचिद्)विषयीकृतो रत्यादिरेव रस इत्यभिनवगुप्तमते प्रथमे नीलघटघटयोरिव यद्यपि रसस्थायिभावयोर्भेदस्तथापि 'वस्तुतस्तु' इत्यादिना वर्णितेऽभिनवगुप्ततात्पर्यविषयीभूते रत्याद्यवच्छिन्नचित एव रसत्वे रसस्याकाशस्थानीयत्वेनावच्छेद्यत्वम् स्थायिभावस्य पुनर्घटादिस्थानीयत्वेनाऽवच्छेदकत्वमित्यनयोर्भेद उक्तः। द्वितीये पुनर्भट्टनायकोक्तमते भुज्यमानो रत्यादी रस इति पक्षे नावच्छेद्यावच्छेदकवदनयोर्भेद अपि तु प्राग्वदेव। परन्तु पूर्वोक्तवस्तुतस्त्वित्यादियुक्तिसाहित्येन रत्याद्यवच्छिन्नस्य भोगस्य चिदपरपर्यायस्य रसत्वमिति पक्षेऽवच्छेद्यावच्छेदकयोरिवानयोर्भेदो बोध्यः। तृतीये='नव्यास्तु' इति प्रतीकमादाय वर्णिते पक्षे। अस्मिश्च दुष्यन्तादिनिष्ठसत्यरत्यादेः स्थायित्वम् सहृदयनिष्ठाऽनिर्वचनीयरत्यादेश्च रसत्वमित्यनयोर्भेदः। चतुर्थे='परे तु' इत्यादिना

भनीय है, क्योंकि नट तो किसी भी रस का आस्वादन करता नहीं। (अतः नट में शमाभाव को शान्तरस न मानने में हेतु नहीं माना जा सकता)।"

जो लोग नाट्य में शान्तरस नहीं मानते उन्हें भी महाभारत आदि प्रबन्ध काव्यों में शान्तरस मानना हीं है, क्योंकि इन प्रबन्धों के अभिनेय न होने से 'नट में शमाभावस्वरूप' शान्तरस-बाधक हेतु यहाँ बाधक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, भारतादि प्रबन्धों में शान्तरस सर्वानुभवसिद्ध भी है। अतः इसका अपलाप किसी भी युक्ति (=युक्त्याभास) से नहीं किया जा सकता॥

उक्त नौ रसों के क्रमशः निम्नलिखित नौ स्थायिभाव हैं—रति, शोक, निर्वेद, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय और जुगुप्सा॥

इन रसों तथा इनके स्थायिभावों में निम्ननिर्दिष्ट अन्तर है—रसविषयक प्रथम और द्वितीय मतों में तो रस और स्थायिभाव में वही अन्तर है जो घटा-

द्वितीययोर्मतयोः, सत्यरजतस्यानिर्वचनीयरजतादिव तृतीये, विषयस्य (रजतादेः) ज्ञानादिव चतुर्थे भेदो बोध्यः।

तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। न च चित्तवृत्ति-

---

प्रदर्शिते मते। अत्र च भावनास्वरूपदोषमहिम्ना सामाजिकस्य स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाहिशकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधस्यैव मानसस्य रसत्वेन रसो ज्ञानस्थानीयः, स्थायी रत्यादिश्च तद्विषयस्थानीय इत्यर्थः। पञ्चमषष्ठयोस्तु मतयोः प्रकारभेदेन स्थायिन एव रसत्वमिति न भेद उक्तो गङ्गाधरकृता। सप्तमादिमतेषु पुनर्विभावादीनां समवेतानामसमवेतानां वा रसत्वेन तत्र रसस्थायिभावयोराश्रयाश्रयिवत् कारणकार्यवत्सहकार्यसहकारिवद्वा भेदोऽवगन्तव्यः। मतानामेषामनुपादेयत्वेन ग्रन्थकृन्नैतानि विवेचितवान्। पञ्चमादिमते तु न भेद इति न तद्विवेचितमिति व्याख्यानन्तु चिन्त्यम्।

रत्यादीनां स्थायिपदव्यपदेशनिमित्तमाह—तत्रेत्यादिना। अभिव्यक्तेः=

वच्छिन्न आकाश और उसके अवच्छेदक घट में है। प्रथममत में (अभिनवगुप्तमत), जिसे 'वस्तुतस्तु' प्रतीक के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किया है, रत्याद्यवच्छिन्न भग्नावरणा चित् रस है। अतः रत्यादि स्थायी भाव अवच्छेदक और चित्स्वरूप रस अवच्छेद्य है। द्वितीय मत (भट्टनायकमत) में रत्यादिभोग को रस कहा गया है। इसमें विशेषणीभूत रत्यादि स्थायिभाव अवच्छेदक और भोगस्वरूप रस अवच्छेद्य है। 'नव्यास्तु' इस प्रतीक के अन्तर्गत जो तृतीय मत प्रस्तुत किया गया है उसमें दुष्यन्तादिनिष्ठ सत्य रत्यादि स्थायिभाव हैं और सामाजिक में उत्पन्न अनिर्वचनीय रत्यादि रस हैं। अतः वेदान्तसिद्धान्त में जो अन्तर सत्य रजत और अनिर्वचनीय रजत में माना गया है वही इस मत में स्थायिभाव और रस में है। 'परे तु' प्रतीकान्तर्गत रसविषयक चतुर्थ मत में तो शकुन्तलादिविषयक रत्यादि से विशिष्ट दुष्यन्तादि के साथ अपना भ्रमात्मक अभेद-बोध हीं रस है। अतः इस मत में ज्ञान और उसके विषय में जो अन्तर होता वही अन्तर रस और स्थायिभाव में है। पञ्चम और षष्ठ मतों में तो प्रकारभेद से स्थायिभाव को हीं रस कहा गया है। अतः इन दोनों मतों में रस और स्थायिभाव में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। सप्तम से एकादश तक के मतों में विभावादि को समुदित रूप में अथवा असमुदित रूप में रस कहा गया है। अतः इन मतों के अनुसार रस और स्थायिभावों में आश्रय-आश्रित, कारण-कार्य या सहकार्य-सहकारी के समान अन्तर है। किन्तु इन मतों के उपेक्षणीय होने से ग्रन्थकार ने इन मतों में अन्तर नहीं बताया है।

रत्यादि भावों को स्थायी इसी लिए कहा जाता है चूँकि ये प्रबन्धपर्यन्त

रूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभम् वासनारूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्वतिप्रसक्तमिति वाच्यम्, वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात्। व्यभिचारिणां तु नैव, तदभिव्यक्तेर्विद्युद्द्योतप्रायत्वात्।

यदाहुः—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते॥

स्मृतेः। एवंरूपमेव दृढतरत्वं संस्कारस्य नैयायिकादयोऽप्यङ्गीकुर्वन्ति। विच्छिद्यते= विनाश्यते। आत्मभावम्=स्वरूपताम्, स च स्वाङ्गत्वसम्पादनद्वारेति बोध्यम्। लवणाकर इत्युपमानम्। यथा लवणाकरः स्वसंसृष्टानि प्रवाहान्तरजलानि स्वरूपतां लवणरूपतां प्रापयति तद्वदयं स्थाय्यपि स्वसंसृष्टान् विरुद्धानविरुद्धांश्चान्यान् स्वरूपतां प्रापयति। एतच्च प्रकर्षकृतमेव रत्यादौ। अयं च सन्दर्भः समूहालम्बनात्मकरसपक्षे सुकरविवरणः। विरुद्धत्वं च भावानां स्वभावभेदान्न त्वनुपकारकत्वात्। अत एव

स्थिर रहते। अब प्रश्न यह है कि ये रत्यादि चित्तवृत्तिविशेषस्वरूप हैं; अतः ये स्वरूपतः तो स्थिर हो हीं नहीं सकते, क्योंकि योग्य वित्तवृत्तियाँ अपनी उत्पत्ति के तृतीय क्षण में विनष्ट हो जातीं अथवा तभी तक स्थिर रहतीं जब तक अन्य वृत्ति का चित्त में उदय नहीं हो जाता; हाँ वासना (=संस्कार) रूप में ये रह सकतीं हैं, किन्तु संस्कार रूप में तो केवल रत्याद्यात्मक चित्तवृत्तियाँ ही नहीं अपि तु व्यभिचारिस्वरूप चित्तवृत्तियाँ भीं स्थिर रहतीं हीं हैं। ऐसी दशा में यदि वासनारूप में स्थिर रहने के कारण रत्यादिभावों को स्थायी कहा जाय तब तो व्यभिचारिभावों को भी स्थायी क्यों न कहा जाय। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि वासनात्मक रत्यादि की पुनः पुनः अभिव्यक्ति (=उद्बोधक का समवधान होने से, स्मरण होना) हीं उनकी स्थिरता है। ऐसी स्थिरता वासनात्मक व्यभिचारिभावों की नहीं, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति तो बिजली की चमक की तरह कभी-कभी एक दो बार हीं होती है, वारम्वार नहीं। जैसा प्राचीन आचार्यो ने कहा है—

"जो भाव अपने प्रतिकूल और अनुकूल भावों द्वारा कभी विनष्ट न होने से वारम्वार अभिव्यक्त होता और स्वसंसृष्ट अन्य जलों को स्वाङ्ग बनाकर स्वाभिन्न-सा बनाने वाले क्षारसमुद्र के समान अन्य भावों को स्वाभिन्न-सा बना देता वही स्थायी है॥ जो भाव चिर काल तक चित्त में वासनारूप में विद्यमान

चिरमिति व्यभिचारिवारणाय। अनुबन्धिभिर्विभावाद्यैः।

तथा—

सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान्।
यावद्रस वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः॥ इति।

केचित्तु रत्याद्यन्यतमत्वं स्थायित्वमाहुः। तन्न। रत्यादीनामेकस्मिन्प्ररूढेऽन्यस्याप्ररूढस्य व्यभिचारित्वोपगमात्। प्ररूढत्वाऽप्ररूढत्वे बह्वल्प-

---

मृष्टभोजनादौ स्वभावविरुद्धस्याप्यम्लादेरुपकारकत्वं दृष्टम्। स्वभावभेदेऽपि विरोधोऽयं तावदेव काव्योपकारी यावदङ्गिभावापेक्षयाऽङ्गभावो न प्ररूढतर इत्यादि ध्वन्यालोकादिग्रन्थेभ्योऽवसेयम्। स्वयं च ग्रन्थकृद् व्याख्यास्यत्यग्रे। ईदृशमेव विजातीयत्वमभिमतमग्रिमपद्येऽपि। मूर्त्तिः=स्वरूपम्, तच्च वासनात्मकम्। यद्वा मूर्त्तिरभिव्यक्तिः, तत्राभिव्यक्तिः स्मृतिः। सा चोत्तरोत्तरा, स्वपूर्वस्मृतेर्विरुद्धभावेन तिरस्कारात्। अत एव मुहुर्मुहुरभिव्यक्तिरुक्ता।

बह्वल्पेति। निबद्धाक्षिप्तान्यतरसकलविभावजत्वं प्ररूढत्वं तद्भिन्नत्वं चाऽप्ररूढत्वं रत्यादेरित्यर्थः। विभावपदस्य चात्रानुभावाद्युपलक्षणत्वम्। जन्यत्वं

होकर उद्‌बोधक की उपस्थिति में वारम्वार अभिव्यक्त होते, अनुबन्धियों (=विभाव आदि) से सम्बद्ध होते, अर्थात् उन्हें अपने अनुकूल बना लेते, और अन्ततः रसरूपता को प्राप्त होते वे प्रसिद्ध रत्यादि भाव हीं नाट्यादि में 'स्थायी' नाम से प्रसिद्ध हैं।।"

द्वितीय पद्य में 'चिर काल तक' यह अंश व्यभिचारी भावों में स्थायी भाव के लक्षण की अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ दिया गया है। यहाँ 'अनुबन्धी' शब्द का अर्थ विभाव-अनुभाव-सञ्चारिभाव है। और भी,

"स्थायी भाव उसी को कहा गया है जिसकी मूर्त्ति (=उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति) पूर्वपूर्व सजातीय अथवा विजातीय भावों (व्यभिचारिभावों) द्वारा अवरुद्ध नहीं होती और जो तब तक वासनारूप में चित्त में वर्त्तमान रहता जब तक वह रसरूपता को प्राप्त न हो जाता।।"

कुछ आचार्य रति आदि में से अन्यतम को हीं 'स्थायी' मानते। किन्तु यह लक्षण उचित नहीं है। इन नौ भावों में से एक के प्ररूढ़ होने पर अप्ररूढ़ावस्थ अन्य भाव स्थायी नहीं, अपितु व्यभिचारी माने जाते हैं। जैसे शृंगार के सन्दर्भ में रति प्ररूढ़ होती पर हास अप्ररूढ़। इसमें स्थायी भाव केवल रति है, हास नहीं। वह तो शृंगार के व्यभिचारी भावों में से एक है। किन्तु ऐसे हासादि व्यभिचारी भाव भी तो नौ भावों में अन्यतम है हीं। अतः रत्याद्यन्यतमत्वस्वरूप स्थायिभावलक्षण की उक्त-

विभावजत्वे ।

तदुक्तं रत्नाकरे—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः ॥ इति ।

एवं च वीररसे प्रधाने क्रोधः, रौद्रे चोत्साहः, शृङ्गारे हासो व्यभिचारी भवति, नान्तरीयकश्च । यदा तु प्रधानपरिपोषार्थं सोऽपि बहुविभावजः क्रियते तदा तु रसालंकार इत्यादि बोध्यम् ॥

तत्र—

चात्राभिव्यज्यमानत्वसाधारणम् । एवं चेति । स्तोकविभावजत्वे चेत्यर्थः । वीररसेत्यादि । तदुक्तं दर्पणे—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ।
शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः ॥ इति ।

प्रधान इति । उभयोः प्ररूढत्वेऽपि वीरादेः प्राधान्यं प्राकरणिकत्वादिना बोध्यम् । रसालङ्कार इति । तदुक्तं ध्वनिकृता—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ इति ।

विध हासादि में अतिव्याप्ति हो जाने से यह लक्षण असंगत है। जब ये रत्यादि भाव विभावादि (=अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों) की सामग्री से उत्पन्न अथवा ज्ञाप्य होते तब इन्हें प्ररूढ़ कहा जाता। इसके विपरीत, यदि ये भाव विभावादि-सामग्री से नहीं अपितु इसमें से कुछ से हीं उत्पन्न या ज्ञाप्य होते तो इन्हें अप्ररूढ़ कहा जाता। यही विषय सङ्गीतरत्नाकर में स्पष्ट रूप में कहा गया है—

"यदि ये रत्यादि भाव सम्पूर्ण विभावादि-सामग्री से उत्पन्न या ज्ञाप्य होते तब तो ये स्थायिभाव कहलाते। किन्तु यत्किञ्चिद् विभावादि से उत्पन्न या ज्ञाप्य होने पर ये हीं रत्यादिभाव व्यभिचारिभाव हो जाते।"

इस प्रकार, वीर रस (=उत्साह) के प्रधान (=प्ररूढ़) होने पर क्रोध, रौद्र (=क्रोध) के प्रधान होने पर उत्साह और शृंगार (=रति) के प्रधान होने पर हास व्यभिचारी भाव हैं। क्रोधादि के विना वीर आदि रसों के परिपुष्ट न होने से ये व्यभिचारि-स्थानीय क्रोधादिभाव उनमें नान्तरीयक (=अवश्यम्भावी) हैं। जब मुख्य भाव के परिपोषण के लिए गौण भाव भी बहुविभावादिजन्य, अर्थात् प्ररूढ़ रूप में कवि द्वारा निबद्ध किये जाते तो भी ये भाव गौण होने से रसस्थानीन न होकर रस (प्रधान भाव=स्थायी भाव) के अलङ्कार मात्र होते॥

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायि-भावः ॥

गुरुदेवतापुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी ।

पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः ॥

स्त्रीपुंसयोस्तु वियोगे जीवितत्वज्ञानदशायां वैक्लव्यपोषिताया रतेरेव प्राधान्याच्छृङ्गारो विप्रलम्भाख्यो रसः । वैक्लव्यं तु संचारिमात्रम् । मृतत्व-

---

सम्प्रति स्थायिभावान् विशेषतो लक्षयितुकाम आदौ स्वभावतोऽनुरञ्जकस्य शृङ्गारस्य स्थायिभावं रतिं लक्षयति—स्त्रीपुंसयोरिति । पुत्रादीति । आदिशब्देन मुनिनृपादिपरिग्रहः । व्यभिचारीति । तदुक्तं प्रदीपकृता—

रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद् देवादिविषयोऽथवा ।
अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक् ॥ इति ।

पुत्रादीति । आदिशब्द इष्टमात्रोपसंग्राहकः । द्वितीय आदिशब्द इष्टाश्रिता-निष्टमात्रोपलक्षकः । सञ्चारिमात्रमिति । वैक्लव्यस्य चिरमवस्थानाभावादिति हेतुरत्र । वैक्लव्यस्येत्यत्र प्राधान्यादित्यनुषज्यते । विप्रलम्भः=विप्रलम्भशृङ्गारः ।

रति-नामक स्थायिभाव वह है जिसे प्रेम कहते । यह एक प्रकार की चित्त-वृत्ति है जिसके आलम्बन परस्पर नायक और नायिका होते ॥

किन्तु इसी रति का आलम्बन यदि गुरु, देवता या पुत्र आदि इष्टजनों में से कोई होता तो वह स्थायिभाव न होकर (करुण आदि रसों में) व्यभिचारिभाव हो जाती ।

शोक-नामक स्थायिभाव वह है जिसे विकलता (=वैक्लव्य) कहते । यह भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति है और इसकी उत्पत्ति पुत्र आदि इष्टजन के वियोग अथवा मरण आदि से होती ॥

यदि नायक-नायिका का वियोग हो किन्तु एक दूसरे के जीवित होने का ज्ञान हो तो वहाँ विप्रलम्भ शृंगार हीं होता, क्योंकि वहाँ परस्पर वियोग से विकलता होने पर भी प्रधानता रति की हीं रहती । विकलता तो उस रति का परिपोषण मात्र करती । अतः इसमें होने वाली विकलता व्यभिचारिभाव है, स्थायिभाव नहीं । हाँ, यदि एक को दूसरे के मर जाने का ज्ञान हो तब तो विकलता के हीं प्रधान होने से वहाँ करुण रस हीं होगा । रति उस विकलता का केवल परिपोषक होगी । तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति से जितना हीं प्रेम होता उसके विनाश से उतना ही अधिक क्लेश भी होता । अतः प्रियतम या प्रियतमा के मरण से सर्वाधिक मात्रा में क्लेश (=विकलता) होना स्वाभाविक है । यतः मरण के ज्ञान के बाद मिलन की कोई आशा नहीं रह जाती अतः ऐसी दशा में विकलता

ज्ञानदशायां तु रतिपोषितस्य वैक्लव्यस्येति करुण एव। यदा तु सत्यपि मृतत्वज्ञाने देवताप्रसादादिना पुनरुज्जीवनज्ञानं कथञ्चित्स्यात्, तदालम्बनस्यात्यन्तिकनिरासाभावाच्चिरप्रवास इव विप्रलम्भ एव, न स करुणः। यथा चन्द्रापीडं प्रति महाश्वेतावाक्येषु। केचित्तु रसान्तरमेवात्र करुणविप्रलम्भाख्यमिच्छन्ति।

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः॥

केचित् = दर्पणकारादयः। इच्छन्तीति। एतेनात्रारुचिः सूचिता। तद्बीजन्तु वैक्लव्यस्य चिरमवस्थानाभावेन तस्य स्थायित्वानुपपत्तिरेव। अभिनिवेशस्य चिरमवस्थानेऽभ्युपगते तु शृङ्गारोच्छेदापत्तिर्दोषः।

शान्तस्थायिभावं लक्षयति—नित्येत्यादिना। नित्यं च अनित्यं चेति नित्यानित्ये, तयोर्वसतीति नित्यानित्यवस्तु। यद्वा तयोर्वसत इति नित्याऽनित्यवस्तुनी। तयोर्विचारेण विवेकेन जन्म यस्येति विग्रहः। अनित्यस्य वस्तुत्वाभावेन नित्यानित्ययोर्द्वन्द्वे कृते वस्तुशब्देन कर्मधारयोऽयुक्तः। नित्य आत्मा तदन्यत्सर्वमनित्यम्। तथा च परस्परविरुद्धयोर्नित्यानित्यधर्मयोर्विवेकेन जायमानो विषयविरागो निर्वेद इति फलति। इदमेव तत्त्वज्ञानजन्यं वैराग्यमित्युच्यते। एतेनेर्ष्यादिजनितवैराग्यस्य स्थायित्वाभावः सूचितः। अत एव—

का स्थायित्व स्पष्ट है। रति तो उस विकलता का परिपोषक मात्र होती। अत एव यहाँ करुण रस हीं उचित है, विप्रलम्भ शृङ्गार नहीं। अत एव यदि नायक-नायिका में से एक के मरण का ज्ञान होने पर भी देवताप्रसाद आदि से उसके पुनरुज्जीवन का ज्ञान हो तो वहाँ आदि-अन्त में रति के वर्त्तमान रहने से मध्य में मरण के कारण कुछ समय के लिए विकलता होने पर भी स्थायित्व रति का ही होता। अतः ऐसी दशा में रति के वियोगकालावच्छिन्न होने से विप्रलम्भ शृङ्गार रस हीं होता, करुण रस नहीं। कादम्बरी का महाश्वेता-विषयक वर्णन इसका उदाहरण है। यहाँ चन्द्रापीडनिष्ठ महाश्वेताविषयक रति होने से विप्रलम्भशृङ्गार रस है, करुण नहीं। साहित्यदर्पणकार आदि कुछ आचार्य तो ऐसे स्थलों में करुण-विप्रलम्भ रस मानना चाहते। किन्तु इसमें आदि-अन्त में विकलता के न होने से उनका मत उचित नहीं प्रतीत होता॥

शान्तरस का स्थायिभाव निर्वेद है जिसे विषयवैराग्य भी कहते। यह वैराग्य (निर्वेद) नित्य और अनित्य पदार्थों में वर्तमान धर्मों तथा उन धर्मियों के विवेक से उत्पन्न होता॥

गृहकलहादिजस्तु व्यभिचारी ॥

गुरुबन्धुवधादिपरमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः ॥

अयं च परविनाशादिहेतुः । क्षुद्रापराधजन्मा तु परुषवचनासंभाषणादिहेतुः । अयमेवामर्षाख्यो व्यभिचारीति विवेकः ॥

परपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः ॥

अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा विकासाख्यो विस्मयः ॥

गन्तव्यं यदि नाम निश्चितमहो ! गन्ताऽसि केयं त्वरा
द्वित्राण्येव पदानि तिष्ठतु भवान् पश्यामि यावन्मुखम् ।
संसारे घटिकाप्रणालविगलद्वारा समे जीविते
को जानाति पुनस्त्वया सह मम स्याद्वा न वा सङ्गमः ॥

इत्यत्र दैन्यजो विरागो विप्रलम्भे व्यभिचार्येव, तत्पोषकत्वात् । न त्वस्य स्थायित्वम् । अतोऽत्र रससङ्करानौचित्यवर्णनमसहृदयतामेव प्रकाशयति । एतत्सर्वमभिप्रेत्याह—गृहकलहादिजेत्यादि ।

रौद्रस्थायिभावलक्षणमाह—गुरुबन्धुवधेत्यादि । आदिपदमिष्टमात्रोपसंग्राहकम् । प्रज्वलनाख्य इत्यस्य चित्तवृत्तिविशेष इति शेषः । व्यभिचारीति । रौद्रादाविति शेषः ।

गृह-कलह आदि से उत्पन्न निर्वेद तो क्षणिक होने से विप्रलम्भ शृंगार आदि रसों में व्यभिचारिभाव होता, स्थायिभाव नहीं ॥

रौद्र रस का स्थायिभाव क्रोध है जिसे चित्त का प्रज्वलन (जलन) भी कहते । यह गुरु अथवा अन्य किसी इष्टजन के वध अथवा उसे अत्यन्त कष्ट आदि पहुँचाने जैसे उत्कट अपराध किये जाने पर उत्पन्न होता ॥

यही क्रोध उत्कट अपराधी के विनाश आदि का कारण है । किन्तु यदि अपराध साधारण कोटि का होता तो इससे उसके प्रति लोग कठोर वचन का प्रयोग करते या फिर बोलते हीं नहीं । अन्य प्रकार की कटु भावना आदि भी इसी से उत्पन्न होतीं । साधारण कोटि के अपराध से उत्पन्न कोप को हीं अमर्ष कहा जाता जो रौद्र आदि रसों के व्यभिचारिभावों में अन्यतम है । क्रोध और अमर्ष में यही अन्तर है ॥

वीर रस का स्थायिभाव उत्साह है जिसे चित्त का औन्नत्य, अर्थात् उत्कृष्ट-प्रयत्नसम्पन्नता भी कहा जाता । इसकी उत्पत्ति शत्रु के पराक्रम और उसकी दानशीलता आदि के स्मरण से होती ॥

अद्भुत रस का स्थायिभाव विस्मय है । अलौकिक वस्तु के दर्शन आदि से उत्पन्न चित्त का विकास (विस्तार = फैलना) हीं इसका स्वरूप है ॥

वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हासः ॥

व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषयको वैक्लव्याख्यः स भयम् ॥

परमानर्थविषयकत्वाभावे तु स एव त्रासो व्यभिचारी। अपरे तु औत्पातिकप्रभवस्त्रासः, स्वापराधद्वारोत्थं भयमिति भयत्रासयोर्भेदमाहुः ॥

कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा ॥

एवमेषां स्थायिभावानां लोके तत्तन्नायकगतानां यान्यालम्बनतयोद्दीपन-

---

विकारेति। स चात्र स्वाभाविकः, कृत्रिमश्च क्षुद्र एव, गुरुतरविकारोऽपि स्वकृतः न परकृतः, परकृते हि गुरुतरविकारे क्रोधोदयाद् विकर्त्तरि इति बोध्यम्।

निगडनिबद्धव्याघ्रादिदर्शने कस्यचिद्भयानुदयात् परमानर्थविषयक इत्युक्तम्। अतश्च यस्य तथाविधव्याघ्रादिदर्शनेऽपि परमानर्थजनकत्वसम्भावना तस्य भयं ततोऽप्युत्पद्यत एव। क्षुद्रानर्थविषयकत्वे त्वाह—व्यभिचारीति। बीभत्सादाविति शेषः। शोकभययोर्वैक्लव्यात्मकत्वेऽपि कारणभेदाद् भेदोऽनयोरवगन्तव्यः। औत्पातिकेति। वज्रनिर्घातादिप्रभव इत्यर्थः। अत्रापि कारणभेदादेव त्रासभययोर्भेदः।

कदर्यम्=कुत्सितम्। विचिकित्सा=गर्हणा। एते च रत्यादयो यथोद्देशं शृङ्गारादीनां स्थायिनः।

सम्प्रति आलम्बनकारणादीनां विभावपदव्यपदेशे हेतुमाह—एवमित्यादिना।

हास्य रस का स्थायिभाव हास है। इसे किसी व्यक्ति के वचन, अङ्ग प्रत्यङ्ग तथा वेष आदि में विद्यमान विकार के ज्ञान से उत्पन्न चित्तविकास (चित्त का खिल उठना) कहा जाता है ॥

व्याघ्र आदि हिंस्र जीवों या अन्य किन्हीं परम अनर्थ (=मरण आदि) के जनक वस्तुओं के दर्शन-श्रवण आदि से उत्पन्न जो चित्त की उत्कट विकलता है वही भय है। यही भयानक रस का स्थायिभाव है ॥

यदि यह चित्त विकलता परमानर्थविषयक न हो, अर्थात् किसी साधारण अनिष्ट का जनक प्रतीत होती हो तो उसे 'त्रास' कहते, 'भय' नहीं। अतः त्रास व्यभिचारी भाव है, स्थायी भाव नहीं। कुछ आचार्यों का मत है कि आधिभौतिक-आधिदैविक आपदाओं से उत्पन्न चित्तविकलता त्रास है जब कि अपने (उत्कट) अपराधों से उत्पन्न विकलता भय है—यही भय और त्रास में अन्तर है। इन स्थायिभावों में कारणभेद से भिन्नता (कार्यभेद) माननी चाहिए ॥

किसी कुत्सित पदार्थ के दर्शन आदि से उत्पन्न एक प्रकार की चित्तवृत्ति, जिसे 'विचिकित्सा' (घृणा) कहते, जुगुप्सा है। यही बीभत्स रस का स्थायी भाव है ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त विभिन्न नायक-नायिकाओं में विद्यमान रत्यादि नौ स्थायि-

तथा वा कारणत्वेन प्रसिद्धानि तान्येषु काव्यनाटययोर्व्यज्यमानेषु विभाव-शब्देन व्यपदिश्यन्ते ॥

विभावयन्तीति व्युत्पत्तेः ।

यानि च कार्यतया तान्यनुभावशब्देन ॥

अनु पश्चाद्भाव उत्पत्तिर्येषाम् । अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः ।

यानि व्यभिचरन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन ॥

एषु = स्थायिभावेषु । व्यज्यमानेष्वित्यनेन वाच्यत्वादिव्यवच्छेदः । विभावयन्ति = रत्यादिभावान् सामाजिकगतान् आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्यान् कुर्वन्ति । स्थायि-जनकत्वे सति साधारणीकरणव्यापारविषयत्वं विभावत्वमिति च प्राहुः ।

पश्चादिति । रत्याद्युत्पत्तेरनन्तरम् इत्यर्थः । अतश्चाव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन वर्त्तमाना अनन्यथासिद्धा रत्यादयः स्थायिनः कारणानि, तदव्यवहितोत्तरक्षणा-वच्छेदेन जायमानाश्चानुभावाः कार्याणीति व्यपदिश्यन्ते । एतस्य चार्थस्य लौकि-केऽपि रत्यादिकार्ये सम्भवादतिव्यापकत्वमिति हेतोः काव्यमात्रनियतानुभावपद-प्रवृत्तिनिमित्तान्तरमाह—अनुभावयन्तीति । अनुमापयन्तीत्यर्थः । अनुभावैर्हि सामाजिकनिष्ठा रत्यादय अनुमीयन्ते, कार्याणां सकारणत्वनियमादिति तात्पर्यम् ।

व्यभिचरन्तीति । विशेषेण आभिमुख्येन कार्यजनने चरन्ति स्थायिन उपकुर्वन्ति ये ते व्यभिचारिणः । सह चरन्तीति पाठेऽपि स्थायिसहकारित्वमेव सञ्चारित्वं भावानाम् । तदुक्तं दर्पणे—

भावों के जो आलम्बन कारण या उद्दीपन कारण के रूप में लोक-प्रसिद्ध हैं उन्हें हीं काव्य नाट्य में स्थायिभावों के अभिव्यञ्जक होने के कारण 'विभाव' कहलाते ।

ये आलम्बनादि कारण विभाव इस लिए कहलाते यतः ये स्थायिभाव को विभावित, अर्थात् आस्वादयोग्य, करते । अन्यथा स्थायिभावों का अस्तित्व प्रमाणित न होने से किसी भी प्रक्रिया द्वारा सहृदयों को रसास्वाद न हो सकेगा ।

मुखदर्शनादि को अनुभाव इस लिए कहते यतः इनका भाव, अर्थात् उत्पादन स्थायिभावों के पश्चाद्भावी है। पश्चाद्भावी का नियतपूर्वभावी कारण से उत्पन्न—कार्य होना शास्त्र-सिद्ध है[1] । अथवा, इन्हें अनुभाव इस लिए कहा जाता यतः ये स्थायिभावों को सहृदयों के लिए अनुभावित, अर्थात् प्रतीतियोग्य बनाते—इन्हीं अनुभावों से सहृदयों को नायकादिनिष्ठ स्थायिभावों की अनुभूति होती ।

जो स्थायिभावों के साथ कभी कभी रहते उन्हें सञ्चारिभाव और वे हीं

---

१. यह ज्ञातव्य है कि भिन्न-भिन्न स्थायी भावों से उत्पन्न रोमाञ्च आदि अनु-भावों को भी परस्पर विलक्षण हीं होना चाहिए ।

तत्र शृङ्गारस्य स्त्रीपुंसावालम्बने। चन्द्रिकावसन्तविविधोपवनरहःस्थानादय उद्दीपनविभावाः। तन्मुखावलोकनतद्गुणश्रवणकीर्तनादयोऽन्ये सात्त्विकभावाश्चानुभावाः। स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिणः।

करुणस्य बन्धुनाशादय आलम्बनानि। तत्संबन्धिगृहतुरगाभरणदर्शनादयस्तत्कथाश्रवणादयश्चोद्दीपकाः। गात्रक्षेपाश्रुपातादयोऽनुभावाः।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥ इति।

अत एव प्रदीपकृताऽपि वर्णितम्—

ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः॥ इति।

इदानीमादिनिर्दिष्टानां शृङ्गारादीनां चतुर्णां रसानां विभावानुभावव्यभिचारिभावानाह विशेषेण—तत्रेत्यादिना। उक्तेषु रसेष्वित्यर्थः।

बन्धुनाशादय इति। नष्टबन्ध्वादय इति केचित्। तत्र नष्टानामालम्बनत्वा-

---

सर्वदा साथ न रहने, अर्थात् व्यभिचरित होने, से 'व्यभिचारिभाव'[1] भी कहे जाते॥

उक्त नवविध रसों में—

शृङ्गार रस के नायक-नायिका आलम्बन विभाव हैं। रति के उभयनिष्ठ होने से नायक के लिये नायिका और नायिका के लिए नायक आलम्बन विभाव है। आलम्बन का अर्थ विषयता सम्बन्ध से रत्यादि का आश्रय है। चन्द्रिका, वसन्त ऋतु, विभिन्न प्रकार के रम्य पुष्पों से सम्पन्न उद्यान, एकान्त स्थान तथा अन्य कामोद्दीपक पदार्थ इस रस के उद्दीपन विभाव हैं। वारम्वार प्रियतम अथवा प्रियतमा के मुख का परस्पर अनुरक्तभाव से अवलोकन, उसके गुणों का श्रवण तथा उच्चारण एवम् रोमाञ्च आदि कुछ अन्य सात्त्विक भाव शृङ्गार के अनुभाव हैं। अनुरागपूर्वक परस्पर-स्मरण एवं चिन्ता आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं॥

इष्ट जनों का विनाश अथवा उन पर आई कोई घोर विपत्ति या नष्ट इष्टजन

---

१. 'व्यभिचारी' यह नाम इस तथ्य का स्पष्ट संकेत करता कि शास्त्र में जिस रस के जितने व्यभिचारिभाव गिनाये गये हैं वे सब के सब सर्वत्र रस-स्थल में होते हीं हों—यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः उद्दीपन विभावों और अनुभावों की भी यही स्थिति है। उनमें सर्वदा सब का होना अनिवार्य नहीं। ग्रन्थ में निर्देश तो उपलक्षण है।

ग्लानिक्षयमोहविषादचिन्तौत्सुक्यदीनताजडतादयो व्यभिचारिणः ।

शान्तस्यानित्यत्वेन ज्ञातं जगदालम्बनम् । वेदान्तश्रवण-तपोवन तापस-दर्शनाद्युद्दीपनम् । विषयारुचिशत्रुमित्राद्यौदासीन्यचेष्टाहानिनासाग्रदृष्टयादयोऽनुभावाः । हर्षोन्मादस्मृतिमत्यादयो व्यभिचारिणः ।

नुपपत्तेर्बन्ध्वादिनाशस्यैवालम्बनत्वमुचितमिति पण्डितराजाकूतम् । तथा हि यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः स एव तस्या आलम्बनम् । प्रकृते च प्रतियोगिनि बन्ध्वादौ प्रीत्या तन्नाशाऽसहिष्णुत्वलक्षणद्वेषात्मकस्य करुणरसस्थायिनः शोकस्य विषयो न बन्ध्वादिः, तत्र द्वेषाऽभावात्, अपि तु तन्नाश एवेति युक्तं बन्ध्वादिनाशस्यैवालम्बनत्वं न तु बन्ध्वादेः । यद्वा नष्टबन्ध्वादय एवालम्बनमिति मन्तव्यम्, तथैवानुभवात् सामाजिकानाम् । अत एव स्वयमपि करुणोदाहरणावसरे 'अत्र प्रमीततनय आलम्बनम्' इति वक्ष्यति । उक्तद्वेषविषयत्वं च यद्यपि नाशस्यैव तथापि अभावस्य प्रतियोगिविशेषितत्वनियमात् प्रतियोगिनो बन्ध्वादेरपि तत्त्वं कथञ्चिन्निर्वाह्यम् । अधिकं विज्ञैर्विवेचनीयम् ।

शान्तं निरूपयति—शान्तस्येत्यादिना । चेष्टाहानिरित्येकोऽनुभावः । हिताऽहितप्राप्तिपरिहारार्था हि क्रिया चेष्टा, सा च सर्वथा जगद्विरक्ते न सम्भवति, तस्येह जगति समत्वबुद्धेः । यद्यपि पूर्वसंस्कारवशात् स हितमेवादत्ते तथापि तस्य तत्र हितत्वबुद्धिर्नास्त्येवेत्यर्थः । हर्षोन्माद इति । हर्ष उन्मादश्चेत्यर्थः । अत्रोन्मादशब्देन उत्कण्ठादिजन्यश्चित्तविप्लवो न विवक्षितः, तस्य शमप्रधाने चेतस्यसम्भवात् । अपि तु परमानन्दप्राप्तिजन्यः परमार्थतोऽसत्ये ब्रह्मभिन्ने जगति सत्यब्रह्मरूपतानुभवः, व्यवहारतः सत्ये वा जगति परमार्थतस्तद्रूपेणासत्यत्वानुभवो वा । अन्यस्मिन्नन्यावभासश्च चित्तविप्लवेऽपि न व्यभिचरति । मत्यादेर्लक्षणं स्वयमेव भावध्वनि-

---

करुण रस के आलम्बन विभाव हैं । उस प्रकार के इष्ट जनों के स्मारक उनके घर, वाहन, आभूषण आदि के दर्शन-स्मरण और उनकी कथा का श्रवण स्मरण आदि उद्दीपन विभाव हैं । विपत्ति के समय अङ्गों का विक्षेप तथा अश्रुपात आदि अनुभाव हैं । ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिन्ता, औत्सुक्य, दीनता, जड़ता आदि इस करुण रस के व्यभिचारिभाव हैं ॥

शान्त रस का आलम्बन विभाव तो अनित्य रूप में ज्ञायमान यह सम्पूर्ण जगत् है । वेदान्त-श्रवण, तपोपन और तपस्वियों के दर्शन आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं । सांसारिक विषयों में अरुचि, शत्रु-मित्र में तटस्थता, हित प्राप्ति या अहित-निवृत्ति के लिए जनसामान्य द्वारा की जाने वाली चेष्टाओं का अभाव, नासाग्रभाग पर एकतान दृष्टि आदि इसके अनुभाव हैं और हर्ष, परमानन्दानुभव-जन्य उल्लास, स्मृति तथा मति आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं ॥

रौद्रस्यागस्कृत्पुरुषादिरालम्बनम् । तत्कृतोऽपराधादिरुद्दीपकः । वधबन्धादिफलको नेत्रारुण्यदन्तपीडनपरुषभाषणशस्त्रग्रहणादिरनुभावः । अमर्षवेगौग्र्यचापलादयः संचारिणः ।

एवं यस्याश्चित्तवृत्तेर्यो विषयः स तस्या आलम्बनम् । निमित्तानि चोद्दीपकानीति बोध्यम् ।

तत्र शृङ्गारो द्विविधः—संयोगो विप्रलम्भश्च । रतेः संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः, वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः । संयोगश्च न दंपत्योः सामानाधिकरण्यम्, एकतल्पशयनेऽपीर्ष्यादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्ण-

---

प्रकरणे वक्ष्यति । अमर्ष इति । अयं चानुपदमेव ग्रन्थकृता लक्षितः ।

तदेवं शृङ्गारकरुणशान्तरौद्राणां विभावादीन् विशेषतो वर्णयित्वा सम्प्रति रसान्तरालम्बनोद्दीपनप्रवृत्तिनिमित्तप्रतिपादनमुखेन आलम्बनादिस्वरूपनिर्णयप्रकारमाह—एवमित्यादिना ।

अधुना शृङ्गारं विभजते–तत्रेत्यादिना । नवसु रसेषु मध्य इत्यर्थः । सामानाधिकरण्यमिति। एतच्चात्र दैशिकं ग्राह्यम्, न कालिकम्, कालिकसामानाधिकरण्यस्य द्वयोरपि शृङ्गारभेदयोः परमावश्यकत्वात् । क्वचिद् विप्रलम्भे पुनरान्तरालिककालेऽसामानाधिकरण्येऽपि अन्ततः सामानाधिकरण्यस्याऽपरिहार्यत्वात् । अत एव पुनरुज्जीवनसम्भावनाविरहविशिष्टनायकनायिकाऽन्यतरमृतत्वनिश्चये करुण एव रसो न विप्रलम्भः । तथा चात्र सामानाधिकरण्यमित्यस्यैकस्मिन् देशे काले वा वर्त्तमानत्वमिति रसचन्द्रिकाविवरणमसङ्गतमेवेति विभावनीयं विज्ञैः । ग्रन्थाक्षर-

---

उत्कट अपराध करने वाला व्यक्ति रौद्र रस का आलम्बन विभाव है । उस व्यक्ति द्वारा किये गये अपराध आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। उस अपराधी पुरुष के वध या बन्धन आदि में परिणत होने वाले आखों को लाल करना, दाँत-पीसना, कठोर वचन बोलना और उसके पराभव के लिए अस्त्र-शस्त्र का ग्रहण करना आदि इसके अनुभाव हैं । अमर्ष, वेग, उग्रता और चञ्चलता आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं ।

इसी प्रकार अन्य रसों के प्रसङ्ग में भी यह समझना चाहिए कि जो जिस स्थायिस्वरूप उत्साहादिचित्तवृत्तिविशेष का विषय—विषयता सम्बन्ध से आश्रय, हो वही उसका आलम्बन विभाव और जो उस चित्तवृत्तिविशेषस्वरूप स्थायिभाव के निमित्त कारण हों वे उद्दीपन विभाव होते ।।

उक्त रसों में शृङ्गार के दो भेद होते—संयोग शृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार । (वियोग या विप्रयोग शृङ्गार भी इसी द्वितीय प्रकार के नामान्तर हैं) । यदि

नात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात्। तस्माद् द्वाविमौ संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ। यत्संयुक्तो वियुक्तश्चास्मीति धीः। तत्राद्यो यथा—'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा' इत्यत्र निरूपितः।

यत्तु चित्रमीमांसायाम्—'वागर्थाविव संपृक्तौ' इत्यत्र रसध्वनिः, निरतिशयप्रेमशालिताव्यञ्जनात्' इति, तद्ध्वनिमार्गानाकलननिबन्धनम्।

स्वारस्यादपि दैशिकसामानाधिकरण्यस्यैवावगतेश्च। दोषस्येति। एकतल्पशयनेऽपीत्यादिवाक्योक्तस्येत्यर्थः। तत्र दैशिकवैयधिकरण्याभावेऽपि विप्रलम्भाङ्गीकारादिति हेतुरत्र। यत्=यतः। वस्तुतोऽत्र सामानाधिकरण्यज्ञानमपेक्षितम्।

निरतिशयप्रेमेति। प्रेम च नित्यसम्बद्धवागर्थवद् संपृक्तत्ववर्णनात्पार्वती-

---

रति संयोगकालावच्छिन्न (संयोगकाल से विशिष्ट) हो तो संयोग शृङ्गार और यदि बियोगकाल से अवच्छिन्न हो तो विप्रलम्भ शृङ्गार होता। संयोग का अर्थ नायक-नायिका का एक देश में अवस्थान (दैशिक सामानाधिकरण्य) नहीं, क्योंकि यदि नायक-नायिका में परस्पर ईर्ष्या आदि के कारण तात्कालिक वैमत्य हो तो एक घर में क्या, एक शय्या पर भी दोनों के लेटे रहने पर आचार्यों ने विप्रलम्भ शृङ्गार हीं माना है, संयोग शृङ्गार नहीं। अत एव विप्रलम्भ का भी अर्थ दैशिक वैयधिकरण्य नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में जो दोष आता—वह कहा जा चुका है। तात्पर्य यह है कि यदि दैशिक वैयधिकरण्य हीं विप्रलम्भ हो तब तो तात्कालिक वैमत्य के कारण एक शय्या पर लेटी नायक-नायिका के बीच दैशिक सामानाधिकरण्य रहने पर भी विप्रलम्भ का जो आचार्यो ने स्वीकार किया है वह असङ्गत हो जायेगा। अतः संयोग और विप्रलम्भ ये दोनों हीं दो चित्तवृत्तियाँ हैं जिनके कारण नायक-नायिका में क्रमशः 'हम संयुक्त हैं' और 'हम वियुक्त हैं' इस प्रकार की धारणाएँ बनतीं।[1] इन दोनों भेदों में संयोग शृङ्गार का उदाहरण तो उत्तमोत्तम काव्य का जो उदाहरण 'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा' आदि पद्य दिया गया है वही है।

चित्रमीमांसाकार अप्पय्य दीक्षित ने रघुवंश के प्रथम पद्य—"वागर्थाविव

---

१. अतः उक्त धारणाएं चाहे दैशिक सामानाधिकरण्य होने पर होती हों या इसके अभाव में, यथाक्रम उभयविध शृङ्गार रस होगा। कालिक सामानाधिकरण्य तो उभयविध शृङ्गारों में अनिवार्य है, इसके अभाव का ज्ञान होने पर तो करुणरस हीं होगा, शृङ्गार नहीं।

पार्वतीपरमेश्वरविषयककविरतौ प्रधाने निरतिशयप्रेम्णो गुणीभावात् । न हि गुणीभूतस्य रत्यादे रसध्वनिव्यपदेशहेतुत्वं युक्तम्, 'भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः' इति सिद्धान्तात् ।

द्वितीयो यथा—

वाचो माङ्गलिकीः प्रयाणसमये जल्पत्यनल्पं जने
केलीमन्दिरमारुतायनमुखे विन्यस्तवक्त्राम्बुजा ।
निःश्वासग्लपिताधरोपरि पतद्बाष्पार्द्रवक्षोरुहा
बाला लोलविलोचना शिव शिव प्राणेशमालोकते ।।

परमेश्वरयोर्व्यज्यते । स्वोक्तार्थे मम्मटोक्तिं प्रमाणयति—भिन्न इत्यादिना । इदं चित्रमीमांसाखण्डनं ग्रन्थकृतः प्रौढिवादमात्रम्, तत्रास्मिन्नुदाहरणे स्पष्टमेव ध्वनित्वखण्डनादिति विभावनीयम् ।

द्वितीयः—विप्रलम्भः । वाच इत्यादि । स्वप्राणेशस्य प्रयाणसमये माङ्गलिकीर्मङ्गलफलिका वाचो जनेऽनल्पं जल्पति सति क्रीडागृहगवाक्षमुखे विन्यस्तं मुखकमलं यया सा, अथ च निःश्वासैरुष्मातिशयवद्भिः ग्लपितस्य मलिनीकृतस्याधरस्योपरि पतद्भिर्बाष्पैरार्द्रौ स्तनौ यस्याः सा लोलविलोचना बाला प्राणेशमालोकत इत्यर्थः । शिव शिवेति खेदातिशयद्योतनाय ।

सम्पृक्तौ...... ...'' में यह कहा है कि इससे पार्वती-परमेश्वर के निरतिशय प्रेम का अभिव्यञ्जन होने से यहाँ शृङ्गाररसध्वनि है । किन्तु उन्होंने यह वक्तव्य ध्वनिमार्ग के मर्म को न समझ कर दिया है, अतः अनुचित है । वस्तुस्थिति यह है कि पूर्वोक्त पद्य में तो कवि की जो पार्वती-परमेश्वर-विषयक रति है वही प्रधान है, उन दोनों का निरतिशय प्रेम तो उस कविरति का गुणीभूत है । अतः पार्वती-परमेश्वरनिष्ठ रति को ध्वनि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गुणीभूत पदार्थ ध्वनिपदवाच्य कदापि नहीं होता । काव्यप्रकाश (आदि) में यह सिद्धान्त स्थापित है कि गुणीभूत होने के कारण अलङ्कारभूत रसादि से प्रधानीभूत अलङ्कार्य, अत एव ध्वनिपदवाच्य, रस सर्वथा भिन्न है । इससे स्पष्ट है कि गुणीभूत पार्वती-परमेश्वरनिष्ठ रति ध्वनिपदाभिधेय हो नहीं सकती, यहाँ तो पार्वती-परमेश्वरात्मक देवताविषयक कविरतिस्वरूप 'भाव' ही ध्वनिव्यपदेश्य है ।।

अब विप्रलम्भ शृङ्गार का उदाहरण देखिए :—''एक ओर तो नायक का अपने घर से प्रस्थान करते समय उसके इष्ट जन प्रचुर रूप में प्रास्थानिक मङ्गलगान कर रहे हैं और दूसरी ओर उसकी नवोढ़ा प्रियतमा अपने रतिक्रीड़ागृह की खिड़की पर अपना मुखकमल रख कर अपने प्रस्थान-परायण प्राणनाथ

अत्राप्यालम्बनस्य नायकस्य, निःश्वासाश्रुपातादेरनुभावस्य, विषाद-चिन्तावेगादेश्च व्यभिचारिणः संयोगाद्रतिरभिव्यज्यमाना वियोगकालावच्छिन्नत्वाद् विप्रलम्भरसव्यपदेशहेतुः।

यथा वा—

आविर्भूता यदवधि मधुस्यन्दिनी नन्दसूनोः
कान्तिः काचिन्निखिलनयनाकर्षणे कार्मणज्ञा।
श्वासो दीर्घस्तदवधि मुखे पाण्डिमा गण्डयुग्मे
शून्या वृत्तिः कुलमृगदृशां चेतसि प्रादुरासीत्॥

आविर्भूतेत्यादि। यदवधि यतः प्रभृति नन्दसूनोः कृष्णस्य मधुस्यन्दनशीला कामरसस्यन्दिनी, निखिलानां नयनानामाकर्षणे कार्मणज्ञा मन्त्रतन्त्रविधिज्ञा वशीकरणक्षमा काचिद् विलक्षणा नवयौवनप्रभवा कान्तिराविर्भूता तदवधि ततः प्रभृत्येव कुलमृगदृशां यदुरमणीनां वियोगातिशयवशाद् दीर्घः श्वासो मुखे, पाण्डिमा गण्डयुग्मे, चेतसि च शून्या निरालम्बना वृत्तिः प्रादुरासीत् प्रावर्ततेत्यर्थः। निरालम्बनत्वं च वृत्तेः श्रीकृष्णप्राप्त्यशक्यतयोन्नेयम्।

अत्रालम्बनस्य श्रीकृष्णस्यानुभावस्य दीर्घश्वासादेस्तद्व्यङ्ग्यविषादादिव्यभिचारिणश्च संयोगाद् वियोगकालावच्छिन्नत्वेन विप्रलम्भो व्यज्यत इति पूर्ववज्ज्ञेयम्।

को बड़ी ही कातर दृष्टि से एकटक देख रही है और उसकी आखों से इतने आँसू बह रहे हैं जो उसके दीर्घ उष्ण निश्वास से कुह्मलाये अधर से टपकते हुए उसके स्तनों को भी गीले कर रहे हैं। ओह! कितने कष्ट की बात है!"

एक नवोढ़ा के विषय में किसी सहृदय द्वारा उक्त इस पद्य में नायक-स्वरूप आलम्बन विभाव, निःश्वास-अश्रुपात आदि अनुभावों और विषाद, चिन्ता, आवेग आदि व्यभिचारिभावों के सम्बन्ध से अभिव्यज्यमान जो नायिकानिष्ठ नायक-विषयक रति है वह वियोगकाल से अवच्छिन्न (=वियोगकालिक) होने से विप्रलम्ब कहलाती है।

एक अन्य उदाहरण भी—

"जब से नन्दतनय श्रीकृष्ण की युवतियों के मन में कामरस प्रवाहित करने वाली और उन सब की आँखों को आकृष्ट करने में जादूगर के समान कुशल यौवनावस्था की वह अलौकिक छटा प्रकट हुई उसी समय से कुलाङ्गनाओं के मुख पर दीर्घ श्वास, उनके दोनो कपोलों पर सफेदी और उनके मन में शून्य वृत्ति (=उदासी) का भी आरम्भ हो गया॥"

इसमें भी श्रीकृष्ण आलम्बन विभाव, दीर्घ श्वास आदि अनुभाव

यथा वा—

नयनाञ्चलावमर्शं या न कदाचित्पुरा सेहे।
आलिङ्गितापि जोषं तस्थौ सा गन्तुकेन दयितेन ॥

इहापि सहजचाञ्चल्यनिवृत्तिर्जडता चानुभावव्यभिचारिणौ। इमं च पञ्चविधं प्राञ्चः प्रवासादिभिरामनन्ति। ते च प्रवासाभिलाषविरहेर्ष्याशापानां विशेषानुपलम्भान्नास्माभिः प्रपञ्चिताः।

करुणो यथा—

अपहाय सकलबान्धवचिन्तामुद्वास्य गुरुकुलप्रणयम्।
हा तनय विनयशालिन्! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः ॥

श्रीकृष्णविषयककविरतिं प्रति विप्रलम्भरतेर्गुणीभूतत्वाशङ्कयोदाहरणान्तरं नयनाञ्चलेत्यादीति रसचन्द्रिका। नयनाञ्चलेत्यादि। नयनाञ्चलस्य पक्ष्मणोऽवमर्शमाघातं या पुरा न सेहे सैव गन्तुकेन दयितेनालिङ्गिताऽपि गमनकाले जोषं तूष्णीं तस्थौ जडवदिति पद्यार्थः। अत्रावमर्शश्च सम्भोगकालिकपतिपक्ष्मणो विवक्षितः। यद्वाऽत्र लोकसमक्षं पतिकटाक्षसम्बन्ध एव नयनाञ्चलावमर्शः। इमं चेति। विप्रलम्भश्रृङ्गारमित्यर्थः। प्राञ्चः प्रकाशकारादयः। विशेषाऽनुपलम्भादित्यस्य फले विप्रलम्भभेदानाम् इत्यादिः।

अपहायेत्यादि उद्वास्य=निरस्य। अत्र विनयशालित्वेन बान्धवपरित्याग

और दीनता आदि व्यभिचारिभावों के सम्बन्ध से कुलाङ्गनानिष्ठ श्रीकृष्णविषयक रति अभिव्यक्त हो रही है। यतः यह रति वियोगकाल से अवच्छिन्न है अत एव इसे भी विप्रलम्भ कहा जाना चाहिए।

अथवा यह तीसरा उदाहरण देखिए :—

"जो यह कामिनी लोकलज्जा के कारण अपने प्रियतम के कटाक्षपात को भी पहले कभी न सह पाती थी वही आज दूर जाने वाले पति के द्वारा प्रगाढ़ आलिङ्गन किये जाने के समय भी चुपचाप खड़ी रही ॥"

इस पद्य में प्रस्थान करने वाला प्रियतम आलम्बन विभाव, प्रस्थानादि उद्दीपन विभाव, चञ्चलता की निवृत्ति अनुभाव और इससे व्यज्यमान जड़ता आदि व्यभिचारिभाव हैं। यतः नायिका की नायकविषयक रति यहाँ वियोगकाल से अवच्छिन्न है अतः यहाँ का श्रृङ्गार विप्रलम्भ कहा जाएगा।

मम्मट आदि प्राचीन आचार्य वियोग के हेतुओं के प्रवास, अभिलाष, विरह, ईर्ष्या और शाप इन पाँच प्रकार के होने से विप्रलम्भ को भी पाँच प्रकार का मानते। किन्तु हमने इन सब का पृथक् वर्णन इसीलिए छोड़ दिया है कि इनमें, वस्तुतः इनके फल में, कोई स्पष्ट तारतम्य प्रतीत नहीं होता।

अब करुण रस का उदाहरण लीजिए :—

अत्र प्रमीततनय आलम्बनम् । तत्कालावच्छिन्नबान्धवदर्शनाद्युद्दीपनम् । रोदनमनुभावः । दैन्यादयः संचारिणः ।

शान्तो यथा—

मलयानिलकालकूटयो रमणीकुन्तलभोगिभोगयोः ।
श्वपचात्मभुवोर्निरन्तरा मम जाता परमात्मनि स्थितिः ॥

अत्र प्रपञ्चः सर्वोऽप्यालम्बनम् । सर्वत्र साम्यमनुभावः । मत्यादयः संचारिणः । यद्यपि प्रथमार्धे उत्तमाधमयोरुपक्रमाद्द्वितीयार्धेऽधमोत्तमवचनं क्रमभङ्गमावहति, तथापि वक्तुर्ब्रह्मात्मकतयोत्तमाधमज्ञानवैकल्यं

आश्चर्यं द्योत्यते । प्रमीतो मृतः ।

मलयानिलेत्यादि । निरन्तरा=तारतम्यरहिता । 'मानापमानयोस्तुल्यः' इत्यादि वचनं चात्र प्रमाणम् । उत्तमा...वैकल्यमिति । एतच्च परमात्मप्रतिष्ठस्य सर्वत्र तुच्छत्वबुद्धिरित्यतो लभ्यते ।

"हा विनयशील पुत्र ! अपने सभी परिजनों की अपार चिन्ता को छोड़कर और गुरुकुल के अगाध प्रेम की उपेक्षा कर तूँने क्योंकर परलोक का पथ अपना लिया !"

यहाँ मृत पुत्र आलम्बन विभाव है । मृत्युकाल में उपस्थित प्रियजनों के दर्शन आदि उद्दीपन विभाव हैं । रोदन अनुभाव है और दैन्य आदि व्यभिचारिभाव हैं । अतः इनसे अभिव्यज्यमान पित्रादिनिष्ठ शोकस्वरूप स्थायिभाव करुणरस के रूप में अभिव्यक्त होता है ।

अब शान्तरस का उदाहरण प्रस्तुत है :—

"मेरी तो परमात्मा में प्रतिष्ठा हो चुकी है, अर्थात् मैं परमात्मस्वरूप हो चुका हूँ, जिससे (प्रतिष्ठा से) मलयानिल और विष के, रमणी के आकर्षक केश-कलाप और सर्प की फणा के एवम् चाण्डाल और सर्वज्ञ ब्रह्मा के बीच कोई अन्तर नहीं रह गया ॥"

इसमें तुच्छ रूप में परिज्ञात समस्त प्रपञ्च आलम्बन विभाव है । सभी उच्च-नीच सांसारिक पदार्थों में समत्वबुद्धि अनुभाव है और मति, धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं । इन सब से शान्तरस अभिव्यक्त है । यद्यपि इस पद्य के पूर्वार्द्ध में पहले प्रकृष्ट-पदार्थों—मलयपवन और कामिनी-केशकलाप का और बाद में अपकृष्ट—विष और सर्प की फणा का निर्देश और उत्तरार्ध में पहले अपकृष्ट चाण्डाल का और बाद में उत्कृष्ट ब्रह्मा का निर्देश होने से क्रमभङ्ग अवश्य दिखाई देता तथापि प्रकृत में यह दोष न होकर गुण ही है, क्योंकि इससे वक्ता का यह

संपन्नमिति द्योतनाय क्रमभङ्गो गुण एव।

इदं पुनर्नोदाहार्यम्—

सुरस्रोतस्विन्याः पुलिनमधितिष्ठन्नयनयो-
र्विधायान्तर्मुद्रामथ सपदि विद्राव्य विषयान्।
विधूतान्तर्ध्वान्तो मधुरमधुरायां चिति कदा
निमग्नः स्यां कस्यांचन नवनभस्याम्बुदरुचि॥

अत्रापि यद्यपि विषयगणालम्बनः सुरस्रोतस्विनीतटाद्युद्दीपितो नयन-निमीलनादिभिरनुभावितः स्थायी निर्वेदः प्रतीयते, तथापि भगवद्वासुदेवालम्बनायां कविरतौ गुणीभूत इति न शान्तरसध्वनिव्यपदेशहेतुः। इदं च पद्यं मन्निर्मितायां भगवद्भक्तिप्रधानायां करुणालहर्यामुपनिबद्धमिति

प्रत्युदाहरणमाह—इदमित्यादिना।

सुरस्रोतस्विन्या इत्यादि। विधूतमन्तर्ध्वान्तमज्ञानं यस्य तादृशोऽहं गङ्गातटे तिष्ठन् नयनयोरन्तर्मुद्रां विधाय नयनेऽन्तर्मुखे कृत्वा, निमील्येति यावत्, परमतत्त्वदर्शने चार्मणचक्षुषोर्व्यापाराभावात्, विषयांश्च तद्दर्शनप्रतिबन्धकान् सपदि विधूय कस्यांचन विलक्षणायां नवस्य नभस्याम्बुदस्य भाद्रपदीयघनस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः तस्यां चिति चैतन्यस्वरूपे परमात्मनि श्रीकृष्णे कदा निमग्नः स्यामिति पद्यार्थः।

भावस्यैव कविरतिस्वरूपस्यात्र प्राधान्यं प्रतिपादयितुमाह—इदं चेत्यादि।

चरमोत्कर्ष द्योतित हो रहा है कि उसके ब्रह्मरूप हो जाने से उसकी दृष्टि में इस प्रपञ्च का कोई पदार्थ न उत्कृष्ट है और न अपकृष्ट हीं। अतः इस पद्य को क्रमभङ्गदोषयुक्त नहीं कहा जा सकता।

किन्तु निम्नलिखित पद्य शान्तरस का उदाहरण नहीं हो सकता :—

"अज्ञान से रहित होकर मैं गङ्गातट पर अवस्थित होकर अपनी आँखों को अन्तर्मुख और सभी विषयों का परित्याग करके अत्यन्त आकर्षक एवं भाद्रपद के नवीन घन के समान रोचक चित्स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में कब निमग्न हो जाऊँगा!"

यद्यपि इस पद्य में भी विषय-समूहस्वरूप आलम्बन, गङ्गातट आदि उद्दीपन विभावों और नेत्रनिमीलन आदि अनुभावों से सम्बलित निर्वेदात्मक स्थायिभाव प्रतीत होता तथापि यह शान्तरसध्वनि कहलाने योग्य नहीं है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति जो कवि का निरतिशय प्रेम है वही इसमें, प्रसङ्गानुसार, प्रधान है,

वृत्तिरप्यत्र महोद्धता रौद्रस्य परमौजस्वितां परिपुष्णाति। अन्यत्र गुरुस्मरणे सत्यहंभावविगमस्यावश्यकतया प्रकृते चाजहत्स्वार्थलक्षणामूलध्वननेन मदीयेत्यनेन गर्वोत्कर्षस्यैव प्रकाशनात्स्फुटं गम्यमानेन विवेकशून्यत्वेन क्रोधस्याधिक्यं गम्यते।

कारिभूतमोजोगुणं तदनुकूलं गुम्फं च वक्ष्यमाणमत्र उपपादयति—वृत्तिरित्यादिना। रौद्रस्य = क्रोधस्य। परमौजस्विताम् = रसावस्थावाप्तिपर्यन्तमुत्कर्षम्। अन्यत्र = क्रोधाभावकाले। मदीयेत्यत्रास्मत्पदस्याजहत्स्वार्थलक्षणया स्वार्थसहितः त्रिःसप्तकृत्वः क्षत्रियाणां निहन्ता पित्रादेशान्मातृवधकर्त्तेत्यादिर्वाऽर्थः। एतेन च क्षत्रियनिहन्तृत्वादिनैकेन रूपेण अचमच्छब्दार्थप्रतीतिः। अयमाशयः—अन्यस्य कस्यचिद् गुरुशब्दार्थस्य क्रोधोद्दीपकत्वाभावात् प्रकरणविरोधाच्च ज्ञानदातैवार्थः सिद्धः। एतादृशस्य गुरोः शिष्यसापेक्षत्वान्मदीयपदप्रयोगं विनापि प्रक्रान्तजामदग्न्यसम्बन्धप्रतीतेर्वाच्यमात्रार्थकस्य अस्मच्छब्दस्य प्रकृते नोपयोगः। इममेवानुपयोगलक्षणं मुख्यार्थबाधमादाय प्रकृते लक्षणया क्षत्रियनिहन्तृत्वधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः प्रतीतिः। व्यञ्जनया चेतराणां मातृहन्तृत्वादीनां बहूनां धर्माणां बोधः। अस्मच्छब्दवाच्यमात्रस्य प्रतीतेरनुपयोगेऽपि विरोधित्वाभावादहजहत्स्वार्थैव लक्षणा। तया च प्रकृतेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिरिति। लक्षणयैव सर्वेषां धर्माणां प्रतीतिस्तु न मन्तव्या, एकस्यैवोपयोगिनो धर्मस्य लक्ष्यत्वेनैव मुख्यार्थबाधस्यानुपयोगित्वलक्षणस्य निराकरणादन्यत्र धर्मेषु लक्षणाया अप्रसरादिति। एतादृशेन च लक्ष्यार्थेन

जाना उचित हीं है। टूटने की कड़कड़ाहट के श्रवण से अनुमित 'निर्भीक होकर धनुष का तोडना' उद्दीपन विभाव है। कठोर वचन बोलना अनुभाव है। अभिव्यज्यमान अहङ्कार, उग्रता आदि व्यभिचारिभाव हैं। यह पद्यात्मक वचन धनुर्भङ्ग की ध्वनि सुनने से टूटी हुई समाधि वाले परशुराम द्वारा कहा गया है। यहाँ उपलब्ध अत्यन्त उद्धत 'वृत्ति' रौद्र रस (क्रोध) की अत्यन्त उत्कटता का परिपोषक है। वस्तुतः जब क्रोध नहीं होता तो व्यक्ति में अहङ्कार का उदय नहीं होता। इस पद्य में, इसके विपरीत, 'मदीय' शब्द से अत्यधिक गर्व (अहङ्कार) की प्रतीति होती। तात्पर्य यह है कि गुरु शब्द के नित्यसापेक्ष होने से और प्रसङ्गवश भी 'मेरे गुरु' ऐसा अर्थ 'मदीय' इस विशेषण के विना भी स्पष्ट है। अतः स्वार्थमात्र के प्रतिपादन के लिए इस पद्य में 'मदीय' विशेषण का कोई उपयोग नहीं है। यही अनुपयोगिता यहाँ 'मदीय' शब्द के मुख्यार्थ की बाधा है। अतः इस शब्द को लाक्षणिक मानना तो आवश्यक है हीं जिससे 'मदीय' शब्द की अनुपयोगिता का निराकरण हो सके। इस लिए 'इक्कीस बार समस्त क्षत्रियों का संहार करना' अथवा

इदं तु नोदाहार्यम्—

धनुर्विदलनध्वनिश्रवणतत्क्षणाविर्भव-
न्महागुरुवधस्मृतिः श्वसनवेगधूताधरः।
विलोचनविनिःसरद्बहलविस्फुलिङ्गव्रजो
रघुप्रवरमाक्षिपञ्जयति जामदग्न्यो मुनिः॥

अत्राप्यपराधास्पदेन रघुनन्दनेनालम्बितो धनुर्विदलनध्वनिश्रवणेनो-

---

गर्वोत्कर्षस्य, तेन च विवेकशून्यत्वस्य, तेन च क्रोधाधिक्यस्य ध्वननमिति सन्दर्भार्थः। क्रोधस्याधिक्यं चात्र रसपर्यन्त उत्कर्ष एव।

अधुना प्रत्युदाहरणमुखेन क्रोधस्य व्यङ्ग्यस्य गुणीभूतत्वमुपपादयति—धनुर्विदलनेत्यादिपद्येन। धनुर्विदलनेन जायमानस्य ध्वनेः श्रवणात् तत्क्षणे श्रवणक्षणे तदव्यवहितोत्तरक्षण एव वाविर्भवन्ती महागुरोः पितुर्जमदग्नेर्वधस्य सहस्रबाहुसूनुकृतस्य स्मृतिर्यस्य, पितृवधोद्भूतक्रोधोत्थस्य श्वसनस्य निःश्वासस्य वेगेन धूतः कम्पितोऽधरोष्ठो यस्य, क्रोधारुणाभ्यां विलोचनाभ्यां विनिस्सरन् बहलो विपुलः स्फुलिङ्गव्रजोऽग्निकणसमूहो यस्य, अथ च रघुप्रवरं धनुर्भञ्जकं रामचन्द्रम् आक्षिपन् जामदग्न्यः परशुरामो मुनिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तत इति पद्यार्थः। अत्र तृतीयचरणं 'क्रोधाद् रक्तनेत्राभ्यां विनिस्सरतां बहलानां विस्फुलिङ्गानां व्रजं यस्य सः' इति रसचन्द्रिकोक्तौ समासश्चिन्त्यः, व्रजशब्दस्य समूहार्थकस्य नपुंसकत्वमपि तथैव। अत्र वचनस्यान्यवक्तृकतया रघुप्रवरेति विशेष्योपादानेऽपि न पूर्वपद्यवद् दोषः।

अत्रालम्बनविभावादिव्यङ्ग्योऽपि क्रोधो जयतिपदप्रतिपादितायां परशुरामविषयिण्यां कविरतौ गुणीभूत इति न ध्वनिकाष्ठामधिरोहतीत्युपपादयति—अत्रेत्यादिना।

अन्य एक प्रकृतोपयोगी धर्मविशेष से विशिष्ट मेरे गुरुके कार्मुक·········इस प्रकार का लक्ष्यार्थ 'मदीय' शब्द का स्वीकार करना पड़ता है। अतः यह अजहत्स्वार्था लक्षणा है। इससे वक्ता परशुराम की विवेकशून्यता का और इस विवेकशून्यता से अत्यधिक क्रोध का अभिव्यञ्जन होता। इस प्रकार यह भी स्पष्ट है कि यहाँ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि है॥

निम्नलिखित पद्य तो रौद्ररसध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता है:—

"एक क्षत्रिय द्वारा किये गये शिवधनुर्भङ्ग के कोलाहल को सुनने से तत्काल जिन्हें सहस्रबाहुपुत्र द्वारा किये गये अपने पिता जमदग्नि के वध का स्मरण हो आया है, जिनका अधर अपने क्रोधजनित निःश्वास से फड़क रहा है, जिनकी आँखों से क्रोधाग्नि की चिनगारियाँ निकल रही हैं और जो रामचन्द्र पर अपना आक्रोश प्रकट कर रहे हैं उन मुनि परशुराम की जय हो।"

द्दीपितो निश्वासनेत्रवलनादिभिरनुभावितो महागुरुवधस्मृतिगर्वोग्रत्वादिभिश्च संचारितः क्रोधो यद्यपि व्यज्यते, तथाप्यसौ तत्प्रभाववर्णनबीजभूतायां कविरतौ गुणीभूत इति न रौद्ररसध्वनिव्यपदेशहेतुः। काव्यप्रकाशगतरौद्ररसोदाहरणे तु 'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' इति पद्ये रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा नास्ति वृत्तिः, अतस्तत्कवेरशक्तिरेव।

महागुर्वित्यादि। महागुरुवधस्मृतेर्वाच्यतया व्यभिचारित्वकथनं चिन्त्यम्। तत्प्रभावेत्यादि। तस्य परशुरामस्य प्रभावस्तद्वर्णनं बीजभूतं यस्यां रतावित्यर्थः। यद्वा तत्प्रभाववर्णनस्य बीजभूतायां रतावित्यर्थः।

कृतमनुमतमित्यादि। भट्टनारायणकृते वेणीसंहारे तृतीयेऽङ्के पितृवधेनातिक्रुद्धस्याश्वत्थाम्न इयमुक्तिः। रौद्ररसव्यञ्जनक्षमा वृत्तिः 'परुषा' 'गौडी' इत्यादिनामभिः प्रसिद्धा। कवेः=भट्टनारायणस्य। अशक्तिरेवेति। आनन्दवर्धनाभिनवगुप्तपादादिभिस्तु 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादिवेणीसंहारपद्य एव सत्यप्येतादृशवृत्त्यभावे प्रसादेन रौद्ररसाभिव्यञ्जनं स्वीकृतमेव। स्वयमपि वक्ष्यत्येवमेवेति प्रौढिरेवेयं पण्डितराजस्य। रौद्रस्य युद्धवीराद् भेदकं तु रक्तास्यनेत्रत्वमुक्तं दर्पणकारेण।

इस पद्य में भी अपराधी रामचन्द्र परशुराम के क्रोध के आलम्बन हैं। धनुर्भङ्ग के कोलाहल का सुनना उद्दीपनविभाव है। क्रोधजनित निःश्वास और आँखों से क्रोधाग्नि की चिनगारियों का निकलना आदि अनुभाव हैं। अपने पिता के वध का स्मरण[1], अहङ्कार एवम् उग्रता आदि व्यभिचारिभाव हैं। अतः क्रोध का अभिव्यञ्जन तो होता हीं है। किन्तु यह क्रोध परशुराम के प्रभाव के वर्णन के मूलभूत कवि-(वक्तृ-) निष्ठ रति (निरतिशयप्रेम=भक्ति) का अङ्ग है, क्योंकि 'जयति' इस सर्वोत्कर्षबोधक क्रिया पद से यह रति स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। अतः इसे रौद्ररसध्वनि का उदाहरण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्याङ्गभूत रस ध्वनिपदव्यपदेश्य नहीं होता। काव्यप्रकाश में जो :—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्' इत्यादि वेणीसंहार का पद्य रौद्ररसध्वनि का उदाहरण दिया गया है उसमें रौद्ररस के अभिव्यञ्जन के लिए अपेक्षित महोद्धता वृत्ति (=परुषा=कठोराक्षरघटिता वर्णसंघटना) नहीं है। कवि चाहता तो है इस पद्य द्वारा उत्कट कोटि के क्रोध को व्यक्त करना, किन्तु अनुकूल वृत्ति से

---

१. इस 'स्मरण' के वाच्य होने से इसे व्यभिचारिभाव कहना उचित नहीं है, क्योंकि व्यभिचारिभाव व्यङ्ग्य होता, वाच्य नहीं, हाँ यदि महागुरु शब्द का अर्थ माता हो जिनका वध परशुराम ने पिता की आज्ञा से किया था तो कथञ्चित् इसे व्यभिचारिभाव कहा जा सकता है।

वीरश्चतुर्धा—दानदयायुद्धधर्मैस्तदुपाधेरुत्साहस्य चतुर्विधत्वात् । तत्राद्यो यथा—

कियदिदमधिकं मे यद्द्विजायार्थयित्रे
कवचमरमणीयं कुण्डले चार्पयामि ।
अकरुणमवकृत्य द्राक्कृपाणेन निर्यद्-
बहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि ॥

एषा द्विजवेषायेन्द्राय कवचकुण्डलदानोद्यतस्य कर्णस्य तद्दानविस्मितान् सभ्यान्प्रत्युक्तिः । अत्र याचमान आलम्बनम् । तदुदीरिता स्तुतिरुद्दी-

---

तत्र रक्तास्यनेत्रतेत्यनेनोत्साहात् क्रोधाविर्भावो बोधितः, युद्धवीरे पुनरुत्साहमात्रमिति भेदोऽनयोस्तात्पर्यविषयीभूतः।

तदुपाधेरिति । स्थायिभावो रस इति पक्षे ते दानादय उपाधयो यस्येति विग्रहः । स्थायिभावावच्छिन्ना चिदेव रस इति पक्षे तु स्थायिभावानां रसोपाधित्व-मिति तस्य प्रकृतस्य वीररसस्योपाधिरिति विग्रहः ।

आद्यः—दानवीरः । कियदित्यादि । अर्थयित्रे याचकाय द्विजाय विप्ररूपधारिणे (इन्द्राय) यदहमरमणीयं क्षुद्रत्वादुपेक्षणीयमात्मनः कवचं कुण्डलद्वयं चार्पयामि तत् कियदधिकम् ? अपि तु स्वल्पमेव । अधिकं तु तदा भवेद् यदि द्राग् झटिति कृपाणेन स्वकीयं शिरोऽकरुणमवकृत्य छित्त्वा निर्यती निस्सरन्ती बहला रुधिरस्य धारा यस्मात् तच्छिरः तस्मै द्विजाय आवेदयामि । अर्पयामीत्यत्र किंवृत्ते लिप्सायामिति लट्, आवेदयामीत्यत्र च वर्त्तमानसामीप्ये स इति बोध्यम् । निर्यद्बहलेत्यादौ सप्तम्यन्तान्यपदार्थको बहुव्रीहिसमासो रसचन्द्रिकायामुक्तश्चिन्त्यः ।

युक्त पद्य की रचना नहीं कर सका । अतः यह कवि की अशक्ति तो हैं हीं, साथ साथ इसे रौद्र का उदाहरण देने वाले काव्यप्रकाशकार की भी अशक्ति है ॥

वीररस के चार भेद हैं, क्यों कि दान, दया, युद्ध और धर्म—ये चार इसकी उपाधियाँ है—ऐसा प्राचीन आचार्यों का मत है ।

इनमें दानवीर का उदाहरण है :—

"एक तो कोई याचना कर रहा हो, वह भी एक ब्राह्मण हो, तो उसे अपना तुच्छ कवच और ये दोनों कुण्डल दान कर देना मेरे लिए कौन-सी बड़ी बात है ! यथार्थ दान तो तब होगा यदि मैं निर्दयभाव से अपने खड्ग से झट से काट कर खून की धारा से लथपथ अपना शिर उसे समर्पित कर दूँ ॥"

ब्राह्मण का वेष धारण कर इन्द्र जब कर्ण के पास आये तो कर्ण ने उन्हें अपने कवच और कुण्डल दे दिये । उस समय कर्ण की दानवीरता को देखकर वहाँ उपस्थित लोग बहुत हीं विस्मित होकर कर्ण की प्रशंसा करने लगे । उन्हीं के प्रति कर्ण की

पिका । कवचादिवितरणं तत्र लघुत्वबुद्ध्यादिकं चानुभावः । मे इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वन्युत्थापितो गर्वः स्वकीयलोकोत्तरपितृजन्यत्वादिस्मृतिश्च संचारिणौ । वृत्तिरप्यत्र तत्तदर्थानुरूपोद्गमविरामशालितया सहृदयैकचमत्कारिणी । तथा हि—उत्साहपोषकं कवचकुण्डलार्पणयोर्लघुत्व-

---

अर्थान्तरसंक्रमितेत्यादि । अयम्भावः—अर्पयामीत्यादिक्रियापद उत्तमपुरुषसामर्थ्यात् प्रकान्तत्वाच्चास्मदर्थस्य प्रतीत्या तदभिधानाय 'मे' इतिपदस्य नात्रोपयोग इति वाच्यार्थमात्रविवक्षायामनुपयोगितालक्षणवाच्यार्थबाधादत्रास्मत्पदं लाक्षणिकं सत् सकलकोषदातृत्वविशिष्टमस्मत्पदार्थं बोधयति । अविरोधित्वाच्चात्रास्मच्छब्दवाच्यार्थस्य लक्ष्यार्थे समावेशोऽपि नायुक्त इत्युपादानलक्षणैवात्र । तत एव लक्षिताद्धर्मविशिष्टधर्मिणोऽनुपयोगितालक्षणवाच्यार्थबाधस्य निराकरणादर्थान्तरे गर्वादौ क्षीणसामर्थ्योपादानलक्षणा न तद्धर्मान्तरं प्रतिपादयितुमलमिति व्यञ्जनैवासंख्येयार्थद्योतिका तत्प्रतिपादिकाऽगत्या स्वीकर्त्तव्येति भवति गर्वादीनामर्थान्तरसंक्रमितध्वनिसमुत्थापितत्वमिति । स्वकीयेति । एतच्चास्मदर्थापेक्षया, सहृदयापेक्षया तु तदीयेति मन्तव्यम् । स्मृतिः सहृदयानामिति शेषः । एषा च स्मृतिः शक्यसम्बद्धत्वादुक्तार्थस्यैकसम्बन्धिज्ञानविधया जायते । ये तु लोकोत्तरपितृजन्यत्वं शक्यतावच्छेदकं मन्यन्ते तेषां शक्यार्थस्य प्रकृतानुपयोगित्वलक्षणो बाधो लक्षणाप्रयोजकः कथमुपपद्यत इति चिन्त्यम् । अतस्तद्व्यक्तित्वमेवात्र शक्यतावच्छेदकमस्मदर्थे इति

यह उक्ति है। यहाँ याचना करने वाले ब्राह्मण आलम्बन हैं। उन्हीं ब्राह्मण द्वारा की गयी कर्ण की स्तुति (जो इस पद्य में निर्दिष्ट नहीं है) उद्दीपन विभाव है। कवच और कुण्डलों का दान और उन कवचादि में तुच्छता बुद्धि आदि अनुभाव हैं। पद्यस्थ 'मे' पद में अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य ध्वनि से प्रतीयमान गर्व (अहङ्कार) और लोकोत्तर पिता भगवान् सूर्य से उत्पन्न होने की स्मृति व्यभिचारिभाव हैं। तात्पर्य यह है कि प्रकृत पद्य में 'अर्पयामि' और 'आवेदयामि' इन उत्तमपुरुषों की क्रियाओं और प्रसङ्ग से हीं 'मे' पद के विना भी अस्मच्छब्दार्थ का बोध हो जाने से वाच्यार्थमात्र का प्रतिपादन करने के लिए 'मे' पद का कोई उपयोग नहीं है। यही अनुपयोगिता यहाँ अस्मच्छब्द के मुख्यार्थ का बाध—लक्षणाबीज है। यतः 'समस्त राज्य को समर्पित कर देने वाले मेरे लिए' यह अर्थ 'मे' पद का प्रकृतानुपयोगी नहीं है अतः यहाँ अस्मच्छब्द में जहत्स्वार्था लक्षणा न मानकर अजहत्स्वार्था लक्षणा हीं उचित है। एवञ्च 'समस्त ··· ···· मेरे लिए' इस अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है वाच्यार्थ जिसका उस अस्मच्छब्द में वर्त्तमान व्यञ्जना (ध्वनि)—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि से प्रतीयमान कर्णनिष्ठ गर्व और भगवान् सूर्य का पुत्र होना—व्यभिचारिभाव कहे गये हैं। प्रतिपाद्य अर्थों के अनुरूप प्रारब्ध-

निरूपणं विधातुं पूर्वार्धे तदनुकूलशिथिलबन्धात्मिका। उत्तरार्धे तु मौलितः प्राग्वक्तृगतगर्वोत्साहपरिपोषणायोद्धता। ततः परं ब्राह्मणे सविनयत्वं प्रकाशयितुं तन्मूलीभूतं गर्वराहित्यं ध्वनयितुं पुनः शिथिलैव। अत एवावेदयामीत्युक्तम्, न तु ददामि वितरामीति वा।

इदं तु नोदाहरणीयम्—

यस्योद्दामदिवानिशार्थिविलसद्दानप्रवाहप्रथा-
माकर्ण्यावनिमण्डलागतवियद्बन्दीन्द्रवृन्दाननात्।
ईर्ष्यानिर्भरफुल्लरोमनिकरव्याबलगदूधःस्रवत्-
पीयूषप्रकरैः सुरेन्द्रसुरभिः प्रावृटपयोदायते॥

विभावनीयं विज्ञैः। न तु ददामीत्यादि। ददामीत्यादौ शब्दशक्तिस्वाभाव्यादहङ्कारः कर्तुः प्रतीयते, आवेदयामीत्यत्र तु न तथेति भावः।

प्रत्युदाहरणमाह—इदं त्वित्यादिना।

यस्योद्दामेत्यादि। दानशौण्डस्य कस्यचिन्नृपस्य स्तुतिरियम्। यस्य नृपस्य अर्थिषु याचकेषु दिवानिशं विलसत उद्दाम्नोऽप्रतिहतस्य दानप्रवाहस्य प्रथां प्रसिद्धिम् अवनिमण्डलाद् भूमण्डलादागतानां वियद्बन्दीन्द्राणामुत्तमस्वर्गीयस्तुतिपाठकानां चारणानामाननादाकर्ण्य सुरेन्द्रसुरभिरिन्द्रस्वामिका कामधेनुः ईर्ष्यया

और परिसमाप्त भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ भी सहृदयों को अत्यन्त आकृष्ट करने वाली हैं। जैसे—पद्य के पूर्वार्द्ध में कवच और कुण्डलों की तुच्छता का प्रतिपादन, जिससे कर्ण का दानोत्साह परिपुष्ट होता है, करने के लिए (तुच्छता-प्रतिपादन के) अनुकूल शिथिला वृत्ति (कोमलपदयोजना) है; उत्तरार्द्ध में 'मौलिम्' पद के पहले (अकरुणम्··················धारम्) वक्ता कर्ण के गर्व और दानोत्साह का उत्कृष्ट अभिव्यञ्जन कराने हेतु उद्धता वृत्ति है। तत्पश्चात् 'मौलिमावेदयामि' इस अन्त्य भाग में याचक ब्राह्मण के प्रति अपनी विनम्रता के प्रकाशन के मूलभूत गर्वशून्यता की व्यञ्जना के लिए तदनुकूल शिथिला वृत्ति ही है। यही कारण है कि 'ददामि' अथवा 'वितरामि' इत्यादि गर्वप्रकाशक क्रियापद का नहीं अपि तु 'आवेदयामि' इस गर्वशून्यता-सूचक अथवा नम्रता-सूचक क्रियापद का ही प्रयोग किया गया है॥

निम्ननिर्दिष्ट पद्य को तो दानवीरध्वनि का उदाहरण नहीं देना चाहिए—

"ये महाराज इतने उदार हैं कि इनके द्वारा दिन-रात याचकों को दिये जाने वाले अधिकाधिक दानप्रवाह को भूमण्डल से लौटकर आये स्वर्गीय श्रेष्ठ बन्दियों के मुख से सुनकर स्वर्गस्थ कामधेनु को भी इनसे इर्ष्या हो गई है जिससे इसका सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा है। इसी रोमांच के कारण इसके दुग्धपूर्ण स्तनों

अत्रेन्द्रसभामध्यगतसकलनिरीक्षकालम्बनः अवनिमण्डलागतवियद्-बन्दीन्द्रवदनविनिर्गतराजदानवर्णनोद्दीपितः, ऊधःप्रस्नुतपीयूषप्रकरैरनुभावितः, असूयादिभिः संचारिभिः परिपोषितोऽपि कामगवीगत उत्साहो राजस्तुतिगुणीभूत इति न रसव्यपदेशहेतुः।

अत एवेदमपि नोदाहरणम्—

साब्धिद्वीपकुलाचलां वसुमतीमाक्रम्य सप्तान्तरां
सर्वां द्यामपि सस्मितेन हरिणा मन्दं समालोकितः।

परगुणासहिष्णुतया निर्भरमतिमात्रं फुल्लोऽञ्चितो रोम्णां यो निकरस्तस्माद् व्यावल्गदुत्फुल्लसंकुचिताग्रभागं यदूधः स्तनस्तस्मात् स्रवद्भिः पीयूषाणां प्रकरैः प्रवाहैः सुरेन्द्रसुरभिः कामधेनुः प्रावृषः पयोद इवाचरति निरन्तरं प्रवहतीत्यर्थः।

अत्र विभावादिभिः परिपोषितोऽप्युत्साहो राजस्तुतिगुणीभूतत्वान्न रसपदभागित्युपपादयति—अत्रेत्यादिना। एवंविधे स्थल एव रसवदलङ्कारत्वं प्राचामिष्टम्। असूयेति। गुणेषु दोषत्वबुद्धिरसूयाऽक्षमारूपा चेर्ष्येति सा भिन्नैवासूयाजन्येति बोध्यम्। एतच्च मर्मप्रकाशानुसारेण। वस्तुत एतादृशेर्ष्याऽसूययोर्जन्यजनकभावे विपर्यासो मर्मप्रकाशकृतः। पण्डितराजेन वक्ष्यमाणाया असूयायास्तु मर्मप्रकाशोक्तेर्ष्यया भेदो न स्पष्टः। एवञ्चात्रादृष्टकारणभेदकृतो भेदो द्रष्टव्य ईर्ष्यासूययोः। यद्वान्योत्कर्ष-दर्शनादिजन्यः स्वापकर्षबुद्धिविशेषः तादृशबुद्धिजन्य आक्रोशो वेर्ष्येति मन्तव्यम्। अमर्ष एव वा सा।

साब्धिद्वीपेत्यादि। पदत्रयपरिमितां भूमिं वामनाय प्रतिश्रुतवतो दैत्यराजस्य

में जो गुदगुदी लग गई है उसके कारण यह (कामधेनु) वर्षाकालिक बादल के समान दूध की धारा बहा रही है॥''

यहाँ इन्द्र की सभा में स्थित सभी सज्जन (देववृन्द) जिनके लिए कामधेनु दूध की धारा बहा रही है, कामधेनुगत दुग्धदानोत्साह के आलम्बन हैं। भूमण्डल से लौटकर आये स्वर्गीय प्रतिष्ठित बन्दी-गण के मुख से राजा के अधिकाधिक दान-प्रवाह का श्रवण उद्दीपन विभाव है। स्तनों से बहने वाली दूध की धारा अनुभाव है और असूया आदि सञ्चारिभाव हैं। इस प्रकार विभावादि से कामधेनु-गत उत्साह का अभिव्यञ्जन तो यहाँ होता हीं है किन्तु इसे रसध्वनि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस पद्य में राजा की स्तुति के हीं प्रधान रूप में वक्ता का तात्पर्य-विषय होने से उक्त उत्साह प्रधान नहीं है अपि तु वह राज-स्तुति का अङ्ग है॥

इसी अङ्गत्व के कारण निम्ननिर्दिश्यमान पद्य में भी बलि का प्रतीयमान दानोत्साह दानवीरध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता—

प्रादुर्भूतपरप्रमोदविदलद्रोमाञ्चितस्तत्क्षणं
व्यानम्रीकृतकन्धरोऽसुरवरो मौलिं पुरो न्यस्तवान् ॥

इह च भगवद्वामनालम्बनः, तत्कर्तृकमन्दनिरीक्षणोद्दीपितः रोमाञ्चादिभिरनुभावितः, हर्षादिभिः पोषित उत्साहो व्यज्यमानोऽपि गुणः ।

बलेर्दानोत्साहव्याजमुखेन स्तुतिरियम् । सस्मितेनेषद्धसता हरिणा वामनेन एकेन पादेन अब्धिभिः सागरैः द्वीपैरष्टभिश्च कुलपर्वतैः सहितां सप्तान्तरामन्तर्वर्त्तिसप्तप्राकारघटितां वसुमतीम् पृथिवीम्, द्वितीयेन च पादेन सर्वां द्याम् ऊर्ध्वलोकमाक्रम्य मन्दं समालोकितोऽसुरवरो बलिः भगवत्कृपाकटाक्षपातेन प्रादुर्भूतोऽभिव्यक्तो यः परमः प्रमोदस्तेन निमित्तेन विदलन् परिस्फुटन् यो रोमाञ्चः स सञ्जातो यस्य तथा भूतोऽथ च तत्क्षणम् समालोकनकाल एव व्यानम्रीकृतः कन्धरो येन स मौलिं स्वशिरो वामनस्य पुरस्तृतीयपादविन्यासाय न्यस्तवान् इति पद्यार्थः । यद्वाऽत्र पद्ये सप्तान्तरामिति द्यामित्यस्यैव विशेषणम्, भुव आदीनां षण्णामूर्ध्वलोकानामाद्यन्तौ समादाय सप्तावकाशसम्भवात् । व्यानम्रीकृतेत्यत्राभूततद्भावार्थकेन च्विप्रत्ययेनेतः पूर्वं कन्धरस्य व्यानम्रत्वाभावः प्रतिपाद्यते । एतेन स्तुतिप्रकर्षः सूच्यते ॥

अत्र दानोत्साहस्य विभावादिभिर्व्यङ्ग्यत्वेपि परकृतबलिस्तुतिं प्रति गुणीभूतत्वात्तस्य न रसध्वनित्वमित्युपपादयति—इहेत्यादिना । हर्षादिभिरिति । अत्र प्रमोदस्य वाच्यत्वेन व्यभिचारित्वाभावाद्व्यभिचारित्वेन निर्दिष्टो हर्षः प्रमोदाद्भिन्न एवेति स्थितौ 'इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः' इति भावध्वनिप्रकरणे वक्ष्यमाणत्वेन विषयजन्यं सुखं हर्ष इति, यच्च विषयाभिव्यक्तं तत् प्रमोद इति भेदोऽनयोर्ज्ञेयः । तथा च हर्षस्य चित्तवृत्तिविशेषरूपता, प्रमोदस्य च तद्भिन्नस्यात्मरूपता सूचिता भवति । अत एव प्रमोदस्य पर इति विशेषणमप्युपात्तम् । तथा च न हर्षस्य व्यभि-

---

"जब भगवान् वामन ने एक विक्रम (पग) से सात समुद्रों, सात द्वीपों और सात (अथवा आठ) कुलपर्वतों से युक्त सम्पूर्ण पृथिवी का और दूसरे विक्रम से सात परकोटे वाले स्वर्गलोक का आक्रमण कर तीसरे विक्रम के लिए स्थान पाने की दृष्टि से मुस्कुराकर बलि की ओर तिरछी नजर से देखा तब बलि को जो परमानन्द की अनुभूति हुई उससे उसका सारा शरीर रोमाञ्चित हो उठा और उसने तत्काल अपनी गर्दन झुकाकर भगवान् के सामने उनके तीसरे विक्रम के लिए अपना शिर समर्पित कर दिया ॥"

इस कथन में बलि के दानोत्साह का आलम्बन विभाव भगवान् वामन हैं, उनका बलि पर तीसरे विक्रम के स्थान के लिए कटाक्षपात उद्दीपन विभाव है, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं और रोमाञ्चादि से व्यज्यमान हर्ष (आनन्दाकारा चित्त-

प्रागन्यगतस्यैव प्रकृते राजगतस्यापि तस्य राजस्तुत्युत्कर्षकत्वात्। एतेन 'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति श्रीवत्सलाञ्छनोक्त-मुदाहरणं परास्तम्, तस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन रसध्वनिप्रसङ्गेऽनुदाहरणीयत्वात्।

चारिणोऽभिव्यङ्ग्यत्वहानिः। अत एव च तृतीयचरणस्यादौ 'आविर्भूतपर०' इति पाठः श्रेयान् इति मन्यामहे। प्रागन्येत्यादि। यदा पूर्वोक्ते यस्योद्दामेत्यादिपद्ये राजभिन्नकामगवीगतस्योत्साहस्यापि कविकृतया राजस्तुतेरुत्कर्षाधायकत्वात् स्तुत्यङ्गत्वं तदात्र सुतरामसुरराजबलिगतस्य दानोत्साहस्य कविकृतबलि-स्तुत्युत्कर्षाधायकत्वेन स्तुत्यङ्गत्वमिति न तस्य ध्वनित्वमित्यर्थः। एतेन = अन्याङ्ग-भूतस्य रसस्य ध्वनिव्यपदेश्यत्वाभावेन। त्यागः सप्तेत्यादि। इदं च वीरचरिते शिवधनुर्भङ्गेन कुपितस्य परशुरामस्य शमनाय रामकृता तत्स्तुतिः। वत्सलाञ्छनः काव्यप्रकाशादिटीकाकृत्। विश्वनाथेनापीदमेव दानवीरोदाहरणमुक्तम्। पूर्णं च पद्यमेवं पठ्यते तत्र—

उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान् देवः पिनाकी गुरुः
शौर्यं यत्तु न तद् गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः
ब्रह्मक्षत्रतपोनिधेर्भगवतः किं किं न लोकोत्तरम्॥

इति। अत्र चतुर्थपादेन स्पष्टमेव वक्तू रामभद्रस्य परशुरामस्तुतौ तात्पर्यावधारणात् प्रतीयमानोपि परशुरामगतो दानोत्साहस्तदीयस्तुतौ गुणीभूतत्वान्न ध्वनि-व्यपदेशार्ह इति सन्दर्भार्थः।

वृत्ति) आदि व्यभिचारिभाव हैं। इस प्रकार यहाँ बलिनिष्ठ दानोत्साह व्यज्यमान अवश्य है, किन्तु यह प्रधान रूप में विवक्षित नहीं है। परन्तु जब पूर्वनिर्दिष्ट 'यस्योद्दाम·····' इत्यादि पद्य में कामधेनु का व्यज्यमान उत्साह प्राधान्येन विवक्षित राज-स्तुति का अङ्ग है तब यहाँ तो बलि का दानोत्साह प्रधान रूप में वक्तृ-तात्पर्यविषयीभूत बलि की स्तुति का अङ्ग है हीं। अतः इसे दानवीररस का उदाहरण देना उचित नहीं।

इस प्रकार गुणीभूत उत्साह का रसध्वनिपदव्यपदेश्य न होना जब प्रमाणित हो चुका तब काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों के टीकाकार 'वत्सलाञ्छन' द्वारा जो महावीर-चरित के द्वितीय अङ्क से दानवीररसध्वनि का उदाहरण दिया गया है वह असङ्गत सिद्ध हो जाता। उदाहृत पद्य का अर्थ निम्ननिर्दिष्ट है—

(हे भगवन्? आप ब्राह्मणोचित एवं क्षत्रियोचित दोनों प्रकार के तप के निधान

ननु 'अकरुणमवकृत्य—' इत्यत्रापि प्रतीयमानस्य दानवीरस्य कर्णस्तुत्यङ्गत्वात्कथं ध्वनित्वमिति चेत्? सत्यम्। अत्र कवेः कर्णवचनानुवादमात्रतात्पर्यकत्वेन कर्णस्तुतौ तात्पर्यविरहात्, कर्णस्य च महाशयत्वेनात्मस्तुतौ तात्पर्यानुपपत्तेः स्तुतिरवाक्यार्थ एव। परं तु वीररसप्रत्ययानन्तरं तादृशोत्साहेन लिङ्गेन स्वाधिकरणे साऽनुमीयते। राजवर्णनपद्ये तु राजस्तुतौ तात्पर्याद्वाक्यार्थतैव तस्याः।

उदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्व्यतिरेकाभावं शङ्कते—नन्विति। अकरुणमवकृत्येत्यादिवचनस्य मूलवक्ता कर्ण एवेति तस्य स्तुतितात्पर्यकत्वे स्वकर्तृकस्तुत्यापत्तेर्महापुरुषत्वहानिः कर्णस्य प्रसज्यते। प्रत्युदाहरणेषु पुनः कवेरेव मूलवक्तृत्वान्न तथेति तेषां स्तुतितात्पर्यकत्वे न किमप्यनिष्टं प्रसज्यत इति भवत्युभयोर्व्यतिरेक इत्याशयः। स्वाधिकरणे=उत्साहाधिकरणे कर्णे। अनुमीयत इति। तथा च स्तुतेरवाक्यार्थत्वान्न तस्या दानोत्साहं प्रत्यङ्गित्वमिति भावः।

हैं—आपका कौन-सा गुण लोकोत्तर नहीं? आपका जन्म महर्षि जमदग्नि से हुआ है, भगवान् पिनाकपाणि शिव आपके गुरु हैं, आपके पराक्रम की शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती—वह तो आपके वीर-कर्मों से ही अनुमेय है,) आपका त्याग भी ऐसा है जिसकी पराकाष्ठा है सात समुद्रों से परिवेष्टित सम्पूर्ण पृथिवी का निश्छल दान॥

शिवधनुर्भङ्ग के बाद स्वयम्वरभूमि में उपस्थित अत्यन्त कुपित परशुराम के प्रति रामचन्द्र की यह उक्ति है। यहाँ (तृतीय पाद में) यद्यपि वाच्य-आक्षेप्य विभावादि से परशुराम का दानोत्साह अभिव्यज्यमान है तथापि वह वक्तृतात्पर्यविषयीभूत परशुराम की स्तुति का अङ्ग है। अतः इसे रसध्वनि का उदाहरण देना अनुचित है।

अब प्रश्न यह है—'अकरुणमवकृत्य·········' इत्यादि पद्य में भी जब कर्ण की स्तुति प्रतीयमान है तो फिर कर्ण के दानोत्साह को उसका अङ्ग होना चाहिए; ऐसी स्थिति में वह रसध्वनि का उदाहरण कैसे माना जा सकता? इसका यह उत्तर है—यहाँ स्तुति की दो सम्भावनाएँ हैं—एक कवि द्वारा वह स्तुति की गई हो और दूसरी यह कि कर्ण स्वयम् अपनी स्तुति कर रहा हो। इनमें पहला विकल्प मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि कवि का तात्पर्य-विषय कर्ण के वचन का अनुवादमात्र है, कर्ण की स्तुति नहीं। दूसरा विकल्प भी असंगत है, क्योंकि कर्ण जैसे महापुरुष का आत्मश्लाघा में कभी तात्पर्य हो नहीं सकता। अतात्पर्यविषयीभूत पदार्थ कदापि वाक्यार्थ का अङ्ग नही होता। अतः अवाक्यार्थ कर्ण-स्तुति को व्यङ्ग्य मानना असम्भव है। हाँ, वीररस की प्रतीति के पश्चात् वही रसकाष्ठापन्न प्रकृष्ट

द्वितीयो यथा—

न कपोत भवन्तमण्वपि स्पृशतु श्येनसमुद्भवं भयम्।
इदमद्य मया तृणीकृतं भवदायुःकुशलं कलेवरम्॥

अथवैवं विन्यासः—

न कपोतकपोतकं तव स्पृशतु श्येन मनागपि स्पृहा।
इदमद्य मया समर्पितं भवते चारुतरं कलेवरम्॥

दानवीरमुदाहरति—द्वितीयेत्यादिना।

न कपोतेत्यादि। शिविपरीक्षार्थं कपोतवेषधारिणं धर्मं श्येनवेषधारीन्द्र आचक्राम। तस्माच्च श्येनाद्बिभ्यत् कपोतः शिविशरणमात्मरक्षार्थमाजगाम। तं च कपोतं प्रति शिवेरियमुक्तिः। हे कपोत ? भवन्तं श्येनसमुद्भवमण्वपि भयं न स्पृशतु, यतोऽद्येदं भवदायुःकुशलं क्षेमकरं कलेवरं मया तृणीकृतम् तृणवदुत्सृष्टं श्येनाय क्षुन्निवृत्त्यै। तथा चैतेन मदीयेन शरीरेण पूर्णोदरः श्येनो भवन्तं नेच्छेदिति पद्यार्थः।

अत्र पद्ये श्येनस्य सम्बोध्यत्वाभावात् कपोतमात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तः श्येनोऽनवहित-शिविवचनः सहसैव कपोतं निपतेदिति तस्य भयशङ्कायां सत्यां पूर्वार्द्धमसङ्गतं स्यादिति हेतोः श्येनाभिमुखीकारकं विन्यासान्तरमाह—अथवेत्यादिना।

न कपोतकपोतकमिति। कपोतकपोतकयोरुभयत्र 'अल्पे' कन् प्रत्ययः। एतेन

उत्साह कर्ण की आत्म-स्तुति अथवा कविकृत कर्ण-स्तुति का अनुमापक हो सकता है। इसके विपरीत 'यस्योद्दाम.........' इत्यादि पद्यद्वय में राजा और बलि की स्तुतियों के वक्तृतात्पर्यविषय होने से उनमें स्तुतियों की वाक्यार्थता स्पष्ट है। अतः यहाँ तो वाक्यार्थभूत दानोत्साह एवं स्तुतियों में गुणप्रधानभाव का स्वीकार उचित हीं है॥

अब दयावीर का उदाहरण प्रस्तुत है—

"अरे कपोत ? इस बाज का भय तुझे जरा भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि तेरे जीवन की रक्षा के लिए मेरा यह शरीर तेरे बदले उस बाज को समर्पित है॥"

इस पद्य में कपोत सम्बोध्य है। किन्तु उसे उक्त आश्वासन देने पर भी उस आश्वासन को न जानने वाला बाज कदाचित् सहसा हीं उसके ऊपर आक्रमण कर सकता है। अतः बाज का ही सम्बोधन कर ऐसी रचना करनी चाहिए—

"अरे बाज ! इस क्षुद्र कपोत के बच्चे की तुझे जरा भी स्पृहा नहीं करनी चाहिए। देख—उसके बदले मेरा यह शरीर, जो उससे स्वाद और मात्रा दोनों में उत्कृष्ट है, तुझे समर्पित है॥"

एषा शिवेः कपोतं श्येनं प्रति चोक्तिः। अत्र कपोत आलम्बनम्। तद्गतं व्याकुलीभवनमुद्दीपनम्। तस्य कृते स्वकलेवरार्पणमनुभावः। न चात्र शरीरदानप्रत्ययाद्दानवीरध्वनित्वापत्तिरिति वाच्यम्, श्येनकपोतयोर्भक्ष्यभक्षकभावापन्नत्वेन शिविशरीरस्यार्थिनोऽभावात्तदप्रतिपत्तेः। श्येन-

---

क्षुद्रस्य कपोतस्य यः क्षुद्रः पोतोऽर्भकः तस्मै स्पृहा कस्यापि न घटते यदि तत्स्थाने ततोऽधिकं चारु शरीरं प्रत्यर्प्यते केनचिदिति मनाक्स्पृहाऽभावे श्येनगतत्वेनाभिमते हेतुरुक्तः। पद्यार्थः स्पष्टः।

कपोतं श्येनं प्रतीति। यथाक्रमं पूर्वमुत्तरं च पद्यमित्यर्थः। कपोत आलम्बनमिति। पूर्वपद्ये कपोतः साक्षादेवालम्बनम्, द्वितीयेऽपि कपोतकपोतकस्य कपोतत्वात्स आलम्बनमित्युक्तम्।

शरीरदानमित्यतः पूर्वं शिविकर्तृकं श्येनोद्देश्यकमिति योजनीयम्। आपन्नत्वेनेति। कपोतशरीरस्य दानप्रतीतौ सत्यामपीति शेषः। अर्थिन इति। शिविशरीरविषयकार्थित्वसहितस्य श्येनस्याभावादित्यर्थः। अत्र विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः। तदप्रतिपत्तेः=शिविशरीरकर्मकदानाप्रतीतेः। यमुद्दिश्य

ये दोनों पद्य राजा शिवि की क्रमशः कपोत और बाज के प्रति उक्तियाँ है। दोनों में हीं शिविनिष्ठ दया का आलम्बन कपोत है। उस कपोत की व्याकुलता उद्दीपन विभाव है और उसके बदले शिवि द्वारा अपने शरीर का समर्पण अनुभाव है। धृति आदि संचारिभाव भी व्यङ्ग्य हैं हीं। अतः यहाँ दयावीर रस है। यद्यपि यहाँ शिवि द्वारा किए जाने वाले अपने शरीर के दान से शिवि के दानोत्साह की प्रतीति होती-सी दिखाई पड़ती तथापि इसे दानवीर का उदाहरण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ शरीर का समर्पण दान है हीं नहीं। दान तो तब सम्भव है जब कोई सम्प्रदान (=लेने वाला) हो। यहाँ श्येन कपोत-शरीर का अभिलाषी है, शिवि के शरीर का नहीं। सम्प्रदान वह होता जो देय वस्तु लेना चाहता हो या कुछ देने के लिए दाता को प्रेरित करता हो। शिवि को श्येन शरीर-दान के लिए न तो प्रेरित करता और न वह अब तक शिवि का शरीर लेने के लिए अपनी इच्छा हीं व्यक्त कर पाया है। अतः शिवि के शरीर के समर्पण की दृष्टि से श्येन (बाज) सम्प्रदान हीं नहीं, फिर उसको दान कैसे किया जा सकता। यदि शिवि को उनके शरीर के समर्पण की प्रेरणा न देने पर और उस शरीर को खाने के लिए प्राप्त करने की इच्छा से रहित होने पर भी श्येन को अर्घ्यादिदान में सूर्य आदि की तरह सम्प्रदान मान भी लिया जाय तो भी यह समर्पण दान नहीं कहला सकता, क्योंकि किसी वस्तु के बदले में कुछ देना विनिमय है, दान नहीं। दान तो वस्तुतः वह है जो विना कुछ लिए हीं

शरीरनिवेदनस्य कपोतशरीरत्राणोपाधिकतया विनिमयपदवाच्यत्वात् ।

तृतीयो यथा—

रणे दीनान्देवान् दशवदन विद्राव्य वहति
प्रभावप्रागल्भ्यं त्वयि तु मम कोऽयं परिकरः ।
ललाटोद्यज्ज्वालाकवलितजगज्जालविभवो
भवो मे कोदण्डच्युतविशिखवेगं कलयतु ॥

किञ्चिद्दीयते स सम्प्रदानम्, तदभावे दानं न सम्पद्यते । अत एव च सम्प्रदानस्यापि कारकत्वं निर्वहति । तथा च श्येनस्य प्रेरकरूपार्थित्वाभावात्सम्प्रदानत्वाभावे तदुद्देश्यकदानानुपपत्ते रित्याशयः । अतश्च द्वितीये पद्ये 'भवते' इति न सम्प्रदाने चतुर्थी, अपि तु 'क्रियार्थोपपदस्य० इत्येव, भवन्तमनुकूलयितुमिति चार्थः । ननु 'स्वशरीरं मह्यं दीयताम्' इत्येवं शिवेरयाचमानस्य श्येनस्य प्रेरकरूपार्थित्वाभावेऽपि सम्प्रदानत्वं न विघटते, प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुकूलव्यापारशून्यस्यापि सूर्यादेरर्घ्यादिकं प्रति सम्प्रदानत्वस्य 'अनिराकरणात् कर्त्तुस्त्यागाङ्गं कर्मणेप्सितम्' इत्यादिवैयाकरण-सम्प्रदायसिद्धत्वादित्यत आह—श्येनशरीरनिवेदनस्येत्यादि । कपोतशरीरत्राणे-त्यनेन त्रातव्यकपोतशरीरकर्मकश्येनकर्तृकस्त्यागोऽभिप्रेतः स्वोपकाररूपः । उपकार-श्चात्र लौकिकोऽभिप्रेतः । तथा च श्येनस्योपकारित्वप्रतीत्या तदुद्देश्यकं समर्पणं न तात्त्विकं दानमिति सूच्यते ।

युद्धवीरमुदाहरति—तृतीय इत्यादिना । रण इत्यादि । हे दशवदन ? दीनान् कातरान् देवान् रणे विद्राव्य पराजित्य प्रभावप्रागल्भ्यं शौर्यधृष्टतां वहति त्वयि वराके दीनदेवविद्रावणे रावणे मम शौर्यप्रकर्षवतो रामस्यायं परिकरो युद्धोद्यमः कः ? न कोऽपि, क्षुद्रस्त्वं न मम प्रतिभट इति मम कोदण्डाद्धनुषश्च्युतस्य विशिखस्य वेगं ललाटादुद्यन्त्या ज्वालया कवलितो भस्मसात्कृतो जगज्जालस्य ब्रह्माण्डमण्डलस्य विभवो येन स भवो महेश्वरः कलयतु जानातु—इति पद्यार्थः ।

किया जाता । इस प्रकार कपोत के शरीर के बदले शिवि द्वारा अपने शरीर का समर्पण जब दान हीं नहीं तो शिवि में दानोत्साह की प्रतीति कहाँ हो सकती ? अतः इस पद्य में दानवीरध्वनि नहीं मानी जा सकती ॥

अब युद्धवीर का उदाहरण दिया जा रहा है—

"अरे रावण ? युद्ध में दीन-हीन देवताओं को जीतकर तूँ अपने पराक्रम की महिमा बखान रहा है, फिर तेरे जैसे कायर के साथ लड़ने की मेरी तैयारी कैसी ! मेरे धनुष से छूटे बाणों के वेग का आकलन तो एक मात्र जगज्जनक भगवान् भव (हर = शङ्कर) कर सकते जिन्होंने अपने ललाट से निकलने वाली प्रचण्ड ज्वाला से इस भवजाल के वैभव को भस्मसात् कर दिया है ॥"

एषा दशवदनं प्रति भगवतो रामस्योक्तिः। इह भव आलम्बनम्। रणदर्शनमुद्दीपनम्। दशवदनावज्ञाऽनुभावः। गर्वः संचारी। वृतिरत्र देवानां प्रस्तावे तद्गतकातर्यप्रकाशनद्वारा वीररसानालम्बनत्वावगतयेऽनुद्धतैव। दशवदनप्रस्तावे तु देवदर्पदमनवीरत्वप्रतिपादनायोद्धतापि तस्यावज्ञया रामगतोत्साहानालम्बनत्वेन तदालम्बनस्य रसस्याप्रत्ययान्न प्रकर्षवती। भगवतो भवस्य तु परमोत्तमालम्बनविभावत्वात्तत्प्रस्तावे तदालम्बनस्यौजस्विनो वीररसस्य निष्पत्तेः प्रकृष्टोद्धता।

अत्र देवानां दीनत्वविशेषणं तद्विद्रावणे रावणे क्षुद्रत्वं प्रतिपादयद्रामकर्त्तृकां तदवज्ञां द्योतयति। अस्मदर्थस्य च प्रसङ्गादेव प्रतीतेरन्यथा तत्प्रयोगादपि तत्प्रतीत्यभावादुभयत्रास्मच्छब्दोऽर्थान्तिरसंक्रमितवाच्यध्वनिना शौर्यप्रकर्षविशिष्टं रामं प्रतिपादयति, तेन च गर्वो व्यज्यते। पद्येऽत्र भव शब्दप्रयोगौचित्यं चिन्त्यम्।

अत्र देवरावणोभयालम्बनकस्य युद्धवीरस्य यथा प्रतीत्यभावस्तदुपपादयति—वृत्तिरत्रेत्यादिना। प्रस्तावे=वर्णने। प्रकर्षवतीति। प्रकर्षश्चात्र वृत्ते

युद्धभूमि में रावण के प्रति भगवान् राम की यह उक्ति है। इसमें भगवान् शङ्कर आलम्बन हैं। युद्धदर्शन उद्दीपन विभाव है। दशमुख रावण का तिरस्कार अनुभाव है। व्यज्यमान रामनिष्ठ गर्व व्यभिचारिभाव है। यहाँ वृत्तियाँ (वर्णरचना) भी अर्थानुरूप शिथिल अथवा उद्धत (प्रौढ़) हैं। जैसे—देवताओं के प्रसङ्ग में (रणे दीनान् देवान्) देवों की कायरता के प्रतिपादन में अनुकूल शिथिला (कोमला) वृत्ति है जिससे यह स्पष्ट हो जाता कि कायर देवता वीररस के आलम्बन नहीं हैं। दशमुख के वर्णन (विद्राव्य…………प्रागल्भ्यम्) में उद्धता वृत्ति अवश्य है जिससे देवता के दर्प को चूर-चूर करने वाले रावण की वीरता प्रकट होती; किन्तु 'त्वयि तु……' इत्यादि कथन से रावण की उपेक्षा प्रकट हो जाने से रावण भी रामनिष्ठ युद्धोत्साह का आलम्बन नहीं हो सकता। अतः रावणालम्बनक वीररस की भी प्रतीति नहीं होती। अत एव इस अंश में वृत्ति उद्धता तो है परन्तु प्रकृष्टोद्धता नहीं है। यह विवक्षितार्थ के अनुरूप हीं है। रामनिष्ठ उत्साह के भगवान् भव हीं परम उपयुक्त आलम्बन हैं। अतः उस प्रसङ्ग में 'ललाटोद्यज्ज्वाला………' आदि में शङ्करालम्बनक वीररस की प्रतीति होने से प्रकृष्टोद्धृता वृत्ति है[1]। 'भव' के स्थान में 'हर' शब्द का प्रयोग उचित है।

---

१. यद्यपि वृत्तियों में रसव्यञ्जकता साक्षात् नहीं होती तथापि तत्तद्रसोपयोगी गुणों के अभिव्यञ्जक होने से वृत्तियों को भी रसाभिव्यञ्जन में सहकारी माना जाता है।

चतुर्थो यथा—

सपदि विलयमेतु राज्यलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो मम तु मतिर्न मनागपैति धर्मात्॥

एषाऽधर्मेणापि रिपुर्जेतव्य इति वदन्तं प्रति युधिष्ठिरस्योक्तिः। अत्र धर्मविषय आलम्बम्। 'न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः' इत्यादिवाक्यालोचनमुद्दीपनम्। शिरश्छेदाद्यङ्गीकारोऽनुभावः। धृतिः संचारिणी।

इत्थं वीररसस्य चातुर्विध्यं प्रपञ्चितं प्राचामनुरोधात्। वस्तुतस्तु बहवो वीररसस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते। तथा हि—प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादिपद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपैति

रसप्रत्ययोपकारकत्वमेवेत्येतेन प्रकटम्।

धर्मवीरमुदाहरति—चतुर्थ इत्यादिना। सपदीत्यादि पद्यार्थः स्फुटः।

धर्मविषयः शत्रुः, यमुद्दिश्य धर्माचरणं प्रतिज्ञातम्। 'धर्मस्य विषयः सम्बन्धयनुष्ठानम्, धर्म एव वाऽनुष्ठानोद्देश्यतया विषयः' इति त्वपव्याख्यानम्। प्राचीने=पूर्वोदाहृते। तदन्तर्गततया=धर्मान्तर्गततया। अत्रार्थे मन्वादिवचनं प्रमाणम्। तासां वाचामधिदेवता सरस्वतीत्यर्थः।

अब 'धर्मवीर' का उदाहरण प्रस्तुत है—

"चाहे मेरी राज्यलक्ष्मी तत्काल हीं विनष्ट हो जाये या मेरे ऊपर तलवारों की मार पड़े या मेरा शिर (प्राण) यमराज हर ले पर मैं धर्मपथ से जरा भी नहीं हट सकता॥"

'अधर्मपथ पर चल कर भी शत्रु को जीतना चाहिए'—ऐसा कहने वाले व्यक्ति के प्रति युधिष्ठिर की यह उक्ति है। यहाँ वह शत्रु आलम्बन है जिसके साथ युधिष्ठिर ने धर्मपथावलम्बन की प्रतिज्ञा की है। 'काम की पूर्त्ति, भय या लोभ से, यहाँ तक कि अपने प्राण बचाने के लिए भी धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए' इत्यादि महाभारतादिप्रोक्त अनुशासनों का स्मरण उद्दीपन विभाव है। धर्मानुष्ठान के लिए अपने शिरश्छेदन आदि का स्वीकार अनुभाव है। धृति सञ्चारिभाव है। अतः इन विभावादि से यहाँ धर्मवीर की व्यञ्जना होती है॥

इस प्रकार वीर रस के उक्त चार भेदों का निरूपण प्राचीनमतानुसार किया गया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि जैसे शृङ्गार के अनेकानेक भेद हो सकते उसी तरह वीर रस के भी बहुत भेद सम्भव हैं; केवल पूर्वोक्त चार हीं भेद नहीं। उदाहरणार्थ, 'सपदि विलयमेतु·········' इत्यादि पद्य का चतुर्थ पाद यदि 'मम तु

सत्यात्' इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यान्तरतां प्रापिते सत्यवीरस्यापि संभवात्। न च सत्यस्यापि धर्मान्तर्गततया धर्मवीररस एव तद्वीरस्याप्यन्तर्भाव इति वाच्यम्, दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात्पृथग्गणनानौचित्यात्।

एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते।

यथा—

अपि वक्ति गिरां पतिः स्वयं यदि तासामधिदेवतापि वा।
अयमस्मि पुरो हयाननस्मरणोल्लङ्घितवाङ्मयाम्बुधिः।।

अत्र बृहस्पत्याद्यालम्बनः सभादिदर्शनोद्दीपितो निखिलविद्वत्तिरस्कारानुभावितो गर्वेण संचारिणा पोषित उत्साहो वक्तुः प्रतीयते। ननु चात्र युद्धवीरत्वम्, युद्धत्वस्य वादसाधारणस्य वाच्यत्वाद्, इति चेत्? क्षमावीरे किं ब्रूयाः?

वादसाधारणस्येति। प्रत्यवस्थानं युद्धम्। तच्च वादेऽपि वादिप्रतिवादिकथात्मके तुल्यमित्याशयः।

क्षमेति। प्रतीकारेच्छायां जातायामपि विवेकात् प्रतीकाराकरणं क्षमा

मतिर्न मनागपैति सत्यात्' इस रूप में परिवर्तित कर दिया जाय तो यही पद्य सत्यवीर रस का उदाहरण बन सकता है। धर्माङ्गभूत सत्य के धर्मान्तर्गत होने से सत्यवीर का धर्मवीर में अन्तर्भाव हो जाने के कारण धर्मवीर से अतिरिक्त सत्यवीर मानने की कोई आवश्यकता नहीं—यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि तब तो दान और दया के भी धर्मान्तर्गत होने से दानवीर तथा दयावीर को भी एक-एक भेद मानना अनुचित हो जाएगा। अत: दानवीर आदि यदि धर्मवीर से भिन्न माने जाँय तो सत्यवीर को भी उससे भिन्न हीं मानना चाहिए।

इसी प्रकार पाण्डित्यवीर की भी निम्ननिर्दिष्ट पद्य में प्रतीति होती। जैसे—

"लौकिक विद्वानों की तो कोई बात हीं नहीं, यदि बृहस्पति या साक्षात् वाग्देवता सरस्वती भी मेरे विपरीत पक्ष का आलम्बन करें तो भी मेरे लिए अपने पक्ष के समर्थन में कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है, क्योंकि भगवान् हयग्रीव के स्मरण के प्रभाव से मैं सम्पूर्ण वाङ्मय-रूपी समुद्र को पार कर चुका हूँ।।"

यहाँ बृहस्पति आदि आलम्बन विभाव हैं। पण्डितों के वादार्थ आयोजित सभा तथा उसमें किये गये काकु आदि उद्दीपन विभाव हैं। सभी विद्वानों का तिरस्कार अनुभाव है और व्यज्यमान गर्व व्यभिचारिभाव है। इन सब से परिपुष्ट वक्ता का पाण्डित्योत्साह पाण्डित्यवीर की अवस्था को प्राप्त है। घात-प्रतिघातस्वरूप युद्ध में वाचिक-घात-प्रतिघातात्मक वाद (कथा) के भी समाविष्ट होने से यह

यथा—

अपि बहलदहनजालं मूर्ध्नि रिपुर्मे निरन्तरं धमतु।
पातयतु वाऽसिधारामहमणुमात्रं न किंचिदाभाषे॥

क्षमावत उक्तिरियम्। बलवीरे वा किं समादध्याः?

यथा—

परिहरतु धरां फणिप्रवीरः सुखमयतां कमठोऽपि तां विहाय।
अहमिह पुरुहूत पक्षकोणे निखिलमिदं जगदक्लमं वहामि॥

पुरुहूत प्रत्येषा गरुत्मत उक्तिः।

बहलदहनजालम् = प्रचुरमग्निपुञ्जम्। धमतु = प्रज्वालयतु वायुसंयोगेन। फणिप्रवीरः = शेषनागः। अयताम् = प्राप्नोतु। जगदक्लममित्यत्र जगदण्डकमिति पाठो मर्मप्रकाशोक्तो न कमपि विच्छित्त्यतिशयं प्रकाशयति।

युद्धवीर हीं है—ऐसा यदि कहा जाय तो भी क्षमावीर का अन्तर्भाव कहाँ कर सकते? जैसे—

"मेरा शत्रु चाहे मेरे शिर पर लहलहाती आग की भट्ठी जलाये या तलवार बरसाये, मैं तो उसके विरोध में कुछ बोलता तक नहीं, प्रतीकार करने की तो बात हीं नहीं उठती॥"

यह किसी क्षमाशील पुरुष की उक्ति है। यहाँ मूलवक्ता क्षमाशील पुरुष के प्रति अपराध करने वाला व्यक्ति आलम्बन है। 'क्षमासारा हि साधवः' इत्यादि क्षमाप्रशंसक शास्त्रवचन उद्दीपन विभाव हैं। शिर पर आग की भट्ठी जलाने आदि को स्वीकार कर लेना अनुभाव है। धृति आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सबसे क्षमावीर का अभिव्यञ्जन होता हीं है।

इसी तरह बलवीर का समावेश उपर्युक्त चार भेदों में कहाँ किया जाय? बलवीर का यह उदाहरण है—

"हे इन्द्र? शेषनाग इस पृथिवी को धारण करना छोड़ दे, कूर्मावतार भगवान् भी इसे छोड़कर आनन्द करें। इस सम्पूर्ण जगत् को तो मैं अपने पंख के एक कोने में हीं धारण कर सकता हूँ॥"

यह इन्द्र के प्रति गरुड़ की उक्ति है। इसमें शेषनाग आदि आलम्बन हैं। उनकी प्रशंसा का श्रवण उद्दीपन हैं। पृथिवी के धारण के लिए किये गये इच्छादि अनुभाव हैं। गर्व आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सबसे बलवीर रस की व्यञ्जना होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वीररस को पूर्वोक्त चार भेदों में हीं विभक्त करना केवल

ननु 'अपि वक्ति—' 'परिहरतु धराम्—' इति पद्यद्वये गर्व एव नोत्साहः, मध्यस्थपद्ये तु धृतिरेवध्वन्यते इति भावध्वनय एवैते न रसध्वनय इति चेत्? तर्हि युद्धवीरादिष्वपि गर्वादिध्वनितामेव किं न ब्रूयाः? रसध्वनिसामान्यमेव वा किं न तद्व्यभिचारिध्वननेन गतार्थयेः? स्थायिप्रतीतिर्दुरपह्नवा चेत्? प्रकृतेऽपि। अनन्तरोक्तपद्ये तु नोत्साहः प्रतीयते, दयावीरादिषु प्रतीयत इति तु राज्ञामा(राजा)ज्ञामात्रम्।

गर्व इति। पूर्वपद्ये स्वविद्याप्रकर्षज्ञानाधीनं परावहेलनम्, द्वितीये पुनः स्वबलोत्कर्षज्ञानाधीनं तदिति विवेकः। उत्साहो वीररसस्थायिरूपेण व्याख्यातपूर्वः। मध्यस्थं पद्यम् 'अपि बहलदहनजालम्' इत्यादि। धृतिः=शोकभयादिजन्योपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धैर्यादिशब्दाभिधेयः। रसध्वनिसामान्यम्=रसध्वनिमात्रम्, सर्वं रसध्वनिमिति भावः। तद्व्यभिचारिध्वननेन=तत्तद्रसव्यभिचारिणां तत्र तत्र रसध्वनिस्थाने ध्वननमिति सर्वत्रैव भावध्वनिस्वीकारेण। अनन्तरोक्तपद्ये=पाण्डित्यवीराद्युदाहरणत्वेनोपन्यस्ते पद्यसमूहे। उत्साहः पाण्डित्यक्षमाबलोपाधिकः स क्रमेण। आज्ञामात्रमित्यनेन न युक्तिसिद्धमिति प्रदर्शितम्। तथा च सम्भवत्सु चतुर्भ्योऽधिकेष्वपि वीरभेदेषु चतुर्णामेवाङ्गीकारः प्राचामालङ्कारिकाणां प्रौढिवादमात्रमित्याशयः सन्दर्भस्य।

यादृच्छिक है, प्रामाणिक नहीं।

अब प्रश्न यह है—'अपि वक्ति······' इत्यादि पद्य में पाण्डित्य का दर्प और 'परिहरतु धराम्·········' इत्यादि पद्य में बल का दर्प हीं अभिव्यज्यमान है, पण्डित्योत्साह और बलोत्साह नहीं; एवमेव 'अपि बहलदहनजालम्' इस मध्यगत पद्य में भी केवल धृति का अभिव्यञ्जन होता, क्षमोत्साह का नहीं; एवञ्च इन्हें क्रमशः पण्डित्यवीर, बलवीर और क्षमावीर के उदाहरण मानकर इनके आधार पर वीर रस के पूर्वोक्त चातुर्विध्य का निराकरण कैसे किया जा सकता? इसका उत्तर यह है—यदि पाण्डित्योत्साह आदि के स्थान में पाण्डित्यदर्प आदि भावों की हीं व्यञ्जना मान्य हो तब तो युद्धवीरादिस्थलों में भी युद्धदर्पादि की हीं प्रतीति मानिये, युद्धोत्साह आदि की नहीं; एवञ्च युद्धोत्साहादि की व्यञ्जना के आधार पर वीररस का उक्त चातुर्विध्य भी असंगत हो जाएगा। इस प्रकार सभी रसध्वनियों के स्थलों में उन उन भावों की हीं अभिव्यञ्जना स्वीकार कर सभी रसध्वनियों का हीं उच्छेद प्राप्त हो जाता। अतः यदि युद्धवीरादि-स्थलों में युद्धोत्साहादि की मुख्यतया व्यञ्जना इष्ट हो तो पाण्डित्यवीरादि की भी ध्वनि अवश्य मन्तव्य है। युद्धवीरादि इसलिए मान्य हैं कि इनके पूर्वनिर्दिष्ट उदाहरणों में युद्धोत्साहादि स्थायिभावों की प्रतीति

अद्भुतो यथा—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव ।
गलद्गगनगाम्भीर्यं वीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥

कदाचिद्भगवतो वासुदेवस्य वदनमालोकितवत्या यशोदाया इयमुक्तिः । अत्र वदनमालम्बनम् । अन्तर्गतचराचरजगज्जालदर्शनमुद्दीपनम् । हृतचेतनत्वम्, तेन गम्यं रोमाञ्चनेत्रस्फारणादि चानुभावः । त्रासादयो व्यभिचारिणः । नैवात्र विद्यमानापि पुत्रगता प्रीतिः प्रतीयते, व्यञ्जकाभावात् ।

चराऽचरेत्यादि । चराचरात्मकस्य जगज्जालस्य सदनमाश्रयः । अत्र विस्मयपोषकत्वादुद्देश्यविधेयभावव्यत्यासो गुण एव । गलद्गगनेत्यादि । गलद् यद् गगनं तस्व गाम्भीर्यमिव गाम्भीर्यं यत्र । गगनस्योर्ध्ववीक्षणे गाम्भीर्यं प्रसिद्धम्, तादृशं गगनं यदि निपतेत् तर्हि निपतितेऽपि तस्मिन् तद्गाम्भीर्यं स्यादेवेत्याशयः । एवमर्थे तु 'गलद्गगनगम्भीरम्' इति पाठः श्रेयान् स्यात् । अथवा गगनस्य गाम्भीर्यं गगनगाम्भीर्यम्, तद् गलत्तिरस्कुर्वद्वदनम्, अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् ।

का अपलाप नहीं किया जा सकता, परन्तु 'अपि व्यक्ति.........' आदि पद्यों में पाण्डित्योत्साहादि की व्यञ्जना नहीं होती; अतः पाण्डित्यवीरादि मान्य नहीं हैं— यह कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी निर्युक्तिक मान्यता तो राजाज्ञा मात्र में सम्भव है, विवेचकों की दृष्टि में नहीं। अतः पाण्डित्यवीरादि अनेकानेक सम्भावित भेदों की उपेक्षा कर वीर रस के केवल दानवीरादि चार भेद मानना असंगत है ॥

अद्भुत रस का उदारण निम्नलिखित है—

"हे कृष्ण ? तुम्हारे मुख को, जिसमें यह चराचरात्मक समस्त जगत् समाहित है और जो आकाश की भी गम्भीरता को अपमानित कर रहा है, देखकर मेरी तो चेतना हीं लुप्त हो गई है ॥"

किसी समय श्रीकृष्ण के पूर्ववर्णित मुख को देखकर यशोदा की यह उक्ति है। यहाँ उपरिवर्णित मुख आलम्बन है। मुख के अन्दर समस्त जगत् का दर्शन उद्दीपन विभाव है। चेतना की लुप्तता और इससे प्रतीयमान रोमाञ्च और आँखों का फैलना आदि अनुभाव हैं। गम्यमान त्रास आदि व्यभिचारिभाव हैं। अतः इन सबसे अभिव्यज्यमान विस्मय का रसपर्यन्त परिपाक होने से यह अद्भुत रस का उपयुक्त उदाहरण है। यद्यपि यशोदा की अपने पोष्य पुत्र श्रीकृष्ण में मातृसुलभ प्रीति है अवश्य तथापि वह यहाँ व्यङ्ग्य नहीं है, क्योंकि उदाहृत पद्य में उसका

प्रतीतायां वा तस्यां विस्मयस्य गुणत्वं न युज्यते। एवं कश्चिन्महापुरुषोऽयमिति भक्तिरपि तस्याः पुत्रे ममायं बाल इति निश्चयेन प्रतिबन्धादुत्पत्तुमेव नेष्टे। अतस्तस्यामपि विस्मयस्य गुणीभावो न शङ्क्यः।

यच्च सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतम्—

चित्रं महानेष तवावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः॥ इति,

प्रतीतायामित्यादि। यत्र विद्यमानत्वाद्वस्तुतस्तस्याः प्रतीतिः स्वीक्रियते तत्र परस्परविरुद्धत्वात्तत्प्रतिवध्योऽनुत्कटविस्मयो न संगच्छते, यत्र पुनरुत्कटो विस्मयः स्पष्टं प्रतीयते तत्रैतत्प्रतिबद्धा प्रीतिर्न प्रतीयते इति युगपदुभयोरसम्भवान्न प्रीतिविस्मययोरङ्गाङ्गिभावः शक्योपपाद इति तात्पर्यम्। प्रकृतपद्ये कथञ्चित् प्रतीयमानाऽपि प्रीतिरुत्कटं प्रतीयमानस्य विस्मयस्यात्मगुणीभावं न प्रतिपादयितुं क्षमा, अनुत्कटत्वादिति मर्मप्रकाशव्याख्यानम्। प्रीतिश्चात्र वात्सल्यरूपा प्रकृष्टविषयिण्याः परानुरक्तिरूपाया भक्तिपदाभिधेयाया विजातीयैव, अनयोरेव च प्रतिवध्यप्रतिबन्धकभावोऽनुभवानुरोधादिति बोध्यम्।

प्राचीनैः=काव्यप्रकाशकारैः। चित्रमित्यादि। बलिर्वामनमभिधत्ते। तवैष महान् नवश्चावतारश्चित्रम्, अलौकिकः। आश्चर्यमित्यपव्याख्यानम्, तथा सति स्थायिनो वाच्यत्वापत्तेः। एषा साक्षात्क्रियमाणा तव कान्तिः क्व? न कुत्रापीत्यर्थः। तव

अभिव्यञ्जक तत्त्व विद्यमान नहीं है। जहाँ प्रीति (वात्सल्य) व्यङ्ग्य होती वहाँ विस्मय की प्रतीति होती ही नहीं, क्योंकि उत्कट-अनुत्कट वात्सल्यस्वरूप प्रीति-विस्मय में विरोध होने से दोनों की एक साथ प्रतीति हो नहीं सकती। अतः उक्त प्रीति का प्रकृत में प्रतीयमान उत्कट विस्मय कभी गुण (अङ्ग) नही हो सकता। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के प्रति यशोदा का पुत्रभाव होने से श्रीकृष्ण में उनके महापुरुषत्व के कारण यशोदा की भक्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि पुत्रभाव का निश्चय भक्ति का प्रतिबन्धक है। भक्ति सर्वदा भक्त की अपेक्षा भजनीय में जिस उत्कर्ष के ज्ञान की आवश्यकता रखती पुत्र के विषय में तादृश उत्कर्ष का ज्ञान हो नहीं सकता। अतः यशोदा का विस्मय उनकी श्रीकृष्णविषयक भक्ति का भी अङ्ग नहीं हो सकता।

सहृदय शिरोमणि प्राचीन आचार्य (मम्मट) ने अद्भुत रस का यह उदाहरण दिया है—

"हे भगवन्? यह तुम्हारा वामन अवतार अत्यन्त अलौकिक है; तुम्हारी यह छटा अन्यत्र कहाँ! यह शरीर-संघटना भी अपूर्व है; तुम्हारा धैर्य; प्रभाव और आकृति लोकोत्तर हैं; निश्चय ही यह एक नई सृष्टि है॥"

तत्रेदं वक्तव्यम्—प्रतीयतां नामात्र विस्मय; परं त्वसौ कथंकारम् [अद्भुतरस-]ध्वनिव्यपदेशहेतुः ? प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोतृगतभक्तेः प्रकर्षकत्वेनास्य गुणीभूतत्वात् । यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्' इत्यादौ वाक्यसन्दर्भे । इत्थं चास्य रसालंका-

---

भङ्गिर्गमनादिक्रियाप्रकारोऽपि अभिनवैव, तव धैर्यमपि लोकोत्तरम्, प्रभावश्च तथा लोकोत्तर एव, अहो इति हर्षे विस्मये वा, एषा तवाकृतिरपि अलौकिकी, एष सर्गः शरीरं च नूतनोऽपूर्वः !

अत्र वामनालम्बनः कान्त्यादिदर्शनोद्दीपितो विस्मयो व्यज्यमानो रसो मुख्यत्वाद् ध्वनिपदव्यपदेश्य इत्याशयः काव्यप्रकाशकाराणाम् । तं निराचष्टे—तत्रेत्यादिना । प्रतीयतामिति । सर्वेषां लोकोत्तरत्ववर्णनाद् व्यज्यतां विस्मयः कथञ्चिदित्यर्थः । गुणीभूतत्वादित्यस्य भक्तेरिति शेषः । भक्तिर्नैवात्रेत्यत्र अत्रशब्देन चित्रमित्यादि पद्यं विवक्षितम्, तथा गीतोक्तमपि, प्रकरणात्तत्रापि भक्तिप्रतीतेः । दूरेत्यादि । सर्वत्रैव पद्ये वामनस्य लोकोत्तरधर्मवर्णनात्स्तुतिः प्रतीयत एवेत्याशयः ।

इदमत्र विवेचनीयम्—प्रबन्धकाव्यान्तर्गतम् अङ्गरसाभिव्यञ्जकं पद्यं तत्तद्रसध्वनेरुदाहरणं भवितुमर्हति न वेति । तत्राद्ये निरपेक्षतयैव तस्य तत्त्वं निर्वाह्यम् । अन्त्ये तु स्वतः प्राधान्येऽपि अङ्गिरसापेक्षया प्राधान्याभावान्न तद् रसध्वनेरुदाहरणम् । तथा च प्रबन्धेऽङ्गिरसाभिव्यञ्जकं वाक्यं तत्तद्रसध्वनेरुदाहरणम्, अन्येषां चोदाहरणानि यथायथं मुक्तकानि, तत्तद्रसप्रधानकाव्यगतानि तत्तदङ्गिरसाभिव्यञ्जकानि, अङ्ग्यपेक्षयाऽधिकप्रकर्षवत्त्वादङ्गतयाभिमतानामप्यनङ्गत्वं प्राप्तानां तत्तद्रसानामभिव्यञ्जकानि च वाक्यानीति । यथा तु सम्प्रदायस्तथा पूर्व एव पक्षः समर्थ्यते ।

यह भगवान् वामन के प्रति बलि की उक्ति है । इस विषय में मेरा यही कथन है कि यहाँ वामनालम्बनक बलिनिष्ठ विस्मय की प्रतीति भले हीं हो पर वह अद्भुतरसध्वनिपर्यन्त प्रकर्ष को प्राप्त नहीं है, क्योंकि इसमें तो वामन के विषय मे बलि में जो महापुरुषत्व-बोध है उससे बलि में उत्पन्न वामन-विषयक भक्ति (=निरतिशय प्रेम) हीं प्रधान रूप में अभिव्यक्त हो रही है, प्रतीयमान विस्मय तो इसी भक्ति का पोषक—अङ्ग है, प्रधान नहीं । अतः इस विस्मय की स्थिति तो वही है जो गीता में "हे भगवन् ! तेरे शरीर में तो मैं सभी देवों और भूत-भौतिक पदार्थों को समाहित देख रहा हूँ" ऐसा कहने वाले

रत्वमुचितम्। भक्तिर्नैवात्र प्रतीयत इति चेद् ? दरमुकुलितलोचनै या अपि कुर्वन्तु सहृदयाः ॥

हास्यो यथा—

> श्रीतातपादैर्विहिते निबन्धे निरूपिता नूतनयुक्तिरेषा ।
> अङ्गं गवां पूर्वमहो पवित्रं न वा कथं रासभधर्मपत्न्याः ॥

तार्किकपुत्रोऽत्रालम्बनम्। तदीया निःशङ्कोक्तिरुद्दीपिका। रदनप्रकाशादिरुद्वेगादयश्चानुभावव्यभिचारिणः।

तातपादैः=पितृचरणैः। कथमित्यनेन गर्दभधर्मपत्न्या गर्दभ्या अपि पूर्वाङ्गं गोपूर्वाङ्गवत् पवित्रम्, चतुष्पदस्त्रीपूर्वाङ्गत्वस्य पवित्रताधिकरणतावच्छेदकत्वेन तातपादाभिमतस्य तत्रापि तुल्यत्वादिति सूच्यते।

तार्किकपुत्र इति। तार्किकोऽत्रालम्बनमिति युक्तम्, मूलवक्तुरेवालम्बनत्वौचित्यात्। अन्यथा सर्वत्र कवेरेवालम्बनत्वापत्तेः। यद्वा श्रोतुस्तार्किकपुत्रवचनश्रवणादेव हासो जायत इति यथाश्रुतं संगमनीयम्। तदीया=आलम्बनर्त्तृका। रदनेत्यादि। रदनं दन्तः, तस्य प्रकाशादिरनुभावः, उद्वेगादयश्च वक्ष्यमाणलक्षणा

अर्जुन मे श्रीकृष्णालम्बनक विस्मय की है। अतः जैसे अर्जुन में प्रतीयमान विस्मय अर्जुन की श्रीकृष्ण-विषयक भक्ति का अङ्ग है उसी तरह यह विस्मय भी बलि की वामन-विषयक भक्ति का अङ्ग है। अत एव 'चित्रं महानेष.........' इत्यादि पद्य में प्रतीयमान विस्मय अन्यत्र रसपर्यन्त प्रकर्ष को प्राप्त होने पर भी प्रकृत में भक्ति का अङ्ग होने से अलङ्कार मात्र है जिसे 'ब्राह्मणश्रमण' न्यायानुसार रसवदलङ्कार या रसालङ्कार कहा जा सकता है, रस नहीं। प्रकृत पद्य में भक्ति की प्रतीति नहीं होती—यह तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वामन के सब कुछ के लोकोत्तरत्व-कथन पर जरा-सा दृष्टिपात करते हीं सहृदयों को बलिनिष्ठ वामनविषयक भक्ति की प्रतीति होने में कोई संशय नहीं रह जाता। अतः उक्त उदाहरण असंगत है ॥

हास्य रस का उदाहरण निम्नलिखित है—

"मेरे पिता जी ने अपने निबन्ध (ग्रन्थ) में एक नई युक्ति बतलाई है कि यदि चतुष्पद गाय के शरीर का पिछला भाग धर्मशास्त्र के अनुसार पवित्र है तो गर्दभी के शरीर का पिछला भाग पवित्र क्यों न माना जाय? अर्थात् वह भी पवित्र है हीं ॥"

अपने कुतार्किक पिता की बात कहने वाला उसका पुत्र यहाँ हास्य का आलम्बन है। उसका निःशङ्क उक्त कथन उद्दीपन विभाव है और उसका दाँत बिचकाना एवम् उद्वेग आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सबसे हास्य रस की ध्वनि

अत्राहुः—

आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम् ।
आत्मस्थो द्रष्टुरुत्पन्नो विभावेक्षणमात्रतः ॥
हसन्तमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।
योऽसौ हास्यरसस्तज्ज्ञैः परस्थः परिकीर्तितः ॥

व्यभिचारिण इति यथासंख्यमन्वयः ।

सम्प्रति हास्यभेदप्रभेदानाह—अत्राहुरित्यादिना । विभावेक्षणमात्रत इति । विभावो हासजनको विकृतवेषादिः, तस्य दर्शनमात्रादुत्पन्न इत्यर्थः । परस्थं वर्णयति—हसन्तमपरमित्यादिना । अयमाशयः—यदा विकृतवेषादिविभावज्ञान-युक्तमेकं हसन्तं पुरुषं दृष्ट्वा परो विभावमपश्यन्नपि हसति तदा परस्थो हास्य-रसः । तत्र च एक एव विभाव एकत्र हासं प्रस्तूय परत्र तं संक्रामयति । एतच्च हासस्याम्लरसादिवत्संक्रमणस्वभावत्वादुपपद्यते । अत्र हसत एकस्य पुरुषस्य हास एव परस्थे विभाव इति रसचन्द्रिकाव्याख्यानमसत्, हासस्य विभावत्वानुल्लेखात्, अभिनवभारत्यामस्य स्पष्टं निरासाच्च । अतो हास एकस्थो निमित्तमात्रं परस्थ इति युक्तम् । यद्वैक एव हासः संक्रमणशीलः परत्रापि मृगमदवासनावत् प्रसरति, अतो निमित्तत्वमपि न घटते । अधिकरणभेदाच्च भेदबोध इति मन्तव्यम् । अन्यथा संक्रमणस्वभावताभङ्गप्रसङ्गः । यस्य तु हसन्तमपरं दृष्ट्वापि न हासः स्तत्र पूर्ववासनाया अभावस्तदुद्बोधाभावो वा हेतुः । यदा त्वेकं शोकाद्याविष्टं दृष्ट्वा परोपि शोकादिमान् भवति तदा तत्र परस्य विभावज्ञाने तदुत्थ आत्मस्थ एव शोकादिर्न परस्थः, तत्रान्यस्यैव शोकादेराविर्भावात् । यत्र तु एकनिष्ठशोकाद्या-लम्बनविभावाज्ञानेऽपि शोकादिः संक्रान्त इव प्रतीयते तत्रान्यः शोकादिरेवैकशोका-दिज्ञानजन्य इति न तत्रापि शोकादेः संक्रमणम् । तस्य च परगतशोकादेः शोकाद्या-विष्टचित्तः पुरुषः एव विभावः । अत एव शोकाद्याश्रयैकपुरुषदर्शनापरनिष्ठ-शोकाद्योश्चेष्टादिहेतुकैकपुरुषनिष्ठशोकाद्यनुमितिव्यवहितत्वमानुभविकम् । न चैवं

होती है ॥

हास्य रस के विषय में पूर्वाचार्यों ने यह कहा है—

हास्य रस के दो भेद हैं—आत्मस्थ और परस्थ । विकृत वेश-भूषादिस्वरूप विभाव के अवलोकन-श्रवणादि से सहृय में उत्पन्न (=अभिव्यक्त) हास रस आत्मस्थ है । किन्तु हँसते हुए किसी व्यक्ति को देखकर हँसने वाले अन्य व्यक्ति में अभिव्यक्त हास्य रस रस परस्थ है । हास की संक्रमणशीलता हीं इस भेद का कारण है जिसके चलते विभावज्ञान से एक व्यक्ति में अभिव्यक्त हास्य

उत्तमानां मध्यमानां नीचानामप्यसौ भवेत् ।
त्र्यवस्थः कथितस्तस्य षड्भेदाः सन्ति चापरे ॥
स्मितं च हसितं प्रोक्तमुत्तमे पुरुषे बुधैः ।
भवेद्विहसितं चोपहसितं मध्यमे नरे ॥
नीचेऽपहसितं चातिहसितं परिकीर्तितम् ।
ईषत्फुल्लकपोलाभ्यां कटाक्षैरप्यनुल्बणैः ॥
अदृश्यदशनो हासो मधुरः स्मितमुच्यते ।
वक्त्रनेत्रकपोलैश्चेदुत्फुल्लैरुपलक्षितः ॥
किंचिल्लक्षितदन्तश्च तदा हसितमिष्यते ।
सशब्दं मधुरं कायगतं वदनरागवत् ॥

हासस्येति न शोकादेः संक्रमणशीलत्वं न वा परस्थत्वम् । यदि तु शोकादिमान् पुरुषो नालम्बनम् अपि तु शोकादिरन्यत्राज्ञातालम्बनकेपि संक्रामति इत्यभ्युपेयते तदापि तस्यानुत्कटत्वेन न रसपर्यन्तं परिपाकः, हासे तु संक्रान्तेऽपि उत्कटत्वमनुभवबलादास्थेयम् । यदि च संक्रान्तेऽपि शोकादावुत्कटत्वमानुभविकं तर्हि शोकादेरपि परस्थत्वे न विद्वेष इत्यास्तां तावत् । 'हसन्तमपरं दृष्ट्वा ...' इत्यादिपूर्वार्धबन्धस्तु शिथिलः । अत्र 'हसन्तमपरं द्रष्टुर्विभावस्सोपजायते' इति मधुसूदनशास्त्रिकल्पितं पाठं युक्ततरं मन्यामहे । अनुल्बणैः=सौन्दर्ययुक्तैः, असौन्दर्यजनकविकासरहितैरित्यर्थः । दशनः=दन्तः । काव्यगतमित्यपपाठः । कालगतमित्यप्ययुक्तम्, कायगतमिति युक्तमिति मर्मप्रकाशः । तत्र सम्पूर्णशरीरमान्दोलयदित्यर्थः । नाट्यशास्त्रे तु 'कालगतम्' इति पठ्यते ।

अन्य व्यक्ति को विभाव का ज्ञान न होने पर भी उसमें अभिव्यक्त हो जाता है । अन्य स्थायिभावों में संक्रमणशीलता न होने से उनका यह भेद-द्वय नहीं होता । यह हास्य उत्तमनिष्ठ, मध्यमनिष्ठ और अधमनिष्ठ होने के कारण तीन अवस्थाओं वाला होता है । इसके प्रकारान्तर से छः भेद होते । उत्तम पुरुष में 'स्मित' तथा 'हसित', मध्यम पुरुष में 'विहसित' तथा 'उपहसित' और अधम रुपुष में 'अपहसित' तथा 'अतिहसित' हास्य होते । उस मधुर हास को 'स्मित' कहते जिसमें हँसने वाले के गाल ज्यादा नहीं फूलते, कटाक्ष आकर्षक होते और उसके दाँत दिखाई नहीं पड़ते । 'हसित' उसे कहा जाता जिसमें हँसने वाले के मुख, नेत्र और कपोल खिल उठते और दाँत भी कुछ दिखाई पड़ने लग जाते । जिसमें शब्द भी निकलता हो, मुँह में लालिमा झलकती हो, आंखें सिकुड़ जांय, और जो कोमल, मधुर हो एवं सम्पूर्ण शरीर को कम्पित

आकुञ्चिताक्षि मन्द्रं च विदुर्विहसितं बुधाः ।
निकुञ्चितांसशीर्षश्च जिह्मदृष्टिविलोकनः ॥
उत्फुल्लनासिको हासो नाम्नोपहसितं मतम् ।
अस्थानजः साश्रुदृष्टिराकम्पस्कन्धमूर्धजः ॥
शार्ङ्गदेवेन गदितो हासोऽपहसिताह्वयः ।
स्थूलकर्णकटुध्वानो बाष्पपूरप्लुतेक्षणः ॥
करोपगूढपार्श्वश्च हासोऽतिहसितं मतम् ॥ इति ।

भयानको यथा—

श्येनमम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननबिलो विलोकयन् ।
कम्पमानतनुराकुलेक्षणः स्पन्दितुं नहि शशाक लावकः ॥

जिह्मदृष्टीति । जिह्मा दृष्टिः—

लम्बिताकुञ्चितपुटा शनैस्तिर्यङ्निरीक्षणी ।
निगूढा गूढतारा च जिह्मा दृष्टिरुदाहृता ॥ (ना० शा० ८।७०)

इति भरतेन लक्षिता, तया विलोकनं यत्रेति व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । 'जिह्मदृष्टि-विलोचनः' इति पाठेऽपि व्यधिकरणबहुव्रीहिक्लेशो जायते । अस्थानजः—अस्थाने अनवसरे शोकादिकाले जायमानः । मूर्धजस्य केशस्योत्कम्पमानत्वकथनेन मूर्ध्नोऽपि तथात्वं सूच्यते ॥

सम्प्रति भयानकमुदाहरति—श्येनेत्यादिना । शुष्यदाननमेव विलं यस्य स लावकः पक्षिविशेषः ।

सवेगापतनं श्येनस्यैव लावके । सञ्चारिण इत्यनन्तरं भयानकस्य व्यञ्जका इति बोध्यम् ।

कर देता हो उस हास को 'विहसित' कहते । इसीको भाषा में 'ठहाका' कहा जाता । 'उपहसित' उस हास को कहा जाता जिसमें कन्धा और सिर सिकुड़ जांय, नजर तिरछी हो जाय और नाक फूल जाय । जो हास अनवसर में ही उत्पन्न हुआ हो, जिसमें आंखों में आंसू छलक आये हों और जिसमें कन्धा, शिर और बाल हिलने लगते हों उसे शार्ङ्ग देव ने 'अपहसित' कहा है । जिस हास मे कर्णकटु मोटी आवाज होती हो, आंखों से आंसू की धार बहने लगे और हँसने वाला अपने हांथों से पेट को दवाने लगे उसे 'अपहसित' माना गया है ॥

अब भयानक रस का उदाहरण दिया जा रहा है--

"जब बटेर ने आसमान से नीचे उतरते हुए बाज को देखा तो उसका गला सूख गया, उसका देह कांपने लगा, उसकी आँखों में आँसू भर आये और वह वहाँ से हिल भी न सका ॥"

अत्र श्येन आलम्बनम्। सवेगापतनमुद्दीपनम्। आननशोषादयोऽनुभावाः। दैन्यादयः संचारिणः॥

बीभत्सो यथा—

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम्।
आननेष्वनुलिम्पन्ति हृष्टा वेतालयोषितः॥

शवा इहालम्बनम्। अन्त्रविदारणाद्युद्दीपनम्। आक्षिप्ता रोमाञ्चनेत्रनिमीलनादयोऽनुभावाः। आवेगादयः संचारिणः॥

ननु रतिक्रोधोत्साहभयशोकविस्मयनिर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः संप्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च। तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः।

आननेषु स्वकीयेष्वेव। शवा इति। विदारितान्त्राणां शवानां तद्विदारिकाणां वेतालयोषिताञ्च जुगुप्साविषयतया समुच्चितं तदुभयमालम्बनम्, विकल्पितं वाऽन्यतरदित्यभिप्रायेण शवानामालम्बनमुक्तम्। आन्त्रविदारणादीत्यादिपदेन पूयशोणित नुलिम्पनग्रहणम्। आक्षिप्ताः=अनुमिताः, व्यक्ता वा। रोमाञ्चेत्यादि। जुगुप्साश्रयपुरुषान्तराक्षेपपक्षे तदाश्रिताः, श्रोतुरेवाश्रयत्वे तु श्रोत्राश्रिता एवैते।

न तथेति। आलम्बनस्याश्रयस्य च पृथक् पृथक् सम्प्रत्ययो नेत्यर्थः। आल-

---

यहाँ बाज पक्षी आलम्बन विभाव है, उसका तेजी से नीचे उतरना उद्दीपन विभाव है। गले का सूखना आदि अनुभाव हैं और विकलता आदि व्यभिचारिभाव हैं। इस सबसे भयानक रस की अभिव्यक्ति हो जाती है॥

बीभत्स रस का उदाहरण इस प्रकार है—

"बेतालों की स्त्रियाँ युद्धभूमि में पड़े ढेर शवों को देखकर प्रसन्न होती हुईं उन शवों की अँतड़ियों को अपने नखों से फाड़कर उनसे निकलते हुए मवाद खून को अपने मुँह पर लेप रही हैं!!"

यहाँ शव (अथवा शवों को नोचने-खसोटने वाली वेतालों की स्त्रियाँ) आलम्बन हैं और अँतड़ी फाड़ना आदि उद्दीपन विभाव हैं। आक्षेपलभ्य रोमाञ्च और आँखों का मूँदना आदि अनुभाव हैं और आवेग आदि व्यभिचारिभाव। इन सब से बीभत्सरस की अभिव्यक्ति होती॥

यहाँ एक प्रश्न उठता है—रति, क्रोध, उत्साह, भय, शोक, निर्वेद के एक-एक आलम्बन और उनसे भिन्न एक-एक आश्रय होते। किन्तु हास और जुगुप्सा के तो केवल आलम्बनों की प्रतीति होती, उनके आश्रयों की तो प्रतीति होती ही नहीं। रस, अर्थात् अलौकिक हास और जुगुप्सा, का अनुभव करने वाले सहृदय पाठक-श्रोता-द्रष्टा तो आश्रय हो नहीं सकते, क्योंकि जैसे लौकिक स्थायिभाव-

पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत् ? सत्यम् । तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात् । तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

एवं च संक्षेपेण निरूपिता रसाः ॥

एषां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्, गुणीभावे तु रसालङ्कारत्वम् ।

म्बनस्यैवेत्येवकारेण आश्रयव्यवच्छेदः । रसास्वादेति । अलौकिकजुगुप्साद्याश्रयेत्यर्थः । अनुपपत्तेरिति । अलौकिकत्वलौकिकत्वयोः परस्परविरुद्धत्वेनैकस्योभयधर्मविशिष्टजुगुप्साद्याश्रयत्वासम्भवादित्यर्थः । आक्षेप्यत्वादिति । तदुक्तं साहित्यदर्पणे—

यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते ।
तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादिवसीयते ॥ इति ।

तदनाक्षेप इति । अनुभवविषयत्वमनाक्षेपे हेतुः ॥

रसालङ्कारत्वमिति । रसकर्तृकं स्वभिन्नशोभाधायकत्वमित्यर्थः । अत्र विशेष आननान्ते वक्ष्यते । एतदुक्तं लोचने—'तस्मात् स्थितमेतत्—अभिव्यज्यन्ते

स्वरूप रत्यादि के आश्रय सहृदयभिन्न दुष्यन्त आदि हीं होते वैसे ही इनके आश्रय को भी सहृदयभिन्न होना चाहिए । तात्पर्य यह है कि लौकिक रत्यादि के अधिकरण को ही आश्रय कहा जाता । अलौकिक रत्यादि के अधिकरण लौकिक रत्यादि के अधिकरण हो नहीं सकते । अतः सहृदयों को हास आदि के आश्रय कह नहीं सकते । ऐसी स्थिति में योग्य आश्रय के अभाव में हास्य और बीभत्स रसों की अभिव्यक्ति कैसे होती ? इसका एक उत्तर तो यह है कि हास्य और बीभत्स रसों की प्रतीति के आधार पर इनके आश्रयों के वर्णित न होने पर भी उनका आक्षेप कर लेना चाहिए, क्योंकि अभिव्यक्ति अपनी सामग्री के बिना सम्भव नहीं है । यदि आक्षेप करने में कोई अनौचित्य प्रतीत होता हो तो दूसरा उत्तर यह है कि इन दो रसों के प्रसङ्ग में स्थायिभावों के आश्रय सहृदय हीं होते । उनके अलौकिक रस के आश्रय होने के साथ-साथ लौकिक स्थायिभावों के भी आश्रय होने में कोइ विरोध नहीं है । यह अपनी हीं प्रियतमा के वर्णन को सुनकर स्वप्रियतमालम्बनक रसास्वाद करने वाले सहृदयों में स्वीकार्य हैं हीं, क्योंकि वहाँ अन्य आश्रय की कल्पना असम्भव है । अतः एक हीं सहृदय के अलौकिक एवं लौकिक रत्यादि का आश्रय होने में कोई बाधा नहीं है ॥

इस प्रकार रसों का संक्षिप्त निरूपण किया जा चुका ॥

जब ये रस प्रधान रूप मे अभिव्यक्त होते तब इन्हें 'ध्वनि' कहा जाता, किन्तु

केचित्तु 'प्राधान्य एवैषां रसत्वमन्यथालङ्कारत्वमेव। रसालङ्कारव्यपदेशस्त्वलंकारध्वनिव्यपदेशवत्, ब्राह्मणश्रमणन्यायात्। एवमसंलक्ष्यक्रमतायामेव। अन्यथा तु वस्तुमात्रम्' इत्याहुः। एते चासंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्याः, सहृदयेन रसव्यक्तौ झगिति जायमानायां विभावानुभावव्यभिचारिविमर्शक्रमस्य सतोऽपि सूचीशतपत्रपत्रशतवेधक्रमस्येवालक्षणात्। न त्वक्रमव्यङ्ग्याः;

रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति। तत्राभिव्यक्तिः प्रधानतया वा भवत्वन्यथा वा। प्रधानत्वे ध्वनिः, अन्यथा रसाद्यलङ्काराः' इति। ब्राह्मणश्रमणन्यायादिति। यथा पूर्वावस्थामादाय श्रमणे ब्राह्मणत्वव्यपदेशस्तथा यत्र रत्यादौ रसरूपतामधिगतस्तत्रत्यं रसत्वं तत्रान्यशोभाकरे रत्यादौ समादायालङ्कारत्वेऽपि रसव्यवहारस्तत्र रत्यादावित्यर्थः। एतन्मूलिकैव 'साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः' इति प्राचीनवैयाकरणानां परिभाषा। यद्वा रत्यादे रसालङ्कारत्वे रसपदं स्थायिभावपरमिति बोध्यम्। एवम् = रसत्वम्। अन्यथा = संलक्ष्यक्रमत्वे। स्वयन्तु 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादावानन्दवर्धनाद्यनुसारेण क्वचित् सलक्ष्यक्रमतायामपि रसत्वमुपपादयिष्यति। अत्र च व्यभिचारिभावभूताया लज्जायाः प्रतीतौ विलम्बेन सतोऽपि क्रमस्य स्फुटमवभासनात् संलक्ष्यक्रमत्वम्। यदा तु लज्जाऽऽक्षिप्ता तदा रसप्रतीतौ सतोऽपि क्रमस्य न बोध इति ध्येयम्। तदुक्तमभिनवगुप्तपादेन—'रसस्त्वत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षयाऽलक्ष्यक्रमतैव। लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्' इति। विभावादिप्रतीत्यनन्तरं रसव्यक्तौ जायमानायां पौर्वापर्यरूपस्य क्रमस्य नाभावः, अपि तु प्रतीत्यभावमात्रमित्युपपादयति—एत इत्या-

---

जब ये हीं रस किसी अन्य पदार्थ के अङ्ग हो जाते तब इन्हें 'रसालङ्कार' कहा जाता। परन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि ये (रस) प्रधान होने पर हीं 'रस' कहलाते, अप्रधान होने पर तो इन्हें 'अलङ्कार' हीं कहना चाहिए। इसी तरह ये जब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होते तभी रस-पदवाच्य होते, अन्यथा तो इन्हें वस्तु-मात्र कहना उचित है, 'रस' नहीं। रसों को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इसलिए नहीं कहा जाता कि इनके विभावादि के परिज्ञान और इनकी व्यञ्जना में कोई क्रम होता हीं नहीं, क्योंकि जब विभावादिपरिज्ञान रस-व्यञ्जना का हेतु है तब इन दोनों में क्रम तो अनिवार्य है; कारण, समानकालिक दो पदार्थों में कार्यकारणभाव हो हीं नहीं सकता। अतः विभावादि-प्रतीति और रस-व्यञ्जना में क्रम होता तो है हीं, परन्तु विभावादि की प्रतीति के बाद अत्यन्त शीघ्रता से सहृदयों को रसाभिव्यक्ति हो जाने के कारण इन दोनों के बीच वर्त्तमान क्रम का भी बोध उसी तरह होता नहीं जिस तरह एक के ऊपर दूसरे के क्रम से रखे हुए कमल के सौ पत्तों

व्यक्तेस्तद्वृद्धेनां च हेतुहेतुमद्भावासंगत्यापत्तेः ॥

अथ कथमेत एव रसाः, भगवदालम्बनस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्? उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः।

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥

दिना। असंगत्यापत्तेरिति। हेतुहेतुमद्भावस्य पौर्वापर्यनियतत्वादित्यर्थः॥

भक्तिरसं निरस्यन् पूर्वपक्षमाह—अथेत्यादिना। प्राचाम्=काव्यप्रकाशकाराणाम्। अन्येषां भामहादीनामिदमुपलक्षणम्। स्वातन्त्र्ययोगात्=भरतादिमुनिवचनानामेव स्वातन्त्र्येण योगः, स्वातन्त्र्यवत्त्वम् कीदृशस्य रत्यादेर्भावत्वम् कीदृशस्य च स्थायित्वम् इत्यत्र, न त्वस्मदादीनाम्। अत्र एवात्र 'स्वातन्त्र्याऽयोगात्' इत्यपि पाठान्तरं न विरुध्यते। मुनीनां नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वमेव तेषां स्वातन्त्र्ययोगे, अस्मदादीनां पुनस्तदर्हत्वमेव स्वातन्त्र्याऽयोगे हेतुः। शेषो ग्रन्थो निगदव्याख्यातः॥

का ऊपर से सूई द्वारा वेधन करने में क्रम के वर्तमान होने पर भी उस क्रम का बोध लोगों को नहीं होता।

अब पुनः प्रश्न है—नौ हीं रस कैसे माने गये हैं, क्योंकि इनसे अतिरिक्त भक्ति रस भी तो है? भजनीय देव इसके आलम्बन विभाव होते, रोमाञ्च, अश्रुपात आदि इसके अनुभाव और व्यज्यमान हर्ष आदि इसके व्यभिचारिभाव होते। भक्ति, अर्थात् भगद्विषयक परमानुराग, इसका स्थायिभाव है। भागवत आदि पुराणों के श्रवण के समय भक्तों को इसका आस्वाद भी होता हीं है। ऐसी स्थिति में इसे एक स्वतन्त्र रस अवश्य मानना चाहिए था; क्योंकि शृङ्गारादि में तो इसका अन्तर्भाव असम्भव है। रही बात शान्तरस की, तो उसमें भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि शान्तरस का स्थायिभाव वैराग्य–निर्वेद है जो इस भक्तिरस के परमानुरागस्वरूप भक्त्यात्मक स्थायिभाव से विपरीत है। अतः एक अतिरिक्त भक्तिरस के प्रमाणसिद्ध होने से इसकी उपेक्षा कर नौ हीं रस मानना अयुक्त है। इसका उत्तर देते हुए गङ्गाधरकार कहते कि देवादिविषयकरतिस्वरूप यह भक्ति एक 'भाव' है, स्थायिभाव नहीं। अत एव काव्यप्रकाशकार ने कहा है—

"देवादिविषयक रति और विभावादि से अभिव्यञ्जित व्यभिचारी को 'भाव'

इति हि प्राचां सिद्धान्तात्। न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु, रतित्वाविशेषात्। अस्तु वा भगवद्भक्तेरेव स्थायित्वम्, कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगमकाभावाद् इति वाच्यम्। भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्ययोगात्। अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात्। न स्याद्वा कुतः शुद्धभावत्वं जुगुप्साशोकादीनाम्, इत्यखिलदर्शनवैयाकुली स्यात्। रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः॥

एतेषां परस्परं कैरपि सहाविरोधः, कैरपि विरोधः। तत्र वीरशृङ्गारयोः,

---

अविरोध इति। ध्वन्यालोकवृत्तौ तु रौद्रशृङ्गारयोरप्यविरोध उक्तः। अयं च विशेषेण विप्रलम्भेन सहेति बोध्यम्। अत्र चाविरोधे येन क्रमेण रसनिर्देशः स क्रमोऽपि ग्राह्यः। अतो वीरस्य शृङ्गारेणाऽविरोधेऽपि शृङ्गारस्य वीरेण विरोधो दर्पणाद्युक्तः संगच्छते, वीरचर्वणानन्तरं शृङ्गारचर्वणेऽविरोधोऽपि, विपर्यये विरोधात्। अधिकं दर्पणादिभ्यो ज्ञेयम्। शृङ्गारकरुणयोश्च विरोधो ध्वन्यालोकाद्यनुक्तोऽपि यौक्तिकत्वादुक्तो गङ्गाधरकृता। विरोधश्चायमुभयोः प्रधानीभूतवाक्यार्थत्व एवेति

कहा गया है किन्तु शास्त्रीय तथा लौकिक मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले रत्यादि तथा अन्य भाव 'रस' एवं 'भाव' न होकर वस्तुतः 'रसाभास' और 'भावाभास' कहलाते॥"

इस पर पुनः एक प्रश्न है—यदि देवादि-विषयक रति 'भाव' है तो कामिनी-विषयक रति को भी 'भाव' क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि दोनों रति हीं तो हैं; अथवा कामिनी विषयक रति को हीं 'भाव' और देवादि-विषयक रति को 'स्थायिभाव' क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि इसमें जो वैपरीत्य (कामिनी-विषयक रति को "स्थायिभाव' और भगवद्विषयक रति को 'भाव' मात्र मानना) अभीष्ट है उसमें विनिगमक (=एक पक्ष का समर्थक युक्ति) तो कोई है नहीं? उत्तर में कहा गया है कि भरत आदि मुनियों के वचन हीं यहाँ विनिगमक हैं, कारण यह है कि किसे 'स्थायिभाव' कहा जाय और किसे 'भाव' मात्र—इसमें ये हीं काव्य-तत्त्वद्रष्टा स्वतन्त्र हैं, हम साधारण जन नहीं। तभी तो पुत्र-पौत्रादि-विषयक रति पूर्वपक्षी की दृष्टि में भी शृङ्गार का 'स्थायिभाव' नहीं है। यदि यदृच्छा से सभी रतियाँ 'स्थायिभाव' हों तो पुत्रादिविषयक रति को भी 'स्थायिभाव' कहना हीं होगा। साथ हीं, जुगुप्सा, शोक आदि भी फिर केवल 'भाव होंगे, स्थायिभाव नहीं। ऐसी दशा में समस्त कवि-सम्प्रदाय तो अस्तव्यस्त होगा हीं, महामुनि द्वारा रसों की नौ संख्या का नियम टूट जाने से उनके वचन से भी विरोध होगा।

शृङ्गारहास्ययोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, शृङ्गाराद्भुतयोश्चाविरोधः। शृङ्गारबीभत्सयोः, शृङ्गारकरुणयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृङ्गारयोश्च विरोधः। तत्र कविना प्रकृतरसं परिपोष्टुकामेन तदभिव्यञ्जके काव्ये तद्विरुद्धरसाङ्गानां निबन्धनं न कार्यम्। तथा हि सति तदभिव्यक्तौ विरुद्धः प्रकृतं बाधेत। सुन्दोपसुन्दन्यायेन वोभयोरुपहतिः स्यात्। यदि तु विरुद्धयोरपि रसयोरेकत्र समावेश इष्यते तदा विरोधं परिहृत्य विधेयः। तथा हि--विरोधस्तावद्द्विविधः—स्थितिविरोधो ज्ञानविरोधश्च। आद्यस्तदधिकरणावृत्तितारूपः। द्वितीयस्तज्ज्ञानप्रतिबध्य-

---

स्वयमेव वक्ष्यति। बाधेतेति। दुर्बलं प्रबल इति भावः। समबलत्वे तूभयोर्विरोधिनोराह—सुन्दोपसुन्देत्यादि। तदधिकरणेत्यादि। अयमेवैकाधिकरण्यविरोधीत्युक्तः पूर्वाचार्यैः। तज्ज्ञानेत्यादि। एकस्य ज्ञानेन प्रतिबद्धमव्यवहितोत्तरकालिकं ज्ञानं यस्य तत्त्वं लक्षणं यस्य विरोधस्य स तथेत्यर्थः। अयमेव

अतः शास्त्रकारों ने जो भक्ति को रस न मानते हुए केवल नौ रस कहे हैं वही उचित है॥

उक्त नौ रसों में कुछ रसों का परस्पर-विरोध और कुछ का अविरोध है। वीर और शृङ्गार का, शृङ्गार और हास्य का, वीर-अद्भुत का, वीर-रौद्र का तथा शृङ्गार-अद्भुत का परस्पर कोई विरोध नहीं है। इनके विपरीत शृङ्गार-बीभत्स का, शृङ्गार-करुण का, वीर-भयानक का, शान्त-रौद्र का तथा शान्त-शृङ्गार का परस्पर-विरोध है। अत कवियों को चाहिए कि वे अपने काव्यों में यदि मुख्य रस की परिपुष्ट अभिव्यक्ति करना चाहें तो मुख्यरस की अपेक्षा उसके विरोधी रस के अभिव्यञ्जक विभावादि का उत्कृष्ट वर्णन न करें, क्योंकि वैसा करने पर प्रबल विरोधी अङ्ग-रस की अभिव्यक्ति से अङ्गी रस की अभिव्यक्ति बाधित हो जायेगी। साथ हीं, विरोधी अङ्ग रस की अभिव्यक्ति-सामग्री का अङ्गी रस की अभिव्यञ्जक-सामग्री के समान प्रकर्ष से वर्णन भी न करें, क्योंकि इस स्थिति में भी सुन्द उपसुन्द के समान दोनों की अभिव्यक्ति परस्पर बाधित हो जायेगी। अतः यदि किसी कवि को अपने काव्य में किन्हीं दो विरोधी रसों की अङ्ग-अङ्गी के रूप में अभिव्यक्ति करनी हो तो दोनों के विरोध का परिहार करके हीं उनकी अभिव्यक्ति करनी चाहिए जिससे पूर्वोक्त बाध्य बाधकभाव न हो सके। विरोध-परिहार के लिए विरोध के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। अतः विरोध का स्वरूप बतलाया जा रहा है। रसों का विरोध दो प्रकार का से होता—(क) दोनों की स्थिति में विरोध और (ख) दोनों के ज्ञान में विरोध। प्रथम में यह होता कि एक के अधिकरण में दूसरा रह हीं नहीं सकता। दूसरे विरोध में एक के ज्ञान से दूसरे का

ज्ञानकत्वलक्षणः। तत्राधिकरणान्तरे विरोधिनः स्थापने प्रथमो निवर्तते। यथा नायकगतत्वेन वीररसे वर्णनीये प्रतिनायके भयानकस्य। रसपदेनात्र प्रकरणे तदुपाधिः स्थायिभावो गृह्यते, रसस्य सामाजिकवृत्तित्वेन नायकाद्यवृत्तित्वात्, अद्वितीयानन्दमयत्वेन विरोधासंभवाच्च।

उदाहरणम्—

कुण्डलीकृतकोदण्डदोर्दण्डस्य पुरस्तव।
मृगारातेरिव मृगाः परे नैवावतस्थिरे॥

नैरन्तर्यविरोधीति प्राचीनैरुक्तम्। नैरन्तर्येण ज्ञानासम्भवो यत उभयोः, एकप्रतीत्याऽव्यवहितोत्तरकालिकाया अपरप्रतीतेः प्रतिबन्धादिति हेतोः। प्रथमः—तदधिकरणावृत्तित्वरूपो विरोधः। निवर्त्तत इति। तदुक्तम्—

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत्।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता॥ इति।

स्थायिभाव इति। रस्यत आस्वाद्यत इति व्युत्पत्तेरित्यर्थः। अयं चार्थः सर्वसम्मतः। स्थायित्वमपि क्वचिद् वैवक्षिकमेवेत्यपि बोध्यम्। सहृदयकर्त्तृकास्वादविरोधं परिहरति—अद्वितीयेत्यादिना।

आद्यविरोधपरिहारप्रकारमुदाहरति—उदाहरणमिति। कुण्डलीकृतः कर्णान्ताकर्षणेन कुण्डलवद् वर्त्तुलीकृतः कोदण्डो धनुर्याभ्यां दोर्भ्यां बाहुभ्यां तावेव दण्डौ यस्य तस्य तव पुरः परे शत्रवस्तथैव नावतस्थिरे यथा मृगारातेः सिंहस्य पुरो मृगा

ज्ञान प्रतिबन्धित हो जाता। अतः प्रथम विरोध का परिहार करने के लिए दोनों विरोधी रसों का एकाश्रित वर्णन न कर उन्हें भिन्न-भिन्न आश्रय में वर्णित करना चाहिए। जैसे—यदि नायक में वीर-रस का वर्णन अभीष्ट हो तो उसके विरोधी भयानक रस का वर्णन प्रतिनायक में करना चाहिए, नायक में कदापि नहीं। इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि रसों का जो विरोध कहा गया है उसमें रस का अर्थ स्थायिभाव है, क्योंकि रसों में कोई विरोध सम्भव हीं नहीं। इसके दो कारण है—एक तो यह कि रस सामाजिकनिष्ठ होते, नायकादिनिष्ठ नहीं। दूसरे यह कि सभी रस वस्तुतः परमानन्दस्वरूप हैं, फिर इनमें विरोध हो हीं नहीं सकता—वैसा होने पर तो इनकी आनन्दरूपता हीं (रसत्व हीं) निरस्त हो जायेगी।

प्रथम विरोध के परिहार का उदाहरण निम्ननिर्दिष्ट है—

"हे राजन्? जैसे सिंह के समक्ष मृग नहीं टिकते उसी तरह धनुष को पूरी तरह कुण्डलाकार में ताने हुए बाहुदण्डों वाले आपके समक्ष समराङ्गण में आपके

रसान्तरस्याविरोधिनः संधिकर्तुरिवान्तरालेऽवस्थापने द्वितीयोऽपि निवर्तते। यथा मन्निर्मितायामाख्यायिकायां कण्वाश्रमगतस्य श्वेतकेतोर्महर्षेः शान्तरसप्रधाने वर्णने प्रस्तुते 'किमिदमनाकलितपूर्वं रूपम्, कोऽयमनिर्वाच्यो वचनरचनाया मधुरिमा' इत्यद्भुतस्यान्तरवस्थापनेन वरवर्णिनीं प्रत्यनुरागवर्णने।

यथा वा—

सुराङ्गनाभिराश्लिष्टा व्योम्नि वीरा विमानगाः।
विलोकन्ते निजान्देहान्फेरुनारीभिरावृतान्॥

नावतिष्ठन्ते। अत्रोत्साहस्य युष्मदर्थे भयस्य च परपदार्थे शत्रौ वर्णनान्न तयोर्विरोधोऽपि तु भयस्योत्साहपरिपोषकत्वमेवेति भावः।

रसान्तरस्येति। रसान्तरचर्वणाया इत्यर्थः। सन्धिकर्त्तुरिति। वादिप्रतिवादिनौ प्रति पक्षपातरहितस्य तद्द्वयाविरोधिन इत्यर्थः। द्वितीयः=तज्ज्ञानप्रतिबध्यज्ञानकत्वरूपो विरोधः। मध्ये च चर्व्यमाण उदासीन उभयोरविरोधी रसो वाक्यार्थो वा भवेदाक्षेपलभ्यो वा भवेदित्यत्र न विशेषः। आद्यस्योदाहरणं स्वनिर्मिताख्यायिकातो दत्त्वा द्वितीयस्योदाहरणमाह—यथा वेति। रसस्याक्षेपलभ्यत्वं तद्व्यञ्जकसामग्र्याक्षेपादुक्तम्।

निजान् देहान् इत्यस्य मृतान् स्वदेहानित्यर्थः। फेरुनारीभिः=शृगालीभिः। उपलक्षणमेतद् गृध्रादेरपि बोध्यम्। एतेनोदाहरणेन द्वितीयोऽयं विरोधो भिन्न-

---

विरोधी टिक न सके॥"

इस उदाहरण में राजा में वीर और उसके शत्रुओं में भयानक रस का वर्णन किये जाने से इन दोनों में कोई विरोध नहीं (अपि तु शत्रुगत भय राजगत उत्साह का परिपोषक हीं) है।

द्वितीय प्रकार के विरोध का परिहार तब हो जाता है जब दो विरोधी व्यक्तियों के बीच सन्धि कराने वाले मध्यस्थ के समान दो विरोधी रसों के बीच कोई उदासीन रस निबद्ध कर दिया जाय। जैसे मेरे द्वारा रचित आख्यायिका में कण्व के आश्रम में पहुँचे महर्षि श्वेतकेतु के शान्तरस तथा वरवर्णिनी नामक नायिका के शृङ्गार रस के वर्णनों के बीच 'यह कैसा अदृष्टपूर्व सौन्दर्य ! वाणी में यह कैसी वर्णनातीत मधुरता ?" इस वर्णन द्वारा अद्भुत रस के निबन्धन से शान्त और शृङ्गार का विरोध समाप्त हो गया है। अथवा जैसे—

"आकाश में विमान द्वारा जाने वाले ये ऊर्ध्वगमनशील महापुरुष दिव्याङ्गनाओं से आलिङ्गित होकर सियारिनियों से घिरे अपने भौतिक शरीरों को देख रहे हैं॥"

अत्र सुराङ्गना-मृतशरीरालम्बनयोः शृङ्गारबीभत्सयोरन्तः स्वर्गलाभाक्षिप्तो वीररसो निवेशितः। अन्तर्निवेशश्च तदुभयचर्वणाकालान्तर्वर्तिकालगतचर्वणाकत्वम्। तच्च प्रकृतपद्ये प्रथमार्धं एव शृङ्गारचर्वणोत्तरं वीरस्य चर्वणादनन्तरं द्वितीयार्धे बीभत्सस्येति स्फुटमेव। 'भूरेणुदिग्धान्'

विषयत्वेऽपि सम्भवतीति सूचितम्। समानविषयत्वे त्वयं विरोधो भवत्येव। अतश्च 'भूरेणुदिग्धान्............' इत्यादिविवरणे 'अन्यथा भिन्नविषयत्वात् को विरोधः' इति लोचने विषयत्वमाश्रयत्वमपि बोध्यम्।

सुराङ्गनेत्यादि। सुराङ्गनालम्बनकस्य शृङ्गारस्य मृतशरीरालम्बनकस्य बीभत्सस्य चेति यथासंख्यमन्वयः। स्वर्गलाभाक्षिप्त इति आक्षिप्तस्वर्गलाभेन प्रतीयमान इत्यर्थकः। वीररस इति। एतेन वीरबीभत्सयोरप्यविरोधः सूचितः। व्योमपदस्य स्वर्गार्थकत्वे तु वीरानुभावादय आक्षेपलभ्याः। एवं च व्योम्नीत्यत्र कर्मण एवाधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी ज्ञेया। पद्ये वीरा इति विशेषेण ईरयन्ति गच्छन्तीत्यर्थे क-प्रत्ययान्तस्य कर्त्तरि रूपम्, न तु 'वीर विक्रान्तौ' इति धातोः पचाद्यजन्तस्य। तथा च मध्ये चर्व्यमाणत्वेनाभिप्रेतस्य वाच्यत्वापत्तिर्निरस्ता। यद्वा स्वशरीराण्येवालम्बनं वीरगतस्योत्साहस्य, मध्ये प्रतीयमानस्तूत्साहो न तदालम्बनकोऽपि तु स्वर्गालम्बनकः, तस्य च वाच्यत्वाभावेन न दोषः। तथा च विक्रान्तार्थकधातोरपि वीरशब्दव्युत्पादने न हानिः। वस्तुतोऽत्र वीरशब्दप्रयोगो नोचितः, यद्वा सिद्धानुवादरूपत्वाददोषः। मध्यगतत्वं चोदासीनस्य चर्वणापेक्षमेव, चर्वणा च वर्णनानुक्रमेणाभिप्रेता, अन्यथा स्वर्गलाभानन्तरं सुराङ्गनाश्लेषस्य सम्भवाद् व्यवधानं वीरेण न स्यादित्याह—अन्तर्निवेशेनेत्यादिना। भूरेणुदिग्धानिति। इदं विशेषकं यथा—

इस पद्य में दिव्याङ्गनास्वरूप आलम्बन वाले शृङ्गार और मृतशरीरस्वरूप आलम्बन वाले बीभत्स रसों के बीच स्वर्गलाभ से आक्षिप्त (अथवा आक्षिप्त स्वर्गलाभ से प्रतीयमान) वीर रस द्वारा शृङ्गार और बीभत्स रसों का परस्पर-विरोध शान्त हो गया है।

दो विरोधी रसों के बीच किसी उदासीन रस के समावेश का अभिप्राय उन विरोधी रसों की चर्वणाओं के बीच उदासीन रस की चर्वणा से है। उदाहृत पद्य में यह स्थिति है, क्योंकि इस पद्य के पूर्वार्ध में जो वर्णन है उससे प्रथमतः शृङ्गार की चर्वणा, तदनन्तर वीर रस की चर्वणा और इसके पश्चात् पद्य के उत्तरार्ध में किये गये वर्णन के अनुसार बीभत्स रस की चर्वणा की सामग्री है। (ध्वन्यालोक तथा) काव्यप्रकाश मे जो 'भूरेणुदिग्धान्............' आदि तीन पद्यों का समूह—'विशेषक' उदाहरण दिया गया हैं उसमें भी यही स्थिति है।

इत्यादिकाव्यप्रकाशगतपद्यकदम्बे तु प्रथमश्रुतबीभत्ससामग्रीवशाद्बीभत्सचर्वणोत्तरं तत्साग्र्याक्षिप्तनिःशङ्कप्राणत्यागादिरूपसामग्रीकस्य वीरस्य चर्वणे

भूरेणुदिग्धान्नवपरिजात-
मालारजोवासितबाहुमध्याः ।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान्
सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ।।
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः
पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान् ।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः
सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ।।
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः
कुतूहलाविष्टतया तदानीम् ।
निर्दिश्यमानाल्ललनाङ्गुलीभि-
र्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ।। इति ।

प्रथमश्रुतेति हेतुर्बीभत्सस्य प्रथमास्वादे । तत्त्वं च भूरेणुदिग्धानिति प्रथमोपादानेन बीभत्ससामग्र्या निर्व्यूढमेवेत्यभिप्रायः । अस्मिन्नपि विशेषके वीरशब्दविषये पूर्वोक्तं स्मर्त्तव्यम् । पाठक्रमादार्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन शृङ्गारचर्वणैव प्रथममिति मन्यामहे । तस्य च मध्यवर्त्तिना वीरेण सह 'आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' इत्यादिना साहित्यदर्पणे विरोधे वर्णितेऽपि समानविषयत्व एव तयोर्विरोध इत्याश्रित्य परिहारः कर्तुं शक्यः । वीरबीभत्सयोस्तु न विरोध इत्युपपन्नमत्रापि पक्षे वीरस्य मध्ये चर्व्यमाणस्योदासीनत्वमिति विवेचनीयं विज्ञैः । वस्तुतस्त्वत्र कृशरान्नवत्सामग्रीसम्मिश्रणादुदाहरणमेतन्न विच्छित्तिजनकम् । "वीराः स्वदेहान्' इत्यादिना तदीयोत्साहाद्यवगत्या कर्त्तृकर्मणोः समस्तवाक्यार्थानुयायितया प्रतीतिरिति मध्यपाठाभावेऽपि सुतरां वीरस्य व्यवधायकता' इति लोचनोक्तिरपि प्रकृतोदाहरणे न कामपि विच्छित्तिं जनयति । कर्त्तुः सर्ववाक्यार्थान्वयित्वेऽपि सर्वदैव वीररसमात्रास्वादप्रसक्तौ रसान्तरानास्वादप्रसङ्गे विरोधोद्भावनस्यैवाशक्यत्वम् । अथ च रतिजुगुप्सयोर्व्यभिचारित्वमित्यतोऽप्युदाहरणान्तरं देयम् । तथापि समुचित उदाहरणे मध्ये तटस्थचर्वणायाः परस्परविरोधपरिहारप्रकारप्रदर्शनपरत्वेन कथञ्चिद्

अन्तर केवल यह है कि इस उदाहरण में वर्णित सामग्री के अनुसार प्रथमवर्णित बीभत्स की चर्वणा के बाद बीभत्स की सामग्री से आक्षिप्त निःशङ्क प्राणत्याग आदि सामग्री से वीर की चर्वणा होती और अन्त में वर्णनक्रम से शृङ्गार की चर्वणा ।

शृङ्गारचर्वणेति विवेकः। इत्थं चोदासीनचर्वणेन प्रतिबन्धकज्ञाननिवृत्तौ निष्प्रत्यूहः प्रतिबध्यचर्वणोदय इति फलितोऽर्थः।

अङ्गाङ्गिनोः, अङ्गिन्यन्यस्मिन्नङ्गयोर्वा न विरोधः, अङ्गत्वानुपपत्तिप्रसङ्गात्।

यथा—

प्रत्युद्गता सविनयं सहसा सखीभिः
स्मेरैः स्मरस्य सचिवैः सरसावलोकैः।
मामद्य मञ्जुरचनैर्वचनैश्च बाले
हा लेशतोऽपि न कथं वद सत्करोषि॥

ग्रन्थो योजनीयः। प्रतिबन्धकेत्यादि। परस्परं प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावात्पूर्वप्रतीतस्य प्रतिबन्धकत्वमवगन्तव्यम्। अनेन च विरोधिपरिगणने क्रमस्य न विवक्षेति पण्डितराजाशयः प्रतीयते। दर्पणकृदादयस्तु क्रमं विवक्षितं मन्यन्त इति पूर्वमुक्तमेव।

अङ्गाङ्गिनोरिति। पोषकपोष्यभावो हि तयोर्विरोधे नोपपद्यते। एवमेव एकस्याङ्गिनोऽङ्गभूतयोर्द्वयोरङ्गत्वे न विरोधः। अङ्गभूतयोर्द्वयोः परस्परमसम्बन्धाद् 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्' इति न्यायात्। अतश्च विरोधे नाङ्गत्वम्, इत्याह—अङ्गत्वानुपपत्तीत्यादिना।

अङ्गस्याङ्गिना विरोधाभाव उदाहरणम्—यथेति।

प्रत्युद्गतेति। अत्र भूतकालार्थकेन क्तप्रत्ययेन पूर्वार्दधार्थस्य भूतपूर्वत्वं

इस प्रकार मध्यगत उदासीन रस की चर्वणा से पूर्वजात प्रतिबन्धक-ज्ञान की निवृत्ति हो जाने से पश्चात् प्रतिबध्य रस-की चर्वणा निर्विरोध रूप में हो जाती है।

इसके अतिरिक्त, अङ्ग भूत रस का अपने अङ्गी रस के साथ और एक अङ्गी रस के अङ्ग-भूत दो रसों में भी परस्पर-विरोध नहीं होता। अङ्ग-अङ्गी में विरोध न होने का कारण यह है कि अङ्ग-रस पोषक (उपजीव्य) होता और अङ्गी रस पोष्य (उपजीवक)। पोष्य-पोषक में विरोध न होने से स्पष्ट है कि यदि किन्हीं दो के बीच विरोध हो तो उनमें पोष्य-पोषकभाव सम्भव नहीं। अतः यदि पोष्य-पोषकभाव—अङ्गाङ्गिभाव है तो उनमें विरोध सम्भव नहीं। एक रस के दो अङ्गों में विरोध तो इस लिए नहीं होता क्योंकि उन दोनों में परस्पर-सम्बन्ध होता ही नहीं। जिन दोनों में विरोध होता वे दोनों परस्पर सम्बद्ध अवश्य होते, ऐसी स्थिति में वे दोनों स्वतन्त्र रूप में किसी एक अङ्गी के अङ्ग हो हीं नहीं सकते।

एक अङ्गरस और एक अङ्गी रस के विरोधाभाव का उदाहरण देखिए—

"अरी नवयौवने प्रिये ? पहले तो तू मुस्कुराती और कामदेव को भी आकृष्ट

इयं च पुरो निपतितां प्रमीतां नायिकां प्रति नायकस्योक्तिः । इह नायिकालम्बना, अश्रुपातादिभिरनुभावैरावेगविषादादिभिः संचारिभिश्च व्यज्यमाना नायकगता रतिस्तुल्यसामग्र्यभिव्यक्ते प्रकृतत्वात्प्रधानीभूते प्रतिपाद्यते । अत एव स्मर्यमाणत्वमग्रे वक्ष्यमाणमुपपद्यते ।

प्रमीताम्=मृताम् । अश्रुपातादिभिरित्यस्याक्षिप्यमाणैरित्यादिः । नायकगतेत्यनन्तरं नायिकाविषयेति योज्यम् । प्रकृतत्वात्=प्रकरणप्राप्तत्वादिति हेतुः प्रधानीभूतत्वे शोकस्य । तुल्यसामग्रीति । नायिकासत्त्वकालिकेन नायिकाकर्तृकसविनयप्रत्युद्गमनादिना रतिरभिव्यक्ता, तेनैव च प्रत्युद्गमनादिना नायिकाऽसत्त्वकाले स्मर्यमाणेन शोकोऽप्यभिव्यज्यत इत्युभयोस्तुल्यसामग्र्यभिव्यक्तत्वमुक्तम् । एष चार्थो व्यतिरेकेण कविकुलगुरोरप्यभिमतः—

पादास्त एव शशिनः सुखयन्ति गात्रं
बाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः ।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद् यदासीत्
त्वत्संगमेन मम तत्तदिहानुनीतम् ॥ इति ।

मालतीमाधवेऽपि 'यद्विस्मयस्तिमित······' इत्यादिनाऽयमर्थः स्फुटः । अतश्च 'उक्तसामग्रीसजातीयेत्यर्थः' इति मर्मप्रकाशव्याख्यानम्, शोकोऽपि अश्रुपातादिभिरनुभावित आवेगविषादादिभिश्च संचारितः, परं शोकस्याश्रुपातादय आवेगविषादादयश्च शृंगारसम्बन्धिभिस्तैर्भिन्ना इति सजातीयत्वमिति रसचन्द्रिकोक्तं तदुपपादनं च चिन्त्यम् । इयांस्तु विशेषः—अत्र तुल्यत्वमुपात्ताया एव सामग्र्या अभिप्रायेण, आक्षिप्तायाम् अश्रुपातादिसामग्र्यामभेदसजातीयत्वयोरभावात् । नायकेन च नायिका-

---

करने वाले कटाक्ष से मुझे देखती हुई अपनी सखियों के साथ दौड़ कर मेरी अगवानी किया करती थी; पर तू बता कि क्या आज अपनी मीठी बातों से थोड़ी देर के लिये भी अपना प्यार नहीं देगी !!"

अपने आगे मरी हुई प्रियतमा नायिका के प्रति नायक की यह उक्ति है । यहाँ नायिका आलम्बन विभाव है, अश्रुपात आदि अनुभाव हैं और आवेग, विषाद आदि व्यभिचारिभाव हैं । इन सबसे अभिव्यज्यमान नायिकाविषयक नायकनिष्ठ रति वर्णनीय होने से प्रधानीभूत नायकनिष्ठ मृतनायिकाविषयक शोक को बढ़ाती हुई उस (शोक) का अङ्ग है जो रत्यभिव्यञ्जक सामग्री—अगवानी करना आदि से अभिव्यक्त हो रहा है । तात्पर्य यह है कि जीवन-काल में नायिका द्वारा की जाने वाली अगवानी तथा अन्य क्रियायें नायकनिष्ठ रति का और मृत्यु हो जाने पर उसी नायिका की वे हीं क्रियाएँ स्मरणमात्र से नायकनिष्ठ शोक का अभिव्यञ्जन करती हैं । यद्यपि रत्यभिव्यञ्जक अश्रुपात आदि सामग्री और शोकाभिव्यञ्जक अश्रुपात

तद्गत एव शोके प्रकर्षकत्वादङ्गम्। यदि तु नायकगता रतिर्नात्र प्रतीयते किं तु निरुक्तसामग्र्या शोक एव प्रकृतत्वादित्यागृह्यते, तदा नायकालम्बना प्रत्युद्गमाद्यनुभाविता हर्षादिभिः पोषिता नायिकाश्रया रतिरेव तत्राङ्गमस्तु, नायिकागतरतेर्नायकशोकप्रकर्षहेतुतायाः सर्वसंमतत्वात्। न च नायिकाया नाशात्तद्गताया रतेरसंनिधानात्कथमङ्गतेति वाच्यम्।

जीवनकाले अनुभूयमाना मरणोत्तरं च स्मर्यमाणापि सा रत्याद्यभिव्यञ्जने न विशेषवतीति। अत्र च नायिकाविषयकनायकनिष्ठशोकस्य नायकनिष्ठनायिकाविषयकरत्यभावेऽसम्भवात्सापि प्रतीयत आक्षिप्यते वेति 'यदि तु' इत्यनेन सूच्यते। नात्र प्रतीयत इति। नायकनिष्ठनायिकाविषयकरतिव्यञ्जकसामग्र्यवर्णनादिति भावः। निरुक्तसामग्र्या = नायिकाकर्तृकसविनयप्रत्युद्गमनादिसामग्र्या। अत्र 'यद्यालम्बनविनाशान्नायकनिष्ठरतेरप्रतीतिरिहाभ्युपगम्यते तदाश्रयविनाशान्नायिकानिष्ठरतेः प्रतीतिः कथंकारं स्यात्, उभयोर्वैषम्ये बीजाभावात्। यदि तु वक्ष्यमाणरीत्या स्मर्यमाणाया नायिकानिष्ठाया रतेः शोकाङ्गत्वं न्याय्यम् तर्हि तादृश्या नायकनिष्ठरतेरपि तत्त्वे बाधकाभावात्' इति यदुक्तं चन्द्रिकायाम् तदापातत, नायिकाकर्तृकातीतकालिकसविनयप्रत्युद्गमनादेर्नायिकानिष्ठरतिस्मारकस्य साक्षाद्वर्णितत्वम्, नायकनिष्ठाया रतेस्तु साक्षात्स्मारकस्य तस्याभाव एवेति वैषम्यस्य स्फुटं प्रतीयमानत्वात्। प्रकारान्तरेण प्रतीयमानत्वमाक्षिप्यमाणत्वं वा नायकनिष्ठरतेरपि

आदि में अभेद भी नहीं और सजातीयता भी नहीं; अतः रति और शोक को 'तुल्यसामग्र्यभिव्यक्त,' कहना संगत नहीं लगता तथापि रत्यभिव्यञ्जक जो सामग्री (अगवानी करना आदि) पद्य में निर्दिष्ट है उसी को लेकर रति और शोक दोनों को 'तुल्यसामग्र्यभिव्यक्त' कहा गया है। यह सामग्री जीवन-काल और मृत्यूत्तर-काल में क्रमशः रति का और शोक का अभिव्यञ्जक है हीं। अत एव यह भी स्पष्ट है कि नायक द्वारा अनुभूयमान यह सामग्री रति का और स्मर्यमाण यही सामग्री शोक का अभिव्यञ्जक है। परन्तु इससे सहृदयों में रस की अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि यह आग्रह किया जाय कि यहाँ नायकनिष्ठ रति की अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि प्रत्युद्गमन आदि सामग्री नायकविषयक नायिकानिष्ठ रति का हीं अभिव्यञ्जक है; हाँ उत्तरार्ध से नायकनिष्ठ शोक की अभिव्यक्ति अवश्य होती तो उक्त प्रत्युद्गमन आदि अनुभावों से अभिव्यक्त और व्यज्यमान हर्ष आदि से परिपोषित नायिकानिष्ठ रति हीं नायकनिष्ठ शोक का परिपोषक होने से इसका अङ्ग हो। नायिका की नायक विषयक रति का नायिका के अभाव में नायकगत शोक का परिपोषक होना सर्वसम्मत हैं हीं। यहाँ यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि नायिका के विनष्ट हो जाने से तन्निष्ठ रति का नायक को

संनिधानस्याङ्गतायामतन्त्रत्वेन स्मर्यमाणायास्तस्या अङ्गत्वोपपत्तेः।

अङ्गयोर्यथा—

उत्क्षिप्ताः कबरीभरं विवलिताः पार्श्वद्वयं न्यक्कृताः
पादाम्भोजयुगं रुषा परिहृता दूरेण चेलाञ्चलम्।
गृह्णन्ति त्वरया भवत्प्रतिभटक्ष्मापालवामभ्रुवां
यान्तीनां गहनेषु कण्टकचिताः के के न भूमीरुहाः॥

पूर्वमुक्तमेव। असन्निधानमत्रानुभवः। सन्निधानमनुभवः।

सम्प्रत्येकस्मिन्नङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोर्यथा न विरोधस्तदुपपादयन्नाह—अङ्गयोर्यथेति।

उत्क्षिप्ता इति। विजितरिपो राज्ञः कस्यचिदियं स्तुतिः। हे राजन्! भवतः प्रतिभटाः पराजिता ये वनस्थाः क्ष्मापालाः तेषां वामभ्रुवां रमणीनां गहनेषु वनेषु यान्तीनां के के कण्टकाकीर्णा भूमीरुहा वृक्षास्ताभिरुत्क्षिप्ताः सन्तस्तासां कबरीभरं केशपाशं न गृह्णन्ति नाकर्षन्ति? अपि तु सर्वेऽप्याकर्षन्त्येव। किन्ते विवलिता वक्रीकृताः सन्तस्तासां पार्श्वद्वयं न गृह्णन्ति संदशवन्नाभिभवन्ति? न्यक्कृता अधःकृताः पादाम्भोजयुगम्, रुषा दूरेण परिहृताश्च सन्तस्तासां चेलाञ्चलं च न गृह्णन्ति? गृह्णन्त्येवेत्यर्थः॥

अत्रोत्क्षिप्तादिविशेषणबलात् शठकामुकव्यहारस्यापि प्रतीतिः। अत्र च पक्षे कण्टकशब्दो रोमाञ्चार्थकः। तत्र च प्रकृतवृक्षव्यवहारेण व्यज्यमानस्य करुणस्याऽप्रकृतशठकामुकव्यवहारेण च प्रतीयमानस्य शृङ्गारस्य (शृङ्गाराभासस्य वा) राज-

---

अनुभव (अनुमिति) न होने से वह नायकगत शोक का परिपोषक—अङ्ग हो नहीं सकती, कारण, अङ्गत्व के लिये अनुभूयमानत्व के आवश्यक न होने से स्मर्यमाण नायिकानिष्ठ नायक विषयक रति भी नायकगत शोक का परिपोषक हो हीं सकती है।

अब एक अङ्गी के दो अङ्गों में परस्पर-विरोध के अभाव का एक उदाहरण लीजिए:—

"हे राजन्! आपसे पराजित होकर जङ्गल में छिपे हुए आपके शत्रुओं की रमणियाँ जब जङ्गलों में चलतीं तब कौन से ऐसे काँटेदार वृक्ष नहीं जो (जिनकी शाखायें) उन रमणियों द्वारा ऊपर उठाये जाने पर उनके केश-पाश को पकड़ नहीं लेते (केश-पाश में उलझ नहीं जाते)? किनारे हँटाये जाने पर उनके दोनों पार्श्वों (उनकी कमर) में चिपक नहीं जाते? नीचे झुकाये जाने पर उनके चरणकमलों को नहीं पकड़ लेते? और क्रोध से दूर हटाये जाने पर उनके आँचल में उलझ नहीं जाते?"

अत्र समासोक्त्यवयवाभ्यां तरुकामिकर्तृकरिपुकामिनीकबर्यादिग्रहण-रूपाभ्यां प्रकृताप्रकृतव्यवहाराभ्यां व्यक्तयोः करुणशृङ्गारयो राजविषयक-रतिभावाङ्गत्वम् ।

किं च प्रकृतरसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनोऽपि रसस्य बाध्यत्वेन निबन्धनं कार्यमेव । तथा हि सति वैरिविजयकृता वर्ण्यस्य कापि शोभा संपद्यते । बाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिनी रसस्याङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु निष्पत्तेः प्रतिबन्धः । व्यभिचारिणो बाध्यत्वं तु तदीयरसनिष्पत्ति-प्रतिबन्धमात्रात्, न त्वनभिव्यक्त्या, अभिव्यक्तौ बाधकाभावात् । न च

विषयकरतिभावाङ्गत्वेन न परस्परं विरोध इत्युपपादयति—अत्रेत्यादिना । अवयवत्वं च प्रकृताऽप्रकृतधर्मिकव्यवहारयोः समासोक्तिप्रतिपाद्यार्थघटकत्वम्, प्रथमे तदुपपादकत्वं वा ।

परिपुष्टिमिच्छतेति । एतेनात्रापि तयोरङ्गाङ्गिभावः सूचितः, परिपोषकस्यैवाङ्गतया प्रसिद्धेः । सुराङ्गनेत्यादिना पूर्वं मुक्तकेऽविरोधोऽत्र तु प्रबन्धेऽविरोध इति पृथगुपादानं न पुनरुक्तिदोषास्पदम् । ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन वा । अङ्गैरित्यत्र कर्त्तरि तृतीया । स्वाङ्गेष्वित्यत्र स्वपदं बाध्यपरम् । निष्पत्तिरभिव्यक्तिः, आस्वाद इति यावत् । प्रसङ्गाद् व्यभिचारिणो बाध्यत्वं निरूपयति—व्यभिचारिण इत्यादिना ।

इस पद्य में विशेषणों के श्लिष्ट होने के कारण प्रकृत वृक्षों के कार्य से अप्रकृत कामुक पुरुष के कार्य (व्यवहार) की भी प्रतीति होती है और इस प्रकार प्रकृत वृक्ष के व्यवहार से करुण की और अप्रकृत कामुक के व्यवहार से शृङ्गार की अभिव्यक्ति होती है । ये दोनों ही वक्ता की राजविषयक रति (स्तुति) के अङ्ग हैं । अत अङ्गभूत करुण और शृङ्गार में किसी साक्षात् सम्बन्ध के अभाव में कोई विरोध नहीं है ।

और भी, कवि को चाहिए कि वह प्रकृत मुख्य रस को परिपुष्ट करने के लिए उसके विरोधी रसों का भी 'बाध्य रसों' के रूप में अपने काव्य में वर्णन अवश्य करे । इससे मुख्य रस में अपने विरोधी रसों के पराभव से एक विलक्षण चमत्कृति आ जाती है । किसी भी रस को 'बाध्य' कहने का अर्थ यही है कि उसके विरोधी मुख्य रस के अङ्गों का प्रबल चित्रण होने से मुख्य रस की ही प्रतीति (अर्थात् आस्वाद) हो पाती, दुर्बल रूप में वर्णित उस रस की नहीं । किन्तु व्यभिचारिभाव के बाध्य होने का अर्थ केवल यह है कि उससे रस की अभिव्यक्ति नहीं होती, जहाँ तक स्वयं व्यभिचारिभाव की अभिव्यक्ति का प्रश्न है वह तो होती ही है, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति में कोई बाधक नहीं है । यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि विरोधी (=बाधक) रस के अङ्गभूत विभावादि की अभिव्यक्ति से बाध्य रस के

विरोध्यङ्गाभिव्यक्त्या प्रतिबन्धान्नाभिव्यक्तिरिति वाच्यम्, तद्व्यञ्जकशब्दार्थ-ज्ञानसमये विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानस्यासंनिधानात् प्रतिबध्यप्रति-

---

तदीयेति। तदभिव्यङ्गत्वेन विवक्षितेत्यर्थः। तत्पद व्यभिचारिपरम्। अभिव्यक्तौ = व्यङ्ग्यत्वे। तद्व्यञ्जकेति। बाध्यव्यभिचारिव्यञ्जकेत्यर्थः। शब्दार्थज्ञानम् = वाक्यार्थज्ञानम्। असन्निधानादिति। अयमर्थः—यदा पूर्वं महावाक्यघटकस्य बाध्यव्यभिचारिव्यञ्जकवाक्यार्थस्य ज्ञानम्, तत्सामर्थ्यादभिव्यक्तिर्व्यभिचारिणस्तद-नन्तरमेव विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानं तत्राभिव्यक्त्या व्यवधानात् पश्चाज्जाय-मानेन विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानेन पूर्वनिष्पन्नस्य बाध्यव्यभिचारिव्यञ्जकस्य वाक्यार्थज्ञानस्य प्रतिबन्धाभावात् तत्सामर्थ्यजन्या व्यभिचार्यभिव्यक्तिः केन वार्यताम्? यत्रापि बाध्यव्यभिचारिव्यञ्जकवाक्यं निषेधघटितं तत्रापि निषेधप्रतीतेः प्रतियोगि-ज्ञानजन्यत्वनियमात् पूर्वं जायमानेन प्रतियोगिज्ञानेन तत्सामर्थ्यबलायाता व्यभि-चार्यभिव्यक्तिर्निष्प्रत्यूहैव, निषेधप्रतीत्या व्यवधानं परं विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जक-शब्दार्थज्ञानस्याधिकम्। यदि तु बाध्यव्यभिचारिव्यञ्जकविरोध्यङ्गाभिव्यञ्जक-शब्दार्थज्ञानयोर्युगपदेव समूहालम्बनरूपेणोत्पत्तिस्तदोत्तरक्षणे व्यभिचार्यभिव्यक्तिर्न सम्भवति, परमेतादृशं समूहालम्बनं वस्तुतो जायमानमपि कविना न निबन्ध-नीयम्, विच्छित्त्यनाधायकत्वात्। प्रबन्धे प्रायेण तदसम्भवाच्च। चर्वणा तु समूहालम्बनरूपा स्वाभाविक्येवेति तत्र न विवादः। अतश्चासन्निधानमत्र पक्षेऽ नुत्पत्तिरेव। मर्मप्रकाशे तु असन्निधानादित्यस्य विनष्टत्वादित्यर्थ उक्तः, स च तदैव घटते यदि प्रथममेव विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानं ततश्च विरोध्यङ्गाभिव्यक्तिः, ततश्च बाध्याङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानम् इति क्रमः। वयं तु मन्यामहे—एतादृशं निबन्धनं न विच्छित्तिजनकम्। अत एव यत्र प्रबन्धादौ पूर्वं विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्द-स्तदनन्तरं बाध्याङ्गाभिव्यञ्जकोपनिबन्धनं तत्रापि परस्ताद्विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जक-शब्दादिनिबन्धनं कर्त्तव्यमेव कविना, क्रियतेऽपि च। मुक्तके तु परस्तादेव विरोधिनिब-न्धनंकर्त्तव्यम् इति। 'ननु विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानजन्य–) संस्कारस्यैव तत्र-

---

व्यभिचारी की अभिव्यक्ति का प्रतिबन्ध हो जाता है, क्योंकि यदि बाधक रस के अभिव्यञ्जक शब्दार्थज्ञान व्यभिचारी के अभिव्यञ्जक शब्दार्थज्ञान के पश्चात् होने वाला हो तो पूर्वोत्पन्न व्यभिचार्यभिव्यञ्जक शब्दार्थज्ञान से उत्तरक्षण में व्यभि-चारिभाव की अभिव्यक्ति को उस समय अनुत्पन्न बाधकरसाभिव्यञ्जक शब्दार्थ-ज्ञान कैसे रोक सकेगा? अथ चेत् बाधकरसाभिव्यञ्जक शब्दार्थ का ज्ञान हीं पहले उत्पन्न होता हो तब भी उत्तरक्षण में उस बाधक रस की अभिव्यक्ति होगी, तदुत्तरक्षण में व्यभिचार्यभिव्यञ्जक शब्द का ज्ञान होगा उसके उत्तरक्षण में व्यभि-चारी के अभिव्यञ्जक उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होगा। अतः अपनी उत्पत्ति के

बन्धकभावकल्पने मानाभावात्, भावशबलताया उच्छेदापत्तेश्च। रसनिष्पत्तेः प्रतिबन्धस्त्वनुभवसिद्ध इति तां प्रत्येव विरोध्यङ्गानां बलवतामभिव्यक्तेः प्रतिबन्धकत्वं न्याय्यम्।

अपि च यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधो निवर्तते।

मायातमत आह-भावेति'—मर्मप्रकाशविरणम्, तदपि पूर्वं विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जक-शब्दार्थज्ञाने सत्येव घटते। किन्तु यत्र भावशबलतायाम् अभिव्यक्तस्य पूर्वपूर्वस्याभिव्य-ज्यमानेनोत्तरोत्तरेण तिरस्कारस्तत्र बाध्याङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानस्यैव पूर्वजातत्वात् पश्चाज्जायमानस्य विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानस्य तज्जन्यसंस्कारस्य वा पूर्वजातबाध्याङ्गाभिव्यक्तिप्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः। यदि तु पूर्वं बाध्याङ्गाभिव्यञ्जक-शब्दार्थज्ञानं तदनन्तरं विरोध्यङ्गाभिव्यञ्जकशब्दार्थज्ञानं ततश्च बाध्यव्यभिचार्यभि-व्यक्तिप्राप्तिरुच्येत तदाऽपि संस्कारस्य समकालिकस्य प्रतिबन्धकत्वमनुभवविरुद्धम्, ज्ञानस्यैव प्रतिबन्धकत्वं प्रतीतमपि तादृशाभिव्यक्तिक्रमस्यैवाप्रामाणिकत्वेन तदप्यनुप-पन्नमेव। अतः पूर्वोक्तासन्निधानविवरणवदिदमपि मर्मप्रकाशविवरणं पाक्षिकमेव मन्तव्यम्। रसनिष्पत्तेति। बाध्याङ्गजन्यरसास्वादस्येत्यर्थः।

प्रकारान्तरेणापि विरोधपरिहारमाह—अपि चेत्यादिना। अभिव्यक्तिः समा-सोक्तिस्थले। साधारणविशेषणेत्यनेन श्लिष्टविशेषणमात्रोक्तेस्तादृशविशेष्याभाव-प्रतिपादनाच्छब्दशक्तिमूलध्वनेर्भेदः समासोक्तेः प्रतिपादितः।

तृतीयक्षण में नष्ट होने वाला बाधकाभिव्यञ्जक शब्द का ज्ञान और उसके अर्थ का तदुत्तरक्षणोत्पन्न ज्ञान क्रमशः अपने अपने विनाशक्षण में उत्पन्न होने वाले व्यभिचार्यभिव्यञ्जक शब्द के ज्ञान का और उस शब्द के अर्थ के ज्ञान का प्रतिबन्धक न हो सकेगा। अतः व्यभिचार्यभिव्यंजक शब्दार्थ-ज्ञान के सामर्थ्य से व्यभिचारिभाव की अभिव्यक्ति होगी ही। अतः प्रतिबन्ध-काल मे अनुपस्थित बाधकरसाभिव्यञ्जक शब्दार्थज्ञान को प्रतिबन्धक और व्यभिचार्यभिव्यञ्जक शब्दार्थज्ञान को प्रतिबध्य नहीं माना जा सकता। साथ हीं, इन दोनों ज्ञानों में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव अनुभवसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि 'भावशबलता' में परस्पर-विरोधी व्यभिचारियों का ज्ञान सर्वसम्मत है। उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मानने पर तो उक्त प्रकार की 'भावशबलता' का उच्छेद हीं हो जायेगा। व्यभिचारी की अभिव्यक्ति के विपरीत, बाध्य रस की अभिव्यक्ति का बाधकरसाभिव्यक्ति द्वारा प्रतिबन्ध अनुभवसिद्ध है; अतः इन दोनों में प्रतिबध्य प्रतिबन्धकभाव मान्य है।

उपर्युक्त विरोधनिवृत्ति से अतिरिक्त वहाँ भी विरोध की निवृत्ति अभीष्ट है जहाँ विशेषणमात्र के श्लिष्ट होने से प्रकृत वस्तु के व्यवहार से अप्रकृत वस्तु के व्यवहार

यथा—

नितान्तं यौवनोन्मत्ता गाढरक्ताः सदाहवे ।
वसुन्धरां समालिङ्ग्य शेरते वीर तेऽरयः ।।

नितान्तमित्यादि । हे वीर ? त्वया सह आहवे युद्धार्थमागता यौवनोन्मत्ता अरयः गाढरक्ता घनीभूतं रक्तं येषां तादृशाः सन्तः, शरीराद् बहिर्निःसृतं रक्तं घनत्वमापद्यत इति प्रसिद्धम्, वसुन्धरां पृथिवीं समालिङ्ग्य भूमौ निपत्य शेरते परलोकं गच्छन्तीति प्रकृतोऽर्थः। अत्र यौवनोन्मत्ताः, गाढरक्ताः, वसुन्धरां समालिङ्ग्य च शेरते इति विशेषणानां श्लिष्टत्वेन यौवनोन्मादयुक्ता गाढमनुरक्ता रमणीं समालिङ्ग्य स्वपन्तीति अप्रकृतकामिव्यवहारोऽपि प्रतीयते । तत्र प्रकृतारिव्यवहारेण करुणस्याप्रकृतकामिव्यवहारेण च शृङ्गारस्यापि प्रतीतिः । तत्र चानयोः शृङ्गारकरुणयोरविरोधो भिन्नधर्मिकत्वादित्येकः पन्थाः, अप्रकृतकामिव्यवहाराभेदेन प्रकृतारिधर्मिकव्यवहारस्य भासमानत्वादविरोधो वा, अभेदप्रतीतौ विरुद्धयोरप्यविरोधप्रतीतेः, पुरुषसिंहवत् । अयमेवाऽविरोधः काव्यप्रकाशे 'साम्येनाथ विवक्षितः' इत्यनेनोक्तः ।

'उत्क्षिप्ताः कबरीभरम्' इत्यत्र तु समासोक्तिबलायातस्यान्याङ्गत्वम्, अत्र पुनर्न तथेत्युभयोर्विशेषः । वस्तुतस्त्वत्रापि कथं न राजस्तुत्यङ्गत्वमुभयोरिति चिन्त्यम् । राजस्तुतेरविवक्षया वा कथञ्चित् समाधेयम् । अन्यथोदाहरणद्वयस्य पृथगुपादानं व्यर्थमेव । अत एव प्रकाशेऽपि 'विवक्षितः' इत्युक्तम् ।

इदमत्र बोध्यम्—अत्र प्रकरणे प्रतिपादितो विरोधो निबन्धनाभिप्रायेण, वस्तुतस्तु व्यवहारे निर्वेदातिरिक्ताधिकरणे भिन्नाऽभिन्नविषययोरप्युद्भवो भवत्येवेति । क्षणपौर्वापर्यन्त्वपरिहार्यम्, अत एकानन्तरक्षणेऽन्यस्य प्रतीतिरिति विशेषो वर्त्तत एव ।।

की प्रतीति (समासोक्तिस्थल में) होती, किन्तु वे दोनों प्रकृत-अप्रकृत-व्यवहार किसी अन्य के अङ्ग नहीं होते[1] । जैसे:—

"हे राजन् ! युवावस्था से अत्यन्त उन्मत्त और संग्राम में आपके अस्त्र-शस्त्राघात से बहता हुआ रक्त जिनके शरीरों पर जम गया है वे आपके शत्रु पृथ्वी की गोद में सो रहे हैं ।"

---

१. यह ग्रन्थकार का अभिप्राय प्रतीत होता, किन्तु यहाँ भी करुण और शृङ्गार दोनों ही 'उत्क्षिप्ताः कबरीरम्······' आदि पद्य की तरह राजस्तुति के अङ्ग क्यों नहीं हैं—यह विवेचनीय है । राजस्तुति को अविवक्षित मानकर कथञ्चित् संगति हो सकती, है, अन्यथा पृथक्-पृथक् दोनों उदाहरणों का निर्देश निष्प्रयोजन है ।

इत्थमविरोधसंपादनेनापि निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृङ्गारादिशब्दैर्वा नाभिधातुमुचितः, अनास्वाद्यतापत्तेः। तदास्वादश्च व्यञ्जनमात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात्। यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधानं तत्र को दोष इति चेत्, ? व्यङ्गयस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। आस्वाद्यतावच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेयकल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च।

इदानीं रसदोषानभिधातुमुपक्रमते—इत्थमित्यादिना। पूर्वोक्तप्रकारैरित्यर्थः। निबध्यमानः=आस्वाद्यत्वेन प्रतिपिपादयिषितः। अनास्वाद्यतापत्तेरिति। विभावाद्यभिव्यक्तस्यैव रसस्यास्वाद्यत्वनियमादिति भावः। इयं चापत्तिर्यत्र केवलरसादिपदवाच्यत्वं न तु विभावाद्यभिव्यक्तत्वमपि तत्र बोध्यम्। यत्र तूभयं तत्राह—यत्रेत्यादि। सामान्यत इति। सर्वेषां व्यङ्गयत्वेन चमत्कृतिजनकानां वाच्यत्वे सत्ययं दोष इत्यभिप्रायेणेदमुक्तम्। केचित्त्वलङ्काराणां वाच्यत्वेऽपि क्वचिच्चमत्कृतिजनकत्वं मन्यन्ते। रसस्थलमात्रे दोषमाह—आस्वाद्यतावच्छेदकरूपेणेत्यादिना। वाच्यत्वाद्यसहकृतविभावाद्यभिव्यक्तत्वेन रूपेणेत्यर्थः। कापेयकल्पत्वेनेति। कपेः कर्म कापेयम्, निरर्थकं कर्म, तत्सदृशत्वेनेत्यर्थः। विशेष इति रसस्थलमात्राभिप्रायेण। विभावाद्यभिव्यक्तस्यैवानुवादाभिप्रायेण स्वशब्देनाभिधाने तु न

यहाँ 'यौवनोन्मत्ताः' (नवयौवन के दर्प से समन्वित), 'गाढरक्ताः' (अत्यन्त अनुरक्त) और 'वसुन्धरां समालिङ्गय शेरते' (ज्योतिष्मती—सुन्दरी नायिका का आलिङ्गन कर सो रहे हैं) इन विशेषणों के श्लिष्ट होने से अप्रकृत कामुक पुरुषों के व्यवहार की भी (समासोक्तिमाहात्म्यप्रयुक्त) प्रतीति होती हीं है। किन्तु प्रकृत-व्यवहार अप्रकृत-व्यवहार से अभिन्न रूप में भासित होता। यही 'अभेदेन भासमानत्व' दोनों में अविरोध का निमित्त है ॥

उपर्युक्त रीति से रसों में परस्पर-विरोधाभाव का उपपादन किये जाने पर भी कवि को चाहिए कि जिस रस का उसे अपने काव्य में निबन्धन करना हो उसका वह रस-शब्द से सामान्य रूप में अथवा विशेषरूप में शृङ्गार आदि शब्दों से उल्लेख न करे, क्योंकि ऐसा करना अनुचित है—ऐसा करने से रस के वाच्य हो जाने से उसमें आस्वाद्यता नहीं रह जाती। रस आस्वाद्य तभी होता जब वह व्यङ्गय होता, अन्यथा नहीं—यह तथ्य प्रकट किया जा चुका है। यदि एक ओर कोई रस अपने विभावादि से अभिव्यक्त हो रहा हो और दूसरी ओर उसका तद्वाचक शब्द से सामान्य अथवा विशेष रूप में अभिधान भी किया गया हो तब तो 'वमन' नामक दोष का होना आगे बताया जायगा। यह 'वमन' नामक दोष केवल रस के विषय में हीं नहीं अपि तु जिन अलङ्कारादि तत्त्वों में व्यङ्गय होने पर हीं चमत्कार-

एवं स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः। एवं विभावानुभावयोरसम्यक्प्रत्यये विलम्बेन प्रत्यये वा न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्। समबलप्रबलप्रतिकूलरसाङ्गानां निबन्धनं तु प्रकृतरसपोषप्रातीपिकमिति दोषः।

दोषः। अत एव 'धातुः शिल्पातिशय............' इत्यत्र काव्यप्रकाशोदाहरणे 'शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम्' इत्यत्र चतुर्थे पादे शृङ्गारशब्देनाभिधानेऽपि न दोषः। अतश्च यत्र मुख्यतस्तत्प्रतिपादनं स्वशब्देन तत्रैव दोष इत्यपि मतम्।

व्यभिचारिणामिति। यत्र पुनस्तद्व्यभिचारिविशेषनियतोऽनुभावादिर्न वर्त्तते तत्र तेन व्यभिचार्यभिव्यक्तेः सन्दिग्धत्वात् स्वशब्देन व्यभिचार्यभिधानेऽपि न दोष इति प्राञ्चः। यदुक्तम्—

"न दोषः स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिणः क्वचित्॥" इति।

समबलेत्यादि। समबलप्रतिकूलरसाङ्गानां प्रबलप्रतिकूलरसाङ्गानां चेत्यर्थः। आद्यनिबन्धने सुन्दोपसुन्दवदुभयोर्निष्पत्तिः, द्वितीये प्रकृताभिव्यक्तिप्रतिबन्धो दोषः। एतेन दुर्बलानामत एव प्रबलप्रकृतबाध्यानां प्रतिकूलरसाङ्गानां निबन्धनं प्रकृतपरिपोषाय कर्त्तव्यमिति सूचितम्। प्रबन्ध इति। पुनः पुनर्दीप्तिः प्रायेण प्रबन्धकाव्य एव सम्भवतीति प्रबन्ध इत्युक्तम्। सामग्र्येण = सम्भवद्यावदनुभावादिपरि-

---

जनकता होती उनका भी शब्दतः अभिधान होने पर होता है। इसी लिये इस दोष को सामान्य दोष कहा गया है। रस-रसाभास-स्थलों में तो व्यङ्ग्य को वाच्य बना देने पर 'निरर्थकत्व' नामक विशेष दोष भी होता, क्योंकि जिस व्यञ्जनामात्र-गम्यत्व रूप में रस में आस्वाद्यता होती उस रूप में व्यक्त किये जाने के बाद पुनः उसका वाच्य रूप में—जिस रूप में रस आस्वाद्य कभी नहीं होता—निर्देश करने का कोई प्रयोजन रह नहीं जाता। यह कार्य तो बानर के कार्य के समान सर्वथा निष्प्रयोजन है।

इसी प्रकार, स्थायिभाव और व्यभिचारिभावों की भी शब्दवाच्यता एक दोष है। किन्तु काव्यप्रकाशकार आदि का मत है कि जहाँ किसी विशेष व्यभिचारिभाव का सुनिश्चित रूप में अभिव्यञ्जक अनुभाव कवि द्वारा निबद्ध न हो वहाँ व्यभिचारिभाव की असन्दिग्ध अभिव्यक्ति न होने से व्यभिचारिभाव के वाच्य होने पर भी कोई दोष नहीं होता। इसी तरह, विभाव और अनुभाव की सम्यक्-प्रतीति न होने और विलम्ब से प्रतीति होने पर भी रसास्वाद न होने से विभावादि की असम्यक्-प्रतीति और विलम्ब-प्रतीति भी दोष हैं। प्रधान रस के समबल अङ्गरस के और समबल अथवा प्रबल प्रतिकूल रस के विभावादि के निबन्धन से भी प्रधान रस के आस्वाद में बाधा होती; अतः समबल अङ्ग रस के और समबल अथवा प्रबल प्रतिकूल रस के विभावादि के निबन्धन भी दोष हैं।

प्रबन्धे प्रकृतस्य रसस्य प्रसङ्गान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्र्येण रसास्वाद इति विच्छिन्नदीपनं दोषः। तथा तत्तद्रसप्रस्तावना-

पोषितत्वेन रूपेण। प्रबन्धे प्रकृतस्य...दोष इति। तदुक्तं ध्वन्यालोकवृत्तौ—'उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते' इति। अत्रेदं बोध्यम्—दीप्तदीपनं नामायं दोषो नाङ्गिरसे, तस्य सर्वत्रैव रामायणादौ पुनः पुनरुद्दीपनात्। अत एवोक्तमानन्दबर्धनाचार्यैः—

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गितां तस्य स्थायित्वेनावभासिनः॥ इति।

व्याख्यातं चेदं वृत्तौ—'प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो रसान्तरैरन्तरालवर्त्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति' इति। अत एव 'दीप्तिः पुनः पुनः' इति विवृण्वद्भिर्गोविन्दठक्कुरप्रभृतिभिरेवमेव निगदितम्। अत एव च काव्यप्रकाशे कुमारसम्भवस्थो रतिविलापो निर्दिष्ट उदाहरणरूपेण। तथा चात्र गङ्गाधरेऽपि पूर्वाचार्यानुरोधाद् युक्तिसिद्धित्वाच्च **प्रबन्धे प्रकृतस्य** इतिमुद्रितपाठस्थाने प्रबन्धेऽप्रकृतस्य इति पाठः कर्त्तव्यः। अप्रकृतस्याप्रधानस्याङ्गरसस्येति तदर्थः। अयं चापरो विशेषः—'परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्' इत्यादिध्वन्यालोकवचनेन प्रतीयते यत्प्रबन्धे एकत्र परिपुष्टस्य कस्यचनाङ्गरसस्य प्रसङ्गान्तरव्यवहितं पुनः पुनर्निबन्धनं महाकविना न कार्यम् इति। तद्वृत्तिग्रन्थेनाप्ययमर्थः स्फुटः। तथा चैतदनुरोधेन कस्यचनैकस्याङ्गरसस्य समानालम्बनस्यैकत्रैवावसरे सामग्र्येणोपनिबन्धनं कर्त्तव्यम्, न तु भूयो भूयस्तथेति प्रतिफलति। 'प्रसङ्गान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्र्येण रसास्वादः' इत्युक्तेर्गङ्गाधरकारमते तु विच्छिन्नदीपनोऽयं दोषः पुनस्तत्र प्रबन्धे भवेद् यत्राङ्गरसस्यैकस्य सामग्र्या एकत्रांशतो निबन्धनं विधाय प्रसङ्गान्तरनिबन्धनं ततश्च तस्याङ्गरसस्यावशिष्टसामग्र्या निबन्धनमिति कश्चिद्विलक्षण एवायं दोषो गङ्गाधरोक्तो ध्वन्यालोकोक्तदोषाद इति प्रतीयते। उदाहरणानुरोधेन काव्यप्रकाशोक्तो 'दीप्तिः पुनः पुन.' इतिरूपो दोषोऽपि गङ्गाधरोक्तदोषान्न भिद्यते। प्रदीपोद्योतादौ

किसी प्रबन्ध-काव्य में किसी अङ्ग रस[1] के अभिव्यञ्जक सामग्री का एक अंश एक स्थान पर और अन्य अंशों का अन्य स्थानों पर निबन्धन करने पर सहृदयों को पूर्णरूप में रसास्वाद नहीं हो पाता। अतः ऐसा करने पर 'विच्छिन्नदीपन' नामक दोष होता। इसी प्रकार, अयुक्त अवसर पर किसी रस की सामग्री का निबन्धन

१. 'प्रबन्धेऽप्रकृतस्य' यह पाठ मान कर ऐसा अनुवाद किया गया है।

नर्हेऽवसरे प्रस्तावः, विच्छेदानर्हे च विच्छेदः। यथा संध्यावन्दनदेवयजनादिधर्मवर्णने प्रसक्ते कयापि कामिन्या सह कस्यचित्कामुकस्यानुरागवर्णने। यथा च समुपस्थितेषु महाहवदुर्मदेषु प्रतिभटेषु मर्मभिन्दि वचनान्युद्गिरत्सु नायकस्य संध्यावन्दनादिवर्णने चेत्युभयमनुचितम्। एवमप्रधानस्य प्रतिनायकादेर्नानाविधानां चरितानामनेकविधायाश्च संपदो नायकसंबन्धिभ्यस्तेभ्यो नातिशयो वर्णनीयः। तथा सति वर्णयितुमिष्टो नायकस्योत्कर्षो न सिद्ध्येत्, तत्प्रयुक्तो रसपोषश्च न स्यात्। न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य तदभिभावकनायकोत्कर्षाङ्गत्वात्कथमवर्णनीयत्वमिति वाच्यम्। यादृशस्य प्रतिनायकोत्कर्षवर्णनस्य तदभिभावकनायकोत्कर्षाङ्गतासंपादकत्वं तादृशस्येष्टत्वात्। तद्विरोधिन एव निषेध्यत्वात्। न च

तु काव्यप्रकाशनिर्दिष्टोऽयं दोषो ध्वन्यालोकोक्तदोषाभिन्नतया व्याख्यातः। अत्र काव्यमर्मज्ञाः प्रमाणम्। अनर्हेऽवसर इति। 'अकाण्डे च प्रकाशनम्' इति रूपेण ध्वन्यालोकोक्तोऽय दोषः। इदं च प्रकाशनमङ्गिरसातिरक्तस्य रसस्य बोध्यम्। अङ्गिरसपरिप्लुते हि सहृदयचेतसि तद्विरुद्धस्तत्समानाधिकरणस्तद्व्यधिकरणो वा रसो नास्वादनीयः। एतादृशरससमावेश इष्यमाणे तु उदासीनरसान्तरव्यवहितनिबन्धनादिनाऽविरोध उपपादनीयो यथौचित्यम्। विच्छेदानर्ह इति। अयमेवाकाण्डे विच्छेदः प्राचीनैरुक्तः। अयं चाङ्गिमात्रविषयः। यद्वा यथासम्भवमुभयविषयमिदं दोषद्वयम्। उभयम् = अनवसरे प्रस्तावो विच्छेदश्च। दोषान्तरमाह— एवमित्यादिना। तद्विरोधिनः = नायकोत्कर्षप्रतिकूलस्य

और जिस रस का जहाँ विच्छेद उचित न हो वहाँ उसका विच्छेद भी दोष हैं। जैसे—सन्ध्यावन्दन, देवपूजन आदि का वर्णन करते समय किसी कामुक पुरुष का किसी कामिनी के प्रति अनुराग का वर्णन करने पर प्रथम दोष और महान् रणशूर शत्रु द्वारा उपस्थित होकर नायक के प्रति मर्मभेदी वचन कहते समय नायक द्वारा सन्ध्यावन्दन आदि कर्मों के वर्णन में द्वितीय दोष हैं। इसी प्रकार, नायक के विभिन्न चरितों और गुण आदि की अपेक्षा प्रतिनायक के चरितादि का उत्कृष्ट वर्णन करना भी दोष हीं है, क्योंकि ऐसा करने पर नायक का प्रतिनायक की अपेक्षा विवक्षित उत्कर्ष अवगत नहीं होता। यद्यपि प्रतिनायक का उत्कर्ष उसका पराभव करने वाले नायक के उत्कर्ष का परिपोषक होता है तथापि यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रतिनायक का जितना उत्कर्ष नायक के उत्कर्ष का परिपोषक हो उतने हीं उत्कर्ष का वर्णन हो, उससे अधिक नहीं। उससे अधिक उत्कर्ष का वर्णन तो सर्वथा परित्याज्य है। नायक द्वारा प्रतिनायक का अभिभव या विनाश करने से

प्रतिपक्षस्य प्रकृतापेक्षया वर्ण्यमानोऽप्युत्कर्षः स्वाश्रयहन्तृतामात्रादेव प्रकृतगतमुत्कर्षमयिशाययेत्, अतो न दोषावह इति वाच्यम्। एव हि सति महाराजं कमपि विषशरक्षेपमात्रेण व्यापादितवतो वराकस्य शबरस्येव प्रकृतस्य नायकस्य न कोऽप्युत्कर्षः स्यादिति। तथा रसालम्बनाश्रययोरनुसंधानमन्तरान्तरा न चेद्दोषः। तदनुसंधानाधीना हि रसप्रतिपत्तिधारा तदननुसंधाने विरता स्यात्। एवं प्रकृतरसानुपकारकस्य वस्तुनो वर्णनमपि प्रकृतरसविरामहेतुत्वाद्दोष एव।

अनौचित्यं तु रसभङ्गहेतुत्वात्परिहरणीयम्। भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिकतादिनिपातजनितेवारुन्तुदता।

तच्च जातिदेशकालवर्णाश्रमवयोवस्थाप्रकृतिव्यवहारादेः प्रपञ्चजातस्य

प्रतिनायकचरितादेः। स्वाश्रयेति। स्वं प्रतिनायकोत्कर्षस्तदाश्रयः प्रतिनायक एव। उत्कर्षाश्रयनाशकमात्रस्य नोत्कृष्टतरत्वमिति दृष्टान्तमुखेन समाधत्ते—एवं हीत्यादिना। एतावताङ्गरसस्योपकारकस्यापि वर्णनमङ्ग्यपेक्षयोत्कृष्टतरं न कर्त्तव्यमिति प्रतिपादितम्। दोषान्तरम्—तथेत्यादिना। रसो ह्यत्र प्रधानीभूतो ग्राह्यः, तदाश्रयादेरेव प्रबन्धेऽन्तराऽन्तराननुसन्धाने वैरस्यात्। एवमित्यादिनाऽनङ्गस्य वर्णनं दोष इत्याह।

अन्त्यं दोषमाह—अनौचित्यमिति। पूर्वोक्तानां दोषाणामनौचित्यान्तर्गतत्वेऽपि ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन पृथगुपादानं न विरुध्यते। तच्च=अनौचित्यं च।

प्रतिनायक का अधिकाधिक उत्कर्ष भी नायक के उत्कर्ष का परिपोषक हीं होगा—यह कहना भी असंगत है, क्योंकि वैसी स्थिति में नायक का कोई उत्कर्ष उसी प्रकार प्रतीत नहीं होगा जिस प्रकार किसी शूर महाराज को केवल एक विषाक्त बाण के द्वारा मार गिराने वाले क्षुद्र शबर (किरात) का कोई उत्कर्ष प्रमाणित नहीं होता। इसी तरह, मुख्य रस के आलम्बन और आश्रय का कथा के बीच बीच में अनुसन्धान न करना भी कवि की कृति मे एक दोष है, क्योंकि ऐसा होने पर आलम्बनादि के अनुसन्धान से होने वाले रसास्वाद का विच्छेद हो जाता।

अनौचित्य तो रस-भङ्ग का प्रमुख कारण होने से सर्वथा त्याज्य है। रस-भङ्ग का अर्थ अप्रियता है। जैसे किसी मृष्ट पेय पदार्थ में बालू आदि के मिल जाने से उसके आस्वाद में अप्रियता आ जाती उसी तरह रसास्वाद में आई अप्रियता हीं रस-भङ्ग कहलाती।

जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति, व्यवहार, आदि के

तस्य तस्य यल्लोकशास्त्रसिद्धमनुचितद्रव्यगुणक्रियादि तद्भेद । जात्यादेरनुचितं यथा — गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधुभावादीनि । स्वर्गे जराव्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि । शिशिरे जलविहारादीनि, ग्रीष्मे वह्निसेवा । ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम् । ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्वणम्, दारोपसंग्रहः । बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः । दरिद्राणामाढ्याचरणम्, आढ्यानां च दरिद्राचारः । प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च । धीरोदात्तधीरोद्धतधीरललितधीरशान्ता उत्साहक्रोधकामिनीरतिनिर्वेदप्रधाना उत्तममध्यमाधमाश्च ।

लोकेत्यादि । लोकसिद्धं शास्त्रसिद्धं चेत्यर्थः । तद्भेदः — तद्भिन्नत्वम्, तद्विपर्ययः । गवादेरिति । जात्यनौचित्यस्येदमुदाहरणम् । देशानौचित्यमुदाहरति — स्वर्ग इत्यादि । कालानौचित्यस्योदाहरणम् — शिशिर इत्यादि । वर्णानौचित्यम् — ब्राह्मणस्येत्यादि । आश्रमा ब्रह्मचर्यादयश्चारः प्रसिद्धाः, तदनौचित्यस्योदाहरणम् — ब्रह्मचारिण इत्यादि । वयोऽनौचितस्य निदर्शनम् — बालेत्यादि । अवस्था दशा, तदनौचित्यमाह — दरिद्राणामित्यादि । प्रकृत्यनौचित्यं विशदयति — प्रकृतय इत्यादिना । प्रकृतयो नायकाः । दिव्या इन्द्रादयः । अदिव्याः वत्सराजादयो मानुषरूपाः । दिव्याऽदिव्याः मानुषरूपेणावतीर्णा देवा रामादयो दिव्यमानुषाः । एवं त्रिधा प्रकृतिः । एतासु प्रत्येकमुत्साहप्रधाना धीरोदात्ता, क्रोधप्रधाना धीरोद्धता, कामिनीविषयक-

---

लोक-सिद्ध तथा शास्त्र-सिद्ध जो जो द्रव्य, गुण, क्रिया आदि अनुकूल हैं उनसे भिन्न का वर्णन हीं अनौचित्य है । इनमें जातिगत अनौचित्य गाय बैल आदि क्षुद्र सत्त्वों द्वारा तेजस्विता और बल के कार्य पराक्रम आदि के और सिंह आदि उग्र पशुओं द्वारा साधुता आदि के प्रदर्शन के वर्णन में स्पष्ट है । स्वर्ग में जरा एवं रुग्णता के वर्णन में, भूलोक में अमृतपान आदि के वर्णन में देशगत अनौचित्य हैं । ब्राह्मण द्वारा शिकार खेलने, क्षत्रिय द्वारा दान लेने और शूद्र द्वारा वेदाध्ययन आदि के वर्णन में जातिगत अनौचित्य है । आश्रमगत अनौचित्य ब्रह्मचारी और सन्यासी द्वारा पान चबाने और विवाहादि कार्य के वर्णन में स्पष्ट है । वयोगत अनौचित्य बालक और वृद्ध की कामिनी में आसक्ति और युवक की उससे विरक्ति के वर्णन में है । अवस्थागत अनौचित्य है दारिद्र्यावस्था में वर्त्तमान व्यक्तियों द्वारा धनियों जैसे कार्यों के सम्पादन के और धनियों द्वारा दरिद्रों जैसे आचरण के वर्णन में । प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होतीं–दिव्य, अदिव्य और दिव्याऽदिव्य । इनमें से प्रत्येक के चार प्रभेद होते–धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त । इन

तत्र रत्यादीनां भयातिरिक्तस्थायिभावानां सर्वत्र समत्वेऽपि रतेः संभोग-रूपाया मनुष्येष्विवोत्तमदेवतासु स्फुटीकृतसकलानुभाववर्णनमनुचितम् । क्रोधस्य च लोकभस्मीकरणपटोर्दिनरात्रिव्यत्ययाद्यनेकाश्चर्यकारिणो दिव्येष्विवादिव्येषु । आलम्बनगताराध्यत्वस्यानुभावगतमिथ्यात्वस्य च प्रतीत्या

रतिप्रधाना धीरललिता, निर्वेदप्रधाना धीरशान्तेति चतुर्धा भिद्यते । तदेवं द्वादशधा प्रकृतिः । सर्वापयेषोत्तममध्यमाधमभेदैस्त्रिधेति सङ्कलने षट्त्रिंशद्भेदा प्रकृतिः पर्यवस्यति । **भयातिरिक्तेति** । भयमुपलक्षणमन्यस्यापि तत्तन्नायकाऽयोग्यस्य स्थायिभावस्य । यथोत्तमदेवतासु शोकाभावः । यथा वा निर्वेदवति नायके जुगुप्साद्यभावः । तथा च यत्र नायके यः स्थायिभाव उपपन्नस्तत्र तस्यौचित्येन वर्णनं कार्यम् इति तात्पर्यम् । **स्फुटीकृतेत्यादि** । स्फुटीकृता सकला रतेरनुभावा यत्र तद्वर्णनमित्यर्थः । **उत्तमदेवतास्विति** । वक्ष्यति चैवमेव गीतगोविन्दं प्रकृत्य । उपलक्षणमेतदुत्तममात्रस्य । अत एवोत्तमप्रकृते राजादेरपि सम्भोगश्रृङ्गारवर्णनमनुचितम् । परस्परप्रेमदर्शनादयः श्रृङ्गारप्रभेदास्तु वर्णनीयाः । लोकभस्मीकरणेत्यादि विशेषणद्वयं क्रोधस्य । एतादृशस्योत्कटक्रोधस्यादिव्येषु मानुषेषु नायकेषु वर्णनमनुचितम् इत्यर्थः । 'अदिव्येषु' इत्युक्तेर्दिव्यादिव्येषु तद्वर्णनेऽनौचित्याभावः सूच्यते । उक्तविधसम्भोगश्रृङ्गारवर्णने तादृशक्रोधवर्णने च यदनौचित्यमुक्तं तत्र क्रमेण हेतुद्वयमाह — **आलम्बनगतेत्यादिना** । यत्र नायके सभ्यानां पितृत्वबुद्धिः तन्निष्ठरत्या लम्बनभूतायां नायिकायां मातृत्वबुद्ध्या इयमाराध्येति प्रतीतिस्तद्विषयसम्भोगवर्णनमुद्वेजकं सभ्यानां न तु श्रृङ्गाराभिव्यञ्जकमित्याशयः । यत्र चादिव्ये लोकभस्मीकरणादृक्क्रोधो नोदेत्येव तत्र तादृशक्रोधवर्णने मिथ्यात्वप्रतीते

चारों में क्रमशः उत्साह, क्रोध, कामिनीविषयक रति और निर्वेद की प्रधानता होती । इस प्रकार प्रकृति के बारह प्रभेद हुए । इनके भी उत्तम, मध्यम और अधम भेदों के आधार पर तीन-तीन उपभेद होते । अतः छत्तीस प्रकार की प्रकृतियाँ सिद्ध हुईं । इन सबमें यद्यपि उत्तम दिव्य प्रकृतियों में भय (और शोक) को छोड़कर अन्य रत्यादि भाव अदिव्य-मानव प्रकृतियों के समान होते अवश्य हैं तथापि जिस प्रकार की सम्भोग-स्वरूप रति का स्पष्ट एवं पूर्ण वर्णन मानव-प्रकृतियों में किया जाता उस प्रकार का स्पष्ट एवं पूर्ण वर्णन उत्तम दिव्य प्रकृतियों में नहीं करना चाहिए । इसी तरह दिव्य प्रकृतियों में जैसे संसार को भस्मसात् कर देने में, दिन को रात में और रात को दिन में बदल देने और इसी प्रकार के अन्य आश्चर्यजनक घटनाओं को उत्पन्न कर देने में समर्थ क्रोध का वर्णन किया जाता उस तरह के क्रोध का वर्णन अदिव्य प्रकृतियों में भी कर देना अनुचित है । मानव प्रकृति में वर्णनीय रति के समान रति का उत्तम दिव्य

रसानुल्लासापत्तेः। न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम्। यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाणसिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयकस्वपितृरतिवर्णनेऽपि सहृदयस्य रसोद्बोधापत्तेः। जयदेवादिभिस्तु गीतगोविन्दादिप्रबन्धेषु सकलसहृदयसंमतोऽयं समयो मदोन्मत्तमतङ्गजैरिव भिन्न इति न तन्निदर्शनेनेदानींतनेन तथा वर्णयितुं सांप्रतम्। विद्यावयोवर्णाश्रमतपोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेषु न सबहुमानेन वचसा व्यवहर्तव्यम्। व्यवहर्तव्यं चापकृष्टैरुत्कृष्टेषु। तत्रापि तत्रभवन्भगवन्नित्यादिभिः संबोधनैर्मुनिगुरुदेवता

रौद्ररसाभिव्यक्तिर्न भवतीत्यर्थो द्वितीयस्य हेतुवाक्यस्य। साधारणीकरणादिति। भट्टनायकादिमते पूर्वोक्ते भावकव्यापारभावनाविशेषमहिम्ना साधारणीकरणाद् यथा दुष्यन्तत्वादिकं न प्रतीयते तथैवाराध्यत्वमपि देवपत्न्यादिषु न प्रतीयेतेत्याशयः शङ्कितुः। समयः=सिद्धान्तः। समयः सङ्केत इत्यपव्याख्यानम्। भिन्नः=भग्नः, परित्यक्तः। व्यवहारानौचित्यमुदाहरति—तथेति। आदिपदसूचितं

प्रकृतियों में वर्णन करने पर उनमें जो लोगों का आराध्यत्व-ज्ञान होता उसके कारण सहृदयों में दिव्यप्रकृत्यालम्बनक श्रृङ्गार रस की अनुभूति न हो सकेगी। इसी तरह मानव में दिव्य प्रकृति के समान आश्चर्यजनक क्रोध के वर्णन में उस क्रोध के मानवनिष्ठ उक्त अनुभावों में मिथ्यात्व-बोध होने से सहृदयों को तन्मानवालम्बनक रौद्र रस की प्रतीति भी न हो सकेगी। अतः इस प्रकार के वर्णन अनुचित हैं। भावकत्व व्यापार आदि के कारण दुष्यन्तत्व आदि के समान आराध्यत्व के भी आच्छादित—अव्यक्त हो जाने से रस-प्रतीति होने में उपर्युक्त आराध्यत्व-ज्ञान प्रतिबन्धक न हो सकेगा—ऐसा कहना असंगत है, क्योंकि यदालम्बनक रसप्रतीति प्रामाणिक है तदालम्बनविषयक साधारणीकरण हीं मान्य है, अन्य प्रकार का नहीं। यदि ऐसा न हो तो अपने माता-पिता के रति-वर्णन में भी साधारणीकरण द्वारा मातृत्व पितृत्व का आच्छादन हो जाएगा, फलतः वहाँ भी पुत्रादि सहृदयों को श्रृङ्गार रस की प्रतीति माननी होगी। परन्तु यह नितान्त अनुचित एवम् अप्रामाणिक है—ऐसी सभी सहृदयों की मान्यता है। हाँ; जयदेव आदि कुछ कवियों ने गीतगोविन्द आदि में पागल हाथी की तरह इस मान्यता का उल्लङ्घन अवश्य किया है, किन्तु उन्हें निदर्शन मानते हुए ऐसा वर्णन करना अनुचित है। व्यवहारौचित्य का निर्वाह करते हुए कवि को विद्या, वय, वर्ण, आश्रम एवम् तप से उत्कृष्ट व्यक्तियों द्वारा अपनी अपेक्षा हीनतर

प्रभृतय एव न राजादयः, जात्योत्तमैर्द्विजैरेव नाधमैः शूद्रादिभिः, परमेश्वरेत्यादिसंबोधनैश्चक्रवर्तिन एव न मुनिप्रभृतयः संबोध्याः ।

तथा चाहुः—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टिस्तावत्तु न वार्यते, रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषेध्यत्वात् । अत एव—

व्यवहर्त्रनौचित्यं प्रतिपादयति—जात्येत्यादिना ।

उक्तार्थे ध्वन्यालोकवृत्तिस्थं वचनं प्रमाणत्वेन निर्दिशति—तथा चाहुरिति । परोपनिषत् = उत्कृष्टोपनिषदिव रसतत्त्वाभिव्यञ्जकः प्रसिद्धौचित्यबन्ध इत्यर्थः ।

सर्वलोकस्वतन्त्रं रावणं स्तोतुं तस्य द्वारि समवेतान् ब्रह्मादीन् प्रति दौवारि-

---

व्यक्तियों के प्रति अत्यादरसूचक वचन का प्रयोग नहीं करवाना चाहिए। इसके विपरीत हीन व्यक्तियों द्वारा उत्कृष्ट व्यक्तियों के प्रति उस प्रकार के वचन का प्रयोग, औचित्यनिर्वाहार्थ, कवि को अवश्य करवाना चाहिए। अत्यादरसूचक वचन के प्रयोग के विषय में भी यह ज्ञातव्य है कि 'तत्र भवन्', 'भगवन्' इत्यादि शब्दों से मुनि,गुरु, देवता आदि श्रेष्ठ व्यक्तियों का ही सम्बोधन उचित है, राजा आदि का नहीं। मुनि आदि का उपर्युक्त शब्दों से सम्बोधन उत्तमजातीय द्विजों द्वारा हीं उचित है, अधमजातीय शूद्र आदि द्वारा नहीं। इसी तरह, 'परमेश्वर' 'महाराज' आदि शब्दों से चक्रवर्त्ती राजाओं का सम्बोधन हीं उचित है, मुनि आदि का नहीं।

अत एव आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है—

"रस-भङ्ग का कारण अनौचित्य को छोड़कर और कुछ नहीं है। अपनी कृतियों में प्रमाणसिद्ध औचित्य का निर्वाह रस-तत्त्व की अभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है॥"

किन्तु साधारणतः अनौचित्य के परिहार्य होने पर भी जो अनौचित्य सम्बद्ध रस का परिपोषक हो उसका उपनिबन्ध कवि को करना हीं चाहिए, क्योंकि रसपरिपाक हीं कवि का मुख्य लक्ष्य होता। अत एव यह स्पष्ट है कि परिहरणीय अनौचित्य का तात्पर्य उस अनौचित्य से है जो रस-परिपाक का विरोधी हो।

इसी लिये—

ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयतां
स्वल्पं जल्प बृहस्पते जडमते नैषा सभा वज्रिणः।
वीणां संहर नारद स्तुतिकथालापैरलं तुम्बुरो
सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः ॥

इति कस्यचिन्नाटकस्य पद्ये विप्रलम्भश्रृङ्गाराङ्गीभूतवीररसाक्षेपकपरमैश्वर्यपरिपोषकतया स्थितदौवारिकवचनस्य ब्रह्माद्यधिक्षेपपरस्यानौचित्यं न दोषः। एवमेव 'अले ले सद्दःसमुप्पाडिअहरियकुसग्गंथिमयाच्छमालापइवित्तिविस्संभिअबालविहृबन्दःकअणा बम्हणा' इत्यादिविदूषकवचनेऽपि रेशब्दादिप्रयोगस्य तत्तथा, हास्यानुगुणत्वात्। एषा हि दिगुपदर्शिता। अनया सुधीभिरन्यदप्यूह्यम् ॥

कस्येयमुक्तिः—ब्रह्मन्नित्यादि। अध्ययनस्य=रावणमङ्गलार्थं करिष्यमाणस्य वेदपाठस्य। तुम्बुरुर्गन्धर्वः। सीतारल्लकेत्यादि। सीताया य आरल्लकः स्वपतिं राममुद्दिश्य सिन्दूरधारणार्थं तया गृहीता लौहशलाका सिन्दूरसरणिर्वा सैव भल्लकस्तेन भग्नं हृदयं यस्य स रावण इत्यर्थः। विप्रलम्भश्रृङ्गारः=सीतालम्बनको विप्रलम्भश्रृङ्गाराभासः। परिपोषकतयेति। अयं ब्रह्मादीनामधिक्षेपः प्रतिपादयति यत् तस्य रावणस्येदृशं परमैश्वर्यम् यद् ब्रह्माद्या अपि तत्समक्षं तुच्छा इति रीत्याऽस्य परिपोषकत्वम् भवति। उदाहरणान्तरमाह—एवमेवेति। अले ले सद्द इत्यादिवचनस्य संस्कृतच्छाया यथा—'अरे रे सद्यःसमुत्पाटितहरितकुशग्रन्थिमयाक्षमालापरिवृत्तिविस्रम्भितबालविधवान्तःकरणा ब्राह्मणाः' इति। सद्यस्तत्क्षणं समुत्पाटिता अत एव चाशुष्कत्वाद् हरिता ये कुशाः तेषां ग्रन्थयः पर्वाणि तैर्निर्मितायाः अक्षमालायाः परिवृत्तिमात्रेण विस्रम्भितं विश्वासं प्रापितं बालविधवानामन्तःकरणं यैस्ते ब्राह्मणा इति सम्बोधनम्। अनेन वस्तुत एतेषां न ब्रह्मनिष्ठत्वमिति सूचितम्। तत्=अनौचित्यम्, तथा=न दोषावहम् ॥

"अरे ब्रह्मा! यह वेदपाठ का समय नहीं, चुपचाप जाकर प्रतीक्षा कर; अरे मूढ़ ब्रहस्पति? धीरे-धीरे बोल, यह इन्द्र की सभा नहीं; ओ नारद? अपनी वीणा को हँटा; ओ तुम्बुरु? स्तुतियाँ बन्द कर, क्योंकि सीता की सिन्दूर-रेखारूपी बर्छी से आहत हृदय वाले लङ्काधिपति महाराज रावण इस समय स्वस्थ नहीं हैं॥"

किसी कवि के नाटक में निबद्ध इस पद्य में रावण के द्वारपाल द्वारा ब्रह्मा आदि की निन्दा करने वाले इस कथन में अनुभूयमान अनौचित्य दोष नहीं है, क्योंकि यह अनौचित्यपूर्ण कथन रावण के परम ऐश्वर्य का परिपोषक है जिससे विप्रलम्भश्रृङ्गाराभास का अङ्गभूत रावणालम्बनक वीररस का आक्षेप हो जाता है।

रसेषु चैतेषु निगदितेषु माधुर्यौजःप्रसादाख्यांस्त्रीन्गुणानाहुः। तत्र 'शृङ्गारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे; तेभ्योऽपि शान्ते। उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तद्रुतेर्जननात्' इति केचित्। 'संयोगशृङ्गारात्करुणशान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भे' इत्यपरे। 'संयोगशृङ्गारात्करुणविप्रलम्भशान्तेष्वतिशयितमेव न पुनस्तत्रापि तारतम्यम्' इत्यन्ये। तत्र प्रथमचरमयोर्मतयोः 'करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्' इति प्राचां सूत्रमनुकूलम्। तस्योत्तरसूत्रगतस्य क्रमेणेति पदस्यापकर्षानपकर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य संभवात्। मध्यस्थे

अथ गुणान्निरूपयति—रसेष्वित्यादिना। अत्राधिकरणे सप्तमी, प्राचीनैरेषां रसाश्रितत्वाभ्युपगमात्। आहुरिति। भामहानुसारिणो ध्वन्यालोककारादय इति शेषः। तत्रेत्यादिना काव्यप्रकाशोक्तिव्याख्यानभेदानुसारिपक्षमुपन्यस्यति। विश्वनाथस्याप्येतदेवाभिमतम्—'सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्' इति वदतः। आनन्दवर्धनेन तु संभोगशृङ्गाराद् विप्रलम्भे करुणे च माधुर्यातिशय उक्तः, तत्र चकारेण क्रमस्य विवक्षितत्वात् सम्भोगशृङ्गारापेक्षया मधुरतरो विप्रलम्भः, ततोऽपि मधुरतमः करुण इति वदन्तोऽभिनवगुप्तपादा अपि यथोत्तरमुत्कर्षतारतम्यं मन्यन्ते। तत्र विप्रलम्भः प्रकृष्टतरो भवति करुणो वेत्यत्र पूर्ववासनाभेदकृतो विशेषः सहृदयविशेषे—इति मन्यामहे। उत्तरसूत्रम् = 'बीभत्स-

---

इसी प्रकार, विदूषक के—

"अरे रे! तत्काल उखाड़ी हुई हरी कुशाओं की गाँठों से बनी हुई माला फेरकर बाल विधवाओं के मन को धोखा देने वाले ब्राह्मणो!— — —" इत्यादि कथन में पूजनीय ब्राह्मणों के प्रति 'अरे रे' इस तरह के अनुचित वचन का प्रयोग दोष नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वाक्यार्थ के ज्ञान से हास्य रस की परिपुष्टि होती है।

अनौचित्य के दोष होने और न होने के उक्त उदाहरण दिग्दर्शनार्थ प्रस्तुत किये गये हैं। अतः रस-परिपाक के प्रतिकूल अन्यान्य अनौचित्यों की निराकरणीयता और उसके अनुकूल अनौचित्यों की ग्राह्यता—अदोषता का अनुसन्धान विद्वान् पाठकों को स्वयं करना चाहिए॥

अब गुणों का निरूपण किया जा रहा है। उपर्युक्त नवविध रसों में माधुर्य, ओजस् और प्रसाद ये तीन गुण कहे गये हैं। इनमें भी कुछ आचार्यों का मत है कि संयोग-शृङ्गार में जितना माधुर्य होता उससे अधिक माधुर्य करुणरस में; उससे भी अधिक विप्रलम्भ शृङ्गार में और इन सबसे अधिक शान्तरस में होता, क्योंकि पूर्व-पूर्व रस की अपेक्षा उत्तरोत्तर रस से क्रमशः अतिशययुक्त

तु मते करुणशान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये यदि सहृदयानामनुभवोऽस्ति साक्षी, तदा स प्रमाणम्। वीरबीभत्सरौद्रेष्वोजसो यथोत्तरमतिशयः, उत्तरोत्तरमतिशयितायाश्चित्तदीप्तेर्जननात्। अद्भुतहास्यभयानकानां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति, अपरे तु प्रसादमात्रम्। प्रसादस्तु

रौद्ररसयोरस्याधिक्यं क्रमेण तु' इति काव्यप्रकाशस्थाष्टमोल्लासस्थम्। वीरेत्यादि। एतच्च काव्यप्रकाशसाहित्यदर्पणयोः स्थितम्। ध्वन्यालोके तु 'रौद्रादयो रसा दीप्ता लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः' इत्युक्तम्। तत्र 'आदिशब्दः प्रकारे; तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्' इत्युक्तं लोचने। अत्र चाद्भुतो रसो वीरविभावाभिव्यक्तो ग्राह्य इत्येके, बीभत्सस्थाने चाद्भुत इति प्रमादपाठ इत्यपरे व्याख्यातारः। गुणद्वययोगित्वम् इति। ओजः प्रसादश्चेति गुणद्वयमत्र विवक्षितम्। अभिनवगुप्तपादमते तु हास्ये शृङ्गाराङ्गतया माधुर्यमपि प्रकृष्टं विकासधर्मतया चौजोपि, भयानके त्वोजः प्रकृष्टं विभावस्य दीप्तत्वात्, माधुर्यं चाल्पम्, बीभत्सेप्येवमेवेति स्थितौ सर्वरससहचारिणं प्रसादमादाय च सर्वे एव त्रयो गुणास्तिष्ठन्तीति बोध्यम्। रौद्रवीराद्भुतेषु तु नाल्पमपि माधुर्यं मतेऽस्मिन् प्रतीयते। शान्ते पुनः सत्स्वपि त्रिषु गुणेषु विभाववैचित्र्यात् कदाचिदोजः प्रकृष्टं कदाचिच्च माधुर्यमिति विवेकः। प्रसादस्यानन्दवर्धनाद्युक्तं मम्मटसम्मतं सर्वसाधारणत्वमाह—प्रसादस्त्वित्या-

---

चित्तद्रुति उत्पन्न होती है। किन्तु कुछ आचार्य मानते कि संयोग-शृङ्गार से अधिक माधुर्य करुण और शान्त रसों में और इन दोनों से भी अधिक माधुर्य विप्रलम्भ-शृङ्गार में होता जब कि कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार संयोग-शृङ्गार की अपेक्षा करुण, विप्रलम्भ-शृङ्गार और शान्त रसों में समान रूप से उत्कृष्टतर माधुर्य होता, न कि अन्तिम तीन रसों में भी पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर रस में क्रमशः उत्कृष्टतर माधुर्य होता। उपर्युक्त मतों में से प्रथम तथा तृतीय मत का समर्थन तो "करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्" (काव्यप्रकाश, उल्लास-८) इस काव्यप्रकाशोक्त वचन से हीं हो जाता है। यदि "दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो — — रस्याधिक्यं क्रमेण तु" (काव्यप्रकाश, उल्लास-८) इस उत्तरसूत्र से 'क्रमेण' पद का अपकर्ष कर पूर्वसूत्र की व्याख्या की जाय तो प्रथम मत का अन्यथा—स्वतन्त्र रूप में अपकर्ष के विना हीं—व्याख्या की जाय तो तृतीय मत का समर्थन हो जाता है। द्वितीय मत में जो करुण और शान्त रसों की अपेक्षा विप्रलम्भ-शृङ्गार में अधिक माधुर्य कहा गया है उसमें यदि सहृदयों का अनुभव समर्थक हो तो वह मत भी प्रामाणिक हो सकता है, अन्यथा नहीं। यतः वीर रस की अपेक्षा बीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः अधिकाधिक चित्तदीप्ति उत्पन्न होती अतः वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः ओजोगुण के उत्कर्ष में तारतम्य होता। अद्भुत,

सर्वेषु रसेषु सर्वासु रचनासु च साधारणः।

गुणानां चैषां द्रुतिदीप्तिविकासाख्यास्तिस्रश्चित्तवृत्तयः प्रयोज्याः, तत्तद्गुणविशिष्टरसचर्वणाजन्या इति यावत्। एवमेतेषु गुणेषु रसमात्रधर्मेषु व्यवस्थितेषु मधुरा रचना, ओजस्वी बन्ध इत्यादयो व्यवहारा आकारोऽस्य शूर इत्यादिव्यवहारवदौपचारिका इति मम्मटभट्टादयः।

येऽमी माधुर्यौजःप्रसादा रसमात्रधर्मतयोक्तास्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम्? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, न। दाहादेः कार्यादनलगतस्योष्णस्पर्शस्य

दिना। रचना=वाक्यम्। औपचारिका इति। यथा शौर्यादेरात्मगुणस्य समवायेन शरीरेऽभावेऽपि स्वसमवायिसंयुक्तत्वसम्बन्धेन स्वाश्रयाभिव्यञ्जकत्वसम्बन्धेन वा शरीरवृत्तित्वमादाय शरीरे शूरत्वव्यवहारस्तथा रसाश्रितगुणविषयोऽपि शब्दार्थ-वृत्तित्वव्यवहार इत्याशयः। मम्मटभट्टादय इत्यत्रादिपदादभिनवगुप्तविश्वनाथा-दिपरिग्रहः।

तदेवं मम्मटादिसम्मतं गुणानां रसधर्मत्वं प्रतिपाद्य तन्निरासायोपक्रमते—येऽमी

हास्य और भयानक रसों में कुछ आचार्य दो गुणों—प्रसाद एवम् ओज की स्थिति मानते तो कुछ अन्य आचार्य केवल प्रसाद गुण की। वस्तुस्थिति यह है कि प्रसाद गुण केवल अद्भुतादि तीन रसों में हीं नहीं अपि तु सभी में विद्यमान होता।

ये तीन गुण—माधुर्य, ओजस् और प्रसाद—क्रमशः द्रुति; दीप्ति और विकास नामक तीन प्रकार की चित्तवृत्तियों के प्रयोजक हैं। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त तीन गुणों में से क्रमशः एक-एक गुण से विशिष्ट रस की चर्वणा से क्रमशः उपर्युक्त एक-एक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि ये गुण केवल रस के धर्म हैं, रसातिरिक्त शब्दादि के नहीं। ऐसी स्थिति में रसाभिव्यञ्जक रचना आदि में 'यह रचना मधुर है', 'यह बन्ध बड़ा हीं ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहार में शब्दादि में प्रतीयमान माधुर्यादि उसके वास्तविक धर्म नहीं, अपि तु औपचारिक हैं। जैसे आत्मनिष्ठ शौर्य आदि गुणों को आत्मा के अभिव्यञ्जक आकार—शरीर में आरोपित कर के 'इसका आकार शूर है' इत्यादि व्यवहार होते उसी प्रकार रसाभिव्यञ्जक रचना आदि में रस के माधुर्यादि गुणों को आरोपित करके उपर्युक्त व्यवहारों का उपपादन करना चाहिए। यही काव्य-प्रकाशकार मम्मट भट्ट आदि का मत है।

अब विचारणीय यह है कि मम्मट आदि आचार्यों द्वारा माधुर्यादि गुणों को जो रस मात्र का धर्म कहा गया है उसमें प्रमाण क्या है। इसमें मानस प्रत्यक्ष तो प्रमाण हो नहीं सकता, क्योंकि अग्नि के दाहादि कार्य से अतिरिक्त उसके उष्ण स्पर्श का जिस प्रकार त्वगिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता उस प्रकार रस के कार्यभूत

यथा भिन्नतयानुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्। तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात्कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्? प्रातिस्विकरूपेणैव

इत्यादिना। प्रत्यक्षमत्र मानसं ग्राह्यम्। कारणतावच्छेदकेति। कारणे विशेषणीभूतं कारणतावच्छेदकमुच्यते। माधुर्यादिविशिष्टेषु रसेषु द्रुत्यादिकारणत्वमिति तत्र रसेषु विशेषणतयाऽन्वितं माधुर्यादि कारणतावच्छेदकम् इति तात्पर्यम्। रसनिष्ठद्रुत्यादिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वाद्, दण्डादिनिष्ठघटादिकारणतावदित्यनुमानम्। तदाशयश्च यद्गुणविशिष्टः शृङ्गारो द्रुतिं जनयति तद्गुणो माधुर्यमित्यादिः। एतन्निरस्यति—प्रातिस्विकेत्यादिना। स्वं स्वं प्रति प्रतिस्वम्, तत्र भवं तन्निष्ठं रूपं तद्व्यक्तित्वं तच्छृङ्गारत्वादिकं प्रातिस्विकम्, तेन रूपेण तद्व्यक्तित्वेन कारणतावच्छेदकेनैव शृङ्गारादीनां द्रुत्यादिकारणत्वोपपत्तौ सत्यां कारणतावच्छेदकतया गुणानां कल्पने गौरवात्। तदयं तात्पर्यार्थः—पूर्वोक्तेषु प्रथमे पक्षे सम्भोगशृङ्गारकरुणविप्रलम्भशृङ्गारशान्तानां क्रमेण प्रकृष्टप्रकृष्टतरादिद्रुतिजनकत्वं प्राचामभिमतम्। तथा च तत्तद्रसकार्येषु प्रतीयमानत्वद्वैजात्यस्य न सामान्येन सम्भोगशृङ्गारादीनां विजातीयद्रुतीः प्रति कारणत्वं निर्वहति, तद्रुतित्वस्यैव कार्यतावच्छेदकतया सामान्येनान्वयव्यतिरेकानुपपत्तेः। द्रुतीनां विजातीयत्वेपि तत्सर्वानुगतं द्रुतित्वं तु न कार्यतावच्छेदकम्, विशेषधर्मेण कार्यत्वाद्युपपत्तौ सामान्यधर्मस्यान्यथासिद्धत्वात्। अत एव स्मृतिं प्रत्यनुभवत्वेनैव कारणत्वं तार्किकाणामिष्टम्, न ज्ञानत्वेन। तथा च तद्रुतेस्तद्रसान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तद्रसत्वेनैव कारणत्वमिति तद्रसत्वमेव कारणतावच्छेदकमिति स्थितौ तदतिरिक्तस्य गुणस्यापि कारणतावच्छेदकत्वकल्पने गौरवम्। अत्र गौरवं मानाभावस्याप्युपलक्षणं बोध्यम्। माधुर्येष्वपि तत्तद्रसाश्रितेषु तारतम्येन द्रुतिविशेषं प्रति तन्माधुर्यस्यापाततः कारणतावच्छेदकत्वप्रतीतावपि माधुर्यसामान्ये तदभावात्। द्वितीयेप्येतदेव स्थितम्। तृतीयेऽपि पक्षे सम्भोगशृंगारापेक्षया करुणादिषु द्रुतेः प्रकृष्टतरत्वादयमेव न्यायः।

द्रुति आदि चित्तवृत्तियों से अतिरिक्त रसगत माधुर्यादि गुणों का मानस प्रत्यक्ष में भान नहीं होता। माधुर्यादि गुणों से विशिष्ट रसों में द्रुत्यादि चित्तवृत्तियों की जनकता होने से कारणीभूत रसों में विशेषणीभूत गुणों का कारणतावच्छेदक के रूप में अनुमान भी असंगत है। इसका कारण यह है कि जब माधुर्यादि गुणों का भिन्न-भिन्न रसों में तारतम्य है तब भिन्न-भिन्न रसों की चर्वणा से होने वाली द्रुत्यादिचित्तवृत्तियों में भी तारतम्य मानना हीं होगा। ऐसी स्थिति में तारतम्ययुक्त द्रुत्यादि की कारणता जब तत्तद्रस में सिद्ध हो जाती तो तद्रसत्व—तद्व्यक्तित्व को कारणतावच्छेदक मानना हीं होगा, उसके अतिरिक्त माधुर्यादि को

रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्। शृङ्गारकरुणशान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वकल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्, परेण मधुरतरादिगुणानां पृथग्द्रुततरत्वादिकार्यतारतम्यप्रयोजकतयाभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वेन कारणताया गडुभूतत्वात्। इत्थं च प्रातिस्विकरूपेणैव कारणत्वे लाघवम्।

एतदेव प्रश्नोत्तराभ्यां विशदयति—शृङ्गारेत्यारभ्य गडुभूतत्वादित्यन्तेन। गडुभूतत्वं व्यर्थत्वम्। कार्यभेदे कारणभेदस्यावश्यकतया तद्रसत्वेन तद्द्रुतिकारणताया आवश्यकत्वेन तन्माधुर्यवत्त्वेनापि न कारणता, गुणस्याचलस्थितित्वेन तन्निवेशस्य व्यर्थत्वादित्यपि बोध्यम्। अत्र गुरुभूतत्वादिति पाठान्तरं मधुसूदनशास्त्रिकल्पितं रसचन्द्रिकायामुक्तधाष्ट्र्यमपि नाऽसमञ्जसमिति प्रतीमः। यत्तूक्तं रसचन्द्रिकायाम्—'ननु तत्तद्विशेषद्रुतीरनुगमय्य..........प्रातिस्विकरूपेण कारणतायान्तु अनन्ता इति कथं परित्यागो लघुभूतस्येति चेत्? न, माधुर्यानभिव्यञ्जिकायां प्रसादप्रसन्नायां रचनायां सत्यां विकासवृत्त्या शृंगारास्वादो जायते द्रुतिश्च न जायते, तत्र शृंगारकारणस्य भावाद् द्रुतेरभावाच्च तादृशकार्यकारणभावस्यैवासम्भवात्' इति तदेतदचिन्तिताभिधानम्, 'अचलस्थितयो गुणाः' इति वादिनां प्राचां मते माधुर्यस्य शृंगारायोगव्यवच्छेदेन माधुर्यरहितस्य शृंगारस्यासम्भवात्। यत्तु क्वचित् शृंगारवर्णने माधुर्यव्यञ्जकवर्णाभावः सोऽप्यशक्तिकृत एव। नचैतावता तादृशे शृंगारे

भी कारणतावच्छेदक मानने में गौरव स्पष्ट है। अत एव—शृङ्गार, करुण और शान्त रसों में से प्रत्येक को तद्रसत्वेन, द्रुति का कारण कहने की अपेक्षा माधुर्यवत्त्वेन कारण कहने में लाघव है, क्योंकि प्रथमपक्ष में तीन कार्यकारणभाव होंगे जब कि द्वितीय पक्ष में एक—यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि उक्त तीनों रसों में जब एक प्रकार की द्रुति की जनकता है हीं नहीं तब तीनों में एक प्रकार का माधुर्य मानना असम्भव है। फलतः तद्रसत्वेन कारणता हीं मानी जा सकती; माधुर्यवत्त्वेन कारणता मानना तो सर्वथा निरर्थक है, क्योंकि जब माधुर्यविशिष्ट उक्त रसत्रय में एकविध द्रुति की कारणता हीं नहीं तब माधुर्यवत्त्व को कारणतावच्छेदक मानना सार्थक कैसे होगा? तन्माधुर्यवत्त्व को भी कारणतावच्छेदक मानना निरर्थक है, क्योंकि जब रसविशेष का तन्माधुर्य अव्यभिचरित धर्म है तो फिर तद्रसत्व को कारणतावच्छेदक न मानकर तन्माधुर्यवत्त्व (=तन्माधुर्य) को कारणतावच्छेदक मानना निरर्थक हीं तो है। अतः प्रामाणिक तद्रसत्व को हीं कारणतावच्छेदक मानने में लाघव स्पष्ट है। इस प्रकार द्रुत्यादिकारणतावच्छेदक के रूप में गुणों का अनुमान हीं जब अनुपपन्न है तो इस अनुमान से गुणों का रसमात्रधर्मत्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

किञ्चात्मनो निर्गुणतयात्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्। एवं तदुपाधिरत्यादिगुणत्वमपि, मानाभावात्, पररीत्या गुणे गुणान्तरस्यानौ·

माधुर्याभावः सिध्यति, व्यञ्जकाभावस्य व्यङ्ग्याभावाऽगमकत्वात्। अत एव 'अयोगव्यवच्छेदेन रसोपकारकत्वम्' इति काव्यप्रदीपोक्तं गुणलक्षणं विवृण्वतो-द्योतकृताप्युक्तम्—"एवं च यत्र रसस्तत्र माधुर्यादिकमस्त्येव, तस्य तद्धर्मत्वात्। क्वचित्तु व्यञ्जकाभावात्तदस्फुटत्वमित्यन्यत्। यथा 'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादाविति बोध्यम्" इति। तथा च शृङ्गारे माधुर्यस्य नियतत्वेन द्रुत्यभावोऽसम्भवः। प्रकृतमुपसंहरति—इत्थं चेत्यादिना। यद्विशेषाणां कार्यकारणभावस्तत्सा-मान्यस्यापि तथेति नियमस्तु परिदृश्यमानवैजात्यकार्यव्यतिरिक्तविषयक एवेति प्रातिस्विकरूपेण कारणत्वोपपत्तावपि न सामान्येन माधुर्यवत्त्वादिना द्रुत्यादि· कारणता सिध्यतीति तात्पर्यम्।

युक्त्यन्तरमाह—किञ्चेति। आत्मनः—चिद्रूपस्य रसस्य काव्यात्मभूतस्य। ननु विभावाद्यभिव्यक्तस्य रत्यादेरेव रसत्वमिति वदतां प्राचां चिद्गुणत्वाभावो माधुर्याद्यविष्ट एवेत्यत आह—तदुपाधीति। चिद्रूपस्य रसस्योपाधयो ये रत्यादयस्तेषामपीत्यर्थः। अस्य वाक्यस्य पूर्ववाक्यस्थेनानुपपन्नमित्यनेनान्वयः। अनौचित्याच्चेति। चकारो हेतौ, यतो वैशेषिकनये गुणे गुणान्तरा-भावेन रत्यादौ इच्छाविशेषात्मके गुणे माधुर्यादिगुणस्याभावोऽतो रत्यादौ चिद्रूपरसोपाधौ माधुर्यादिस्वीकारे मानाभाव इत्याशयः। तथा च मधुरा रतिः, मधुरो हास इत्यादिव्यवहारो यदि क्वचिद्दृश्यते तर्हि स औपचारिकत्वेन व्याख्येयः। यद्वा मानमत्र व्यवहारसाक्षिकोऽनुभव एव सहृदयानाम्। तथा च रत्यादौ क्वचित् माधुर्यादिसत्त्वप्रतिपादकव्यवहारसत्त्वेपि करुणेऽपि शोक-स्थायिभावके माधुर्यातिशयं स्वीकुर्वतां मते मधुरतरः शोक इति व्यवहारो यदि भवेत् तदा स एव प्रमाणं भवेद् रत्यादौ माधुर्यादिसत्त्वे, न चैवं दृश्यते। क्वचित्तथा व्यवहारस्त्वत एवौपचारिकः। अतो व्यवहारसिद्धानुभवात्मकप्रमाणाभावस्तात्पर्य-विषयः प्रकृते। तथा च परिरीत्येत्यादियुक्त्यन्तरमेवात्र। यत्तु रसचन्द्रिकायां विवृतम्—'यदि माधुर्यादिगुणा रत्यादौ स्युस्तदा रसतामप्राप्तायामपि रतौ द्रुतिरनु-भूयेत, न च तथा, तथा च केन प्रमाणेन रत्यादिगुणत्वं माधुर्यादीनामङ्गीकार्यमिति

अब प्रकारान्तर से भी गुणों के रसमात्रधर्मत्व का खण्डन किया जा रहा है—रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। यह आत्मभूत रस सगुण हो नहीं सकता, क्योंकि वैसा मानने पर रस की चर्वणा विगलितवेद्यान्तर न हो सकेगी। ऐसी स्थिति में काव्यात्मभूत रस को निर्गुण ही कहना उचित होगा। इसका संकेत रस की चिद्रूपता के प्रतिपादन के अवसर पर किया जा चुका है। एवञ्च जब

चित्याच्च। अथ शृङ्गारो मधुर इत्यादिव्यवहारः कथमिति चेत्? एवं तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वम्, प्रयोजकतासंबन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्या-

---

मानाभावादित्यनेनोक्तम्' इति, तदयुक्तम्, रसाभासेऽपि द्रुत्यादेः कविसम्प्रदायप्रसिद्धत्वात्। अत एव विश्वनाथेनात्र प्रसङ्गे रसपदेन रसाभासस्यापि ग्रहणं कण्ठत एवोक्तम्। किञ्च भक्तिरसमनङ्गीकुर्वतः पण्डितराजस्य मते रसतामप्राप्तायामपि भगवद्विषयिण्यां रतौ द्रुतेः स्वीकारादपि तद् विरुद्धमेवेत्यलम्। इदमत्रावधेयम्—अत्र–माधुर्यादयो न वैशेषिकपरिभाषिता गुणाः, अपि तु तद्भिन्ना एव सहृदयैकानुभवसाक्षिकाः कविसम्प्रदायसिद्धा इति वैशेषिकसमयेन न किमपि प्राचां हीयते। किञ्च दर्शनान्तरे गुणे गुणाङ्गीकारोपि दृश्यत एव। तथापि पूर्वोक्तमानाभाव एव खण्डनयुक्तिरिति। यदि तु विभावाद्यभिव्यक्तेषु सर्वत्रैव रत्यादिस्थायिभावेषु मधुरादिव्यवहार इष्यते तर्हि प्राचीनमते दोषान्तरं मृग्यम्। अतश्च यदुक्तमानन्दवर्धनाद्यनुसारेण–'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' इति तदेकम्, माधुर्यादिकं द्रुत्यादिकारणमितिद्वितीयं च प्रतिक्षेप्यमवशिष्यत इति तदेवाह प्रश्नोत्तराभ्याम्-अथेत्यादिना। व्यवहार इति। तथा चैतादृशेन व्यवहारेण शृङ्गारादौ रसे माधुर्यादिसत्त्वं निष्प्रत्यूहं सिध्यति, ततोऽन्यत्र शब्दादौ तथा व्यवहारस्तु गुणवृत्त्यैवोपपाद्य इत्यभिप्रायः शङ्कितुः। तत्र व्यवहारेण विभावाद्यभिव्यक्तस्थायिभावात्मके रसे यथा माधुर्यादिसिद्धिस्तथैव शब्दादावपि समानत्वाद् व्यवहारस्यैकत्र मुख्यतयाऽन्यत्र च गौणतया स इति विशेषे मानाभावात् तादृशरीत्या माधुर्यादि परिष्करणीयम् येन सर्वत्रैवैकैव दिव्यवहारोपपादनाय सम्भवेदित्याह—एवं तर्हीत्यादिना। प्रयोजकत्वं च अन्यथासिद्धिघटितं कारणाऽकारणसाधारणमिति सर्वत्रैव पदेऽर्थे वाक्यरूपायां रचनायां रसे चेति सर्व एवैते गुणवन्तः समानरूपेणैवेति भावः। एतच्च द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो भिन्ना माधुर्यादयो गुणा इत्यभिप्रायेण। वस्तुतस्तु द्रुत्यादयश्चित्तवृत्तिविशेषा रसास्वादात्मका एवेति 'तया दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया' इत्यादिलोचनोक्त्यैकदेशानुमत्या सिद्धे गुणा अपि रसास्वादाभिन्नद्रुत्यादिरूपा एवेति 'ते च प्रतिपत्त्रास्वादमया मुख्यतया' इत्याद्यभिनवगुप्तपादोक्तरीत्या प्रतीयते। द्रुत्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवादित्यनेन स्वयमपि प्रतिपादितपूर्वमेवैतत्। ततश्च द्रुत्यादिप्रयोजकत्वं न गुणोऽपि तु द्रुत्यादिरेवेत्याह—प्रयोजकतासम्बन्धेनेत्यादिना। तथा च प्रयोजकतासम्बन्धेन द्रुत्यादिमत्त्वं माधुर्यादि, प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारीभूतस्य धर्मस्य भावप्रत्ययार्थत्वेन द्रुत्यादिमत्त्वं द्रुत्यादिरेवेति फलितमाह—द्रुत्यादिकमेवेति। एतेन द्वितीयं

रस निर्गुण है तब माधुर्यादि को रस का धर्म कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार गुणों को चित्स्वरूप रस के उपाधिभूत रत्यादि के भी धर्म नहीं कहा जा

दिकमस्तु। व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णेतिव्यवहारवदक्षतः। प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्। अतो न व्यवहारातिप्रसक्तिः।

प्रतिक्षिप्तम्। अत्र च प्रयोजकत्वघटिते गुणलक्षणे प्रयोजकतात्वस्य शक्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टत्वम्, द्वितीये च प्रयोजकतायाः संसर्गतया संसर्गमर्यादया भानान्न तत्र गुणपदशक्तिरिति न सा शक्यतावच्छेदककोटिप्रविष्टेति लाघवगौरवविचारः शास्त्रसम्मतः पन्थाः। प्रयोजकतासम्बन्धेन तद्वत्त्वस्य समर्थनाय दृष्टान्तमाह—व्यवहारस्त्वित्यादिना। वाजिगन्धा=अश्वगन्धा 'असगन्ध' इति नाम्ना लोके प्रसिद्धा। तस्या भक्षणेन उष्णत्वं जायते इति तत्र यथोष्णत्वप्रयोजकत्वमादाय प्रयोजकतासम्बन्धेनोष्णत्वमादाय वा 'अश्वगन्धा उष्णा' इति व्यवहारः प्रसिद्धो वैद्यके तथैव 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादि व्यवहारोऽपीति भावः। अदृष्टादीत्यत्रादिशब्देन साधारणनिमित्तकारणानि असाधारणानि च कानिचित् कर्त्रादीनि, समवायिकारणं चान्तःकरणम् संगृह्यते। व्यवहारातिप्रसक्तिरिति। 'अदृष्टं मधुरम्' इत्यादिव्यवहारापत्तिरित्यर्थः। यद्यप्यास्वादविशेषस्वरूपद्रुतिप्रयोजकता रसे विषयतया, शब्दादौ च तद्विषयव्यञ्जकतयेति विविधा प्रयोजकता तथापि विलक्षणप्रयोजकता-

---

सकता, क्योंकि इच्छाविशेषादिस्वरूप रत्यादि के स्वयम् गुण होने से उनमें माधुर्यादि गुणों के अस्तित्व में, 'मधुरा रतिः', 'मधुरः शोकः' इत्यादि अनुभव के अभाव में, कोई प्रमाण नहीं है। साथ हीं, 'गुण में कोई गुण नहीं होता' इस वैशेषिक-सिद्धान्त के अनुसार रत्यादिस्वरूप गुणों में माधुर्यादि गुण हो भी नहीं सकते। अब 'शृङ्गारो मधुरः' इत्यादि व्यवहारों का उपपादनमात्र अवशिष्ट है। इसके लिए शृङ्गारादि रसों या इनकी चर्वणा में जो द्रुत्यादिचित्तवृत्तियों की प्रयोजकता हैं उन्हें ही माधुर्यादिगुण कह देना पर्याप्त है। अथवा प्रयोजकता-सम्बन्ध से रसादिनिष्ठ जो द्रुत्यादिमत्त्व, अर्थात् द्रुत्यादि चित्तवृत्तियाँ हैं, उन्हें हीं माधुर्यादि गुण मान लेना चाहिए। अतः प्रयोजकता-सम्बन्ध से द्रुत्यादि प्रयोजक होने से शृङ्गारादि को द्रुत्यादिमान्—माधुर्यादिगुणवान्—मधुर—आदि कहा जाता है। इस प्रकार उक्त व्यवहारों का उपपादन, गुणों को रसों के स्वाभाविक धर्म न मान कर भी, हो हीं जाता है। तत्प्रयोजक पदार्थ में तद्वत्त्व का व्यवहार तो सुप्रसिद्ध है, जैसे—अश्वगन्धा के भक्षण से उष्णत्व (=गर्मी) होने से उष्णत्व के प्रयोजक अश्वगन्धा को उष्णत्वयुक्त कहा हीं जाता है। इसी प्रकार रसादि के भी द्रुत्यादिप्रयोजक होने से रसादि को द्रुत्यादि-माधुर्यादि-युक्त कहा जाता है। यह द्रुत्यादिप्रयोजकता यद्यपि अदृष्ट, देश, काल आदि में भी है हीं, क्योंकि ये कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारण होते तथापि प्रयोजकभेद से प्रयोजकता के भी विलक्षण होने से अदृष्टादिनिष्ठ द्रुत्यादिप्रयोजकताओं से विलक्षण प्रयोजकता

प्रसक्तिः। तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादेरीदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्य इति तु मादृशाः॥

जरत्तरास्तु—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥

त्वेनैवानुगम इत्याशयः। यद्वा आस्वाद एव द्रुत्यादिजनकः, तथा च द्रुत्यादि-प्रयोजकत्वं माधुर्यादि--इति रीत्या स्वरूपत आस्वादे तद्विषयतया आस्वादजनके रसे तदभिव्यञ्जकतया च शब्दादौ व्यवहार उपपाद्यः। तथा च शब्दार्थरसरचने-त्यत्र रसेत्युपलक्षणं रसास्वादस्यापि। वृत्तेर्वृत्त्यन्तरजनने बाधकाभावान्नेद-मनुपपन्नम्।

तदेवं भामहाभिप्रेतं ध्वन्यालोककाराद्यनुमोदितं च मम्मटसम्मतं गुणत्रयवादं विविच्य वामनाभिमतं 'दश शब्दगुणाः, दश चार्थगुणाः' इति पक्षं तन्निरासप्रकारञ्च प्राचीनोक्तपथानुसारेण वक्तुमुपक्रमते—जरत्तरास्त्वित्यादिना। वामनोऽत्र काव्यालङ्कारकर्त्ता परामृष्टः। अत्र त्रिगुणवादिषु काव्यप्रकाशकर्त्तुरेव कण्ठत उपादानात्तदपेक्षया वामनो जरत्तर इत्युक्तम्। यत्तूक्तं रसचन्द्रिकायाम्—'त्रिगुण-वादिनः काव्यप्रकाशकृदादयो जरसः, दशगुणवादिनो वामनादयो जरत्तराः, यद्यपि प्राचीनो भामहोऽपि गुणत्रयवादी तथापि तन्मतस्यानतिप्रसिद्धेर्न तत्परिगणितम्' इति तत्सम्प्रदायाऽपरिचयात्। गुणत्रयवादो भामहोपज्ञ एवेति काव्यप्रकाश-जीवातुभूतस्य ध्वन्यालोकस्यवृत्तिग्रन्थस्याध्ययनेन स्पष्टमेव प्रतीयते। अत एव लोचनेऽप्युपसंहृतम्-'एवं माधुर्यौजःप्रसादा एव त्रयो गुणा उपपन्ना भामहाभिप्रायेण' इति।

श्लेषः प्रसाद इत्यादि। इदं च पद्यं यद्यपि दण्डिनः, यद्यपि चैतेषां लक्षणेष्वपि दण्डिसम्मतेषु क्वचित् क्वचिद्वामनोक्तलक्षणेभ्यो भेदस्तथापि नामसाम्यादिदं वामनमतनिरूपणावसरे ग्रन्थकृता निर्दिष्टमिति बोध्यम्।

हीं यहाँ सम्बन्ध रूप में विवक्षित है; अतः अदृष्टादि में माधुर्यवत्त्व के व्यवहार की आपत्ति नहीं होती। इस प्रकार शब्द, अर्थ, रचना, बन्ध और रस में वर्त्तमान विलक्षण प्रयोजकताओं के सम्बन्धरूप में विवक्षित होने से द्रुत्यादिमत्त्व-माधुर्यादि से विशिष्ट जैसे रस होते वैसे शब्द, अर्थ आदि भी। अतः शब्द, अर्थ आदि में गुणवत्त्व को औपचारिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है—ऐसा हम सोचते।

वामन आदि कुछ प्राचीनतर आचार्य---श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकु-मारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि नामक दश शब्दगुण मानते।

इति दश शब्दगुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्ति। नामानि पुनस्तान्येव, लक्षणं तु भिन्नम्।

तथा हि—

शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः ॥

यदाहुः—'श्लिष्टमस्पष्टशैथिल्यम्' इति। यथा—'अनवरतविद्वद्द्रुमद्रोहिदारिद्र्यमाद्यद्द्विपोद्दामदर्पौघविद्रावणप्रौढपञ्चाननः' इति।

उद्दिष्टान् गुणान् क्रमेण लक्षयति—तथाहीत्यादिना। शब्दानाम्=शक्तानां पदानाम्। एकत्वप्रतिभानमभेदबुद्धिः, एषा चाहार्यविपर्ययात्मिका सहृदयानाम्। एकत्वं सादृश्यमित्यपव्याख्यानम्। संहितयेति। एतच्चोपलक्षणं दीर्घसमासस्येति वक्ष्यते। 'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्' इति वचनविवरणे पृथक्पदत्वं समासदैर्घ्यनिवृत्तिपरमितिवदतो वामनस्याप्ययमेवाभिप्रायः। समासदैर्घ्यमेवैकत्वभाने हेतुः। एकजातीयेत्यादि। एकजातीयवर्णानामेकोऽनेको वा समूहोऽत्र विवक्षितः, तेन चानुप्रासः सूच्यते। गाढत्वं च संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यं वक्ष्यमाणम्।

उक्तार्थे दण्ड्युक्तिं प्रमाणयति—यदाहुरित्यादिना। अत्र यादृशं शैथिल्यं दण्डिनोक्तम् अल्पप्राणाक्षरोत्तरम् इति तद् ग्रन्थकृतो नाभिप्रेतम्, उदाहरणस्याल्पप्राणवर्णसमूहघटितत्वात्। अतोऽत्र प्रोक्तगाढत्वविपरीतमेव शैथिल्यं विवक्षितं मन्तव्यम्। अनवरतेत्यादि। विद्वांस एव फलदातृत्वाद् द्रुमाः, तेषामनवरतं द्रोही यो दारिद्र्यरूपो माद्यन् द्विपस्तस्योद्दामदर्पौघस्य विद्रावणे प्रौढः पञ्चाननः सिंह

इन्हीं नामों के दश अर्थगुण भी उनके द्वारा स्वीकृत हैं, किन्तु इनका स्वरूप शब्दगुणों के स्वरूप से भिन्न है।

अब क्रमशः पूर्वोक्त शब्दगुणों और अर्थगुणों के लक्षण-उदाहरण दिये जा रहे हैं—

पदों के वस्तुतः भिन्न-भिन्न होने पर भी संहिता (=पूर्वापर के अत्यन्त सान्निध्य) के कारण उन सब पदों के एक होने की प्रतीति के निमित्तभूत और अनुप्रास-समूहघटित रचना-विशेष को हीं 'श्लेष' कहा जाता। इसे हीं दूसरे शब्द में 'गाढ़ता' भी कहते।

आचार्य दण्डी ने कहा भी है—'जिसमें शिथिलता (गाढ़ता के विपरीत विन्यास) न हो—शिथिलता का आधिक्य न हो, उसी रचना-विशेष को 'श्लिष्ट' (=श्लेष) कहा जाता।''

जैसे—'अनवरतविद्वद्द्रुम···' इत्यादि वाक्य में उपर्युक्त लक्षण के घटित

गाढत्वशैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसादः ॥

यथा—

किं ब्रूमस्तव वीरतां वयममी यस्मिन्धराखण्डल
क्रीडाकुण्डलितभ्रुशोणनयने दोर्मण्डलं पश्यति ।
माणिक्यावलिकान्तिदन्तुरतरैर्भूषासहस्रोत्करै-
र्विन्ध्यारण्यगुहागृहावनिरुहास्तत्कालमुल्लासिताः ॥

इत्यर्थः । दानशीलस्य कस्यचिद्राज्ञो वर्णनमिदम् ।

प्रसादं लक्षयति—गाढत्वेत्यादिना । गाढत्वं शैथिल्यं चास्माभिर्वर्णितम् । व्युत्क्रमेणेति । विपरीतक्रमेणेत्यर्थः । पूर्वं शैथिल्यं पश्चाद् गाढत्वमिति तात्पर्यम् । तथैवोदाहरणमपि दृश्यते । यथा तु वामनग्रन्थस्तथा त्वोजःसम्पृक्तं शैथिल्यं प्रसाद इति लभ्यते । अस्य तदुक्तसमाधेर्भेदश्चिन्त्यः । भरतादिभिः पुनराचार्यैः प्रसिद्धार्थकत्वं प्रसाद इत्युक्तम् ।

किं ब्रूम इति । हे धराखण्डल महीपते ! तव वीरताममी अल्पज्ञा वयं किं ब्रूमो वर्णयामः यस्मिन् क्रीडया कुण्डलिते वर्तुलीकृते वक्रीकृते भ्रुवौ, येन, अथ च शोणे नयने यस्य तथाविधे त्वयि स्वदोर्मण्डलं पश्यति सति विन्ध्यारण्यम्, तद्गतपर्वतः गुहाः, तदरण्यस्थं गृहम्, तत्रत्या अवनिरुहाश्च त्वद्भीत्या पलायितेन शत्रुराजसमूहेन स्वमाणिक्यावलिकान्त्या दन्तुरतरैः शोभिततरैर्भूषाणां सहस्राणामुत्करैस्तत्कालमेव समुल्लासिता इत्यर्थः । त्वद्भयात् प्रतिभटा राजानः पलायिताः सन्तो यथासम्भव-

---

होने से 'श्लेष' गुण विद्यमान है । उदाहरणवाक्य[1] का अर्थ यह है—"ये राजा विद्वज्जनस्वरूप वृक्षों के नित्य-विद्रोही दारिद्र्यरूपी उन्मत्त गजराज के प्रचण्ड दर्प को ध्वस्त करने में समर्थ सिंह हैं ।"

किसी भी बन्ध में गाढता और शिथिलता का विपरीत क्रम से, अर्थात् पहले शिथिलता का और पश्चात् गाढ़ता का सम्मिश्रण हीं 'प्रसाद' नामक शब्दगुण कहलाता ।

उदाहरणार्थ—

"हे महाराज ! हम साधारण जन आपकी वीरता के विषय में क्या कहें ? आप विनोद के लिए भी अपनी भ्रुकुटियों को टेढ़ी कर और आखों को लाल करके अपने भुजदण्ड को जिस क्षण देखते उसी क्षण आप के भय से पलायमान शत्रु-राजाओं के हीरे-मोती की छटाओं से अत्यन्त आकर्षक दिखने वाले हजारों

---

१. यद्यपि शब्दगुण का अस्तित्व उदाहरण-पद्य में ही है, उसके अनुवाद में नहीं, तथापि हिन्दी-टीका में शिष्यावबोधार्थ अनुवाद हीं दिया गया है । अन्य विषय के उदाहरणों में भी यथासम्भव यही समझना चाहिए ।

अत्र यस्मिन्नित्यन्तं शैथिल्यम्, भ्रूशब्दान्त गाढत्वम्, पुनर्नयनेत्यन्तं प्रथममित्यादि बोध्यम् ।

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता ॥

यथा वक्ष्यमाणमाधुर्योदाहरणे । तत्र ह्युपनागरिकयैवोपक्रमोपसंहारौ ।

संयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ॥

मात्मरक्षार्थं केचिद् विन्ध्यारण्यं गताः, अन्ये तत्रत्यगिरिगुहामनुप्रविष्टाः, इतरे तदरण्यस्थेषु गृहेषु मुन्यादीनामुटजेषु निलीनाः, एके पुनस्तदीयवृक्षानारूढा इति तात्पर्यम् । अत्र च पश्यतीत्यत्र सतिसप्तम्या पलायनक्रियाया आक्षिप्यमाणाया एव दर्शनक्रियासमकालिकत्वप्रतीतेः तत्कालमित्यनेन न पौनरुक्त्यम् । दर्शनसमकालं चोल्लासनक्रियाया असम्भवादतिशयोक्तिस्तद्वर्णनेनाभिव्यज्यते ।

अत्र प्रसादमुपपादयति—अत्रेत्यादिना । प्रथमं शैथिल्यम् ।

समतां लक्षयति—उपक्रमादिति । आरम्भादित्यर्थः । उपनागरिका वैदर्भीरीतिः । एवमेव उपक्रमात्समाप्तिपर्यन्तं बन्धे यदि गौडी यदि वा पाञ्चाली रीतिस्तदापि गुणोऽयं निर्वहति । अतश्च रीतिभेदाद्बन्धस्यापि त्रैविध्यं फलति—मृदुवर्णविन्यासयोनिः, स्फुटवर्णविन्यासयोनिः, मिश्रवर्णविन्यासयोनिश्चेति । एतेषामेव क्रमेण मृदुः, स्फुटः, मध्यम इति च व्यपदेशः । वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली चेति क्रमेण तिस्रो रीतय उपनागरिका, परुषा, कोमला चेति व्यपदिश्यन्ते ।

माधुर्यस्य लक्षणमाह—संयोगेत्यादि । संयोगः परो येभ्यस्ते ह्रस्वास्तदतिरिक्तेत्यादिरर्थः । संयोगश्चात्र परसवर्णाऽनिष्पन्नहल्घटितो, ग्राह्यः, ईदृशस्यैव

आभूषणों के समूह से विन्ध्यवन, वहाँ की गुफाएँ, वहाँ की झोपड़ियाँ और वहाँ के वृक्ष चमक उठते ॥''

इसका तात्पर्य यही है कि शत्रु-राजा पल भर के लिए भी आपका सामना नहीं कर पाते अपि तु आपके क्रुद्ध होने की थोड़ी आशङ्का होने पर भी भाग खड़े होते । इस पद्य में 'यस्मिन्' तक शिथिलता 'धराखण्डल······भ्र' तक गाढ़ता, 'शोणनयने' में पुनः शिथिलता और 'भ्रूमण्डलम्' में पुनः गाढ़ता के होने से उपरिलक्षित 'प्रसाद' गुण विद्यमान है ।

प्रारम्भ से अन्त तक रीति (=शैली) की एकता को 'समता' कहते ।

इसका उदाहरण 'माधुर्य' गुण का दिया जाने वाला उदाहरण—'नितरां परुषा···'हीं है, क्योंकि इस पद्य में आरम्भ से अन्त तक उपनागरिका—वैदर्भी रीति हीं उपलब्ध है ।

संयोग के पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरों से भिन्न वर्णों से घटित होने और पदों के दीर्घसमास से रहित होने को ''माधुर्य''- नामक गुण कहा जाता ।

यथा—

नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि ।
यदि कोमलता तवाङ्गकानामथ का नाम कथापि पल्लवानाम् ॥

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता ॥

प्रतिषेधवर्णनात् । परसवर्णनिष्पन्नहल्घटितस्तु संयोगो न प्रतिकूल: अपि तु मधुररसानुकूल एवेति वक्ष्यते । अत्र च माधुर्ये यादृश: संयोगो वर्जनीयस्सोऽपि वक्ष्यमाण: । पृथक्पदत्वं श्लेषवद्दीर्घसमासाभाव: ।

नितरामित्यादि । हे कामिनि ! यदि तव अनुकम्प्यानामङ्गानां कोमलता विभाव्यते तर्हि सरोजमाला अपि तदपेक्षया परुषा कठोरैव प्रतीयते, मृणालान्यपि विचारे पेशलानि रम्याणि न प्रतीयन्ते । एवमुभयेषां कठोरत्वनिर्णये कृते पल्लवानां सम्बन्धिनी या कोमलता तद्विषयिणी कथाऽपि का नाम ? न कापि, तुच्छेत्यर्थ: । तवाङ्गकानामित्यत्र 'ङ्ग' इत्यस्य परसवर्णनिष्पन्नहल्घटितसंयोगत्वेन तत्पूर्वस्य आकारस्य च ह्रस्वत्वाभावेन पल्लवशब्दे च 'ल्ल' इत्यस्य परसवर्णनिष्पन्नहल्घटितत्वेन न दोष: । अत्र 'संयोगश्चात्र परसवर्णानिष्पन्नहलघटित एव ग्राह्य:' इति मर्मप्रकाशे मुद्रित: पाठो भ्रष्ट: । अत एवैतदनुरोधेन चन्द्रिका-रसचन्द्रिकयो: कृतं व्याख्यानमयुक्तम् ।

अपरुषेत्यादि । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ टवर्गादयश्च परुषा वर्णा वक्ष्यन्ते । तद्भिन्ना वर्णा अपरुषा: कोमला इत्यर्थ: ।

यहाँ संयोग वही लिया जाता जो 'परसवर्ण' (सन्धि-विशेष) से निष्पन्न हल् (व्यञ्जन) से भिन्न व्यञ्जन से बना हुआ हो । यह विषय माधुर्य गुण के अभिव्यञ्जक के वर्णन के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया जायेगा । माधुर्य का उदाहरण 'नितरां...' आदि पद्य में देखा जा सकता है—

"अरी प्रियतमे ! जब तेरे अङ्गों की कोमलता के बारे में सोचता तो कमल-पंक्ति भी उनकी अपेक्षा अत्यधिक कठोर प्रतीत होती ; विसतन्तु तो इस प्रसङ्ग में विचार-योग्य भी नहीं । जब कमल-पंक्ति और विसतन्तु की कोमलता भी तेरे अङ्गों की कोमलता के आगे तुच्छ हैं तो फिर पल्लवों की (कोमलता की) तो चर्चा करना ही व्यर्थ है ॥"

इस पद्य में न तो परसवर्ण-सन्धि से निष्पन्न व्यञ्जन से भिन्न व्यञ्जनों का संयोग है और न दीर्घसमास हीं । अत: उपर्युक्त लक्षणानुसार 'माधुर्य' गुण स्पष्ट है ।

टकार आदि कठोर वर्णों से घटित न होना हीं रचना या बन्ध की 'सुकुमारता' है ।

यथा—

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
दोलायितश्रवणकुण्डलवन्दनीया ।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन काऽपि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ॥

अत्र पूर्वार्धे । उत्तरार्धे तु माधुर्यमपि ।

झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्तिः ॥

यथा 'नितराम्' इत्यादौ ।

स्वेदाम्बित्यादि । मदिरेक्षणायाः प्रेयस्याः कापि विलक्षणा रम्या या दशा स्वेदाम्बुनो घर्मजलस्य सान्द्रैः कणैर्बिन्दुभिः शालिन्यां शोभमानायां कपोलपालौ दोलायिताभ्यां श्रवणकुण्डलाभ्यां वन्दनीया सा स्मरणेन मे मनसि आनन्दमङ्कुरयति । अत्र पद्ये 'मनसि' इति अपार्थम् । 'रम्या दशा मयि परं···' इति पठनीयम् ।

पूर्वार्धे इति । सुकुमारतेति शेषः । पूर्वार्धे दीर्घसमासान्माधुर्याभाव इत्यत्र उत्तरार्धे सुकुमारतया माधुर्यस्यापि समुच्चय उक्तः । अत्रोपधेयसङ्करेऽप्युपाधीनामसाङ्कर्यं बोध्यम् ।

झगितीत्यादि । झगिति शीघ्रम्, प्रतीयमानोऽर्थानां पदार्थानामन्वयो यत्र बन्धे स झगितिप्रतीयमानार्थान्वयकस्तस्य भाव इत्यर्थः । यत्राविलम्बेन वाक्यार्थबोधस्तत्रार्थव्यक्तिर्गुण इत्याशयः ।

जैसे—'स्वेदाम्बु...' आदि पद्य में

"मतवाली आँखों वाली रमणी की वह रमणीय दशा, जो पसीने की घनी बून्दों से भरे उसके गालों पर झूलते कुण्डलों के कारण अत्यन्त अभिनन्दनीय और पूर्णरूप से वर्णनातीत है, स्मरणमात्र से मेरे मन में आनन्द को अङ्कुरित कर रही है ॥"

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में उपरिलक्षित 'सुकुमारता' है जबकि उत्तरार्ध में 'सुकुमारता' के साथ-साथ माधुर्य गुण भी है। पूर्वार्द्ध में दीर्घसमास के कारण माधुर्य गुण के लिए अपेक्षित 'पृथक्पदत्व' के अभाव में 'माधुर्य' मानना सम्भव नहीं।

पदों के अर्थों का शीघ्र अन्वित हो जाना हीं 'अर्थव्यक्ति' गुण है।

इसका भी उदाहरण 'माधुर्य' के उदाहरण के रूप में पूर्वनिर्दिष्ट 'नितरां परुषा सरोजमाला···' इत्यादि पद्य हीं हैं।

कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ॥

यथा—

प्रमोदभरतुन्दिलप्रमथदत्ततालावली-
विनोदिनि विनायके डमरुडिण्डिमध्वानिनि ।
ललाटतटविस्फुटन्नवकृपीटयोनिच्छटो
हठोद्धतजटोद्भटो गतपटो नटो नृत्यति ॥

'पदानां नृत्यत्प्रायत्वं विकटता' इति काव्यप्रकाशटीकाकारा व्याचक्षते । उदाहरन्ति च—'स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणिति रणितमा-

---

कठिनेत्यादि । कठिना वर्णाः टकारादिरूपाः । विकटत्वं लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा । तथा च बन्धस्य विकटतैव उदारता, विकटतायाश्च स्वरूपं कठिनवर्णघटितत्वम् पण्डितराजमते ।

प्रमोदेत्यादि । प्रमोदभरेणानन्दातिशयेन तुन्दिलैरुत्फुल्लोदरैरट्टहासं कुर्वद्भिः प्रमथैर्गणैर्दत्ताभिस्तालावलीभिर्विनोदशीले अत एव डमरुं डिण्डिमं च वादयति विनायके सति ललाटतटाद्विस्फुटन्ती नवस्य सद्यःप्रज्वलितस्य कृपीटयोनेरग्नेश्छटा यस्य अथ च हठेन उद्धताभिर्जटाभिरुद्भटो विकटो गतपटः स्रस्तवासा नटः शिवो नृत्यति—इति पद्यार्थः । अत्रोदारतायाः प्रोक्तलक्षणसङ्गतिः स्पष्टैव ।

सम्प्रति वामनाभिमतं काव्यप्रकाशटीकाकृद्विश्वनाथाद्यनुमोदितं विकटतालक्षणं खण्डयति—पदानामित्यादिना । नृत्यत्प्रायत्वम् इति । यस्मिन् विन्यासे कृते पदानि नृत्यन्तीव उच्चावचानीव श्रवणादौ प्रतीयन्त इत्यर्थः । स्वचरणेत्याद्युदाहरणं वामनेनैव पूर्वं प्रदत्तम् । अत्र 'झण्' इति नूपुरशब्दानुकरणम् । अत एव 'झटिति' इति क्वचिन्मुद्रितः पाठोऽयुक्तः । एतादृश्याम्—पदानां नृत्यत्प्रायतारूपायां

रचना की विकटता, अर्थात् टकार आदि कठोर वर्णों से घटित होना, 'उदारता' नामक शब्दगुण है ।

उदाहरण 'प्रमोदभर ...' आदि पद्य में देखिए—

"आनन्दातिरेक से अट्टहास करने के कारण फूले हुए उदरों वाले शृङ्गी आदि गण द्वारा दी गयी तालियों से प्रमुदित गणेश डमरु और डिण्डिम नामक वाद्य-यन्त्र बजा रहे हैं और दिगम्बर नटराज शिव, जिनके ललाट-तट से सद्यःप्रज्वलित अग्नि की ज्वाला निकल रही है और जो नृत्तमग्न होने के कारण जटा के ऊपर उठ जाने से बड़े ही विकट भयङ्कर दिख रहे हैं, नाच रहे हैं ॥"

(वामन और) काव्यप्रकाश के विश्वनाथ-प्रभृति टीकाकार पदों की नृत्यत्प्रायता–ऐसी रचना जिसमें पद नाचते-से प्रतीत होते हों–को विकटता (=उदारता)

सीत्' इत्यादि। तत्र तेषामेतादृश्यां विकटत्वलक्षणामुदारतामोजस्यन्तर्भावयन् काव्यप्रकाशकारः कथमनुकूल इति त एव जानन्ति। न ह्यत्रौजसो वैपुल्येन प्रतिभानमस्ति। 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त'—इत्यत्र सन्नप्योजसो लवो न चमत्कारी। नापि तत्र नृत्यत्प्रायत्वं वर्णानामनुभवन्ति सहृदयाः। अंशान्तरे तु माधुर्यमेव।

विकटतालक्षणायामुदारतायाम्। एतादृशीमित्यपपाठः, तैर्वर्णिताया उदारतायाः काव्यप्रकाशकारेणौजस्यन्तर्भावाऽकरणात्तथाविधाया अन्तर्भावक्रियाकर्मत्वानुपपत्तेः। अथवा एतादृशामिति पठनीयम्। यद्वा शब्दगुणत्वेनाभिमतामित्यर्थं कृत्वा कथञ्चिद् द्वितीयान्तपाठस्यापि सङ्गतिः कर्त्तव्या। कथमनुकूल इति। ओजःपर्यायभूतत्वाद्विकटताया ओजसि च पदानां नृत्यत्प्रायत्वस्य सर्वत्राभावात्तदभिन्ना विकटता न तादृशी मन्तुं शक्यते मम्मटेनेत्यर्थः। तथा चैते टीकाकारा मूलविरुद्धा एवेति नादरणीयाः। ननु ओजस्यन्तर्भावो विकटतालक्षणोदारताया न तदभिन्नतयाऽपि तु तद्विशेषतयैवेत्यत: खण्डनयुक्त्यन्तरमाह—न वैपुल्येनेति। स्वचरणेत्यत्र झणिति रणितमासीदित्यादौ चौजसोऽभावादिति भावः। लव इत्युक्तिरोजसोंऽशावस्थितिमभिप्रेत्य। न चमत्कारीति। प्रकृतरसाननुकूलत्वमत्र हेतुः। अंशान्तरे= स्वचरणेत्यादौ।

कहते। इसका उदाहरण उन्होंने निम्नलिखित पद्यार्ध को दिया है—

स्वचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां
झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलञ्च॥

किन्तु विकटतास्वरूप उदारता का ओजोगुण में अन्तर्भाव करने वाले काव्यप्रकाशकार का नृत्यत्प्रायतास्वरूप विकटता कैसे अभिमत हो सकती है? कारण यह है कि काव्यप्रकाशकार इस विकटतास्वरूप उदारता को ओजोगुण से अभिन्न मानते; ओजोगुण में सर्वत्र पदों की नृत्यत्प्रायता नहीं देखी जाती, अतः ओज से अभिन्न विकटता में भी सर्वत्र नृत्यत्प्रायता न होने से उपर्युक्त व्याख्या मूलानुकूल नहीं है, अतः उपेक्षणीय है। यदि तु उक्त अन्तर्भाव का उपपादन विकटता को ओजोगुण से अभिन्न नहीं अपितु उसका एक विशेष प्रकार मानकर किया जाय (यही उचित भी है) तो भी उक्त व्याख्या संगत नहीं है, क्योंकि उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में भी सभी पदों में नृत्यत्प्रायता तो है नहीं। हाँ, 'विनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्त' इस अंशमात्र में नृत्यत्प्रायता का प्रतिभास होता। किन्तु इस नृत्यत्प्रायतास्वरूप ओज को (काव्यप्रकाशकार के मतानुसार) चमत्कारजनक न होने से गुण कहना कहाँ तक संगत है—यह विचारणीय है। इसके चमत्कारजनक न होने का कारण यही है कि उदाहरण में वीर आदि रसों की अभिव्यक्ति न होने से यह ओज रसानुकूल

संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यरूपं गाढत्वमोजः ॥

यथा—

साहङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर-
क्षुभ्यत्क्षीरधिवल्गुवीचिवलयश्रीगर्वसर्वंकषाः ।
तृष्णाताम्यदमन्दतापसकुलैः सानन्दमालोकिता
भूमीभूषण भूषयन्ति भुवनाभोगं भवत्कीर्तयः ॥

यथा वा 'अयं पततु निर्दयं' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

संयोगेत्यादि । संयोगश्चात्र परसवर्णनिष्पन्नहल्भिन्नहल्घटितो ग्राह्यः । अत्र 'संयोगश्च परसवर्णनिष्पन्नो ग्राह्यः' इति व्याचक्षाणा रसचन्द्रिका चिन्त्या । एवमेव माधुर्यव्याख्यानान्तर्गताऽपि । इयं हि व्याख्या मर्मप्रकाशस्थपाठभ्रंशमूलिकैवेति प्रागावेदितम् । प्राचुर्यं चैकाधिकत्वमतो द्विःप्रयोगेऽपि तत्त्वमक्षतम् ।

साहङ्कारेत्यादि । हे भूमीभूषण वसुधालङ्कारभूत राजन् ? साहङ्कारा या सुराणामसुराणाञ्चावलिस्तस्याः करैराकृष्टत्वाद्भ्रमता मन्दरेण क्षुभ्यतः क्षीरधेः समुद्रस्य वीचिवलयानां श्रिय उज्ज्वलताया गर्वस्य सर्वङ्कषाः पूर्णतयाऽपहारिकाः, अथ च तृष्णया ताम्यद्भिराकुलैरमन्दानां तापसानां कुलैः सानन्दं सुधास दृश्यादालोकिता भवतः कीर्त्तयो भुवनस्य आभोगं विस्तारं भूषयन्ति । कस्यचिद्राज्ञः स्तुतिरियम् । 'भूमी' इति 'कृदिकारादक्तिनः' इति विकल्पेन ङीष्प्रत्यये रूपम् । शब्दशक्तिमूलध्वनिप्रसङ्गे विशेषोऽत्र वक्ष्यते । अयं पततित्यादि । नबोच्छलि-

---

नहीं है । इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि सहृदयों को 'विनिविष्टैर्नू पुरैर्नर्त्तं' इस अंश में भी नृत्यत्प्रायता का अनुभव नहीं होता, 'स्वचरण' आदि अंशों में तो नृत्यत्प्रायता के विपरीत 'माधुर्य' का ही अनुभव होता । अतः न तो उदाहरण हीं उपयुक्त है और न उपर्युक्त व्याख्या हीं ।

परसवर्ण-निष्पन्न व्यञ्जन से भिन्न व्यञ्जनों से घटित संयोगों से पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर की रचनागत प्रचुरता को हीं 'ओज' कहते ।

उदाहरणार्थ 'साहङ्कार०' आदि पद्य द्रष्टव्य है—"हे महाराज ! अहङ्कारपूर्ण देव-दानवों के समूह द्वारा आकृष्ट होने से तीव्र गति से घूमते हुए मन्दराचल द्वारा आलोडित (=उन्मथित) क्षीरसमुद्र की रम्य तरङ्गों के समूह के सौन्दर्याभिमान को समूल विनष्ट कर देने वाली और पिपासाकुल उत्तम तपस्वियों द्वारा स्वच्छ सुधा के भ्रम से आनन्दपूर्वक देखी जाने वाली आपकी उज्ज्वल कीर्त्तिराशि समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित कर रही है ॥"

इसका दूसरा उदाहरण रौद्ररस के उदाहरण के रूप में पूर्वनिर्दिष्ट (नवोच्छ-

अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः ॥

यथा 'नितराम्' इत्यादिप्रागुदाहृते ।

बन्धगाढत्वशिथिलत्वयोः क्रमेणावस्थापनं समाधिः ॥

अनयोरेव प्राचीनैरारोहावरोहव्यपदेशः कृतः । क्रम एव हि तयोः प्रसा-

---

तेत्यादिरौद्रोदाहरणभूतस्य पद्यस्योत्तरार्धमिदम् । तत्राप्योजः । उत्तरार्धमुपलक्षणं सम्पूर्णस्य पद्यस्य । पादपृथक्त्वे तु द्वितीयं पादमपहाय । अत्र च परसवर्णनिष्पन्न-हलूभिन्नहल्घटितसंयोगमादाय लक्षणसमन्वयो बोध्यः ।

वामनोक्तं कान्तिलक्षणं परिष्कृत्याह—अविदग्धेत्यादि । अविदग्धा अरसिका ये वैदिकादयस्तेषां प्रयोगयोग्यानि यानि पदानि तेषां परिहारेण—तानि पदानि परित्यज्य प्रयुज्यमानानि यानि सहृदयसुलभानि पदानि तेषु–इति रूपेणार्थोऽवसेयः । पदेषु शोभाया लोकोत्तरत्वं नाम तत्तद्रसानुकूलवर्णमात्रघटितत्वम् ।

बन्धगाढत्वेत्यादिना समाधिं लक्षयति । अनयोः=गाढत्वशैथिल्ययोः । प्राचीनैः=वामनादिभिः । व्यपदेश इति । तथा च वामनः—'आरोहावरोहयोः क्रमः समाधिः' इति । क्रम एवेत्यादि । वामनस्तु आरोहपूर्वमवरोहमवरोहपूर्वं

लित० इत्यादि पद्य का उत्तरार्ध)

"अयं पततु निर्दयं दलितदृप्तभूभृद्गल–
स्खलद्रुधिरघस्मरो मम परश्वधो भैरवः ॥"

पद्यार्ध भी है । वस्तुतः पूर्ण पद्य हीं उदाहरण के रूप में विवक्षित है, द्वितीय पाद में संयोगप्राचुर्य न होने पर भी पूर्वार्धघटक प्रथम पाद को लेकर द्वितीय पाद को भी उदाहरणान्तर्गत माना जा सकता है । पृथक्-पृथक् पाद की विवेचना करने पर तो प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पादों का हीं उदाहरणत्व उपपन्न होगा ।

वैदग्ध्यरहित वैदिक-मीमांसकादि द्वारा प्रयोग करने योग्य पदों से भिन्न (कवि द्वारा प्रयुज्यमान) पदों के अलौकिक सौन्दर्य, जिसे पदों की उज्ज्वलता भी कहा जाता, को 'कान्ति' कहते हैं ।

'माधुर्य' गुण का उदाहरणभूत 'नितरां परुषा सरोजमाला' इत्यादि पद्य में 'कान्ति' नामक गुण भी विद्यमान है ।

रचना में क्रमशः गाढ़ता और शिथिलता का होना हीं 'समाधि' नामक शब्द-गुण है ।

गाढ़ता और शिथिलता को हीं वामन ने क्रमशः आरोह और अवरोह कहा है ।

दादस्य भेदकः। तत्र हि तयोर्व्यत्क्रमेण वृत्तेः।

यथा—

स्वर्गनिर्गतनिरर्गलगङ्गातुङ्गभङ्गुरतरङ्गसखानाम् ।
केवलाऽमृतमुचां वचनानां यस्य लास्यगृहमास्यसरोजम् ॥

अत्रारोहः प्रथमेऽर्धे। तृतीयचरणे त्ववरोहः। गङ्गेत्यादौ माधुर्यस्य

चारोहमिहोदाहरति, तत्र च प्रसादेन साङ्कर्यमित्यतः पण्डितराजेनान्यथा व्याख्यातम्। अत्र वामनग्रन्थे कश्चन विशेषो वर्णितस्तत एवावधेयः। अत्रापि पर-सवर्णजन्यहल्भिन्नहल्घटितसंयोगमादाय समन्वयः कर्त्तव्यः।

स्वर्गनिर्गतेत्यादि। कस्यचिद्विदुषो वर्णनमिदम्। यस्य विदुष आस्य-सरोजम्=मुखकमलम्, स्वर्गान्निर्गताया निरर्गलाया गङ्गायास्तुङ्गैर्भङ्गुरैश्च तरङ्गैः सदृशानां केवलस्यामृतस्य वर्षकाणां वचनानां लास्यगृहं नृत्यशाला वर्त्तत इत्यर्थः। केवलममृतं मुञ्चन्तीति क्विपि षष्ठीबहुवचनान्तं केवलामृतमुचामिति। अत्र वचनोपमानभूतानां तरङ्गाणां 'भङ्गुर' इति विशेषणं वचनेषु भङ्गियुक्तत्व-प्रत्यायकतया कथञ्चिद् व्याख्येयम्, अन्यथा वैरस्यापादकं स्यात्। अथवा तुङ्गभङ्गुरेत्यनेनोच्चावचत्वं प्रतिपादयतो बिदग्धमुखाम्बुजेऽपि वचनानामुच्चावचत्वं गाढत्वशैथिल्यवैशिष्टयरूपमभिप्रेतमिति व्याख्येयम्।

तृतीयचरणेति। अत्र 'तृतीयचरण इति बहुव्रीहिः। द्वितीयेऽर्धे इत्यर्थः' इति मर्मप्रकाशो युक्त एव, चतुर्थचरणे संयोगपरह्रस्वस्य यस्य-पदस्थयकारोत्तराकारमात्रे सत्वेऽपि प्राचुर्याभावात्, अन्ययोश्च संयोगपरत्वेऽपि ह्रस्वत्वाभावात्पण्डितराजानु-सारेण गाढत्वरूपारोहानुपपत्तेः। 'उत्तरार्धे तु सोऽपि' इत्यनेन स्वयमपि वक्ष्यत्येतत्। अतो यदुक्तं चन्द्रिकायाम्—'इह तृतीयचरणे इत्यत्र बहुव्रीहिरिति केषाञ्चिद्

'प्रसाद' और 'समाधि' में गाढ़ता और शिथिलता का क्रम-भेद—'समाधि' में पहले गाढ़ता और पश्चात् शिथिलता जब कि 'प्रसाद' में पहले शिथिलता और पश्चात् गाढ़ता का अवस्थान—हीं दोनों में परस्पर भेद का साधक है।

इसका एक उदाहरण 'स्वर्गनिर्गत०' आदि पद्य है—

"ये ऐसे विलक्षण विदग्ध विद्वान् हैं जिनका मुखकमल स्वर्ग से निकल कर अबाध गति से बहने वाली गङ्गा की ऊँची-नीची तरङ्गों का मित्र (अर्थात् उन तरङ्गों के समान) और केवल अमृत बरसाने वाली वाणी (स्वरूप-नर्त्तकी) की नृत्यशाला है॥"

इस पद्य के प्रथमार्ध में तो आरोह—गाढ़ता है जब कि तृतीयचरणघटित उत्तरार्ध में अवरोह—शिथिलता है। यद्यपि पूर्वार्ध के 'गङ्गातुङ्गभङ्गुरतरङ्ग' अंश में

व्यञ्जकेषु वर्णेषु सत्स्वपि दीर्घसमासान्तःपातितया न तस्य प्ररोहः । उत्तरार्धे तु सोऽपि । एते दश शब्दगुणाः ॥

एवम्—

क्रियापरम्परया विदग्धचेष्टितस्य तदस्फुटत्वस्य तदुपपादकयुक्तेश्च सामानाधिकरण्यरूपः श्लेषः ॥

विवरणं चिन्त्यम्, बहुव्रीहिणा तस्योत्तरार्धपरत्वाभ्युपगमे तद्घटकचतुर्थचरणे बन्धशैथिल्याप्रतीतेर्लक्षणसमन्वयाऽसम्भवात्' इति तच्चिन्त्यम् । अत एव सरलाप्येवं वर्णयन्ती सरलैव । अतो यत्पुनरुक्तं रसचन्द्रिकायाम्—'सरला तु चतुर्थचरणेऽवरोहं नानुभवति । तत्सत्यम्, तृतीयचरणमपेक्ष्य नावरोहः, परं प्रथमार्धमपेक्ष्य द्वितीयार्धेऽवरोहमनुभवन् मर्मप्रकाशः प्रायो नाऽसमीचीन इति प्रतिभाति' इति तदप्यकिञ्चित्करम् । माधुर्यलक्षणे संयोगस्य परसवर्णनिष्पन्नहल्भिन्नहल्घटितत्वस्योक्तत्वाद्द्वितीयचरणे कथं न माधुर्यस्यारोह इत्याशङ्कां निराचष्टे—गङ्गेत्यादावित्यादिना । दीर्घसमासेत्यादि । एतेन माधुर्यार्थमपेक्ष्यमाणस्य पृथक्पदत्वस्याभावोपपादनम् । न प्ररोह इति । प्ररोहः=प्रकर्षः । समासघटकतया द्वितीयचरणस्य प्रथमपादेन गाढत्वप्ररोहवता तथात्वमित्यभिप्रायः । सोऽपि=माधुर्यप्ररोहोऽपि । अतश्चोत्तरार्धे समाधिमाधुर्ययोरुभयोः सत्त्वं प्रतिपादितम् । एतावता दशशब्दगुणनिरूपणं प्राचामनुसारेण परिष्कृत्य कृतम् ॥

अर्थगुणान्निरूपयितुमुपक्रमते—एवमित्यादिना ।

तदस्फुटत्वस्य=विदग्धचेष्टितस्य परेणाप्रतीयमानत्वस्य । तदुपपादकेत्यत्रापि तत्पदेन विदग्धचेष्टितस्य ग्रहणम् । सामानाधिकरण्यमेकत्र वाक्ये महावाक्ये वा

माधुर्य-व्यंजक वर्ण विद्यमान हैं तथापि दीर्घसमास के कारण माधुर्य-लक्षणघटक 'पृथक्पदत्व' का अभाव होने से यहाँ माधुर्य का उत्कर्ष नहीं माना जा सकता । उत्तरार्ध में माधुर्य-विरोधी दीर्घसमासादि लक्षणों के न होने और माधुर्य-व्यंजक वर्णों के होने से शिथिलता के साथ-साथ माधुर्य का भी उत्कर्ष है हीं ॥

इस प्रकार प्राचीन वामनादि द्वारा स्वीकृत दश शब्दगुणों का निरूपण किया गया ॥

शब्दगुण के समान नाम वाले श्लेष, प्रसाद आदि दश अर्थगुण भी वामनादि के अभिमत हैं । किन्तु नामसाम्य होने पर भी इनके स्वरूप में भेद है । अतः श्लेष, प्रसाद आदि दश अर्थगुणों का क्रमशः लक्षण-उदाहरण के साथ निरूपण किया जा रहा है—

एक के बाद एक क्रिया का निर्देश करते हुए क्रमशः किसी विदग्धजन की चेष्टा; उस चेष्टा की अव्यक्तता और उस चेष्टा के उपपादक युक्तियों का सामाना-

प्रबन्धघटके निवेशः। प्रबन्धे प्रायेण सर्वत्र, मुक्तके तु क्वचिदेवायं गुणः।

अस्योदाहरणं पण्डितराजग्रन्थे न दृश्यते। कथञ्चित् परिभ्रष्टमिति प्रतीयते। अतो वामनोक्तमुदाहरणं द्रष्टव्यम्—

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादराद्
एकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति॥

अस्यार्थः—एकस्मिन्नेवासन उपविष्टे प्रियतमे (द्वितीयाद्विवचने रूपम्) दृष्ट्वा धूर्तो नायकः पश्चात् पृष्ठदेशत आदरादतर्कितालिङ्गनकौतुकादस्या नायिकायाः क्रीडानुबन्धच्छलेन नयने पिधाय मनाङ्नमितग्रीवः सरोमोद्गमश्च सन् प्रेमोल्लसन्मानसां रहस्यसंगोपनेच्छया विहितेनान्तर्हासेनोत्फुल्लकपोलफलकां चापरां नायिकां चुम्बतीति। उभयोर्नायिकयोः प्रियतमेतिनिर्देशात्प्रथमाया अपि चुम्बनादिकं तेन क्रियत एव। सपुलक इत्युक्त्या पुनर्द्वितीयस्यामनुरागातिशयो द्योत्यते। अत्र चैकस्या वञ्चनेनापरस्याश्चुम्बनं विदग्धचेष्टितम्, एकयाऽपरचुम्बनस्याज्ञातत्वात्तदस्फुटत्वम्, क्रीडानुबन्धच्छलेन च प्रथमनायिकानयनपिधानादपरस्याश्चुम्बनस्योपपादनम् इत्येतत्सर्वं तदनुकूलक्रियापरम्परया पश्चादागमनादिरूपया समान एव पद्ये ग्रथितमिति श्लेषोऽत्रार्थगुण इति समन्वयप्रकारः।

धिकरण्यसम्बन्ध, अर्थात् किसी एक काव्यवाक्य या महावाक्य में वर्णन होना ही 'श्लेष' नामक अर्थगुण है।

यह अर्थगुण इसीलिए माना जाता कि उक्त सामानाधिकरण्य चेष्टा आदि अर्थों का हीं विवक्षित है, तद्वाचक शब्दों का नहीं।

इसका उदाहरण रसगङ्गाधर में उपलब्ध नहीं है। अतः वामन द्वारा उद्धृत अमरुक कवि के 'दृष्टैकासनसंस्थिते' इत्यादि पद्य में ही इसका उदाहरण द्रष्टव्य है। पद्य संस्कृत-टीका में उद्धृत है, इसका अर्थ निम्नलिखित है—

"जब धूर्त्त नायक ने देखा कि उसकी दोनों ही प्रियतमाएँ एक हीं जगह बैठी हुई हैं और उस स्थिति में उन दोनों में अनुकूलतर प्रियतमा को चूमना उसके लिए सम्भव नहीं, क्योंकि वैसा करने पर एक प्रियतमा नाराज हो जाएगी तब उसने उत्कण्ठापूर्वक पीछे जाकर खेल के बहाने उस एक प्रियतमा की आँखें बन्द कर दीं। फिर धीरे से अपनी गर्दन को कुछ टेढ़ी करके प्रेम से उल्लसित होती हुई और 'अन्य प्रियतमा कहीं यह रहस्य समझ न ले'—इस भय से भीतर ही भीतर हँसने के कारण फूले हुए गालों वाली दूसरी प्रियतमा को रोमाञ्चित होकर उस (धूर्त्त नायक) ने चूम लिया।"

यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः ॥

यथा—'कमलानुकारि वदनं किल तस्याः' इत्यादि। प्रत्युदाहरणं तु 'कमलकान्त्यनुकारि वक्त्रम्' इत्यादि।

प्रक्रमाऽभङ्गेनार्थघटनात्मकमवैषम्यं समता ॥

यावदर्थकेत्यादि। यावन्तोऽर्थाः प्रतिपिपादयिषिताः तावतामेव शब्दानां न न्यूनानां नाप्यधिकानां प्रयोगो यत्र तत्त्वं प्रसाद इत्यर्थः। अर्थेऽन्यूनानतिरिक्तपद-प्रतिपाद्यत्वं प्रसादोऽर्थगुण इति तात्पर्यम्। इदं च 'अर्थवैमल्यं प्रसादः' इति वामनोक्तलक्षणस्यैव स्फुटतरं वचनम्।

कमलकान्तीत्यत्र प्रत्युदाहरणे कान्तिपदमधिकमित्याशयः। वामनेन तु अर्थपुनरुक्तावपि प्रत्युदाहरणत्वमङ्गीकृतम्। प्रकृतेऽपि तद् बोध्यम्। तादृशं प्रत्युदाहरणं च वामनादिग्रन्थेभ्योऽधिगन्तव्यम्। परन्तु भङ्ग्यन्तरेणार्थस्य पुनरुक्तिर्गुण एव, न दोष इति कविसम्प्रदायः। वक्ष्यते चैवं माधुर्यं लक्षयता ग्रन्थकृता।

प्रक्रमाऽभङ्गेनेति। येन शब्देनार्थस्याभिधानमारम्भे तेनैव समाप्तिपर्यन्त-मभिधानम्—समानशब्देनैवोपक्रमप्रभृत्युपसंहारपर्यन्तं प्रतिपाद्यमानत्वमर्थस्य समतेति भावः। उद्देश्यस्यैक्येऽभिन्नेनैव पदेनोपादानं तस्य विशेषेणापेक्ष्यते। विच्छित्त्या-

---

एक को धोखा देकर दूसरी को चूमना विदग्धचेष्टित है, यह विदग्धचेष्टित जिसकी आँखें बन्द हैं उसके लिए अव्यक्त भी है और पीछे से आकर एक की आँखें बन्द कर देना इस विदग्धचेष्टित का उपपादक है। इस प्रकार एक हीं पद्य में चुम्बन क्रिया द्वारा विदग्धचेष्टित का, खेल करने का बहाना करने की क्रिया द्वारा उस विदग्धचेष्टित की एक नायिका के लिए अव्यक्तता का और पीछे से आकर आँखें बन्द कर देने की क्रिया से उस विदग्धचेष्टित चुम्बन का उपपादन किये जाने से यहाँ पूर्वलक्षित 'श्लेष' गुण की स्थिति स्पष्ट है।

अर्थ की विमलता—स्पष्टता, अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए जितने शब्द आवश्यक हों उतने हीं शब्दों द्वारा, उनसे कम या अधिक शब्दों द्वारा नहीं, अर्थ-प्रतिपादन किया जाना 'प्रसाद' नामक अर्थगुण कहलाता।

जैसे—"उस नायिका का मुख कमल का अनुकरण करने वाला, अर्थात् कमल-सदृश मनोहर है" इस वाक्य द्वारा वर्णित अर्थ में 'प्रसाद' गुण है। इसके विपरीत, "उस नायिका का मुख कमल की कान्ति का अनुकरण करने वाला है" इस वाक्य में वर्णित अर्थ में 'प्रसाद' गुण नहीं है, क्योंकि इस वाक्य में विवक्षित अर्थ के प्रतिपादन के लिए आवश्यक शब्दों से अधिक 'कान्ति' शब्द प्रयुक्त है।

विवक्षित एक अर्थ का जिस शब्द से वर्णन के प्रारम्भ में प्रतिपादन किया गया

यथा—

हरिः पिता हरिर्माता हरिर्भ्राता हरिः सुहृत् ।
हरिं सर्वत्र पश्यामि हरेरन्यन्न भाति मे ॥

अत्र विष्णुर्भ्रातेत्यादिनिर्माणे प्रक्रमभङ्गात्मकं वैषम्यम् ।

एकस्या एवोक्तेर्भङ्ग्यन्तरेण पुनः कथनात्मकमुक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम् ।

धानार्थत्वादस्यान्यत्रापि तथा । यदि तु एकपदप्रयोगे न विच्छित्तिस्तदा परिहरणीय एव सः ।

हरिरित्यादिपद्ये हरिशब्देनैवोपक्रमादुपसंहारपर्यन्तं परमेश्वररूपार्थस्याभिधीयमानत्वं स्पष्टमेव । पर्यायशब्दानां परस्परं भिन्नत्वं नार्थभिन्नत्वे कारणमिति यद्यप्यापाततः प्रतीयते तथापि शब्दस्यापि शाब्दबोधे भानस्य वैयाकरणादिसम्मतत्वेन एकशब्देनार्थबोधे एकरूपेणार्थः प्रतीयते शब्दान्तरेण पुनर्बोधे तच्छब्दविशिष्टः प्रतीयत इति विशेषणभेदादर्थभेदोऽर्थवैषम्यरूप इति मर्मप्रकाशः । अत्रोदाहृतमिदं पद्यं कीदृशं काव्यमिति विवेचनीयम् ।

वामनोक्तं माधुर्यलक्षणं परिष्कृत्याह—एकस्या इत्यादिना । उक्तिशब्दे-

---

हो उसी शब्द से अन्त तक उसका प्रतिपादित होना (प्रारम्भ में एक शब्द से और बाद में अन्य शब्द से प्रतिपादित न होना) 'समता' है ।

जैसे—

"हरि हीं मेरे पिता हैं, हरि हीं माता हैं, हरि हीं मित्र हैं, मैं सर्वत्र हरि को हीं देखता, मुझे हरि से अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखायी देता ॥"

इस पद्य में उपक्रम से उपसंहार तक परमेश्वर-स्वरूप अर्थ का एक 'हरि' शब्द से हीं प्रतिपाद होने से इसमें 'समता' नामक गुण है । इसके विपरीत,

हरिः पिता हरिर्माता विष्णुर्भ्राता हरिः सुहृद् ।
विष्णुं सर्वत्र पश्यामि विष्णोरन्यन्न भाति मे ॥

इत्यादि प्रकार से यदि भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा परमेश्वर-स्वरूप अर्थ का अभिधान किया गया होता तो 'समता' न होती । इसका कारण यह है कि शाब्दबोध के सविकल्पक होने—विशेषणविशिष्ट विशेष्य का ज्ञान होने—से विशेषणीभूत शब्द में भी शाब्दबोध विषयता होती । ऐसी स्थिति में भिन्न-भिन्न शब्दों से एक हीं अर्थ का प्रतिपादन करने पर तत्तच्छब्दजन्य बोध में तत्तत् शब्द (नाम) की प्रतीति होने से सभी खण्डवाक्यों से होने वाले बोध में एकरूपता हो नहीं सकती । अत एव ऐसी दशा में प्रक्रमभङ्गदोष आ जाने से 'समता' विघटित हो जाती है ।

उक्तिवैचित्र्य को 'माधुर्य' कहा जाता । उक्तिवैचित्र्य का अभिप्राय एक हीं

यथा—

विधत्तां निःशङ्कं निरवधिसमाधिं विधिरहो
सुखं शेषे शेतां हरिरविरतं नृत्यतु हरः।
कृतं प्रायश्चित्तैरलमथ तपोदानयजनैः
सवित्री कामानां यदि जगति जागर्ति भवती ॥

अत्र विध्यादिभिर्नास्ति किमपि प्रयोजनमित्येषोऽर्थः समाधिविधानादिप्रेरणारूपेणोक्तिवैचित्र्येणाभिहितः। अन्यथाऽनवीकृतत्वापत्तेः।

नार्थोऽत्राभिप्रेतो व्युत्पत्तिभेदेन लक्षणया वा।

विधत्तामित्यादि पद्यं गङ्गालहर्याम्। सवित्रीति तृजन्तं पदम्, कामानामिति षष्ट्यन्तपदात्। तृन्नन्तत्वे तु द्वितीया स्यात्, न लोकाव्ययेति कर्मषष्ठ्या निषेधात्। उत्कर्षः पुनस्तृन्नन्तप्रयोगे स्यात्। भवती=गङ्गा। पद्यार्थः स्फुटः।

प्रेरणात्र लिङर्थः, अभीष्टं वा। अन्यथा=उक्तिवैचित्र्याभावे। अनवीकृतत्वमर्थदोषो विच्छित्त्यनाधायकत्वात्सहृदयोद्वेजकत्वाच्च।

अकाण्डे=अनवसरे। मार्गे विवक्षितदेशप्राप्तेरुद्देश्यत्वे नावसर इति शोकस्यानवसरता। एतच्च बोध्यगतत्वे शोकस्य कथञ्चित् संगच्छते। सहृदयगतत्वं तु शोकस्य विवक्षितमिति मन्यामहे। उदाहरणानुरोधेन चाकाण्ड इत्यस्य तात्पर्यमस्फुटम्। 'अपारुष्यं सौकुमार्यम्' इति वामनोक्तं लक्षणमेवात्र परिष्कृतम्। सुकुमारतायाः पारुष्याभावस्वरूपत्वेनैव दोषाभावात्मकत्वमुपपादयन्त्यन्ये।

अर्थ का भिन्न-भिन्न भङ्गी (अभिव्यक्ति-प्रकार) से प्रतिपादन करना है।

उदाहरण गङ्गालहरी के निम्नलिखित पद्य में द्रष्टव्य है—

"माँ गङ्गे! सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली तू जब इस संसार में सजग है तब विधाता निश्चिन्त होकर अनन्त समाधि में निमग्न हो जाँय, भगवान् विष्णु शेषनाग के ऊपर आराम से शयन के लिए चले जाँय, भगवान् शिव सर्वदा अपने ताण्डव में संलग्न हो जाँय, पापक्षय के निमित्त विभिन्न प्रायश्चित्त करने की भी कोई आवश्यकता नहीं और इसके लिये तप, दान और पूजन आदि शास्त्र-विहित कर्म का भी कोई उपयोग नहीं ॥"

इस पद्य में प्रतिपादनीय अर्थ यही है कि जब गङ्गा सकल पाप-ताप का दूर करने के लिए सन्नद्ध है तो फिर विधाता आदि का कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु यदि इसी रूप में यह अर्थ शब्दों द्वारा प्रतिपादित होता तो इसमें चमत्कार न होने से यहाँ 'अनवीकृतत्व' दोष आ जाता। अत एव विधाता आदि को अनन्त समाधि में निमग्न हो जाने आदि की प्रेरणा का प्रतिपादन किया गया है जिससे अर्थ में एक

अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्यं सुकुमारता ॥

यथा—'त्वरया याति पान्थोऽयं प्रियाविरहकातरः'।

'प्रियामरणकातरः' इत्यत्र शोकदायिनो मरणशब्दस्य सत्त्वात्पारुष्यम्। इदं चाश्लीलतादोषव्याप्यम्।

वस्तुनो वर्णनीयस्यासाधारणक्रियारूपयोर्वर्णनमर्थव्यक्तिः ॥

यातीत्यस्य गृहमिति शेषः। अत्र पारुष्याभावमुपपादयति—प्रियामरणेत्यादिना। एतेनेदं सूच्यते यन्मृतप्रियस्य पान्थस्यैव प्रियाविरहकातर इति वर्णने सुकुमारता। यस्य पुनर्देशान्तरगतस्य प्रिया गृहे जीवत्येव तस्यैतादृशवर्णने न सौकुमार्यम् इति। पारुष्यं दोष इत्यपि लक्षणेन सूच्यत एव; परन्त्वयं दोषो न पृथक् परिगणित इति कथमत्र दोषत्वेनाभिधानं तस्येत्याशङ्कां समाधत्ते-इदं चेत्यादिना। अमङ्गलसूचकत्वादिति भावः। कस्यचिद् व्याप्यदोषस्य पृथक् परिगणनं कस्यचिच्च नेति विषये सम्प्रदाय एव शरणम्।

क्रियारूपयोरिति। क्रिया च रूपं स्वरूपं च, तयोरित्यर्थः। असाधारण-

---

वैदग्ध्य आ जाता है।

प्रतिपाद्य अर्थ में पारुष्य—कठोरता, जिसका अर्थ अनवसर में शोक देना है, के अभाव को हीं 'सुकुमारता' कहते।

जैसे—

"यह पथिक अपनी प्रियतमा के विरह (=मरण) से अत्यन्त खिन्न होकर शीघ्रता से अपने घर को लौट रहा है॥"

इसी वक्तव्य में यदि मरणस्वरूप अर्थ के प्रतिपादन के लिए 'प्रियामरणकातरः' कहा जाता तो यह अनवर में हीं शोकप्रद होता, क्योंकि घर लौटने के समय उस पथिक की प्रियतमा के मरण की बात सुनकर सहृदयों को शोक होता। यद्यपि जिस व्यक्ति को ऐसी कठोर बात कही जाती उसे भी शोक हो हीं सकता है तथापि काव्य में सहृदयगत शोक हीं विवक्षित होता। अतः उक्त लक्षण में निर्दिष्ट शोक को सहृदयनिष्ठ शोक समझना चाहिए। इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि यह अर्थगत कठोरता—पारुष्य, जिसके अभाव को 'सुकुमारता' कहा गया है, एक अर्थगत दोष है। इसे स्वतन्त्र दोष के रूप में नहीं माना गया है अपितु वह 'अश्लीलता' दोष के अन्तर्गत आता, जिसमें व्रीड़ा (=लज्जातिशय), जुगुप्सा अथवा अमङ्गल की प्रतीति होती। 'अश्लीलता' दोष के अन्तर्गत पूर्वोक्त मरण-शब्द से प्रतिपादित अर्थ में अमङ्गलसूचकतास्वरूप 'अश्लीलता' है।

वर्णनीय वस्तु के असाधारण स्वरूप और असाधारण क्रिया का वर्णन करना हीं 'अर्थव्यक्ति' है। असाधारण का अर्थ वैदग्ध्यपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता कि 'अर्थ-

यथा—

गुरुमध्ये कमलाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम् ।
रदयन्त्रितरसनाग्रं तरलितनयनं निवारयाञ्चक्रे ॥

अयमेवेदानींतनैः स्वभावोक्त्यलंकार इति व्यपदिश्यते ।

त्वमुभयोर्विशेषणम् । एतेन—अर्थव्यक्तिरित्यत्रार्थशब्दोऽसाधारणक्रियास्वरूपयोर्वर्त्तत इति बोध्यम् ।

गुरुमध्य इत्यादि । गुरूणां श्रेष्ठजनानां मध्ये कमलाक्षेण प्रहर्त्तुं कामोऽभिलाषो यस्य तादृशं मां कमलाक्षी प्रिया लज्जया रदैर्दन्तैर्निपीडितं रसनाया अग्रं यत्र अथ च तरलिते निकोचवती नयने यत्र कर्मणि तथा निवारयाञ्चक्रे । दन्तैर्जिह्वाग्रं निपीडयन्ती नयने च व्यापारयन्ती कमलाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्त्तुकामं मां निवारितवतीत्यभिप्रायः । रदयन्त्रितेत्यादिक्रियाविशेषणद्वयम् । अत्र 'निवारयाञ्चक्रे' इति लिट्प्रयोगश्चिन्त्यः । पद्येऽस्मिन् कमलाक्षीत्यनेन असाधारणस्य नायिकास्वरूपस्य रदयन्त्रितेत्यादिविशेषणद्वयविशिष्टाया निवारणक्रियायाश्च वर्णनादर्थव्यक्तिर्गुण इत्यभिप्रायो ग्रन्थकृतः । तत्रोक्तनिवारणक्रियायामापामरप्रसिद्धायां कीदृशमसाधारणत्वमिति विवेचनीयम् । यद्वा पामरसुलभायामप्येतादृश्यां निवारणक्रियायां वैदग्ध्यात्प्रतिभामात्रवेद्यत्वादसाधारणत्वं कथञ्चिन्मन्तव्यम् ।

इदानीन्तनैः—गुणत्रयवादिभिराचार्यैः । स्वभावोक्तीत्यादि । इदं च 'वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः' इति वामनोक्तलक्षणेनैव सूचितप्रायम् । विशेषः काव्यप्रकाशादिभ्यो ज्ञेयः ।

व्यक्ति' शब्द के पूर्वभाग—'अर्थ' शब्द के अभिधेय वस्तु (—अर्थ) के असाधारण स्वरूप और असाधारण क्रिया हैं ।

इसका उदाहरण निम्नलिखित पद्य में उपलब्ध है—

"जब श्रेष्ठ जनों के बीच बैठी अपनी कमलतुल्य नेत्रोंवाली प्रियतमा पर मैंने अपने कमल-सदृश नयन से प्रहार करना चाहा—उसपर कटाक्षपात करने को उद्यत हुआ तो उसने दाँतों तले जीभ दबाकर आँखों के इशारे (कनखी) से मुझे वैसा करने से रोक दिया ।"

इस कथन में प्रियतमा के असाधारण स्वरूप का 'कमलाक्षी' शब्द से और दाँतों तले जीभ दबाकर आँखों के इशारे से रोकने की असाधारण–वैदग्ध्यपूर्ण क्रिया का वर्णन होने से 'अर्थव्यक्ति' नामक गुण है ।

इसी 'अर्थव्यक्ति'-नामक वामनादि-सम्मत गुण को परवर्ती आचार्यों ने 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार कहा है ।

'चुम्बनं देहि मे भार्ये कामचाण्डालतृप्तये' इत्यादिग्राम्यार्थपरिहार उदारता ॥

एकस्य पदार्थस्य बहुभिः पदैरभिधानम्, बहूनां चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणानां साभिप्रायत्वं चेति पञ्चविधमोजः ॥

चुम्बनं देहीत्यादौ प्रतिपाद्योऽर्थो न विदग्धोचितः। अतो ग्राम्यत्वं नामाऽविदग्धार्थोक्तिर्दोषस्तदभाव उदारतेत्यर्थः। अधमभिन्ने वक्तरि ग्राम्यत्वं दोषः, अधमोक्तौ तु ग्राम्यत्वं गुण एवेति बोध्यम्। ग्राम्योक्तिकवलितो हि विभावादिरूपोऽर्थो न रसनिष्पत्तये समर्थः, भ्रष्टं बीजमिवाङ्कुरायेति प्रदीपादौ स्पष्टम्।

सम्प्रति क्रमप्राप्तमोजोगुणं वर्णयति—एकस्येत्यादिना। बहूनामित्यादि। बहूनां पदार्थानामेकेन पदेनाभिधानमित्यर्थः।

ग्राम्य अर्थ का परिहार (करते हुए अग्राम्य—विदग्धोचित अर्थ का प्रतिपादन किया जाय तो) 'उदारता' नामक अर्थगुण कहा जाता।

उत्तम और मध्यम श्रेणियों की प्रकृतियों के लिए वैदग्ध्यरहित अर्थ का प्रतिपादन करना ग्राम्यत्वदोष कहा गया है। किन्तु अधम प्रकृति के लिए तो यह ग्राम्यत्व गुण है, दोष नहीं। अतः उत्तम और मध्यम प्रकृतियों द्वारा प्रतिपादित अर्थ में हीं 'उदारता' सम्भव है।

ग्राम्यत्व दोष का उदाहरण देखिये—

"ओ भार्ये (=प्रिये)? कामरूपी चाण्डाल की तृप्ति के लिए मुझे चुम्बन दे ॥"

इसमें चुम्बन आदि ग्राम्य अर्थ का अभिधान होने से इस वाक्यार्थ में ग्राम्यत्व दोष है। किन्तु यदि यही वाक्य किसी अधम प्रकृति—गँवार जन द्वारा प्रयुक्त हो तो ग्राम्यत्व दोष नहीं होगा। अतः किसी उत्तम या मध्यम श्रेणी के मनुष्य द्वारा ऐसा कहने पर हीं ग्राम्यत्व दोष समझना चाहिए।

ओज पाँच प्रकार का होता है—(१) एक पद द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन सम्भव हो उस अर्थ का पद-समूह द्वारा प्रतिपादन किये जाने पर, (२) पद-समूह द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जा सकता उस अर्थ का किसी एक पारिभाषिक पद द्वारा प्रतिपादन किये जाने पर (३) एक वाक्य के द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन संभव हो उसका अनेक वाक्यों द्वारा प्रतिपादन किये जाने पर, (४) अनेक वाक्यों द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया जाना है उसका एक वाक्य से प्रतिपादन किये जाने पर और (५) विशेषण के साभिप्राय, अर्थात्

यदाहुः—

पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥ इति।

पूर्वार्धप्रतिपाद्यं द्वयं व्याससमासौ चेति चतुष्प्रकारा प्रौढिः, साभिप्रायत्वं चेति पञ्चप्रकारमोज इत्यर्थः। प्रौढिः प्रतिपादनवैचित्र्यम्।

यथा—

सरसिजवनबन्धुश्रीसमारम्भकाले
रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति।

उक्तार्थे वामनवचनं प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति— यदाहुरिति। वाक्यरचनेत्यत्र वाक्यरचनं वाक्यवचनं चेति पाठद्वयं वामनग्रन्थे सम्प्रत्युपलभ्यते। अत्र पद्ये 'साभिप्रायत्वमस्य च' इत्यत्रेदम्पदेन विशेषणस्य ग्रहणमभिप्रेत्य पूर्वं विशेषणस्य साभिप्रायत्वमुक्तम्। वामनेनापि 'आश्रयः कृतधियाम्' इत्यत्र विशेषणस्यैव साभिप्रायत्वं वर्णितम्।

चतुष्प्रकारेति। वामनमते तु प्रौढिरेव पञ्चमोपि प्रकारः प्रतीयते। अत एव 'अर्थस्य प्रौढिरोजः' इत्येव तत्कृतमोजोलक्षणं पञ्चस्वपि प्रकारेष्वनुगतं लभ्यते। साभिप्रायविशेषणप्रयोगे प्रतिपादनवैचित्र्यरूपा प्रौढिः पण्डितराजेन कथं न मन्यते इत्यवगमो दुश्शकः। यद्वा प्रथमेषु चतुर्षु प्रकारेषु विवक्षितार्थस्य पदादिभिः प्रतिपादने कृतेऽपि वैचित्र्यमात्राभावो भवति, न त्वपुष्टार्थता; साभिप्रायविशेषणाभावे त्वपुष्टार्थता भवतीति वैलक्षण्यादत्र वैचित्र्यरूपप्रौढ्यभावमादायास्य तद्वहिर्भाव उक्त इति बोध्यम्।

विवक्षित अर्थ का पोषक, होने पर।

यही विषय वामन ने स्पष्ट किया है—

"पद के अर्थ का वाक्य (=पद समूह) से और वाक्यार्थ का किसी एक हीं पारिभाषिक पद से प्रतिपादन, व्यास, समास ये चार प्रकार की प्रौढ़ियाँ और विशेषण का साभिप्राय होना–ये पाँच प्रकार ओज के होते॥"

इनमें व्यास और समास शब्द क्रमशः 'एक वाक्य के स्थान पर अनेक वाक्यों से और अनेक वाक्यों के स्थान पर एक वाक्य से अर्थ के अभिधान' के वाचक हैं। यहाँ प्रौढ़ि का अर्थ प्रतिपादनगत वैचित्र्य—विदग्धता है। पण्डितराज के कथन के अनुसार ओज के प्रथम चार प्रकार हीं प्रौढ़ि हैं, पञ्चम प्रकार नहीं। जब कि वामन ने 'अर्थस्य प्रौढिरोजः' यह ओज का लक्षण करते हुए पूर्वोद्धृत 'पदार्थे वाक्यरचना' इत्यादि पद्य में पाँचों प्रकारों को प्रौढ़ि के अन्तर्गत हीं रखा है।

परमपुरुषवक्त्रादुद्गतानां नराणां
मधुमधुरगिरां च प्रादुरासीद्विनोदः ॥

अत्रोषसीत्येकपदार्थस्याभिधानाय प्रथमचरण इत्याद्यग्रेऽपि बोध्यम् ।

पदार्थे वाक्यरचनाया उदाहरणम्—सरसिजेत्यादि । कमलवनस्य बन्धोः सूर्यस्य श्रियः समारम्भकाले अथ च रजनिरमणस्य चन्द्रस्य राज्ये आशु शीघ्रं तत्क्षणं वा नाशं प्रयाति सति—इत्यर्थकस्य पूर्वार्धस्य उषसीत्यर्थः, अयं च एकेनैव उषसीति पदेनाभिधातुं योग्योऽपि पूर्वार्धरूपेण वाक्येन प्रतिपादितः । एवमेव परमपुरुषस्य महेश्वरस्य मुखादुद्गतानां नराणामिति वाक्यं ब्राह्मणानामित्येकपदार्थे प्रयुक्तम् । परमपुरुषवक्त्रादुद्गतानामित्यन्वेति मधुमधुरगिरामित्यत्रापि । तथा चास्य पदसमूहस्य वेदानामित्यर्थः पर्यवस्यति । उषसि ब्राह्मणानां वेदानां च विनोदः क्रमेण पाठकर्तृत्वात् पाठकर्मत्वाच्च प्रादुरासीदीति भावः । वाक्यं चात्र पदसमूहमात्रं विवक्षितं न त्वाकांक्षादिमत्पदसमूहो निराकांक्षार्थप्रतिपादक एव । अत एव ग्रन्थकृता 'बहुभिः पदैरभिधानम्' इत्युक्तम् । तथा च पदसमूहमात्रं वा स्यादाकांक्षादिमत्पदसमूहो वेत्यत्र नाग्रहः । यथोदाहरणं व्यवस्था ।

प्रथमचरण इत्यत्र बहुव्रीहिः, तथा च प्रथमो भागः पूर्वार्द्धरूप इत्यर्थः । यद्यपि प्रथमचरणेन द्वितीयेन वा विवक्षितार्थप्रतिपादनं शक्यसम्भवम् तथापि पुनरुक्तिवारणाय बहुव्रीहिः स्वीकृत इति बोध्यम् ।

द्वितीयस्योदाहरणमाह—खण्डितेत्यादि । खण्डिताया अनुपदं वक्ष्यमाण-

---

एक पद से प्रतिपाद्य अर्थ के पद-समूह द्वारा प्रतिपादन का उदाहरण यह है—

"जिस समय कमल-कुल के मित्र (सूर्य) की छटा का उदय हो रहा था और निशानाथ चन्द्रमा के राज्य का शीघ्रता से अन्त हो रहा था (पूर्वार्द्ध का अर्थ) उस समय परमपुरुष भगवान् के मुख से उत्पन्न मानवों में और उसी भगवान् के मुख से आविर्भूत मधुसदृश मधुर वाणी का उल्लास हुआ ॥"

इस पद्य में प्रथम और द्वितीय चरणों के पद समूह से उस उष:काल का प्रतिपादन, वैचित्र्य के साथ, किया गया है जिसका अभिधान एक ही 'उषसि' पद से हो सकता था । इसी प्रकार एक 'ब्राह्मण' पद द्वारा जिस अर्थ का अभिधान किया जा सकता था, उसके लिए सम्पूर्ण तृतीय-चरणरूप पद-समूह का और केवल 'वेद' पद के अभिधेय अर्थ के लिए 'परमपुरुषवक्त्रादुद्गतानां मधुरमधुगिराम्' इस पद-समूह का प्रयोग किया गया है । अतः इसमें प्रथम प्रकार का ओज है ।

एक पद द्वारा वाक्यार्थ के अभिधान का उदाहरण देखिए—

खण्डितानेत्रकञ्जालिमञ्जुरञ्जनपण्डिताः ।
मण्डिताखिलदिक्प्रान्ताश्चण्डांशोर्भान्ति भानवः ॥

अत्र 'यस्याः पराङ्गनागेहात् पतिः प्रातर्गृहेऽञ्चति' इति वाक्यार्थे खण्डितापदाभिधानम् ।

अयाचितः सुखं दत्ते याचितश्च न यच्छति ।
सर्वस्वं चापि हरते विधिरुच्छृङ्खलो नृणाम् ॥

अत्र दैवाधीनं सर्वमित्येकस्मिन्वाक्यार्थे नानावाक्यरचनात्मको व्यास-पदवाच्यो विस्तरः ।

लक्षणाया नायिकाया नेत्रकञ्जालेर्नेत्रकमलश्रेण्या रञ्जुनि रञ्जने पण्डिता निपुणा अथ च मण्डिता अखिला दिग्भागा यैस्तादृशाश्चण्डांशोः सूर्यस्य भानवो भान्तीत्यर्थः ।

वाक्यार्थे = निरुक्तखण्डितालक्षणवाक्यार्थस्थाने खण्डितापदेनार्थाभिधानादोजोऽर्थ-गुणः ।

तृतीयस्योदाहरणम्—अयाचित इति । अत्त 'दत्ते', 'यच्छति' इति क्रिया-द्वयान्वयाय नृणामित्यत्र चतुर्थ्या विपरिणामः कर्त्तव्यः । यद्वा सम्प्रदानत्वाऽविवक्षया सम्बन्धसामान्ये षष्ठ्यैव निर्वाहः, 'कस्याद्य किं दीयताम्' 'किं दीयताम-विकलक्षितिदायिनस्ते' इत्यादिवत् ।

"सूर्य के वे प्रकाश चमक रहे हैं जो 'खण्डिता' नायिका के नेत्र-कमलों के पूर्ण रंजन में निपुण हैं और दिग्-दिगन्तों को मण्डित करने वाले हैं ॥"

इस पद्य में "जिसका पति परकीया नायिका के साथ रात बिता कर प्रातः काल में उसके पास लौट आता (वह नायिका 'खण्डिता' कहलाती)" इस सम्पूर्ण वाक्यार्थ का एक ही 'खण्डिता' पद से अभिधान किया गया है ।

अब तृतीय प्रकार के ओज का; जिसमें एक वाक्य के अर्थ का अनेक वाक्यों द्वारा विच्छित्तिपूर्ण रीति से प्रतिपादन किया जाता है, उदाहरण लीजिए—

"मनुष्यों का भाग्य कितना उच्छृंखल-अव्यवस्थित होता कि वह बिना मांगे सुख देता पर मांगने पर सुख भी न देता और सारा सर्वस्व भी हर लेता है ।"

इस पद्य में तीन वाक्यों द्वारा 'सब कुछ भाग्याधीन है' इस एक वाक्यार्थ का प्रतिपादन किया गया है । यही वामन के शब्द में 'व्यास',' अर्थात् शब्द-विस्तर कहा गया है ।

अब अनेक वाक्यों के अर्थों के एक वाक्य द्वारा प्रतिपादन का उदाहरण प्रस्तुत है—

तपस्यतो मुनेर्वक्त्राद्वेदार्थमधिगत्य सः।
वासुदेवनिविष्टात्मा विवेश परमं पदम् ॥

अत्र मुनिस्तपस्यति, तद्वक्त्रात्स वेदार्थमधिगतवान्, तदनन्तरं वासुदेवे परब्रह्मणि मनः प्रावेशयत्, ततश्च मुक्तोऽभूदिति वाक्यार्थकलापः शतृक्त्वा-बहुव्रीहिभिस्तिङन्तेन चानुवाद्यविधेयभावेनैकवाक्यार्थीकृतः।

साभिप्रायत्वं च प्रकृतार्थपोषकता।

चतुर्थस्योदाहरणम्—तपस्यत इति। मुक्तोऽभूदिति चतुर्थपादार्थ उक्तः। शतृ-प्रत्ययोऽत्र तपस्यत इति पदे, क्त्वाप्रत्ययोऽधिगत्येत्यत्र, तृतीये च पादे बहुव्रीहिश्चतुर्थे विवेशेति तिङन्तम्। सर्वासां क्रियाणां तिङन्तेन कृदन्तेन वा शब्देनाभिधाने वाक्य-चतुष्टयं स्यात्, तत्स्थाने त्रयं क्रमशः शतृप्रत्ययादिना क्रियाप्रतिपादनपूर्वकमुद्देश्य-विशेषणतयोद्देश्यीकृतं तिङन्तप्रतिपाद्यायाः परमपदनिवेशक्रियाया विधेयाया इत्येक-वाक्यत्वं स्पष्टम्, प्रधानीभूतक्रियायास्तिङन्तपदोपस्थाप्याया विशिष्टस्योद्देश्यस्य चैकत्वादित्यभिसन्दधानेनोक्तम्—अनुवाद्येत्यादिना। अनुवाद्यम्=शाब्दमुद्देश्यम्।

पञ्चमं प्रकारं व्याचष्टे—साभिप्रायत्वमिति। प्रकृतार्थस्य पोषकत्वमुपपाद-

---

"तपस्या करते हुए मुनि के मुख से वेदार्थ का परिज्ञान कर के परमात्मा मे अपने मन को समाहित कर उसने परम पद को प्राप्त कर लिया॥"

इस पद्य में चार वाक्यों—'मुनि तपस्या कर रहे हैं (मुनिस्तपस्यति), 'उनके मुख से उसने वेदार्थ का परिज्ञान किया' (तद्वक्त्रात् स वेदार्थमधिगतवान्), 'उसके बाद उसने वासुदेव, अर्थात् परब्रह्म में अपने चित्त को समाहित कर लिया' (तदनन्तरं वासुदेवे स मनः समावेशयत्) और 'उसके पश्चात् वह मुक्त हो गया' (ततश्च स मुक्तोऽभूत्)—के अर्थों का प्रतिपादन एक हीं वाक्य में चारो वाक्यों का समावेश कर किया गया है। प्रथम वाक्य की समापिका क्रिया—'तपस्यति' को शतृप्रत्ययान्त 'तपस्यत' शब्द द्वारा, द्वितीय वाक्य की समापिका क्रिया—'अधिगतवान्' को क्त्वा—ल्यप्—प्रत्ययान्त 'अधिगत्य' पद द्वारा और तृतीय वाक्य की समापिका क्रिया को बहुव्रीहि (वासुदेवे निविष्ट आत्मा=अन्तःकरणं यस्य तथाविधः—तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहि) समास द्वारा प्रथम तीन वाक्यार्थो को उद्देश्य (के विशेषण) और अन्तिम वाक्य के तिङन्तघटित होने से उसके अर्थ को विधेय बनाकर चार वाक्यों के स्थान में एक हीं वाक्य द्वारा अर्थ का प्रतिपादन कर दिया गया है।

विशेषण के साभिप्राय होने का अर्थ उसका विवक्षित अर्थ का परिपोषक होना है। ऐसे हीं विशेषण को 'हेतुगर्भ विशेषण' कहते।

देखिए—

यथा—

गणिकाऽजामिलमुख्यानवता भवता बताहमपि ।
सीदन्भवमरुगर्त्ते करुणामूर्त्ते न सर्वथोपेक्ष्यः ॥

अत्रोपेक्षाभावे करुणामूर्त्तित्वं पोषकम् । पापिष्ठत्वात्करुणाया अभावे प्रकृतेऽस्याः संपादनाय गणिकेत्यादि सीदन्निति च ।

दीप्तरसत्वं कान्तिः ॥

कत्वमित्यर्थः । एतादृशं विशेषणं हेतुगर्भमित्युच्यते ।

गणिकेत्यादि । हे करुणावतार परमेश्वर ? गणिकाऽजामिलौ मुख्यौ येषां तान् अवता रक्षता भवता भव एव मरुगर्त्तस्तस्मिन् सीदन् क्लेशमनुभवन्नहमपि न सर्वथोपेक्ष्य इति कश्चिद् अधमो भक्तो भगवन्तं प्रार्थयते । अथ च पद्ये निर्दिष्टा गणिका पिङ्गलानाम्नी यस्याः कथा श्रीमद्भागवते एकादशस्कन्धस्य नवमेऽध्याये, अजामिलस्य च दासीपुत्रस्य कथा तत्रैव षष्ठस्कन्धस्याद्येषु त्रिष्वध्यायेषु वर्णिता । बतेत्यामन्त्रणे ।

अत्र विशेषणस्य साभिप्रायत्वमुपपादयति—अत्रेत्यादिना । अत्र च करुणामूर्त्ते इति सम्बोधनपदस्य करुणामूर्त्तित्वविशिष्टार्थकत्वेन करुणामूर्त्तित्वस्य (=करुणायाः) विशेषणत्वमुक्तम् । योग्यतावशात्परमेश्वरपदाध्याहारे तु करुणामूर्त्तिरेव विशेषणं परमेश्वरस्य, क्रियाया वेति बोध्यम् ।

कान्तेर्वामनोक्तं लक्षणं प्रस्तौति- दीप्तेत्यादि ।

"ओ करुणावतार परमेश्वर ! तूँने गणिका और अजामिल जैसे अधमों को तारा है; इस लिए संसाररूपी सूखे गड्ढे में तड़पने वाले मुझ अधम की भी किसी तरह उपेक्षा मत कर ॥"

इस पद्य में करुणामूर्त्ति का करुणामूर्त्तित्व अथवा अध्याह्रियमाण परमेश्वर का 'करुणामूर्त्ति' यह विशेषण 'उपेक्षा मत कर' इस अर्थ का परिपोषक है । इसी तरह प्रार्थी के पापिष्ठ होने से आपाततः वह करुणा का पात्र नहीं हो सकता ; किन्तु पापिष्ठ जन भी यदि पीड़ा से तड़प रहा हो और जिससे करुणा की भिक्षा मांगी जा रही हो वह यदि उसकी भिक्षा देने का अभ्यस्त हो तो पापिष्ठ जन में भी करुणापात्रता आ जाती है—इसी अभिप्रेतार्थ के पोषण के लिए गणिका आदि को दृष्टान्त रूप में परमेश्वर के विशेषण का घटक और 'सीदन्' इस पद को प्रार्थी का विशेषण बनाया गया है । अतः इस पद्य में विशेषणों की प्रकृतार्थ-पोषकतारूप साभिप्रायता है ।

दीप्तरसत्व को 'कान्ति' नामक अर्थगुण (वामन ने) कहा है ।

तच्च स्फुटप्रतीयमानरसत्वम्। उदाहरणं च वर्णितमेव रसप्रकरणे, वर्णयिष्यते च।

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः॥

ज्ञानस्य विषयतासंबन्धेनार्थनिष्ठत्वादर्थगुणता।

आद्यो यथा—'तनयमैनाकगवेषण–' इत्यादौ। द्वितीयस्तु प्रायशः

तच्च=दीप्तरसत्वं च। वर्णितमेवेति। 'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा·········' इत्यादौ वर्णयिष्यत इत्यस्य यथासम्भवमलङ्कारादिप्रकरण इति शेषः।

अवर्णितपूर्वेत्यादि। इमावेवार्थौ वामनेन क्रमशः 'अयोनिः', 'अन्यच्छायायोनिः' इति कथितौ। वामनेन पुनरुभावप्यर्थौ व्यक्तसूक्ष्माभ्यां द्विधा, अनयोरपि सूक्ष्मो द्विविधो भाव्यवासनीयभेदाभ्यामित्युक्तम्।

अर्थविषयकालोचनस्य कविनिष्ठत्वेन कथमर्थनिष्ठत्वमित्याशङ्कामपाकरोति—ज्ञानस्येत्यादिना। समवायेन कवौ वर्त्तमानमप्यालोचनं विषयतासम्बन्धेनार्थनिष्ठमेवेत्यस्य ज्ञानमात्रस्य विषयतयाऽर्थनिष्ठत्वादित्यर्थः। एतच्च विषयताया वृत्तिनियामकसम्बन्धत्वस्वीकार एवोपपद्यते।

'तनयमैनाक' इत्यादिगद्यसन्दर्भो मध्यमकाव्योदाहरणतया व्याख्यातः। प्रायश

रस की दीप्तता का अर्थ उसकी स्फुट रूप में अभिव्यक्ति है। इसका उदाहरण रस-निरूपण के सन्दर्भ में दिया जा चुका है। वहाँ 'शयिता सविधेऽप्यनीश्वरा···' आदि पद्य में विप्रलम्भ-शृङ्गार रस की स्फुट अभिव्यक्ति बतलाई गई है। आगे भी ध्वनि-अलङ्कार आदि के निरूपण के अवसर पर इसके अनेक उदाहरण दिये जायेंगे।

काव्य रचना करते समय कवि का यह चिन्तन कि वह जिस अर्थ का अपने काव्य में उपनिबन्ध करने जा रहा है वह पहले किसी कवि द्वारा वर्णित नहीं हुआ है—अपूर्व अर्थ है या वह अर्थ पूर्व कवि द्वारा वर्णित अर्थ का हीं साक्षात् या प्रकारान्तर से अनुकरण है, 'समाधि' नामक अर्थगुण है।

यद्यपि यह 'समाधि'-स्वरूप गुण समवाय-सम्बन्ध से तो कविनिष्ठ हीं है तथापि विषयता-सम्बन्ध से अर्थनिष्ठ होने के कारण अर्थगुण माना गया है, क्योंकि ज्ञान-मात्र विषयता-सम्बन्ध से अर्थनिष्ठ होता।

अपूर्व अर्थ के उपनिबन्ध का एक उदाहरण वही है जो मध्यम काव्य का उदाहरण पहले 'तनयमैनाकगवेषण···' इत्यादि यमुना-वर्णनात्मक गद्य दिया जा चुका है। पूर्ववर्णित अर्थ का अनुकरणात्मक उपनिबन्ध तो प्रायः, कुछ काव्यों को छोड़

सर्वत्रैवेत्याहुः ॥

अपरे त्वेषु गुणेषु ,कतिपयान्प्रागुक्तैस्त्रिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणदोषाभावालंकारैश्च गतार्थयन्तः, कांश्चिद्वैचित्र्यमात्ररूपतया क्वचिद्दोषतया च मन्यमाना न तावतः स्वीकुर्वन्ति। तथा हि—श्लेषोदारताप्रसादसमाधीनामोजोव्यञ्जकघटनायामन्तर्भावः। न च श्लेषोदारतयोः सर्वांशे गाढबन्धात्मनोरोजोव्यञ्जकघटनान्तर्भावोऽस्तु नाम, प्रसादसमाध्योस्तु गाढशिथिलात्मनोरंशेनौजोव्यञ्जकान्तर्भावेऽप्यंशान्तरेण कुत्रान्त-

---

इति। अवर्णितपूर्वस्यार्थस्य क्वचिदेव केनचिदेवोपनिबन्धनाभिप्रायेणोक्तमिदम्। 'इत्याहुः' इत्यस्य दशशब्दगुणप्रस्तावे निर्दिष्टेन 'जरत्तरास्तु' इत्यनेनान्वयः॥

एतावता प्रबन्धेन सपरिकरं दशशब्दगुणान् दशैव चार्थगुणान् वामनादिसम्मतान्निरूप्य सम्प्रति गुणत्रयवादिमते यथैषां त्रिषु गुणेषु तदतिरिक्तेषु वा गुणालङ्कारादिषु यथायथमन्तर्भावो मम्मटाद्यभिमतस्तन्निरूपयति—अपरे त्वित्यारभ्य मम्मटभट्टादय इत्यन्तेन ग्रन्थेन। वक्ष्यमाणत्वं दोषस्य तदभावस्य वा स्वमते, न मम्मटादिमते, तत्र गुणेभ्यः पूर्वमेव दोषाणां वर्णनात्। अलङ्कारैश्चेत्यत्र चकार उपलक्षणं रसध्वने रसवदलङ्कारस्य चेति बोध्यम्। क्वचिद् दोषतयेति। विवक्षितार्थप्रतिकूलत्वे सतीत्यर्थः। अन्तर्भावमेवोपपादयति—तथा हीत्यादिना। क्रमप्राप्तं शब्दगुणानामन्तर्भावप्रकारमाह—श्लेषेत्यादिना। अंशेन = गाढात्मना। अंशान्तरेण = शिथिलात्मना। अंशान्तरस्येत्यादेर्माधुर्याभिव्यञ्जकेत्यादिर्वाक्यस्य। परेषाम् = वामनादीनाम्। अस्माकम् = मम्मटादीनाम्। वामनादिभिः शब्दे माधुर्यं स्वीकृतम्, मम्मटादिभिः पुना रसे। तथा च वामनाद्यभिमतं शब्दनिष्ठं माधुर्यं मम्मटादिमते रसनिष्ठमाधुर्यस्याभिव्यञ्जकमिति व्यङ्ग्यरसधर्मवाचकस्य माधुर्यादिशब्दस्य तद्-

---

कर, सर्वत्र देखा जा सकता है।

इस प्रकार वामनादि-सम्मत दश अर्थगुणों का निरूपण किया गया॥

गुणत्रयवादी आचार्य तो पूर्वोक्त वामनादिसम्मत २० गुण नहीं मानते। इन बीस गुणों में से कुछ को तो ये पूर्ववर्णित—माधुर्य, ओजस् और प्रसाद इन तीन हीं गुणों में, कुछ को दोषाभाव में, कुछ को अलङ्कार आदि में गतार्थ कर देते; शेष में से कुछ को दोष हीं मानते। जैसे—शब्दगुणान्तर्गत श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि का ओजोगुण के व्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव हो जाता है। इनमें भी श्लेष तथा उदारता का तो ओजोव्यञ्जक रचना में अन्तर्भाव सुस्पष्ट है, क्योंकि इन दोनों में बन्ध—रचना की गाढ़ता पूर्णरूपेण होती हीं है। परन्तु प्रसाद में प्रारम्भ में और समाधि में अन्त में विभिन्नता होने से इन दोनों के प्रौढांश का ओजोव्यञ्जक

र्भाव इति वाच्यम्। माधुर्याभिव्यञ्जके प्रसादाभिव्यञ्जके वेति सुवच-त्वात्। माधुर्यं तु परेषामस्मदभ्युपगतमाधुर्यव्यञ्जकमेव। एवं च सर्वत्र व्यञ्जके व्यङ्ग्यशब्दप्रयोगो भाक्तः। समता तु सर्वत्रानुचितैव, प्रति-पाद्योद्भटत्वानुद्भटत्वाभ्यामेकस्मिन्नेव पद्ये मार्गभेदस्येष्टत्वात्।

व्यञ्जकशब्दधर्मे प्रयोगो भाक्तः। एवमेव व्यङ्ग्यरसप्रतिपादकस्य मधुरादिशब्दस्यापि तद्व्यञ्जकरचनाविशेषप्रतिपादनाय प्रयोगोऽपि भाक्त एवेत्याह—एवमित्यारभ्य भाक्त इत्यन्तेन ग्रन्थेन। समता = उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदरूपा। प्रतिपाद्यः = अर्थः। इष्टत्वादिति। अत्र कश्चिद् विशेषः साहित्यदर्पणादिभ्योऽवसेयः। इदं तु चिन्त्यम्—यत्रोपक्रमादुपसंहारपर्यन्तमनुद्धतस्यैवार्थस्य प्रतिपादनमिष्टं तत्र समता कथमनुचितेति। यथा चैकस्मिन्नेव पद्ये प्रतिपाद्योद्भटत्वानुद्भटत्वाभ्यां गुणत्रय-वादिनामपि नानागुणयोगित्वमभिमतं तथैव प्रकृतोदाहरणेऽपि कथं न सम्भवतीति। उपधेयसङ्करस्तु उपाधीनामसाङ्कर्याद् वामनादिमते न दुष्यति। रससंकरोदाहरणेषु च गुणत्रयवादिनां गत्यन्तराभावोऽपीति।

रचना में और शिथिलांश का माधुर्याभिव्यञ्जक रचना में अथवा प्रसादाभिव्यञ्जक रचना में यथासम्भव अन्तर्भाव हो जाता है। यह स्मरणीय है कि वामनादिसम्मत माधुर्य गुण गुणत्रयवाद्यभिमत माधुर्य गुण नहीं, अपितु इसका व्यञ्जक है (और माधुर्य गुण इससे व्यङ्ग्य है)। इसी प्रकार वामनादिसम्मत ओज आदि गुण भी गुणत्रयवादिसम्मत ओज आदि गुणों के अभिव्यञ्जक हैं। अतः स्पष्ट है कि व्यङ्ग्-भूत गुणविशेषवाचक माधुर्य आदि शब्दों का माधुर्यादि के व्यञ्जक रचना-विशेषों के लिए जो वामनादि द्वारा प्रयोग किया गया है वह (=व्यङ्ग्यार्थ-वाचक माधुर्यादि शब्दों का व्यञ्जकीभूत रचना के अर्थ में प्रयोग) औपचारिक है।

जहाँ तक समता-नामक प्राचीन-सम्मत शब्दगुण का प्रश्न है वह तो सर्वत्र—सम्पूर्ण काव्य में नितान्त अनुचित है (अतः इस रूप में यह दोष है, गुण नहीं), क्योंकि एक ही काव्य में प्रतिपाद्य अर्थ की उत्कटता और उसकी अनुत्कटता के आधार पर क्रमशः समता और विषमता होनी चाहिये, न कि सम्पूर्ण में समता ही। उदाहरणार्थ 'निर्माणे यदि ...' पद्य में अर्थ की उत्कटता—प्रौढ़ता के कारण प्रथम तीन चरणों में गाढ़ता और चतुर्थ चरण में अर्थ की अनुत्कटता—शिथिलता के कारण रीति में जो विषमता—शिथिलता है वही गुण है। यदि यहाँ चतुर्थ चरण में भी प्रथम तीन चरणों की तरह गाढ़ता या प्रथम तीन चरणों में ही चतुर्थ चरण की तरह शिथिलता होती तो दोष ही होता।

थथा—

निर्माणे यदि मार्मिकोऽसि नितरामत्यन्तपाकद्रव-
न्मृद्वीकामधुमाधुरीमदपरीहारोद्धुराणां गिराम्।
काव्यं तर्हि सखे सुखेन कथय त्व समुखे मादृशां
नो चेद्दुष्कृतमात्मना कृतमिव स्वान्ताद्बहिर्मा कृथाः॥

अत्र पूर्वार्धे तृतीयचरणे च लोकोत्तरनिर्माणप्रतिपादके यो मार्गो न स चतुर्थचरणे कदर्यकाव्यप्रतिपादक इति वैषम्यमेव गुणः। ग्राम्यत्वकष्टत्वयोस्त्यागात्कान्तिसौकुमार्ययोर्गतार्थता, प्रसादेन चार्थव्यक्तेरिति॥

अर्थगुणेष्वपि—श्लेषः, ओजस आद्याश्चत्वारो भेदाश्च वैचित्र्यमात्र-

---

निर्माण इत्यादि। हे सखे! यदि त्वम् अत्यन्तेन परिपाकेन निमित्तेन द्रवन्त्याः प्रक्षरन्त्या मृद्वीकाया द्राक्षाया मधुनो मृष्टस्य रसस्य माधुर्यमदापहारे नितरामतिशयेनोद्धुराणां मृद्वीकारसमाधुर्यतिरस्कारकारिणीनां गिरां निर्माणे संग्रथने मार्मिकोऽसि तर्हि मादृशां सहृदयानां संमुखे सुखेन स्वं काव्यं कथय। अन्यथा आत्मना कृतं दुष्कृतमिव स्वं सहृदयहृदयोद्वेजकं नीरसं काव्याभासं स्वान्ते मनस्येव स्थापय, न त्वस्मत्समक्षं तद्बहिष्कुरु—इति पद्यार्थः।

अत्रार्थानुसारेणादितस्तृतीयं चरणं यावदुद्धतश्चतुर्थे पुनरनुद्धतो मार्ग इत्याह—अत्रेत्यादिना। इदानीं दोषाऽभावेऽन्तर्भावमाह—ग्राम्यत्वेत्यादिना। ग्राम्यत्वाभावः कान्तिः, कष्टत्वस्य परुषवर्णघटितत्वस्याभावः सौकुमार्यम् इत्यन्वयः। अर्थव्यक्तेरित्यस्य गतार्थतेत्यनेन पूर्ववाक्यस्थेनाभिसम्बन्धः। इतिशब्देन शब्दगुणान्तर्भावप्रकारोपसंहारः सूच्यते॥

क्रमप्राप्तमर्थगुणान्तर्भावप्रकारमाह—अर्थगुणेष्वपीत्यादिना। वैचित्र्यमात्रमित्यत्र वैचित्र्यं कवेर्भङ्गिविशेषः। अन्यथा = वैचित्र्यमात्रस्य गुणत्वेऽभिमते।

उदाहृत पद्य का अर्थ निम्नलिखित है—

"अरे मित्र! पूरी तरह पक जाने से रस टपकाने वाले अङ्गूर के मधु-सदृश माधुर्य के मद को भी ध्वस्त करने में समर्थ वाणी के विन्यास में यदि तू निपुण है तब तो मेरे सामने अपना काव्य पढ़, नहीं तो—यदि तेरे काव्य में प्रचुर माधुर्य नहीं है तो—अपने काव्य को अपने किये गये कुकर्म की तरह भीतर ही छिपा कर रख, उसे बाहर मत कर॥" इसी प्रकार, ग्राम्यत्व-दोष का अभाव कान्ति-नामक प्राचीनाभिमत गुण है, जब कि कष्टत्व-दोष का अभाव सौकुमार्य है। अर्थव्यक्ति तो प्रसाद में हीं समाविष्ट है॥

प्राचीनाभिमत अर्थगुणों में भी श्लेष और ओज के प्रथमोक्त चार प्रकार तो

रूपा न गुणान्तर्भावमर्हन्ति, अन्यथा प्रतिश्लोकमर्थवैचित्र्यवैलक्षण्याद्गुण-भेदापत्तेः। अनधिकपदत्वात्मा प्रसादः, उक्तिवैचित्र्यवपुर्माधुर्यम्, अपारुष्य-शरीरं सौकुमार्यम्, अग्राम्यरूपोदारता, वैषम्याभावलक्षणा समता. साभि-प्रायत्वात्मकः पञ्चम ओजसः प्रकारः, स्वभावस्फुटत्वात्मिकाऽर्थव्यक्तिः, स्फुटरसत्वरूपा कान्तिश्च, अधिकपदत्वानवीकृतत्वामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्य-भग्नप्रक्रमापुष्टार्थरूपाणां दोषाणां निराकरणेन स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य रसध्वनिरसवदलंकारयोश्च स्वीकरणेन च गतार्थानि। समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारणं न तु गुणः, प्रतिभाया अपि काव्यगुणत्वापत्तेः। अतस्त्रय एव

गुणभेदः=गुणानन्त्यम्। 'तदभावेऽपि काव्यव्यवहारप्रवृत्तेः' इति प्रकाशोक्तो हेतु-रहेतुः, परैरेषां काव्यमात्रगुणत्वाऽस्वीकारात्। अन्यथा गुणत्रयवादेऽपि प्रत्येकस्य काव्यमात्रगतत्वाभावाद् अगुणत्वप्रसङ्गादिति पण्डितराजाशयः। अनधिकेत्यारभ्य पञ्चम ओजसः प्रकार इत्यन्ते ग्रन्थे वर्णितानां वामनाद्यभिमतानां प्रसादादीनां गुणानां क्रमशोऽन्तर्भाव उच्यतेऽधिकपदत्वादिदोषाणामभावेषु—अधिकपदत्व . . . . निराकरणेनेति। अर्थव्यक्तेः स्वभावोक्त्यलङ्कारे, कान्तेश्च यथासम्भवं रसध्वनौ रसवदलङ्कारे चान्तर्भाव उच्यते—स्वभावोक्तीत्यादिना। अत्र विशेषः काव्य-प्रकाशतट्टीकादिभ्योऽवसेयः। कारणमिति। ग्रथनीयार्थस्य कविकर्तृकालोचनाभावे

उक्तिवैचित्र्य मात्र है, इनको गुण कहना अनुचित है। अन्यथा—यदि उक्तिवैचित्र्य को भी गुण माना जाय तो प्रत्येक श्लोक में भिन्न-भिन्न प्रकार के उक्तिवैचित्र्य को एक-एक गुण कहना होगा। ऐसी स्थिति में दश हीं नहीं, अपितु अनन्त गुण हो जायेंगे। प्रतिपाद्य अर्थ से (कम या) अधिक शब्दों के प्रयोग का अभाव, जिसे प्राचीनों ने प्रसाद-नामक अर्थगुण कहा है, (न्यून-पदत्व दोष अथवा) अधिक-पदत्व-दोष का अभाव हीं है, कोई भावात्मक गुण नहीं। उक्तिवैचित्र्य, अर्थात् एक हीं अर्थ का भङ्गिभेद से पुनः कथन उनके मत में माधुर्य-नामक अर्थगुण है; यह वस्तुतः अनवीकृतत्व-दोष का अभाव है। जिस अपारुष्य को उन्होंने सौकुमार्य-नामक अर्थगुण कहा है वह भी अश्लीलता-दोष के घटक अमङ्गल का अभाव हीं है। उदारता-नामक उनका अर्थगुण तो ग्राम्यत्व-दोष का अभाव-मात्र है—यह उन्हीं के लक्षण से स्पष्ट है। उनकी वैषम्याभावस्वरूप समता भी भग्नप्रक्रमता-दोष के अभाव से अतिरिक्त कोई भावात्मक गुण नहीं। विशेषण की साभिप्रायता को उन्होंने ओज का पञ्चम प्रकार कहा है, किन्तु यह भी वस्तुतः अपुष्टार्थत्व-दोष का अभाव-मात्र है। स्वभाव-स्फुटता (-सम्पादक वर्णन) जो उनके मत में अर्थव्यक्ति-नामक अर्थगुण है, गुणत्रयवादियों के स्वभावोक्त्यलङ्कार का हीं नामान्तर है। स्फुटरसत्व को कान्ति-नामक अर्थगुण माना है, परन्तु यह तो रस की प्रधानता होने पर रस-

गुणा इति मम्मटभट्टादयः ॥

तत्र टवर्गवर्जितानां वर्गाणां प्रथमतृतीयैः शभिरन्तस्थैश्च घटिता, नैकट्येन प्रयुक्तैरनुस्वारपरसवर्णैः शुद्धानुनासिकैश्च शोभिता, वक्ष्यमाणैः सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धैः सयोगाद्यैरचुम्बिता, अवृत्तिर्मृदुवृत्तिर्वा

सत्काव्यरचनाऽसम्भवात्, अर्थालोचनरूपस्य समाधेः मुख्यतया (=समवायेन) कविनिष्ठतया विषयतायाश्च वृत्त्यनियामकतया तस्य समाधेः काव्यनिष्ठत्वानुपपत्तेश्चेति तात्पर्यम्। काव्यकारणस्य काव्यगुणत्वाङ्गीकारे त्वनिष्टापत्तिमाह—**प्रतिभाया अपि** इत्यादि। एतावता प्रबन्धेन मम्मटादिसम्मतं मतं निरूपितम् ॥

इदानीं माधुर्यव्यञ्जिकां रचनां विशेषेण निरूपयति—**तत्रे**त्यादिना। गुणत्रयमध्य इत्यर्थः। शभिः=शषसकारैः। अन्तःस्थैः=यवरलैः। नैकट्येन=अव्यवधानेनेषद्व्यवधानेन वा। येन व्यवधानमेषामपरिहार्यन्तेन व्यवधानमपि पुनरव्यवधानमेव मन्तव्यम्। **शुद्धानुनासिकैरिति**। अनुनासिकेषु शुद्धत्वं परसवर्णाद्यनिष्पन्नत्वम्। तथा च ञमङणनकारैरित्यर्थः। अत्र च टवर्गवर्जितानां वर्गाणामित्यस्य पूर्वोक्तस्य सम्बन्धो न विवक्षितः। अतो णकारस्यापि संग्रहः। अत एव टवर्गे वर्जनीया आदितश्चत्वार एवेत्यपि बोध्यम्। **अवृत्तिरिति**। वृत्तिः समासोऽत्र विवक्षितः। अभावार्थकश्च नञिति समासात्यन्ताभावे माधुर्यव्यञ्जकरचनायां स्वीकृते तादृशव्यञ्जकत्वस्य निर्विषयत्वं विरलविषयत्वं वापततीतिहेतोर्मृदुवृत्तिरित्यप्युक्तम्। मृदुशब्दश्चाल्पार्थकः प्रसिद्धः। तथा चाल्पवृत्तिरिति पर्यवस्यति। तथैवोक्तं विश्वनाथेनापि। एवं हि वैदर्भरीतौ सम्भवति। मम्मटेन तु मध्यमवृत्तिर्वेत्युक्तवता पाञ्चाल्यपि संगृहीता। तत्र च द्वित्रिचतुष्पदान्तः समासो गृह्यत इति तद्व्याख्यातारः। परमत्र स्वेदाम्बित्यादिदीर्घसमासमुदाहरतो ग्रन्थकृतः कीदृशं मृदुत्वं वृत्तौ विवक्षितमिति विभावनीयम्। अपरुषवर्णतत्समूहात्मकपदानि मृदूनीत्यर्थो वा।

ध्वनि में और अप्रधानता होने पर रसवदलङ्कार में समाविष्ट है। अतः इनके नौ गुणों का यथासम्भव उक्तिवैचित्र्यादि में अन्तर्भाव हो जाने से उन्हें स्वतन्त्र अर्थगुण मानने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब उनका एक समाधि-नामक अर्थगुण अवशिष्ट है जो वस्तुतः गुण नहीं अपितु काव्य का कविनिष्ठ एक कारण है। यदि कविनिष्ठ काव्य-कारणों को भी गुण कहा जाय तो प्रतिभा आदि काव्य-कारणो का भी गुण कहना पड़ेगा। यह तो उन्हें भी इष्ट नहीं है। अतः माधुर्य, ओज और प्रसाद ये हीं तीन गुण हैं—ऐसा मम्मट आदि आचार्यों का मत है ॥

उक्त तीन गुणों में माधुर्य-गुण का व्यञ्जक रचना—वर्णानुपूर्वी वह है जिसमें टवर्ग से भिन्न चार व्यञ्जन-वर्गों के प्रथम और द्वितीय व्यञ्जन, शर्-प्रत्याहारान्त-

रचनानुपूर्व्यात्मिका माधुर्यस्य व्यञ्जिका। द्वितीयचतुर्थास्तु वर्ग्या गुणस्यास्य नानुकूलाः, नापि प्रतिकूलाः, दूरतया सन्निवेशिताश्चेत्। नैकट्येन तु प्रतिकूला अपि भवन्ति, यदि तदायत्तोऽनुप्रासः। अन्ये तु वर्गस्थानां पञ्चानामप्यविशेषेण माधुर्यव्यञ्जकतामाहुः॥

उदाहरणम्—

तान्तमालतरुकान्तिलङ्घिनीङ्किङ्करीकृतनवाम्बुदत्विषम्।
स्वान्त मे कलय शान्तये चिरं नैचिकीनयनचुम्बितां श्रियम्॥

व्यञ्जिका इति। तथा च प्रोक्तानां वर्णानाम् अवृत्तेर्मृदुवृत्तेर्वा वर्णपदपौर्वापर्यरूपाया आनुपूर्व्या रचना-घटनादिशब्दाभिधेयायाश्च समुदितरूपेण माधुर्यव्यञ्जकत्वम् इति पर्यवसितोऽर्थः। व्यञ्जकत्वं चात्र ग्रन्थकृन्मते प्रयोजकत्वरूपं तद्विषयव्यंजकत्वं वा ग्राह्यम्। वर्ग्या इति। टवर्गभिन्नवर्गस्था इत्यर्थः। अनुप्रास इति। एतेन नैकट्येनासकृद् द्वितीयानामेकवर्ग्याणां चतुर्थानां वा प्रयोगे प्रतिकूलत्वं सूचयता द्वितीयचतुर्थयोर्नैकट्येन सकृत् प्रयोगेऽपि प्रतिकूलत्वाभावः सूचितः। प्रकाशकारादीनां मतमाह—अन्ये त्विति। वर्गस्थानामित्यत्र णकारातिरिक्तटवर्गवर्जितानामित्यादिरनुसन्धेयः। अविशेषेणेति। दूरतया नैकट्येन वा प्रयुक्तानां सर्वेषामित्यर्थः। आहुरित्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीजन्तु नैकट्येन प्रयुक्तानां वर्गस्थद्वितीयानां चतुर्थानां चानुप्रासस्य सहृदयोद्वेजकत्वेन कटुत्वे प्रसिद्धेऽप्यस्मिन् पक्षे माधुर्यव्यञ्जकत्वापत्तिरेव।

तान्तमालेत्यादि। मे स्वान्त? तमालतरोः कान्तेर्लङ्घिनीं तिरस्कारिणीम्,

---

र्गत व्यञ्जन (श, ष, स,) अन्तःस्थ (य, र, ल, व) हों; जो निकटता से अनुस्वारों और परसवर्णों एवम् शुद्ध-अनुनासिक (ङ, ञ, ण, न, म) से शोभित हों; आगे जिन संयोग आदि का सामान्य या विशेष रूप में निषेध किया जाने वाला है उनसे रहित हो और समास-शून्य अथवा लघु-समास से युक्त हो। उक्त चार व्यञ्जन-वर्गों में द्वितीय और चतुर्थ व्यञ्जन यदि दूर-दूर में प्रयुक्त हुए हों तो माधुर्य-गुण के न अनुकूल होते और न प्रतिकूल हीं, किन्तु यदि इनका समीप में हीं प्रयोग किया गया हो जिससे अनुप्रास हो गया हो तो इन्हें माधुर्य-गुण के प्रतिकूल समझना चाहिए। कुछ आचार्य तो उक्त चार व्यञ्जन-वर्गों के पाँचो व्यञ्जनों को और णकार को समान रूप में माधुर्य-व्यञ्जक मानते।

इसका एक उदाहरण है—'तान्तमालतरु ....' आदि पद्य।

पद्यार्थ इस प्रकार है—"रे मन! तू शाश्वत शान्ति के लिए उस (भगवान् श्री कृष्ण की) छटा का ध्यान कर जो तमाल-वृक्ष की छटा को भी अपमानित कर चुकी

यथा वा—

स्वेदाम्बुसान्द्रकणशालिकपोलपालि-
रन्तःस्मितालसविलोकनवन्दनीया ।
आनन्दमङ्कुरयति स्मरणेन कापि
रम्या दशा मनसि मे मदिरेक्षणायाः ।।

प्रथमे पद्येऽतिशयोक्त्यलंकृतस्य भगवद्ध्यानौत्सुक्यस्य भगवद्विषयकरतेर्वा ध्वन्यमानायाः शान्त एव पर्यवसानात्तद्गतमाधुर्यस्याभिव्यञ्जिका

किङ्करीकृता दासीकृता नवाम्बुदत्विड् यया तादृशीमथ च नैचिकीनामुत्तमानां गवां नयनैश्चुम्बितां तां विलक्षणां श्रीकृष्णश्रियं चिरं शान्तये शाश्वताय विश्रमाय कलय समाश्रयेत्यर्थः । अत्र सम्बोधनप्रथमान्तस्य स्वान्तपदस्यामन्त्रितत्वेन 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' इत्यनुशासनेनाविद्यमानवद्भावादस्मत्पदस्य पदात्परत्वाभावेन 'मे' इत्यादेशश्चिन्त्य इति चन्द्रिकायाम् ।

स्वेदाम्बुसान्द्रेत्यादि । पूर्वोद्धृतेऽस्मिन् पद्ये द्वितीयपादे कुण्डलशब्दे 'ण्ड' इत्यस्य प्रतिकूलतया किञ्चित् परिवर्तितमत्र । अत्र च पालिरित्यन्तमेकं विशेषणं दशायाः ,अन्यच्च वन्दनीयेत्यन्तम् । अन्तःस्मितकाले कपालयोरुत्फुल्लतया नेत्रसंकोचादलसत्वं विलोकनस्य लभ्यते ।

अतिशयोक्तीति । श्रीकृष्णश्रियो वस्तुतस्तमालतरुकान्तिलङ्कत्वाद्यसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धवर्णनाद् बोध्याऽत्रातिशयोक्तिः । तद्गतेति । तत्प्रयोज्येत्यर्थः ।

है, नवीन धन की छवि भी जिसकी दासी बन चुकी है और दुधारू गायों की अनुरक्त आँखें जिसे चूमती रहती हैं ।।''

इसका दूसरा उदाहरण है—'स्वेदाम्बुसान्द्र ···' आदि पद्य । इसका अर्थ निम्नलिखित है—

''मदमाती आँखों वाली कामिनी की वह अलौकिक रमणीय दशा, जिसमें उसके गालों पर पसीने की घनी बून्दें छलक आई थीं और जो (दशा) मुस्कुराहट और अलसाई आँखों के कारण प्रशंसनीय रही, स्मरणमात्र से मेरे मन में आनन्द उत्पन्न कर रही है ।।''

प्रथम उदाहरण-पद्य में शान्तरसगत माधुर्य का व्यञ्जक वर्णविन्यास है, क्योंकि उस पद्य में चाहे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में भगवान् कृष्ण के ध्यान की उत्सुकता ध्वनित होती हो या उनमें रति (=भक्ति), दोनों का पर्यवसान तो अन्ततः शान्त-रस में हीं है । किन्तु द्वितीय उदाहरण में स्मरण से परिपुष्ट शृङ्गार-रस के माधुर्य

रचनेयम्। द्वितीये तु स्मृत्युपष्टब्धश्शृङ्गारगतस्य ॥

नैकटयेन द्वितीयचतुर्थवर्गवर्ण-टवर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयविसर्गसकार-बहुलैर्वर्णैर्घटितो झयरेफान्यतरघटितसंयोगपरह्रस्वैश्च नैकटयेन प्रयुक्तैरालिङ्गितो दीर्घवृत्त्यात्मा गुम्फ ओजसः। अस्मिन्पतिताः प्रथमतृतीयवर्ग्याः गुणस्यास्य नानुकूला नापि प्रतिकूलाः संयोगाघटकाश्चेत्। तद्घटकास्त्वनुकूला एव। एवमनुस्वारपरसवर्णा अपि। यथा—'अयं पततु

तद्विषयेति वा विवक्षितम्। एवमग्रेऽपि। स्मृत्युपष्टब्धेति। मदिरेक्षणादशाविशेषस्मृतिपरिपोषितेत्यर्थः ॥

ओजोव्यञ्जिकां रचनां निरूपयति—नैकटयेनेत्यादिना। अव्यवधानमीषद्व्यवधानं च नैकटयम्, वैविक्षकं वा। द्वितीयेत्यादि। द्वितीयाश्चतुर्थाश्च वर्गघटका ये वर्णाः—ख्, घ, छ्, झ्, थ्, ध्, फ्, भ् इत्येते तैरित्यर्थः। वर्गा अत्र टवर्गभिन्ना विवक्षिताः, टवर्गस्य पृथगुपादानात्। बहुलैरिति। एतेन क्वचित् क्वचिदन्येषामपि व्यञ्जनानां सत्त्वं न हानिकरमिति स्वयमेव वक्ष्यति। झयिति। 'झभञ्, घढधष्, जबगडदश्, खफछठथचटतब्, कपय्' इति माहेश्वरसूत्रस्थानि व्यञ्जनानि अनुबन्धातिरिक्तानि झय्-प्रत्याहारेण गृह्यन्ते। तथा च झय्-रेफान्यतरघटिता ये संयोगास्ते परा येभ्यो ह्रस्वेभ्यस्तैरित्यर्थः। दीर्घवृत्त्यात्मेति पदपञ्चकादिघटितः समास उक्तः। अयमपि प्रकृतगुणव्यञ्जकवर्णघटित एवौजोव्यञ्जको बोध्यः। बहुलैरिति सूचितं विशदयति—अस्मिन् इत्यादिना। गुम्फे रचनायामित्यर्थः। पतिता इत्यनेनापि प्रथमतृतीयानां टवर्गातिरिक्तवर्गचतुष्टयस्थानां व्यञ्जनानां क्वचित्प्रयोगे क्षत्यभाव एवावेद्यते। अत एवैषां नैकटयाभावान्न माधुर्यव्यञ्जकत्वमिति नौजःप्रतिकूलत्वम्। एवम्=ओजोव्यञ्जकगुम्फपतितास्तत्र क्वचित्प्रयुक्ताः प्रथमतृतीयवर्ग्या इव। अत एव चैते दूरवर्तिन इत्येतेषां माधुर्यव्यञ्जकत्वमादाय न क्षतिः। अत्र 'अनुस्वारपरसवर्णा अपि संयोगा-

का व्यंजक वर्णविन्यास (रचना) है ॥

अब ओजोगुण-व्यंजक रचना का निरूपण किया जा रहा है—टवर्ग भिन्न चार व्यंजन वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ व्यंजनों, टवर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग और सकार की जिसमें अधिकता हो, जिसमें झय् (=झ, भ, घ, ढ़, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प) अथवा रेफ से घटित संयोग से पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वरों का निकटता से प्रयोग किया गया हो और जो लम्बे-लम्बे समस्त पदों से घटित हो वह रचना ओजोगुण-व्यजक होती। इस प्रकार की रचना में टवर्गातिरिक्त वर्गों के प्रथम और तृतीय व्यंजन, यदि संयोग के घटक न हों तो न अनुकूल होते और न प्रतिकूल हीं। किन्तु यदि ये व्यंजन संयोग के घटक (=संयुक्त) हों तब तो ओजोगुण के अनुकूल हीं होते। इसी प्रकार, अनुस्वार और

निर्दयं दलितदृप्त'–इत्यादौ प्रागुदाहृते ॥

श्रुतमात्रा वाक्यार्थं करतलबदरमिव निवेदयन्ती घटना प्रसादस्य। अयं च सर्वसाधारणो गुणः। उदाहरणान्यत्र प्रायशो मदीयानि सर्वाण्येव पद्यानि।

तथापि यथा—

चिन्तामीलितमानसो मनसिजः सख्यो विहीनप्रभाः
प्राणेशः प्रणयाकुलः पुनरसावास्तां समस्ता कथा।

घटका उदासीनाः, संयोगघटकास्त्वनुकूला एव भवन्तीत्यर्थः' इति चन्द्रिकोक्ति-रयुक्ता, अनुस्वारस्य स्वरधर्मत्वेन संयोगघटकत्वाऽसम्भवात्। शर्षं पाठेऽपि स्वरेण सह तस्य संयोगाऽसम्भवस्तथैव। परसवर्णस्य तु संयोगाऽघटकत्वमसम्भवमेवेति सुव्यक्तमेव। प्रागुदाहृत इत्यस्य रौद्ररसप्रस्ताव इति शेषः ॥

करतलेति। करतलस्थमित्यर्थः। एतदपि सहृदयानां कृते। प्रायश इति केषुचिदिहोदाहृतेषु पद्येषु पद्यांशेषु वा प्रसादाभावं सूचयति। अत्र प्रसङ्गात्तदुदाहरण-जिज्ञासायान्त्वाह—तथापीत्यादि।

चिन्तेत्यादि। अतिमानवतीं कामिनीम्प्रति क्रुद्धायाः कस्याश्चन सख्या उक्ति-रियम्। मुग्धे सखि! तवानेनातिमानेन मनसिजो वैफल्यभयात् चिन्तया मीलितं सङ्कुचितं मानसं यस्य तादृशो जातः, तव सख्यश्च हृतप्रभा जाताः, तव प्राणेशः प्रणयाय व्याकुलः, एवं त्वदीयपरिजनान्तरव्याकुलत्वविषयिणी समस्ता कथा सम्प्रति कालातिक्रमशङ्कयाऽनवसरेणाऽसम्भवेन च न वक्तव्येति सा तावदास्ताम्। अधुना तु यथावसरमेतावदेव त्वां विनिवेदयामि यद् यदि त्वं ममोक्तिं हितां स्वकल्याणकरीं मन्यसे तर्हि मानं मा कुरु, अन्यथा प्रियतमाह्लादाऽजनकं रोषकलुषित-

---

परसवर्ण भी (यदि निकट-प्रयुक्त न हों तो) इस गुण के अनुकूल या प्रतिकूल नहीं होते। इसका उदाहरण रौद्र रस के उदाहरण-रूप में पूर्व-निर्दिष्ट 'अयं पततु निर्दयं ....' इत्यादि पद्यार्ध है ॥

जो रचना सुनते हीं वाक्यार्थ का किसी आयास के बिना प्रतिपादन करने वाली हो वह प्रसाद-गुण का अभिव्यञ्जक होती। यह प्रसाद गुण सभी रसों में समान रूप से उपलब्ध हो सकता है। यद्यपि इसके उदाहरण तो मेरे द्वारा रचित प्रायः सब के सब पद्य हैं तथापि प्रसङ्गवश 'चिन्तामीलितमानसो ...' आदि पद्य भी उदाहरणार्थ प्रस्तुत है। पद्यार्थ यह है—

"अरी मूढ़ सखी ? तेरे इस हठ (=मान) के चलते कामदेव का मन चिन्ता में डूब चुका है, तेरी सखियों में उदासी छा गई है, तेरे प्राणनाथ प्रणय के लिए

एतत्त्वां विनिवेदयामि मम चेदुक्तिं हितां मन्यसे
मुग्धे मा कुरु मानमाननमिदं राकापतिर्जेष्यति ॥

अत्र सर्वावच्छेदेन प्रसादाभिव्यञ्जकत्वमंशभेदेन तु माधुर्यौजोभिव्यञ्जकत्वमपि, मनसिजान्तस्य माकुर्वादेश्च माधुर्याभिव्यक्तिहेतुत्वात्, सख्य इत्यादेरोजोगमकत्वात्। नन्वत्र शृङ्गाराश्रयस्य माधुर्यस्याभिव्यक्तये तदनुकूलास्तु नाम रचना, ओजसस्तु कः प्रसङ्गो यदर्थं तदनुकूलवर्णविन्यास इति चेत्? नायिकामानोपशान्तये कृतानेकयत्नायास्तदीयं हितमुपदिशन्त्याः सख्याः सक्रोधत्वस्य व्यञ्जनीयतया तथाविन्यासस्य साफ-

---

मतएव विकृतवर्णं तवेदमाननं राकापतिः पूर्णश्चन्द्रोयं कलङ्ककलुषितोऽपि यत्किञ्चित्-सौभाग्यवज्जनाह्लादकत्वात्सुभगवर्णत्वाच्च जेष्यति—इति पद्यार्थः। त्वामित्यत्र युष्मच्छब्देनात्मीयत्वं द्वितीयया चेप्सिततमत्वं लभ्यते। जेष्यतीत्यत्र भविष्यति विहितेन तिङ्प्रत्ययेनेतः पूर्वं तदाननेनैव राकापतेः पराभवः सूच्यते। अथवा त्वत्प्राणेशाय त्वद्विप्रलम्भकातराय त्वदनभिमतोत्कटवेदनादाने समर्थत्वात्त्वदानन राकापतिर्जेष्यतीति भावो बोध्यः। यद्वा त्वदाननस्यापि रोषकलुषितत्वात्तत्सादृश्यं भजिष्यन् जेष्यति—इति तात्पर्यम्।

अत्र प्रसादस्य गुणान्तरसामानाधिकरण्योपपादनायाह—अंशभेदेनेत्यादि। अंशविशेषावच्छेदेनेत्यर्थः। शृङ्गाराश्रयस्येत्यत्र बहुव्रीहिः, परैरेषां गुणानां रसाश्रितत्वाभ्युपगमादिदम्। माधुर्यविशेषणं चैतत्। कृतानेकयत्नाया इति। एतदुपदेशात्पूर्वं सख्या बहुविधायासः कृतः, परं न नायिकामानभङ्गे साफल्यं समवाप्तमित्यत एतदुपदेशकाले सख्याः सक्रोधत्वमुपपद्यते। पूर्वं प्रयत्ना एव चिन्तामीलितमानस

व्याकुल हो रहे हैं, ··· और इस प्रसङ्ग में अब तुझे मैं क्या-क्या बताऊँ! यदि तुझे मेरी बात अच्छी लगे तो मुझे इतना हीं कहना है कि अब इस हठ को छोड़ दे, नहीं तो पूनम का चान्द तेरे इस मुँह को जीत लेगा ॥''

उदाहृत पद्य में प्रसाद-गुण तो सर्वांश मे है हीं, 'चिन्तामीलितमानसो मनसिजः', 'मा कुरु मानमाननमिदम्' इन अंशों में माधुर्य-व्यंजकता और 'सख्यो विहीनप्रभाः' आदि में ओजा-व्यंजकता भी है हीं। अब प्रश्न यह है कि उक्त पद्य में शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति के अभिप्रेत होने से शृङ्गाराश्रित माधुर्य का अभिव्यंजक वर्ण-विन्यास तो उचित है, किन्तु ओज के व्यंजक विन्यास की क्या उपयोगिता है, क्योंकि इसके आश्रयभूत रौद्र आदि रस तो प्रकृत पद्य से अभिव्यज्यमान हैं नहीं। इसके उत्तर में यह कहना है कि नायिका पर सखी के क्रोध की अभिव्यक्ति के लिए ओजो-व्यंजक रचना आवश्यक है। सखी में क्रोध होना इस लिए उचित है चूँकि

ल्यात् । किं बहुना ! रसस्यौजस्विनोऽमर्षादिर्भावस्य चाविवक्षायामपि वक्तरि क्रुद्धतया प्रसिद्धे, वाच्ये वा क्रूरतरे, आख्यायिकादौ प्रबन्धे वा, परुष-वर्णघटनेष्यते । यथा वा—

वाचा निर्मलया सुधामधुरया यां नाथ शिक्षामदा-
स्तां स्वप्नेऽपि न संस्पृशाम्यहमहंभावावृतो निस्त्रपः ।
इत्यागःशतशालिनं पुनरपि स्वीयेषु मां बिभ्रत-
स्त्वत्तो नास्ति दयानिधिर्यदुपते मत्तो न मत्तः परः ॥

इत्यादिनोपदेशेन सूचिता इति बोध्यम् । अत्र क्रोधस्य स्थायित्वे शृङ्गारभङ्गप्रसङ्ग इत्यतस्तस्यात्र व्यभिचारित्वमुपपादयति—किं बहुनेत्यादिना । वाच्ये=विवक्षितेऽर्थे । प्रबन्धे वेत्यत्र वा-शब्दः समुच्चये, तेन मुक्तकस्यापि संग्रहः ।

सम्प्रति प्रसादस्यासङ्कीर्णोदाहरणमप्याह—यथा वेत्यादिना ।

वाचेत्यादि । हे नाथ यदुपते ! निर्मलया सुधामधुरया च वाचा श्रुतिगीतादि-रूपया त्वं मह्यं यां शिक्षामदास्तामहमहङ्कारावृतविवेकोऽत एव निर्लज्जः स्वप्नेऽपि किमुत जाग्रद्दशायां न संस्पृशामि नानुसरामि । संस्पृशामीत्यस्य स्मरामीति रसचन्द्रिकाव्याख्यानमसत्, विरुद्धत्वात् । जाग्रत्स्वप्नयोरननुसरणं वाच्यमेव, सुषुप्तौ तु तदसम्भव एवेति भावः । एतेन सर्वावसरेषु शिक्षोपेक्षा गम्यते । अत एव पुनः पुनरुपेक्षया आगःशतशालित्वमुपपद्यते । तथाविधमपि क्रियासमभिहारेण-

---

नायिका को समझाते-बुझाते वह थक चुकी है, पर वह मूढ़ नायिका अपना हठ छोड़ने को तैयार नहीं । यह तथ्य उत्तरार्ध में निर्दिष्ट वर्णन से भी स्पष्ट होता है । इस विषय में (कि शृङ्गार आदि रसों में भी कदाचित् क्रोध की अभिव्यक्ति उचित है) अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि ओजोगुण-युक्त रसों की और उनके अमर्ष आदि व्यभिचारिभावों को अभिव्यक्ति के अभिप्रेत न होने पर भी आख्यायिका आदि गद्य-काव्यों और प्रबन्ध-काव्यों में ओजो-व्यंजक रचना देखी जाती है यदि वक्ता स्वभावतः क्रोधी हो अथवा वक्तव्य अर्थ हीं क्रूर—कठोर हो तो । अतः उक्त उदाहरण में अंशतः ओजो-व्यंजक रचना अनुचित नहीं है ।

अथवा दूसरा उदाहरण—जिसमें केवल प्रसाद है, अन्य कोई गुण नहीं—'वाचा निर्मलया······' आदि पद्य है । पद्यार्थ निम्नलिखित है—

"हे भगवन् ! मैं अहङ्कार से ओतप्रोत ऐसा निर्लज्ज अधम हूँ कि तुमने निर्मल और अमृत के समान मधुर वेदादि शास्त्रों द्वारा मुझे जो उपदेश दिये उनका तो मैं स्वप्न में भी पालन नहीं करता, फिर भी तुमने असंख्य अपराध करने वाले मुझे अपने परिजनों में स्थान दे दिया है । अतः हे यदुनाथ ! न तो तुम से बढ़कर कोई

अत्र गुणान्तरासमानाधिकरणः प्रसादः ॥

इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जनक्षमाया निर्मितेः परिचयाय सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनीयं किंचिन्निरूप्यते—वर्णानां स्वानन्तर्यं सकृदेकपदगतत्वे किंचिदश्रव्यम्। यथा—'ककुभसुरभिः, विततगात्रः, पललमिवाभाति' इत्यादौ। असकृच्चेदधिकम्। यथा—'वितततरस्तरुरेष भाति भूमौ।'

पराध्यन्तं मां स्वकीयेषु परिजनेषु बिभ्रतस्त्वत्त उत्कृष्टतरोऽन्यो दयानिधिर्नास्ति, नापि मदधिकतरः कश्चनान्यो मत्त उन्मत्तोऽस्तीति पद्यार्थः।

अत्र प्रसादस्य गुणान्तराऽसामानाधिकरण्यं कथमिति विवेचनीयम्। 'मत्तो न मत्तः' इत्यत्र दीर्घसमासाभावात् कथञ्चिदोजस अभावोपपादनेऽपि पदविशेषे वाचेत्यादौ माधुर्यस्याभावो न स्वीकर्तुं शक्यते यतः। पदसमूहात्मकमंशमादाय वा पदे वर्त्तमानस्यापि गुणान्तरस्यात्राऽनभिव्यञ्जनमिति संगमनीयं कथञ्चित्। समूहश्चाव्यवहितानामिति तु प्रसिद्धमेव। वस्तुतश्चिन्त्यमेवैतत्।

ककुभेत्यादि। अत्र ककारस्य स्वानन्तर्यम्। यद्यप्यत्रापि पूर्वककारोत्तरककारयोरकारेण व्यवधानादानन्तर्यं नास्ति तथापि व्यञ्जनस्फुटोच्चारणार्थं ह्रस्वस्याकारस्य प्रसिद्धतया तदतिरिक्तह्रस्वाकारस्यापि तज्जातीयत्वेन तद्व्यवधानेऽ-

दया-निधान है और न मुझसे बढ़कर कोई उन्मत्त—कर्त्तव्यच्युत अधम।।"

इस पद्य में ग्रन्थकार का कहना है कि यहाँ केवल प्रसाद-गुण है, अन्य कोई गुण नहीं। परन्तु चतुर्थ चरण में (विशेष कर 'मत्तो न मत्तः' इस अंश में) ओजोव्यञ्जकता क्यों न मानी जाय—यह विचारणीय है।।

अब भिन्न-भिन्न गुण की व्यंजकता में समर्थ रचना का परिचय देने के लिये सभी गुणों के व्यंजक रचनाओं में और गुणविशेष-व्यंजक रचना-विशेष में जिन वर्णविशेषों का प्रयोग वर्जनीय है उनका क्रमशः निरूपण किया जा रहा है। इनमें प्रथमतः सामान्यरूप में वर्जनीय क्या हैं यह बताया जा रहा है—

किसी भी व्यजन का एक पद में विना व्यवधान[1] के दो बार प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे वह पद (तथा तत्पदघटित वाक्य भी) अश्रव्य—सुनने में अप्रिय हो जाता है। जैसे—'ककुभसुरभिः', 'विततगात्रः', 'पललमिवाभाति' इत्यादि शब्दों में एक पद मे क्रमशः 'कक', 'तत' और 'लल' के प्रयोग से अश्रव्यता आ गई है। यदि दो से अधिक बार प्रयोग किया गया हो तब तो और भी अधिक अश्रव्यता आ जाती है। यथा—'वितततरस्तरुः' इस शब्द में एक हीं

१. अकार का व्यवधान अथवा किसी अन्य ह्रस्वस्वर का व्यवधान होने पर भी ग्रन्थोक्त आनन्तर्य—अव्यवधान मान्य है।

एवं भिन्नपदगतत्वेऽपि। यथा—'शुक करोषि कथं विजने रुचिम्' इत्यादौ। असकृद्भिन्नपदगतत्वे ततोऽप्यधिकम्। यथा—'पिक ककुभो मुखरीकुरु प्रकामम्'। एवं स्वसमानवर्ग्यानन्तर्यं सकृदेकपदगतत्वे किंचिदश्रव्यम्। यथा—'वितथस्ते मनोरथः'। असकृच्चेदधिकम्। यथा—'वितथतरं वचनं तव प्रतीमः'। एवं भिन्नपदगतत्वे। यथा—'अथ तस्य वचः श्रुत्वा' इत्यादौ। असकृद्भिन्नपदगतत्वे तु ततोऽप्यधिकम्। यथा—'अथ तथा कुरु येन सुखं लभे'। एतच्च वर्गाणां प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोरानन्त्यानन्तर्यमुक्तम्। अत एवानुपदं गुरुव्यवायेनाश्रव्यत्वव्यतिरेकं वक्ष्यति। पूर्वोक्तस्याकारस्य ह्रस्वत्वादिना साजात्यं विवक्षितं चेद् ह्रस्वस्वरमात्रव्यवधानेऽप्यानन्तर्यं न विघटत इत्यपि बोध्यम्। भिन्नपदगतत्वेऽपीत्यस्य सकृत् स्वानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यम् इति शेषो बोध्यः। भिन्नपदगतत्वे इत्यग्रेऽपि सकृत् स्वसमानवर्ग्यानन्तर्यं किञ्चिदश्रव्यमिति शेषः। एतच्च = स्वसमानवर्ग्यानन्तर्यं च। प्रथमद्वितीययोरित्यादौ क्रमो न विवक्षितः। अतो व्युत्क्रमेणानन्तर्येऽपि तथैवाश्रव्यत्वम्। तथा =

'विततरः' पद में 'त' का लगातार तीन बार प्रयोग होने से अधिक अश्रव्यता आ गई है। यदि पद की भिन्नता होने पर भी लगातार दो या अधिक बार किसी एक व्यंजन का प्रयोग किया गया हो तो भी क्रमशः सामान्य एवं असामान्य रूप में अश्रव्यता आ जाती है। 'शुक करोषि······' और 'पिक ककुभो······' ये दो क्रमशः उदाहरण हैं। प्रथम में दो पदों—'शुक' और 'करोषि' में लगातार दो बार 'क' का प्रयोग और द्वितीय में 'पिक,' 'ककुभो' इन दो पदों में कुल मिलाकर तीन बार 'क' का प्रयोग होने से क्रमशः अश्रव्यता और अश्रव्यतातिशय आ गये हैं। इसी प्रकार, यदि एक हीं वर्ग के दो व्यंजनों का किसी एक पद में लगातार एक-एक बार प्रयोग हुआ हो तो भी अश्रव्यता आ जाती है। जैसे—'वितथस्ते मनोरथः' इस वाक्य के 'वितथ' पद में लगातार 'त' और 'थ' का प्रयोग अश्रव्यताजनक है। यदि समानवर्गीय व्यंजनों का अनेक बार प्रयोग एक पद में किया गया हो तब तो यह अश्रव्यता और भी अधिक बढ़ जाती है। जैसे—'वितथतरं वचनं······' इस वाक्य के 'वितथतरं' पद में 'त-थ-त' के प्रयोग से अश्रव्यता उत्कट रूप में है। अश्रव्यता की यही स्थिति भिन्न पदों में समानवर्गीय अनेक व्यंजनों का एक-एक बार और अनेक बार (दोनों में से किसी एक का भी दूसरे के बाद) प्रयोग होने पर आ जाती है। उदाहरणार्थ—'अथ तस्य······' इत्यादि वाक्य में 'अथ' पद में 'थ' के बाद 'तस्य' पद में 'त' के प्रयोग से कुछ अश्रव्यता आ हीं गई है। 'अथ तथा कुरु······' इत्यादि वाक्यों में तो 'थ-त-थ' के प्रयोग से उत्कट अश्रव्यता है। किन्तु समानवर्गीय दो व्यंजनों के आनन्तर्य में जो अश्रव्यता आती है वह प्रथम

न्तर्यम् । प्रथमतृतीययोर्द्वितीयतृतीययोर्वाऽऽनन्तर्यं तु तथा नाश्रव्यम्, किं त्वीषत्, निर्माणमार्मिकैकवेद्यम् । एतदप्यसकृच्चेत्ततोऽधिकत्वात्साधारणैरपि वेद्यम् । यथा—'खग कलानिधिरेष विजृम्भते', 'इति वदति दिवानिशं स धन्यः' । पञ्चमानां मधुरत्वेन स्ववर्ग्यानन्तर्यं न तथा । यथा—'तनुते तनुतां तनौ' । स्वानन्तर्यं त्वश्रव्यमेव । यथा—'मम महती मनसि व्यथाविरासीत्' ।

एतानि चाश्रव्यत्वानि गुरुव्यवायेनापोद्यन्ते । यथा—'संजायतां कथंकारं काके केकाकलस्वनः' ।

अधिकम् । ईषदित्यस्य तात्पर्यमाह—निर्माणमार्मिकैकवेद्यमिति । स्वानन्तर्यम् = वर्गस्थपञ्चमानां स्वानन्तर्यमित्यर्थः ।

सञ्जायतामित्यादौ 'काके', 'केके', 'केका', 'काक' इत्यत्र च गुरुव्यवायः ।

द्वितीय व्यंजनों तथा तृतीय और चतुर्थ व्यंजनों के विषय में हीं समझनी चाहिए । जहाँ तक समानवर्गीय प्रथम-तृतीय और द्वितीय-तृतीय व्यञ्जनों के भिन्न पदों में एक वार आनन्तर्य का प्रश्न है, अश्रव्यता तो उसमें भी है हीं, किन्तु अत्यल्प । इसे कुछ विशिष्ट रचनाकार—कवि हीं समझ सकते, साधारणजन नहीं, जब कि पूर्व-वर्णित अश्रव्यता तो साधारण जन के भी समझ में आ जाती है । हाँ, यदि इनका भी आनन्तर्य अनेक वार हो तो स्पष्ट रूप में अश्रव्यता आ हीं जाती है जिसका साधारणजन को भी अनुभव हो हीं जाता है । 'जैसे 'ख-ग-क' इस प्रकार द्वितीय-तृतीय-प्रथम समानवर्गीय व्यंजनो के प्रयोग से जो अश्रव्यता है वह सुस्पष्ट है । इसी प्रकार 'इति वदति दिवानिशं······' इस वाक्य में भी 'द-ति-दि' यह आनन्तर्य-प्रयोग सुस्पष्ट रूप में अश्रव्य है हीं । किन्तु सभी वर्गों के पञ्चम व्यंजनों के मधुर होने से इनका यदि स्ववर्गीय व्यंजनों से आनन्तर्य हो तो भी उसमें अश्रव्यता नही आती । जैसे 'तनुते तनुतां तनौ' इस वाक्य में प्रथम-पञ्चम का अनेक बार आनन्तर्य होने पर भी अश्रव्यता नहीं आई है । हाँ, यदि समान पंचम व्यञ्जनों का आनन्तर्य हो तब अश्रव्यता आ हीं जाती है । जैसे—'मम महती मनसि ···' इत्यादि वाक्य में ।

यदि उपर्युक्त अश्रव्यताधायक एक अथवा एकवर्गीय व्यंजनों के मध्य गुरु-स्वर (दीर्घ-स्वर) हो तो उपर्युक्त अश्रव्यता नहीं आती । जैसे—'संजायतां ··· काके केकाकल····' इत्यादि वाक्य में 'काके' 'केके', 'केका' और 'काक' शब्दों में दीर्घ-स्वर के व्यवधान के कारण अश्रव्यता नहीं है ।

यथा वा—

यथा यथा तामरसायतेक्षणा मया सरागं नितरां निषेविता ।
तथा तथा तत्त्वकथेव सर्वतो विकृष्य मामेकरसं चकार सा ॥

इदं तु दीर्घव्यवाये । सयोगपरव्यवाये तु—

सदा जयानुषङ्गाणामङ्गानां सङ्गरस्थलम् ।
रङ्गाङ्गणमिवाभाति तत्तत्तुरगताण्डवैः ॥

यथा यथेत्यादि-पद्यपूर्वार्द्धे 'था ता' इत्यत्र, पद्योत्तरार्धे च 'तथा तथा तत्त्व' इत्यत्र 'थात' 'थात' इत्यनयोर्गुरुव्यवायेनाश्रव्यत्वनिरासः । 'तथा तथा' इत्यत्र तु तकारथकारयोर्गुरुव्यवायाभावादानन्तर्यं भवत्येवाश्रव्यमिति वक्ष्यति—इदं तु बोद्धव्यमित्यादिग्रन्थेन । तत्त्वशब्दे तु प्रथमतकारोत्तराकारस्य संयोगपरतया गुरुत्वेन तद्व्यवायान्नाश्रव्यत्वमिति बोध्यम् । प्रकृतपद्ये तामरसायतेक्षणेत्यस्य कमलोत्फुल्ललोचनेत्यर्थः । एकरसमित्यत्रैकशब्दो नायिकार्थकः, उपमाने तु ब्रह्मार्थको बोध्यः ।

'संयोगे गुरु' इति शास्त्रानुसारेण प्रसिद्धमूलकेन संयोगपूर्ववर्त्तिनो ह्रस्वस्यापि पारिभाषिकं गुरुत्वमस्त्येवेति तद्व्यवायेऽपि गुरुव्यवायकृतमश्रव्यत्वाभावमाह—संयोगेत्यादिना ।

सदा जयेत्यादि । सर्वदा जयेऽनुषङ्गः सम्बन्धो येषान्तेषामङ्गदेशाधिपानां

अन्य उदाहरण भी देखिए—'यथा यथा ताम··· तत्त्व' आदि पद्य में । इसमें '(य) था ता (म···)' में द्वितीय-प्रथम का आनन्तर्य दीर्घ-स्वर के व्यवधान के कारण अश्रव्य नहीं है । इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में '(त) था त' और 'था तत्त्व' में दीर्घ-स्वर के व्यवधान से अश्रव्यता का निराकरण हो जाता है । 'त(त्त्व)' में तकारोत्तरवर्ती अकार में 'संयोगे गुरु' के अनुसार दीर्घत्व ज्ञातव्य है । किन्तु 'तथा-तथा' में प्रथम-तृतीय के आनन्तर्य में तो सूक्ष्म अश्रव्यता है हीं । इसी प्रकार 'तत् (व)' में स्वानन्तर्य-प्रयुक्त अश्रव्यता वर्त्तमान है । 'मामे····' में पञ्चम का स्वानन्तर्य-प्रयुक्त अश्रव्यता का भी दीर्घ व्यवधान के कारण अभाव ज्ञातव्य है । पद्यार्थ इस प्रकार है—

"ज्यों ज्यों मैं कमल के समान विकसित नेत्रों वाली इस कामिनी की अधिकाधिक सेवा (सम्पर्क) करता गया त्यों-त्यों तत्त्व-कथा की तरह इसने मुझे सब तरफ से मोड़कर एकरस कर दिया ॥" तात्पर्य यह है कि जैसे तत्त्वविद्या-सम्पन्न व्यक्ति को सर्वत्र-सर्वदा तत्त्व—ब्रह्म हीं ब्रह्म दीखता है वैसे हीं मुझे सर्वत्र-सर्वदा यही कामिनी दीखती है ।

ये सब उदाहरण स्वतः दीर्घ-स्वर के व्यवधान से अश्रव्यता के निराकरण के हैं । (इनमें भी 'तत्त्व' शब्द में जो दीर्घ-स्वर का व्यवधान है वह तकारोत्तरवर्ती

इदं तु बोद्धव्यम्—गुरुर्ययोर्व्यवधायकस्तयोरेव वर्णयोरानन्तर्यकृतम-श्रव्यत्वमपवदति। तेनात्र थकारतकारानन्तर्यकृतदोषापवादेऽपि तकार-थकारानन्तर्यकृतमश्रव्यत्वमनपोदितमेव।

एव त्र्यादीनां संयोगोऽपि प्रायेणाश्रव्यः—'राष्ट्रे तवोष्ट्र्यः परितश्चरन्ति' इति। एवमादयः श्रुतिकाटवभेदा अन्येऽप्यनुभवानुसारेण बोध्याः।

सङ्गरस्थलं रणभूमिः तस्य तस्य तुरगस्य ताण्डवैः रङ्गाङ्गणं नृत्यशालेवाभातीति पद्यार्थः। रङ्गाङ्गणेत्यत्र णत्वं चिन्त्यम्। अनेककर्तृकत्वात्ताण्डवानां बहुत्वमुक्तम्। अत्र च पद्ये चतुर्थपादे 'तत्तत्तु…' इत्यत्र प्रथमद्वितीययोर्ह्रस्वाकारयोः संयोगपरत्वेन तद्व्यवधानादश्रव्यत्वाभावः। '(आभा) ति त…' इत्यत्र तु ह्रस्वेकारव्यवधानेऽपि स्वानन्तर्यसत्त्वादश्रव्यत्वमनपनोदितमेव मन्तव्यम्। अत्र परवसर्णभूयस्त्वं दोषः।

प्रकारान्तरमाह—एवमित्यादि। त्र्यादीनामित्यत्रादिशब्दश्चतुर्णां ग्राहकः, तदधिकानां संयोगस्याऽप्रसिद्धत्वात्। राष्ट्र इत्युदाहरणे ष्ट्र इत्यत्र त्रयाणां ष्ट्र्य

अकार के स्वरूपतः दीर्घ होने से नहीं, अपितु उसके संयोग-पूर्वक होने से) इसके अतिरिक्त संयोग-पूर्ववर्त्ती ह्रस्व-स्वर के पारिभाषिक गुरुत्व—दीर्घत्व को लेकर दीर्घ-स्वर के व्यवधान के आधार पर अश्रव्यता के अभाव का (एक अन्य) उदाहरण 'सदा जयानु… तत्तत्तुरगताण्डवैः' इस पद्य में द्रष्टव्य है। यहाँ 'तत्तत्…' आदि शब्द में दो तकार-द्वयों का आनन्तर्य संयोगपूर्वत्व-निमित्तक गुरु—दीर्घ-स्वर के व्यवधान के कारण अश्रव्यताधायक नहीं है। इस पद्य का अर्थ यह है—

"जिनका जय के साथ नित्य सम्बन्ध बना हुआ है ऐसे अङ्गदेश के राजाओं की युद्धभूमि विभिन्न अश्वों के ताण्डव से नृत्य-शाला के समान शोभित हो रही है॥"

इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि जिन दो के बीच स्वाभाविक या पारिभाषिक दीर्घ-स्वर होता उन्हीं दोनों के आनन्तर्य में अश्रव्यतापादकता नहीं होती; गुरु-व्यवधानरहित व्यञ्जनों, चाहे जिनके बीच दीर्घ स्वर हो उन्हीं में से कोई एक क्यों न हो, के आनन्तर्य में तो अश्रव्यता होगी हीं। अतएव 'यथा यथा…' इत्यादि उदाहरण में 'तथा' शब्द में तकार-थकार के और 'तत्तु' शब्द में तकार-तकार के आनन्तर्य से अश्रव्यता बनी हीं है। इसी प्रकार, 'सदा जयानु…' इत्यादि उदाहरण में भी '(…भा) ति त (तत्तुरग…)' के आनन्तर्य से जो अश्रव्यता है वह भी अक्षुण्ण है।

उपर्युक्त अश्रव्यता के समान तीन-चार व्यंजनों का संयोग भी सामान्यतया अश्रव्य होता। जैसे—'राष्ट्रे तवोष्ट्यः परितश्चरन्ति' इस पद्यांश में 'ष्ट्रे' शब्द में

अथ दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य भिन्नपदगतस्य सकृदप्यश्रव्यम्; (असकृत्तु सुतराम्) ॥

हरिणीप्रेक्षणा यत्र गृहिणी न विलोक्यते ।
सेवितं सर्वसंपद्भिरपि तद्भवनं वनम् ॥

असकृत्तु सुतराम्[1] । यथा—'एषा प्रिया मे क्व गता त्रपाकुला ।'

इत्यत्र चतुर्णां संयोगः । प्रपञ्च्यतामित्यादौ च्यादीनां संयोगस्य श्रुतिकटुत्वाभावात् प्रायेणेत्युक्तम् । दीर्घानन्तर्यमित्यत्र दीर्घो न संयोगपरो ह्रस्वो विवक्षितः । असकृदिति । सरूपस्य विरूपस्य वेति नानयोर्विशेषः । सुतरामित्यस्याधिकमित्यर्थः । अग्रे वर्णनादिदं प्रक्षिप्तमत्र ।

हरिणीत्यादि । यत्र भवने हरिण्याः प्रेक्षणमिव प्रेक्षणं यस्यास्तादृशी गृहिणी प्रियतमा न विलोक्यते तद्भवनं सर्वसम्पद्भिः परिपूर्णमपि वस्तुतो वनं निवासायोग्यं स्थानमेव गृहस्थस्य कृत इत्यर्थः । वनशब्दोऽत्रौपचारिकः । अत्र च पद्ये प्रेक्षणेति उत्तरपदादेः प्रेतिसंयोगस्य णीशब्दोत्तरं सत्त्वादश्रव्यत्वम् । असकृदित्यादि ।

ष् ट् र् का संयोग और 'ष्ट्र्यः' शब्द में ष्-ट्-र्-य् का संयोग अश्रव्य है । कभी-कभी इनमें अश्रव्यत्व नहीं भी होता । जैसे—'सन्त्वमी' इत्यादि शब्दों में न्-त्-व् का संयोग । इसी प्रकार अन्य अश्रव्यत्व—श्रुतिकटुत्व के भेदों का अनुसन्धान पाठक को अपने अनुभव के आधार पर स्वयं करना चाहिए ।

दीर्घ स्वर[2] के बाद यदि भिन्न-पदगत एक भी संयोग हो तो वह अश्रव्य होता, अनेक होने पर तो कुछ कहना हीं नहीं । जैसे—'हरिणीप्रेक्षणा यत्र ···', इत्यादि पद्य में 'णी' इसके बाद 'प्रे' इस संयोग में अश्रव्यता है । इसी प्रकार 'हरिणीप्लुता' शब्द में 'णी' के बाद 'प्लु' इस संयोग में भी अश्रव्यता है हीं । उदाहृत पद्य का अर्थ इस प्रकार है :—

"जिस भवन में मृगनयनी गृहिणी न देखी जाय वह सभी सम्पत्तियों से युक्त होने पर भी भवन नहीं, अपितु वन हीं है ॥"

परन्तु दीर्घ-स्वर के बाद यदि भिन्न-पदगत संयोग वारम्वार[3] आये हों

---

१. अग्रे मुद्रितोऽप्ययं पाठः प्रसङ्गानुरोधादत्रास्माभिः स्थापितः ।

२. यहाँ स्वाभाविक दीर्घ-स्वर विवक्षित है, पारिभाषिक नहीं ।

३. 'विवक्षितमित्यदोषः' इस परवर्त्ती ग्रन्थ के बाद मुद्रित—'असकृत्तु सुतराम् । यथा—'एषा प्रिया मे क्व गता त्रपाकुला ।'' अंश को 'हरिणीप्रेक्षणा' आदि पद्य के बाद औचित्य के आधार पर मैंने रखा है । इसी से यहीं इस अंश की व्याख्या की गयी है ।

एकपदगतस्य तु तथा नाश्रव्यम् । यथा—'जाग्रता विचितः पन्थाः शात्रवाणां वृथोद्यमः' । परसवर्णकृतस्य तु संयोगस्य सर्वथा दीर्घाद्भिन्नपदगतत्वाभावान्मधुरत्वाच्चानन्तर्यं न मनागप्यश्रव्यम् । यथा—'तान्तमालतरुकान्ति-' इत्यादिपद्ये । अत्र तामित्यत्र नीमित्यत्र च परस-

---

भिन्नपदगतस्य संयोगस्यानेकवारं प्रयोगेऽधिकमश्रव्यत्वमित्यर्थः ।

तथा=दीर्घानन्तर्यं संयोगस्य सकृदसकृद्वा । यद्वाऽसकृत्संयोगस्य दीर्घानन्तर्यमित्यनुवर्त्य तथेत्यस्य सुतरामश्रव्यमित्यर्थः कार्यः । तथा च किञ्चिदश्रव्यत्वं भवत्येवेति तात्पर्यं कल्पनीयम्, जाग्रतेत्युदाहरणे जा, शा, थो इति त्रयाणां संयोगपूर्वाणां दीर्घाणामुपलम्भात् । सर्वथेति । अव्यवहितयोर्द्वयोर्हलोः संयोगसंज्ञेति पक्षे परस्य हलः परपदावयवत्वेन तद्घटितसमुदायरूपस्य संयोगस्य न पूर्णतः पूर्वपदघटकत्वं न वा पूर्णत उत्तरपदघटकत्वमित्यभिप्रायेणोक्तं सर्वथेति । दीर्घादित्यस्य आनन्तर्यमित्यनेनान्वयः । नीमित्यत्रेत्यादि । लङ्घिनीङ्क्ङ्करीत्येतद्घटकस्येत्यर्थः ।

तब तो अश्रव्यता का आधिक्य हो जाता है। जैसे—'एषा प्रिया मे क्व गता त्रपाकुला' इस पद्यांश में 'षा' के बाद 'प्रि' और 'ता' के बाद 'त्र' इन संयोगों में अधिक अश्रव्यता है। किन्तु यदि दीर्घोत्तरवर्ती संयोग एक-पदनिष्ठ हो, अर्थात् जिस पद में दीर्घ स्वर हो उसी पद में दीर्घोत्तरवर्त्ती संयोग भी हो, तो अश्रव्यता नहीं आती। जैसे—उक्त पद्य में ही 'विलोक्यते' पद में 'लो' में दीर्घ स्वर के बाद 'क्य' में क्-य् का संयोग अश्रव्य नहीं है। इसी प्रकार 'जाग्रता विचितः पन्थाः शात्रवाणां वृथोद्यमः' (शत्रुओं का सारा प्रयास निरर्थक हो गया, क्योंकि जगे हुए उसके विरोधी ने उसके गुप्त मार्ग को खोज लिया) इस पद्यार्ध में 'जा' के बाद 'ग्र' और 'शा' के बाद 'त्र' इन संयोगों में अश्रव्यता नहीं है। यदि दीर्घ-स्वर के बाद का भिन्न-पदगत संयोग परसवर्ण-सन्धि से निष्पन्न—परसवर्णादेशहल्घटित हो तो उसमें अश्रव्यता—श्रुतिकटुता नहीं आती। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उस संयोग का घटक पूर्ववर्ती व्यञ्जन पूर्व-पद का अन्त्यावयव होता और इस लिए उस परसवर्णनिष्पन्न व्यञ्जन तथा परवर्ती पद के आद्य व्यञ्जन का संयोग उत्तरवर्ती पद का आद्य अवयव होता हीं नहीं, उसका अवयव तो उस संयोग का केवल परवर्त्ती व्यञ्जन होता जो स्वयं में संयोग नहीं है। दूसरा कारण यह है कि परसवर्णनिष्पन्न संयोग स्वरूपतः मधुर होता जिससे उस संयोग के ह्रस्व या दीर्घ स्वर के परवर्ती होने पर भी उसमें अश्रव्यता आ हीं नहीं सकती। जैसे—'तान्तमालतरुकान्ति…' इत्यादि पूर्वोदाहृत पद्य में 'न्त' और 'न्ति' में जो संयोग हैं वे दीर्घ स्वर से परवर्त्ती होने पर भी उक्त कारणों से अश्रव्य नहीं हैं। यह विचार

वर्णस्य पूर्वपदभक्ततया न संयोगो भिन्नपदगतः। प्रत्येकं संयोगसंज्ञेति पक्षेऽपि भिन्नपदगतः संयोगो न दीर्घादव्यवहितपरः। नवाम्बुदेत्यत्र त्वे-

---

तानित्यत्र नीडिन्त्यत्यत्र च इति पाठः श्रेयान्। प्रत्येकमित्यादि। अयं च पक्षः संयोगसंज्ञासूत्रभाष्योक्तः। एवञ्च परसवर्णनिष्पन्नो हलेकः संयोगः, यस्मिश्च परे परसवर्णः सोऽन्यः संयोग इति लभ्यते। तथा च तान्तमाले-त्यादौ न् इत्येकः, त् इत्यपरः संयोगः। भिन्नपदगतः संयोगः = परपदाद्या-वयवहल्रूपः। न दीर्घादित्यादि। पूर्वपदान्त्यावयवभूतेन परसवर्ण-निष्पन्नहला संयोगरूपेण व्यवधानादिति भावः। यश्च पूर्वः संयोगः परसवर्णरूपः स न भिन्नपदगत इत्यपि बोध्यम्। 'तान्तमाल·' इत्यादिपद्यद्वितीयपादघटके 'नवाम्बुद' शब्दे विचारयति—नवाम्बुदेत्यादिना। एकादेशस्य = नव + अम्बुदेत्यत्र

तो पूर्व और उससे अव्यवहितोत्तरवर्त्ती दोनों व्यञ्जनों के समूह की संयोग संज्ञा होती है—इस पक्ष के अनुसार किया गया। अब पाणिनि के "हलोऽनन्तराः संयोगः" इस संयोग-संज्ञाविधायक सूत्र के महाभाष्य में निर्दिष्ट पक्षान्तर—'प्रत्येकं संयोग-संज्ञा', अर्थात् जो दो व्यञ्जन अव्यवहित पूर्वापर हों—जिन दो व्यञ्जनों के मध्य में कोई स्वर न हो—उनमें से प्रत्येक व्यञ्जन संयोग कहलाता—पूर्व व्यञ्जन भी एक संयोग है और परवर्त्ती व्यञ्जन भी एक संयोग है—के अनुसार भी विचार करने पर परसवर्णनिष्पन्न संयोग में श्रुतिकटुता नहीं आती, क्योंकि जो प्रथम संयोग परसवर्णनिष्पन्न व्यंजन है वह यदि दीर्घ स्वर के बाद आया भी हो तो वह भिन्न-पदगत नहीं होता और जो द्वितीय संयोग—परवर्त्ती पद का आद्यावयव व्यंजन है वह पूर्ववर्त्ती पद के दीर्घ-स्वर से नहीं अपितु उसके अन्त्यावयवभूत परसवर्णनिष्पन्न प्रथमसंयोगस्वरूप व्यंजन से परवर्त्ती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि परसवर्णनिष्पन्न संयोग वहां भी श्रुतिकटु नहीं होता जहां उसका एक व्यंजन पूर्वपद का अन्त्यावयव हो और दूसरा दूसरे पद का आद्यावयव। जहां एक हीं पद में परसवर्ण है वहां तो उसके श्रुतिकटु होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अब 'तान्तमालतरुकान्ति···' आदि पद्य के उत्तरार्ध में आये 'नवाम्बुद...' एवं इस प्रकार के अन्य 'म्बु' आदि शब्दों में जो दीर्घ स्वर के बाद परसवर्ण-निष्पन्न संयोग श्रूयमाण हैं उनके विषय में विचार कर लेना चाहिए कि वे श्रुतिकटु (अश्रव्य) होते या नहीं। एकादेश के विषय में पाणिनि का एक योग है—"अन्तादिवच्च" (६।१।८५)। इसका अर्थ यही है कि पूर्व-पर स्वरों के स्थान में हुआ एक आदेश, जैसे अ + अ के स्थान में हुआ सवर्णदीर्घ एकादेश 'आ', साधारणतया पूर्वपद का आद्यावयव भी माना जाता और परपद का अन्त्यावयव भी। इसके अनुसार नव + अम्बुद इन दो पदों में पूर्वपद 'नव' के अन्तिम अकार और परपद 'अम्बुद' के आद्य अकार के

कादेशस्य पदद्वयभक्ततया दीर्घाद्भिन्नपदगतत्वे सत्यव्यवहितोत्तरत्वं यद्यपि परसवर्णकृतसंयोगस्य भवति तथाप्यत्र भिन्नपदगतत्वमेकपदगतभिन्नत्वं विवक्षितमित्यदोषः। (असकृत्तु सुतराम्। यथा—'एषा प्रिया मे क्व गता

सवर्णदीर्घस्य आकारस्य। पदद्वयभक्ततयेति। 'अन्तादिवच्च' इति पाणिन्यनुशासनादित्यर्थः। तथा च आकारोऽयं पूर्वपदस्यान्तावयवोऽपि मन्यते, उत्तरपदस्याद्यावयवोऽपि। तत्र च पूर्वपदस्यान्तावयवत्वे 'म्बु' इत्यस्य दीर्घादव्यवहितोत्तरसंयोगत्वादश्रव्यत्वापत्तिरिति पूर्वपक्षः। अम्बुशब्दश्च भौवादिकाद् 'अबि शब्दे' इत्यात्मनेपदिनो धातोर्बाहुलकादौणादिके उ-प्रत्यये धाताश्चेदित्वान्नुमागमे 'अन्बु' इत्यत्र नकारस्यापदान्तस्य परसवर्णे च कृते निष्पन्न इति भवति 'म्ब्' शब्दस्य परसवर्णकृतसंयोगत्वम्। एकपदगतभिन्नत्वमिति। अत्र पञ्चमीतत्पुरुषे हरिणीप्रेक्षणेति पूर्वोदाहरणे समस्तादेकपदाद्भिन्नपदगतत्वाभावो भवत्येव प्रेतिसंयोगस्येति तत्राश्रव्यत्वोक्तिरसंगता स्यादित्यत एकपदगतश्च तद्भिन्नश्चेत्येकपदगतभिन्नस्तत्त्वमिति विग्रहो न्याय्यः। तथा च यत्र संयोगे ऐकपद्ये समासादौ दीर्घाव्यवहितोत्तरत्वमथ च तद्भिन्न ऐकपद्याभावेऽपि तथा तस्यैवाश्रव्यत्वमिति स्थितौ हरिणीप्रेक्षणेत्यत्रोभयथापि दीर्घाव्यवहितोत्तरत्वसत्त्वादश्रव्यत्वोपपत्तिः, नवाम्बुदेत्यत्र तु एकादेश एव संयोगस्य 'म्ब्'-इत्यस्य तथात्वान्नाश्रव्यत्वमिति तात्पर्यमुत्तरपक्षस्य। एकपदगतभिन्नत्वमित्यत्र पञ्चमीसमासाभिप्रायेण प्रकारान्तरेण रसचन्द्रिकायां कृतः परिष्कारो युक्तोऽपि ग्रन्थाक्षराननुगुणत्वादस्माभिरुपेक्षितः। असकृत्त्वित्यादि। अयमंशो व्याख्यातपूर्वः। एषेत्यादि। अत्र प्र-क्व-त्रेति त्रिषु संयोगेष्वश्रव्यत्वाधिक्यम्।

स्थान में सवर्णदीर्घस्वरूप एकादेश से निष्पन्न दीर्घ स्वर (नव्+) 'आ' पूर्व-पद का आद्यावयव माना हीं जा सकता है (अर्थात् 'नवा' पूर्व-पद हो जाता है)। इससे भिन्न पद 'म्बुद' में जो संयोग है वह दीर्घ-स्वर के बाद आने वाला भिन्नपदगत परसवर्ण-निष्पन्न संयोग है हीं। अतः इसमें अश्रव्यता माननी चाहिए या नहीं।[1] समाधान करते हुए पण्डितराज कहते हैं कि पूर्वोक्त 'भिन्नपदगत संयोग' का तात्पर्य उस संयोग में है जो 'एकपदगतभिन्न' हो। इसका आशय यही है कि जो संयोग समास एवम् सन्धि आदि करने पर भी दीर्घ-स्वर के अव्यहित उत्तर में भिन्न पद के आरम्भ में श्रूयमाण हो और उनके विना भी पूर्वपदवर्त्ती दीर्घ-स्वर से अव्यवहित उत्तर में भिन्न पद में श्रूयमाण हो वही 'भिन्नपदगत संयोग' के रूप में विवक्षित है, अन्य प्रकार का संयोग नहीं। ऐसी स्थिति में, परसवर्णनिष्पन्न

---

१. यह विचार परसवर्णनिष्पन्न संयोग की स्वाभाविक मधुरता की मान्यता को ध्यान में न रखकर किया गया है। इसका उद्देश्य 'भिन्नपदगत' शब्द का परिष्कृत अर्थ प्रस्तुत करना है।

ऽपाकुला'।) इदं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पङ्गुत्वमिव प्रतीयते।

अथ स्वेच्छया संध्यकरणं सकृदप्यश्रव्यम्। यथा--'रम्याणि इन्दुमुखि ते किलकिञ्चितानि'। प्रगृह्यताप्रयुक्तं त्वसकृदेव--'अहो अमी इन्दुमुखी-

---

पूर्वोक्तं सर्वमेवाश्रव्यत्वं वक्ष्यमाणं च काव्यांशविशेषे वर्त्तमानं तच्छरीरे वर्त्तमानेन पङ्गुत्वेन तुल्यं चमत्कारापहारि, ततश्च रसाद्यप्रतीत्यापत्तिरित्याह--इदं चेत्यादिना।

प्रकारान्तरमश्रव्यत्वस्याह--स्वेच्छयेत्यादिना। स्वेच्छया=अनुशासनं विना। 'णि' 'इन्द्र' इत्यत्रेकारसवर्णदीर्घसन्ध्यभावः स्वेच्छया कृतः। 'चन्द्रमुखि!' इति पाठे तु नाश्रव्यत्वं स्यात्। असकृदेवेति। एतेन सकृत् प्रगृह्यताप्रयुक्तसन्ध्यभावो नाश्रव्यत्वापादक इति लभ्यते, अन्यथा काव्ये तदनुशासनानर्थक्यमननुष्ठानलक्षणं स्यात्। सकृदनुष्ठानेन शास्त्रसार्थक्ये पुनस्तदननुष्ठानं न शास्त्रवैयर्थ्यात्मकमिति तात्पर्यम्। अहो इत्यत्र 'ओत्' इति सूत्रेण, 'अमी' इत्यत्र च 'अदसो मात्' इति सूत्रेण प्रगृह्यता। चन्द्रमुखीतिपाठे त्वत्राप्यश्रव्यत्वमपनुद्यते। एवमेव=असकृत्

संयोग दीर्घ-स्वर से अव्यवहितोत्तरवर्त्ती और भिन्नपदगत हो हीं नहीं सकता। अतः परसवर्णनिष्पन्न संयोग कभी भी अश्रव्य नहीं होता। यह काव्यगत अश्रव्यता प्राणियों में पाई जाने वाली पङ्गुता (लंगड़ापन) के समान है जो रस-प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। अतः वर्जनीय है।

पूर्वोक्त अश्रव्यता से अतिरिक्त नियमप्राप्त स्वरसन्धि आदि का न करना भी अश्रव्यताधायक है। जैसे--'रम्याणि इन्दुमुखि ते किलकिञ्चितानि' (अरी चन्द्रमुखी! तेरे ये भाव, जो मित्रादि की प्राप्ति से उत्पन्न हर्ष के कारण मुस्कुराहट, शुष्क रोदन और क्रोध आदि से मिश्रित हैं, बड़े ही आकर्षक है)। इस पद्यांश में 'णि' के इकार और 'इन्दु' के इकार के स्थान में प्राप्त सवर्णदीर्घ न करने से अश्रव्यता आ गई है। इसी प्रकार 'प्रगृह्य-संज्ञा' के कारण 'प्रकृतिभाव' हो जाने पर सामान्यतः स्वर-सन्धियाँ जहाँ नहीं हो पातीं ऐसे पदों का अनेक बार एक वाक्य में प्रयोग करने पर भी अश्रव्यता आ जाती। उदाहरणार्थ--'अहो अमी इन्दुमुखीविलासाः' (चन्द्रमुखी के ये विलास अद्‌भुत हैं!) इस पद्यांश में 'अहो' इस निपात के 'ओत्' (पा० सू० १।१।१५) सूत्रानुसार और 'अमी' पद के 'अदसो मात्' (पा० सू० १।१।१२) सूत्रानुसार प्रगृह्य-संज्ञक हो जाने से क्रमशः पूर्वरूप और सवर्णदीर्घ सन्धियाँ नहीं हो पातीं। अतः व्याकरणानुसार इस प्रयोगों में शुद्धता होने पर भी अश्रव्यता है हीं। इसी तरह यदि किसी काव्य मे अनेक बार 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० सू० ८।३।१९) सूत्रानुसार यकार अथवा वकार का लोप किया गया हो तो भी अश्रव्यता का अनुभव होता।

विलासाः'। एवमेव च य-व-लोपप्रयुक्तम्—'अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ताः'।

कथं तर्हि—

भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरमण ।
तारा इव तुरगा इव सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ॥

सन्ध्यकरणम् । अत्र च 'लोपः शाकल्यस्य' इति य-व-लोपानुशासनस्य त्रिपादीस्थत्वेन सपादसमाध्यायीस्थगुणादिविधि प्रत्यसिद्धत्वाद् भवति सन्ध्यकरणम्। असकृदेवं सत्यश्रव्यत्वम् । सकृत्त्वनुशासनानुष्ठानार्थत्वान्न तथा । अपर इषव इत्यत्रायादेशघटकस्य इषव एते इत्यत्र च यादेशस्य पूर्वोक्तेन सूत्रेण विकल्पेन लोपः कृतः ।

भुजगेत्यादि । हे अवनीरमण ? भवतो मन्त्रिणः भुजगानां सर्पाणामहिता प्रकृतिर्येषां ते भुजगाऽहितप्रकृतयो गरुडसम्बन्धिमन्त्रा इव भुजगानां विटानामहिता

जैसे—'अपर इषव एते कामिनीनां दृगन्ताः' (कामिनियों के ये कटाक्ष दूसरे बाण हीं तो हैं) । इस पद्यांश में 'अपरे+इषवः' इस स्थिति में 'रे' के एकार के स्थान में 'एचोऽयवायावः' (पा० सू० ६।१।७८) द्वारा विहित अय् आदेश के अवयव 'य्' का और 'इषवः+एते' इस स्थिति में विसर्गादेश के असिद्ध हो जाने से प्राप्त रेफ के स्थान में 'भो-भगो-अघो...योऽशि' (पा० सू० ८।३।१७) सूत्र द्वारा विहित 'य्' का पूर्वोक्त सूत्र से लोप किये जाने से अश्रव्यता आ गई है। अब प्रश्न यह है कि यदि उपर्युक्त य्, व् के लोप से वाक्य में अश्रव्यता आ जाती है तो फिर पण्डितराज ने स्वयं हीं—'भुजगाहितप्रकृतयो गारुडमन्त्रा इवावनीरमण। तारा इव तुरगा इव सुखलीना मन्त्रिणो भवतः ।।' इस पद्य का निर्माण कैसे किया, क्योंकि इसमें भी 'मन्त्राय् इव', 'ताराय् इव', 'तुरगाय् इव' के स्थान पर जो '... मन्त्रा इव', 'तारा इव', 'तुरगा इव' ये पाठ हैं इनमें 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० सू० ८।३।१९) के अनुसार 'य्' का बारम्बार लोप किया गया है। इसके उत्तर में पण्डितराज ने यह कहा है कि उक्त पद्य में य् के लोप के बिना हीं 'मन्त्रायिव', 'तारायिव', 'तुरगायिव' पाठ होने से अश्रव्यता नहीं है। यह य्-लोपाभाव उक्त लोप-विधि के वैकल्पिक—शाकल्यमात्र आचार्य के मत में लोप और अन्य आचार्यों के मत में उसका अभाव—होने से सम्भव है। 'सुखलीनाय् मन्त्रिणो' के स्थान पर 'हलि सर्वेषाम्' (पा० सू० ८।३।२२) सूत्र से नित्य य्-लोप यद्यपि किया गया है तथापि इसका बाहुल्य—एक से अधिक बार—न होने से इस अंश में अश्रव्यता नहीं है। पद्यार्थ निम्नलिखित है—

"हे राजन् ! आपके मन्त्री तो भुजगों—सर्पों के लिए अहितकर स्वभाव वाले गरुड़-मन्त्रों के समान भुजगों—धूर्तों के लिए अहितकर स्वभाव वाले, अच्छी तरह

इति भवदीयं काव्यमिति चेत् ? अकृत्वैव तलोपं पाठान्न दोषः।

एवं रोरुत्वस्य हलि लोपस्य यण्गुणवृद्धिसवर्णदीर्घपूर्वरूपादीनां नैकट्येन बाहुल्यमश्रव्यताहेतुः। एवमिमे सर्वेऽप्यश्रव्यभेदाः काव्यसामान्ये वर्जनीयाः॥

अथ विशेषतो वर्जनीयाः। तत्र मधुररसेषु ये विशेषतो वर्जनीया अनुपदं वक्ष्यन्ते त एवौजस्विष्वनुकूलाः, ये चानुकूलतयोक्तास्ते प्रतिकूला इति सामान्यतो निर्णयः। मधुररसेषु दीर्घसमासं झयुघटितसंयोगपरह्रस्वस्य

प्रकृतिर्येषां ते भुजगाऽहितप्रकृतयः, सुष्ठु खे गगने लीनाः सुखलीनास्तारा इव, अथ च सुष्ठु खलीनं कविका ('लगाम' इति लोके प्रसिद्धम्) येषां ते सुखलीनास्तुरगा इव सुखलीनाः सुखे लीनाः निमग्नाः सन्ति। अत्र 'मन्त्रा इव', 'तारा इव' 'तुरगा इव' इत्यत्र त्रिषु यलोपः पूर्वोक्तसूत्रेण विहितः, तस्यासिद्धत्वाद्गुणसन्धिर्न भवतीत्यश्रव्यत्वं भवतः काव्येऽप्यापतितमिति प्रश्नः। उक्तस्य यलोपस्य वैकल्पिकत्वेन तल्लोपमकृत्वैव 'मन्त्रायिव' 'तारायिव', 'तुरगायिव' इति पाठेन निवारणीयमश्रव्यत्वमित्युत्तरम्। दोषान्तराणि निर्दिशति—एवमित्यादिना। नैकट्येन = अव्यवधानेन, स्वल्पव्यवधानेन वा। अतएव प्रबन्धे दूरेणैषां प्रयोगबाहुल्येऽपि नाश्रव्यत्वं यदि क्वचित् क्वचिद्वाक्ये सकृत्प्रयोगः। एकस्मिन्नेव वाक्ये प्रबन्धघटकेऽप्यसकृत्प्रयोगे त्वश्रव्यत्वं भवेदेव। बाहुल्यमिति। एतेनैषां सकृत् प्रयोगे दोषाभाव उक्तः॥

सम्प्रति तत्तद्गुणानुकूलरचनासु वर्जनीयानाह—अथेत्यादिना। सामान्यत इति। विशेषापेक्षत्वाद्विशेषतो बोध्यमिदम्। दीर्घसमासमिति। अस्य वर्जयेदित्यनेनान्वयात् सकृदपि मधुररसे दीर्घसमासस्य वर्जनीयत्वमुक्तम्। अन्येषान्त्वसकृत्प्रयोगं वर्जयेदिति स्पष्टमेवोक्तम्। झयुघटितेत्यादि। झय्-प्रत्याहारघटितः संयोगः परो

आकाश में लीन (सु+ख+लीनाः) तारों के समान और सुन्दर लगाम वाले घोड़ों के समान (सु+खलीनाः येषाम्) सुख में निमग्न (सुख+लीनाः) हैं॥"

उक्त अश्रव्यता-प्रकारों से अतिरिक्त अश्रव्यता उस काव्य में भी आ जाती है जिसमें 'रु' के स्थान में उत्त्व, 'हलि सर्वेषाम्' सूत्रानुसार य्-लोप, यण्-सन्धि, गुण-सन्धि, सवर्णदीर्घ-सन्धि, पूर्वरूप एवं पररूप आदि सन्धियाँ लगातार एक से अधिक बार की गई हों, केवल एक बार करने अथवा दूर-दूर अनेक बार करने पर भी अश्रव्यता नहीं आती। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी सत्कवि को अपने काव्य में उपर्युक्त अश्रव्यताओं तथा अनुभवानुसार अन्य अश्रव्यताओं का भी आघायक विन्यास कदापि नहीं करना चाहिए॥

अब एक-एक गुण के अभिव्यञ्जक काव्य में विशेष रूप से वर्जनीय शब्दों का निरूपण किया जा रहा है—इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम यह ज्ञातव्य है कि शृङ्गारादि मधुर रसों में शीघ्र हीं जिन्हें वर्जनीय कहा जाने वाला है वे ओजस्वी वीरादि रसों

विसर्जनीयादेशसकारजिह्वामूलीयोपध्मानीयानां टवर्गझयां रेफहकारान्यतर-घटितसंयोगस्य हलां ल-म-न भिन्नानां स्वात्मना संयोगस्य झयुद्वयघटित-संयोगस्य चासकृत्प्रयोग नैकट्येन वर्जयेत्। सवर्णझयुद्वयघटितसंयोगस्य

यस्मादिति बहुव्रीहिः। विसर्जनीयेत्यादि। विसर्जनीयस्थानिक आदेशः सकारादि-रित्यर्थः। तेन विसर्जनीयस्याऽसकृत्प्रयोगेऽवर्जनीयत्वं सिध्यति। एतच्च 'सानुरा-गास्सा' इत्यादिवक्ष्यमाणोदाहरणे पूर्वार्धमात्रस्य माधुर्याननुगुणत्ववर्णनेन लभ्यते। तथा च तदवतरणवाक्ये विसर्जनीयप्राचुर्यमित्यस्य विसर्जनीयस्थानिकादेशसकार-प्राचुर्यमित्यर्थो बोध्यः। अत एव 'विसर्गसकार' इति पूर्वोक्त ओजोव्यञ्जकगुम्फ-वर्णनवाक्ये विसर्जनीयादेशः सकार इत्यर्थः। सकारश्चात्र स्वस्थानिकशकार-स्याप्युपलक्षणम्। विसर्जनीयश्च तदादेशाश्चेत्यादिरूपेण समासे विवक्षिते तु वक्ष्यमाणोदाहरणस्य तुरीये पादे 'कान्तायाः स्वान्तवृत्तयः' इति मुद्रितपाठस्थाने उत्तरार्धस्य माधुर्यानुगुणत्वोपपादनाय कान्तायास्स्वान्तवृत्तयः' इति पठनीयम्। स्वात्मनेति। स्वाभिन्नेनेत्यर्थः। टवर्गझयामिति। टवर्गसहितानां टवर्गसह-चरितानां वा झयामित्यर्थः। द्वन्द्वे तु काव्यस्यैतादृशस्य विरलविषयत्वापत्तिः। चतुर्णां टवर्गीयाणां झयुत्वेऽपि विशेषेण वर्जनीयत्वप्रतिपादनाय ब्राह्मणवसिष्ठन्यासेन पृथगुपादानं मन्तव्यं द्वन्द्वपक्षे। झयुभिन्नस्य णकारस्य ग्रहणार्थं टवर्गग्रहणमिति रसचन्द्रिका। तदयुक्तम्, णकारस्यात्र वर्जनीयत्वाभावात्। उपपादयिष्यते चैतदग्रेऽपि एतदुदाहरणव्याख्यानावसरे। पूर्वस्त्वर्थो युक्तः। अत एव समुच्चितानामेवोदाहरण-

में अनुकूल, और जिन्हें मधुर रसों में अनुकूल माना गया है वे ओजस्वी रसों में प्रतिकूल होते। मधुररसाभिव्यञ्जक रचना में दीर्घ-समास का तो कभी प्रयोग नहीं करना चाहिए। साथ ही, झय्-प्रत्याहार (झ्, भ्, घ्, ढ्, ध्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, क्, प्) के व्यञ्जन के संयोग से पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर का; विसर्जनीयस्थानिक[1] आदेशों—स् अथवा श्, जिह्वामूलीय, उपध्मानीयों का; टवर्ग से सन्निकृष्ट झय्-प्रत्याहारान्तर्गत व्यंजनों का; रेफ अथवा हकार से घटित संयोग का; ल्, म्, और न् को छोड़कर अन्य व्यंजनों के उन्हीं व्यंजनों के साथ (त्+त्) संयोग का और झय्-प्रत्याहारान्तर्गत भिन्न-भिन्न दो व्यंजनों के संयोग का एक से अधिक बार निकट में प्रयोग नहीं करना चाहिए। झय्-प्रत्याहारान्तर्गत सवर्ण व्यञ्जन (च्+छ् आदि) का और शर्[2] (=श्, ष्,

१. विसर्जनीय और उसके आदेशों······इस प्रकार भी अर्थ किया जा सकता है।

२. यद्यपि शल् प्रत्याहार (श्, ष्, स्, ह्) महाप्राण है तथापि हकारघटित-संयोग के असकृत्—एक से अधिक बार—प्रयोग के वर्जनीय होने से यहाँ केवल शर्-प्रत्याहारान्तर्गत व्यञ्जनों का निषेध किया गया है।

र्भिन्नमहाप्राणघटितसंयोगस्य सकृदपीति संक्षेपः ॥

दीर्घसमासो यथा—

लोलालकावलिबलन्नयनारविन्द-
लीलावशवदितलोकविलोचनायाः ।
सायाह्नि प्रणयिनो भवनं व्रजन्त्या-
श्चेतो न कस्य हरते गतिरङ्गनायाः ॥

मपि दास्यते । नैकटयेनेति । नैकट्यं चात्र वैवक्षिकमेकानुभवप्रवाहपतितत्वं वा बोध्यम् । सकृदपीत्यत्रापिशब्देनासकृत्प्रयोगस्य सुतरां वर्जनीयत्वमुक्तम् ।

वर्जनीयानामुदाहरणानि क्रमेणाह—दीर्घेत्यादिना ।

लोलालकेत्यादि । लोलानां चञ्चलानां मुखोपरिस्फुरतामलकानां केशानां या आवलिस्तया बलद् आच्छन्नमावृतं यन्नयनारविन्दं तस्य लीलया विलासपूर्णया आच्छादकाऽलकावलिनिक्षेपाय क्रियमाणेन व्यापारेण वशम्वदितान्येकान्तत आकृष्टानि लोकानां विलोचनानि यया तस्याः, अथचैवंरूपेण सायाह्नि स्वप्रियतमस्य भवनं व्रजन्त्या अङ्गनाया गतिः कस्य रसिकस्य मनो न हरत इत्यर्थः । अत्र हरतेरात्मनेपदं चिन्त्यम् ॥

अत्र पूर्वे व्याख्यातारः वलदिति अन्तःस्थादि चलनार्थकं धातुं मत्वा व्याचक्षते । तत्र चलनार्थकस्य वलधातोः परस्मैपदः कथमित्यवगन्तुं न शक्यते । अतो बलन्निति पवर्गादिः पाठः कर्त्तव्यः । धातूनामनेकार्थत्वाच्च प्राणनार्थकस्य बलधातोरर्थान्तरं प्रकृतोपयोगि मन्तव्यम् । चलदितिपाठान्तरकल्पनमप्यरसिकत्वं तेषाम्प्रमाणयति, लीलेत्यनेनोक्तार्थत्वं चेति । यदि तु कथञ्चिदन्तःस्थादिरेव वलधातुः परस्मैपदीति

स्) को छोड़कर अन्य महाप्राण व्यञ्जनों (पाँचों व्यञ्जन-वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ व्यञ्जनों) से घटित संयोग का तो एक बार भी प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

दीर्घसमास का प्रयोग 'लोलालकावलि···' इत्यादि पद्य में किया गया है । पद्यार्थ निम्नलिखित है—

"चञ्चल केश-कलाप से आच्छन्न नेत्र-कमल के विलासपूर्ण व्यापार से लोगों के लोचन को बरवश आकृष्ट करती हुई शाम के समय अपने प्रेमी के घर की ओर जाने वाली अभिसारिका की गति किस रसिक के मन को आकृष्ट नहीं कर लेती ? अर्थात् सब के मन को आकृष्ट कर हीं लेती है ॥"

इस पद्य का पूर्वार्द्ध एक समस्त पद है । अतः यह मधुर रस के प्रतिकूल निबन्धन है ।

झयूघटितसयोगपरह्रस्वानां प्राचूर्यं नैकट्येन यथा—

हीरस्फुरद्रदनशुभ्रिमशोभि किं च
सान्द्रामृतं वदनमेणविलोचनायाः ।
वेधा विधाय पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं
दूरीकरोति न कथं विदुषां वरेण्यः ॥

अत्र भ्रिशब्दपर्यन्तं शृङ्गारानुगुणम् । शिष्टं तु रमणीयम् । उत्तरार्धे ककारतकाररूपझयूद्वयसंयोगस्य सत्त्वेऽपि प्राचुर्याभावान्न दोषः । यदि

मन्यते तर्हि तस्य सम्वरणरूपमाह्लादकमर्थं विहाय चलनार्थकत्वाभ्युपगमस्तेषां रसिकत्वे न प्रमाणमित्यालोचनीयम् ।

हीरस्फुरदित्यादि । हीरा हीरका इव स्वच्छतया स्फुरन्तो ये रदना दन्तास्तेषां शुभ्रिम्णा धवलतया शोभनशीलमथच च सान्द्रममृतं यत्र (अधरोष्ठे तद्घटितम्) मृगाक्ष्या वदनं विधाय विदुषां वरेण्यः श्रेष्ठो वेधा प्रजापतिः पुनरुक्तमिवेन्दुबिम्बं पूर्वविहितमपि कथं न दूरीकरोति ? यथा पूर्वप्रयुक्तमपि शब्दमनन्तरं विवक्षितार्थवाचकमधुरतरशब्दप्रयोगे कृते विदुषां वरेण्यो दूरीकरोति निरस्यति तथैव वेधसापि कर्त्तव्यम्, तथा चाऽकुर्वन् वेधा न विदुषां वरेण्योऽपितु हीन एवेति तात्पर्यम् । मर्मप्रकाशादौ तु नञः काकुप्रयोगमाश्रित्य परिवेषच्छलेन परिभ्रमणच्छलेन वा दूरीकरोत्येवेत्यपि तात्पर्यान्तरमुक्तम् । तत्र लट्प्रयोगोऽत्र काक्वाश्रयणे ईषत्प्रतिकूल इव प्रतीयते ।

अत्र च पद्ये 'स्फु' 'द्र' 'भ्रि' इति फकार-दकार-भकारात्मकझयूघटितसंयोगानां नैकट्येन प्रयोगात् माधुर्याननुगुणत्वं भ्रिशब्दान्तस्य भागस्येत्याह—अत्रेत्यादिना । झयूद्वयेत्यादि । संयोगस्य द्वयोः पर्याप्तत्वात् प्रत्येकमादायास्य झयूघटितत्वम्, स्वस्य

झयू-प्रत्याहार के व्यञ्जनों से घटित संयोगों से पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरों का निकटता से प्रचुर प्रयोग 'हीरस्फुरद्रदन ····' आदि पद्य में किया गया है। पद्यार्थ निम्नलिखित है—

"प्रथमोक्त अर्थ का अभिधान जब पुनः (कुछ उत्कृष्ट रूप में) हो जाता है तब लेखक प्रथम शब्द को दूर—काट कर अलग—कर देता है। ऐसी स्थिति में जब विद्वानों मे श्रेष्ठ विधाताने मृगनयनी कामिनी के हीरे के समान चमकते दांतों से सुशोभित और गाढ़े अधरामृत से परिपूर्ण मुख का निर्माण कर ही लिया तब स्वरचित चन्द्रमण्डल को हटा क्यों नहीं लेता ?"

इस पद्य में (····· शु)भ्रि' शब्द तक मधुररस के प्रतिकूल विन्यास है, क्योंकि 'स्फु'; 'द्र' और 'भ्रि' इन तीन झयू-घटित संयोगों से पूर्व अ-अ-उ इन तीन ह्रस्व स्वरों का प्रयोग हुआ है। उत्तरार्ध (तृतीय पाद) मे 'क्त' यह एक झयू घटित

तु 'दन्तांशुकान्तमरविन्दरमापहारि सान्द्रामृतं' इत्यादि क्रियते तदा सर्वमेव रमणीयम् ।

विसर्गप्राचुर्यं यथा—

सानुरागास्सानुकम्पाश्चतुरास्शीलशीतलाः ।
हरन्ति हृदयं हन्त कान्तायाः स्वान्तवृत्तयः ।।

अत्र शकारद्वयसंयोगान्तं पूर्वार्धं माधुर्याननुगुणम् ।

जिह्वामूलीयप्राचुर्यं यथा—

स्वघटकत्वाद्वा । 'म्बं' इत्यस्य झय्घटितसंयोगत्वेऽपि मधुरमकारघटितत्वेन तत्पूर्व ह्रस्वमादाय न प्राचुर्यमिति कथञ्चिद् व्याख्येयम् । मकारस्य परसवर्णनिष्पन्नत्वेन तद्घटितसंयोगस्य चानुकूलतया वा समाधेयम् । दन्तांशुकान्तमित्यादि । दन्तानामंशुभिः प्रकाशैः कान्तं मनोहरमथ चारबिन्दस्य रमायाः श्रियोऽपहारि— इत्यादिरर्थः । चन्द्रबिम्बेपि कमलकान्त्यपहारकत्वं प्रसिद्धमेव ।

सानुरागा इत्यादि । कान्तायाः सानुरागाः सानुकम्पाः चतुरा विदग्धा अथ च शीलेन रसिकस्वभावेन शीतला अनुकूलाः स्वान्तवृत्तयो मनोवृत्तयः कस्य हृदयं न हरन्ति ? हरन्त्येव सर्वेषां हृदयमित्यर्थः । हन्तेति हर्षे ।

पूर्वार्धमित्यादि । अत्र विशेषः पूर्वमुक्तः ।

संयोग से पूर्व 'उ' यह एक हीं ह्रस्व स्वर है । अतः इस तरह के संयोगों से पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरों की प्रचुरता नहीं कही जा सकती । यद्यपि 'न्दु' और 'म्बं' इन शब्दों में भी झय् घटित संयोग तो हैं हीं तथापि 'न्दु' शब्द से पहले ह्रस्व स्वर न होन से कोई दोष नहीं है । साथ हीं, 'न्दु' यह संयोग परसवर्णघटित भी है । इसी प्रकार, 'म्ब' यह संयोग भी परसवर्णघटित है । अतः इसमें भी स्व-पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वर को दूषित करने का सामर्थ्य नहीं है । यदि उक्त पद्य का पूर्वार्द्ध 'दन्तांशुकान्तम···· ' इत्यादि रूप में संग्रथित हुआ होता तो कोई दोष नहीं रह जाता ।

विसर्गस्थानिक सकार-शकार के प्राचुर्य का उदाहरण 'सानुरागास्सानु····' आदि पद्य है । इसमें 'श्शी' शब्द तक पूर्वार्द्ध मधुर रस के प्रतिकूल है, क्योंकि इसमें 'गा-पा-रा' के बाद विसर्गस्थानिक 'स्-श्-श्' का प्रयोग हुआ हैं । पद्यार्थ यह है—

"कामिनी की अनुरागपूर्ण, अनुकम्पायुक्त, आकर्षणनिपुण और शील से शीतल चित्तवृत्तियाँ बरबश हीं रसिकों के अन्तःकरण को आकृष्ट कर लेतीं ।।"

विसर्गस्थानिक जिह्वामूलीय की प्रचुरता 'कलितकुलिश · · · ·' आदि पद्य में उपलब्ध है । पद्यार्थ इस प्रकार है—

कलितकुलिशघाता ≍ केऽपि खेलन्ति वाता ≍
कुशलमिह कथं वा जायतां जीविते मे ।
अयमपि बत गुञ्जन्नालि माकन्दमौलौ
चुलुकयति मदीयां चेतनां चञ्चरीकः ।।

अत्र द्वितीयजिह्वामूलीयपर्यन्तमननुगुणं माधुर्यस्य । यदि च 'कथय कथमिवाशा जायतां जीविते मे, मलयभुजगवान्ता वान्ति वाताः कृतान्ताः' इति विधीयते तदा नायं दोषः ।

उपध्मानीयप्राचुर्यं यथा—

कलितेत्यादि । कुलिशस्य वज्रस्य घाता इव घाताः कुलिशघाताः, कलिताः कुलिशघाता यैस्ते केऽपि विलक्षणा वाता इह खेलन्ति यदा तदा हे आलि मम जीवितविषये कथं नाम कुशलं जायताम् ! माकन्दमौलौ आम्रशिखरे गुञ्जन्नयं चञ्चरीको भ्रमरोऽपि मदीयां चेतनां चुलुकयति शोषयति—इति पद्यार्थः ।

द्वितीयेति । वाता ≍केपीत्यत्रेत्यर्थः । द्विःप्रयोगेऽपि प्राचुर्यमभिमतमिति पूर्वमुक्तमेव । मलयेत्यादि । मलयाचलस्था ये वातास्तैर्वान्ता उद्गीर्णा अत एव कृतान्ताः कृतोऽन्तो विनाशो यैस्ते, यद्वा कृतान्तो यमस्तत्सदृशा (वाताः) वान्ति प्रवहन्ति इत्यर्थः परिष्कृतस्य पाठस्य ।

उपध्मानीय इत्यादि । पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो विसर्गस्थानिक आदेशः ≍ इति रेखाङ्कित उपध्मानीय उच्यते । तस्य प्रचाचुर्यमेकाधिकवारं प्रयोगः ।

"वज्र के समान कठोर आघात करने वाली यह कोई भयङ्कर हवा (आन्धी) बह रही है । ऐसी दशा में मेरे जीवन में कुशल कैसे हो सकता ? देख मेरी सखी ! आम के बौरों पर गूँजता हुआ यह भौरा भी मेरी चेतना को पीता सा-जा रहा है ।।"

उपर्युक्त पद्य में 'घाता≍' यह प्रथम और 'वाता≍' यह द्वितीय जिह्वामूलीय है । यहाँ तक का अंश माधुर्य के लिये प्रतिकूल है । अतः यदि 'कथय कथमिवाशा....' इत्यादि रूप में पूर्वार्द्ध का विन्यास कर दिया जाय तो माधुर्य के अनुकूल होगा । इस पाठान्तर का अर्थ यह है—"बता री सखी ? मुझे अपने जीवन की आशा कैसे हो सकती जब मलयाचलनिवासी विषधर साँपों के मुँह से निकली हुई प्राणहरण करने वाली हवा बह रही हो ।।"

विसर्गस्थानिक उपध्मानीय की प्रचुरता का प्रयोग 'अलका≍ फणि....' आदि पद्य में हुआ है । इसमें 'अलका≍'और 'नयनान्ता≍' इन दो उपध्मानीयों का प्रयोग शान्त रस के प्रतिकूल है । पद्यार्थ इस प्रकार है—

अलका॒ फणिशावतुल्यशीला नयनान्ता॒परिपुङ्खितेषुलीलाः ।
चपलोपमिता खलु स्वयं या बत लोके सुखसाधनं कथं सा ॥
अत्र द्वावुपध्मानीयावेव न शान्तानुगुणौ ।
टवर्गझयां प्राचुर्यं यथा—

वचने तव यत्र माधुरी सा हृदि पूर्णा करुणा च कोमलेऽभूत् ।
'अधुना हरिणाक्षि हा कथं वा कटुता तत्र कठोरताविरासीत् ॥
अधुना सखि तत्र हा कथं वा गतिरन्यैव विलोक्यते गुणानाम्' इति त्वनुगुणम् ।

अलका॒ फणि ······ इत्यादि । सा स्त्री लोके सुखसाधनं कथं भवेद् यस्या अलकाः केशपाशाः फणिशावैः सर्पशिशुभिस्तुल्यं शीलं येषां तादृशाः, नयनान्ताश्च कटाक्षाः परिपुङ्खिताः पुङ्खयुक्ता ये इषवो बाणास्तेषां लीलेव लीला येषां तादृशाः, गम्भीराघातजनका इति यावत्, अथ च स्वयं चपलया विद्युतोपमिताऽतीव चञ्चलस्वभावा वर्त्तत इत्यर्थः ।

अत्रोपध्मानीयद्वयम्, एकः—अलका॒ इत्यत्र अन्यश्च—नयनान्ता॒ इत्यत्रेति प्राचुर्यं स्पष्टमेव । शेषस्तु बन्धो युक्त एवेत्येवकारेण सूच्यते ।

वचन इत्यादि । हे हरिणाक्षि ? तव यत्र वचने सा विलक्षणा माधुरी, यत्र च तव कोमले हृदि पूर्णा करुणाऽभूत् तत्रैव वचनेऽधुना मानकाले कटुता हृदि च कठोरता कथं प्रादुर्भूतेत्यर्थः । अत्र टवर्गस्य कटुता-कठोरता-शब्दयोर्द्विःप्रयोगो नानुकूल इति अनुकूलं पाठान्तरमुत्तरार्धस्य प्रदर्शयति—अधुनेत्यादि । अर्थः

"जिस वनिता के केश-पाश साँप के बच्चों के समान हों, जिसके कटाक्ष पंख वाले बाणों के समान आघात करने वाले हों और जो स्वयम् बिजली के समान चञ्चल हो वह वनिता भला इस लोक में सुख का साधन कैसे हो सकती ?"

टवर्ग-झय् के प्राचुर्य का उदाहरण है 'वचने तव यत्र···' आदि पद्य। इसमें 'कटुता' और 'कठोरता' शब्दो में टवर्ग के साथ-साथ झय्-प्रत्याहारान्तर्गत क-ट और क-ठ का प्रयोग होने से रचना में शृङ्गारानुकूलता नहीं है। पद्यार्थ निम्नलिखित है।—

"अरी प्रिये ! मुझे आश्चर्य है कि तेरी जिस बाणी में मधुरता और कोमल हृदय में पूर्ण करुणा थी उन्हीं वाणी और कोमल हृदय में आज क्रमशः ये कटुता और कठोरता कहाँ से आ गई ?"

परन्तु इसी पद्य का उत्तरार्द्ध यदि 'अधुना सखि·····' इत्यादि रूप में विन्यस्त होता तो वह शृङ्गार के प्रतिकूल न होता। इस पाठान्तर का अर्थ है—"किन्तु आज तेरी वाणी और कोमल हृदय में पहले के गुणों के विपरीत दशा क्यों देखी जा रही है ?"

रेफघटितसंयोगस्यासकृत्प्रयोगो यथा—

तुलामनालोक्य निजामखर्वं गौराङ्गि गर्वं न कदापि कुर्याः ।
लसन्ति नानाफलभारवत्यो लताः कियत्यो गहनान्तरेषु ।।

यदि तु 'तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' इति निर्मीयते तदा साधु ।

स्पष्टः । अत्र णकारस्याप्यसकृत्प्रयोगमननुकूलमभिमन्यते रसचन्द्रिकाकृत्, तत्त्वस्मिन् परिष्कृते पाठे 'हरिणाक्षि' इति पूर्वपाठस्थाने 'सखि'-शब्दप्रयोगं कारणं मत्त्वा । वस्तुतस्तु नेदं सम्यक्, णकारस्य माधुर्यानुगुणत्वस्य पण्डितराजसम्मतत्वात् । कथमन्यथा पूर्णा करुणेति णकारप्राचुर्यस्य पूर्वार्धे सत्त्वेऽपि उत्तरार्धमात्रमननुगुणं मत्त्वा तत्स्थान एव पाठान्तरं कल्पयेत् ? यस्तु 'हरिणाक्षि' इत्यत्र 'सखि' इति पाठान्तरं कृतं तन्न णकारस्यामधुरत्वादपि तु विवक्षितस्य तत्रेति पदस्य समावेशायैवेति बोध्यम् । तदेवं पूर्वस्मिन् पाठे उत्तरार्धे टवर्गप्राचुर्यं प्रदर्शितम् । अन्येषां टवर्गसहचरितानां ककारादीनां ज्ञयामपि प्राचुर्यं व्यक्तमेवात्र ।

तुलामनालोक्येत्यादि । हे गौराङ्गि ! निजां तुलां स्वकीयगुणसादृश्यमापाततोऽन्यस्यां कामिन्यामनालोक्य कदापि अखर्वं गर्वं न कुर्याः, यतो नानाफलभारसम्पन्नाः कियत्योऽपरिमिता लता गहनान्तरेषु वनान्तःप्रदेशेषु लसन्ति । अतस्त्वमतुलनीया न वर्त्तस इत्याशयः । अत्र पद्ये अखर्वं गर्वं कुर्या इत्येतेषु पदेषु त्रयाणां रेफघटितसंयोगानां सत्त्वादानुगुण्याभाव इति हेतोः पाठान्तरं प्रदर्शयति—'तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन्' इति । एतावताऽपि 'गर्वं' कुर्याः' इत्युभयत्र रेफघटितसंयोगस्य सत्त्वाद् द्विःप्रयोगेऽपि असकृत्त्वस्य निर्वाहात् कथमानुगुण्यमिति न ज्ञायते । 'न कदापि' इत्यनेन व्यवधानेऽपि नैकट्यं त्वक्षतमेव, कथमन्यथा सङ्गतिः स्यादुदाहरणान्तराणाम् । अतोऽत्रागुनुण्यसम्पादनाय 'तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन् गौराङ्गि मानं न कदापि कुर्याः' इति, 'तुला · · · · गौराङ्गि गर्वं न कदापि धेयाः' इति वा पाठान्तरं कल्पनीयम् । द्वितीयपादे गर्वं कुर्या इत्यादेः सत्त्वेऽपि

रेफघटित संयोग के प्रचुर प्रयोग का उदाहरण 'तुलामनालोक्य·····' आदि पद्य है । इसमें 'अखर्वं'; 'गर्वं', और 'कुर्याः' इन पदों में तीन बार रेफघटित संयोग हैं। ये शृङ्गाररस के प्रतिकूल हैं । हाँ, यदि इसके पूर्वार्द्ध का 'तुलामनालोक्य महीतलेऽस्मिन् गौराङ्गि मानं न कदाऽपि कुर्याः' यह पाठ हो तो पूर्वोक्त दोष नहीं रह जाता । उदाहृत पद्य का अर्थ है—

"अरी गौराङ्गी सखी ! स्तनों के भार से अवनत अपनी देहयष्टि की अन्य युवतियों में समानता न पाने मात्र से इतना असीम अहङ्कार कदापि मत कर, क्योंकि नाना प्रकार के फलों के भार से अवनत कितनी ही लताएँ जङ्गल के अन्दर सुशोभित हो रही हैं ।।"

हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मना संयोगस्यासकृत्प्रयोगो यथा—'विगणय्य मे निकाय्यं तामनुयातोऽसि नैव तन्न्याय्यम्।' ल-म-नानां स्वात्मना संयोगस्तु न तथा पारुष्यमावहति। यथा—

इयमुल्लसिता मुखस्य शोभा परिफुल्लं नयनाम्बुजद्वयं ते।
जलदालिमयं जगद्वितन्वन्कलितः क्वापि किमालि नीलमेघः॥

प्राचुर्याभावादिति यदुक्तं रसचन्द्रिकायां तद् व्यामोहात्। द्विःप्रयोगेऽपि प्राचुर्याऽक्षतेः। हकारेण पुनः घटितस्य संयोगस्याऽसकृत्प्रयोगस्योदाहरणम्—'आरुह्य शैलमपि सह्यमसह्यवातम्' इति रामायणचम्पूतो द्रष्टव्यम्। अत्र तु न लभ्यते। कारणं न ज्ञायते।

विगणय्येत्यादि। खण्डिता नायिका नायकमुपालभते। मम निकाय्यं गृहं विगणय्य परित्यज्य यत्त्वं तामन्यां नायिकामनुयातोऽसि तत् कथमपि न्याय्यं न्यायादनपेतमुचितं नेत्यर्थः। अत्र यकारद्वयघटितः संयोगस्त्रिःकृत्वः प्रयुक्त इति प्रातिकूल्यम्।

तथेति। अधिकमित्यर्थः। अतश्च लादीनामपि परिहरणीय एव भूयो भूयः स्वात्मना संयोगो महाकविनेति सूच्यते। आवहतीति। अत एव हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मना संयोगस्य असकृत्प्रयोगं वर्जयेदिति पूर्वमुक्तम्।

इयमुल्लसितेत्यादि। कृष्णदर्शनप्रसन्नां गोपीं तत्सखी पृच्छति—हे आलि? तव मुखस्येयमेतावती विलक्षणा वा शोभा उल्लसिता, नयनकमलद्वयं च परिफुल्लं पूर्णविकसितं वर्तते। तत् सर्वं जगदेव जलदालिमयं मेघमालामयं तद्वन्नीलवर्णं वितन्वन् नीलमेघः श्रीकृष्णस्तद्रूपारोपात् क्वापि कलितो दृष्टः प्राप्तो वा किम्!! अत्र लकारस्य स्वात्मना लकारेण द्वौ संयोगौ वर्तमानावपि नाधिकं पारुष्यं जनयतः।

ल्, म् और न् से भिन्न व्यञ्जनों का अपने से अभिन्न व्यजनों के साथ संयोग की प्रचुरता 'विगणय्य मे······' आदि पद्यार्ध में पाई जाती है। यहाँ तीन बार य्-य् का संयोग है। अतः यह शृङ्गार के प्रतिकूल है। पद्यार्थ यह है—

"मेरे घर की उपेक्षा कर तुम उस (अन्य नायिका) के साथ चले गये—यह किसी तरह न्याय-पूर्ण नहीं हो सकता॥"

किसी खण्डिता नायिका की अपने प्रिय के प्रति यह उक्ति है। किन्तु लकारद्वय, मकारद्वय अथवा नकारद्वय का संयोग कठोर न होने से मधुर रस के प्रतिकूल नहीं होते। लकारद्वय के संयोग का प्रयोग 'इयमुल्लसिता····' आदि पद्य में दो बार हुआ है। पद्यार्थ निम्नलिखित है—

(कोई गोपी अपनी सखी से पूछ रही है—) "क्यों री सखी? आज तेरा मुंह बहुत चमक रहा है और आँखें खिली हुई हैं। सारे संसार को काले बादल के समान बना देनेवाले उस काले बादल (=श्रीकृष्ण) से कहीं भेंट हो गई है क्या?"

झय्द्वयघटितसंयोगस्य यथा—

आ सायं सलिलभरे सवितारमुपास्य सादरं तपसा ।
अधुनाब्जेन मनाक् तव मानिनि तुलना मुखस्याप्ता ।।

अत्र द्वितीयार्धमरम्यम् । 'सरसिजकुलेन संप्रति भामिनि ते मुखतुलाधिगता' इति तु साधु ।

सवर्णझय्द्वयघटितसंयोगस्य सकृत्प्रयोगे यथा—

अयि मन्दस्मितमधुरं वदनं तन्वङ्गि यदि मनाक्कुरुषे ।
अधुनैव कलय शमितं राकारमणस्य हन्त साम्राज्यम् ।।

झय्द्वयेति । असवर्णझय्द्वयेत्यर्थः ।

आ सायमिति । मानापनोदनाय कश्चिन्मानिनीं स्तौति । ह्यः प्रातरारभ्य सायंकालपर्यन्तं सलिले स्थित्वा सवितारं सादरमुपास्याब्जं यत्तपस्तेपे तेन निमित्तभूतेन, हे मानिनि ! अधुना अद्य तव मुखस्य मानात्पूर्वं विकसितस्य तेनाब्जेन मनागीषत् तुलना प्राप्ता ।

अत्राब्जशब्दे आप्तशब्दे च बकार-जकारयोः पकार-तकारयोश्च झयोः संयोगद्वयमित्यननुकूलमिदमित्याह—अरम्यमिति । अत्रानुकूलं विन्यासं प्रदर्शयति—सरसिजेत्यादिना ।

अयि मन्देत्यादि । अयि तन्वङ्गि ! यदि त्वं स्ववदनं मनागपि मन्दस्मितेन

झय्-प्रत्याहार के असवर्ण व्यञ्जनों के संयोग का प्राचुर्य "आ सायं सलिलभरे ..." इत्यादि पद्य में उपलब्ध है । पद्यार्थ निम्नलिखित है—

"ओ मानिनी ! कल प्रातः काल से लेकर सायंकाल तक जल के भीतर रहकर सूर्य की श्रद्धापूर्वक उपासना करने वाली कमलिनी अपने तप के फलस्वरूप आज तेरे मुख की थोड़ी-सी समानता पा सकी है ।।"

इस पद्य के उत्तरार्द्ध में 'अब्ज' शब्द में ब् + ज् का और 'आप्त' शब्द में प् + त् का संयोग झय-द्वयसंयोग है । यह श्रृङ्गार रस के प्रतिकूल है । हाँ, यदि 'सरसिजकुलेन सम्प्रति भामिनि ते मुखतुलाधिगता' यह पाठ उत्तरार्द्ध का होता तो उक्त दोष नहीं होता ।

दो सवर्ण झयों का एक बार संयोग 'अयि मन्दस्मित...' आदि पद्य में प्राप्त होता ।

"ओ कोमलाङ्गी ! यदि तू अपने मुह को थोड़ी सी मुस्कुराहट से आकर्षक बना ले तो सच मान कि पूर्ण चन्द्र का सौन्दर्य पर जो आधिपत्य है वह समाप्त हो चुका ।।"

नन्वत्र ककारद्वयसंयोगस्य हल्घटितस्वात्मसंयोगत्वेनैव निषेधात्कखसंयोगस्य महाप्राणसंयोगनिषेधविषयत्वात्तृतीयसंयोगस्य चासंभवात्सवर्णझयद्वय-

---

मधुरं कुरुषे तर्हि राकारमणस्य पूर्णचन्द्रस्य सौन्दर्यसाम्राज्यमधुनैव सद्य एव शमितं कलय जानीहि। अत्रैकस्यैव 'क्कु' इति सवर्णझयुद्वयघटितसंयोगस्य प्रयोगात् प्रतिकूलता।

सवर्णझयुद्वयघटितसंयोगस्य वर्जनीयत्वेन पृथगुपादानं निरर्थकमिति शङ्कते— नन्वित्यादिना। स्वात्मेत्यादि 'हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मना संयोगस्य....' इत्यनेन पूर्वमिदमुक्तम्। असम्भवादिति। गकारे परे पूर्वस्य ककारस्य नियमेन

यही उदाहृत पद्य का अर्थ है। इसमें 'मनाक्कुरुषे' इस अंश में क्+क् का संयोग सवर्णझय् संयोग है। यह शृङ्गार रस के प्रतिकूल है।

इस प्रसङ्ग में यह प्रश्न उठाया गया है—

पहले ल्, म् और न् से भिन्न व्यञ्जनों के समान व्यञ्जन के साथ संयोग का मधुर-रसाभिव्यञ्जक रचना में निषेध किया जा चुका है। अतः टवर्गातिरिक्त व्यञ्जनवर्गों के प्रथम+प्रथम के संयोग (जैसे दो दो ककार आदि के संयोग) का तो उक्त निषेध में ही समावेश स्पष्ट है। जहाँ तक चार व्यञ्जनवर्गों के प्रथम तथा द्वितीय व्यञ्जनों (क्+ख् आदि) के संयोग के निषेध की बात है वह भी व्यञ्जनवर्गीय द्वितीय वर्णों के महाप्राण होने से महाप्राणघटित संयोग के पूर्वोक्त निषेध में गतार्थ है। यही स्थिति सवर्ण तृतीय-चतुर्थ व्यञ्जनों के संयोग (ग्+घ्) की भी है। वर्गों के प्रथम-तृतीय का संयोग तो असम्भव है, क्योंकि तृतीय व्यञ्जन के परे पूर्ववर्ती प्रथम व्यञ्जन का नियमतः जश् (उसी वर्ग के तृतीय व्यञ्जन) के रूप में परिवर्तन हो जाने से वह सवर्ण प्रथम-तृतीय व्यञ्जनों (ग्+ग्) में ही होगा। इसका निषेध भी एक व्यञ्जन का स्वसमानरूप दूसरे व्यञ्जन (क्+क्) के संयोग के पूर्वोक्त निषेध से हीं हो जाता है। न् और म् को छोड़ कर अन्य व्यञ्जनवर्गीय पञ्चम व्यञ्जनों का सवर्ण पञ्चम व्यञ्जनों के साथ (ङ्+ङ् आदि) जो संयोग होगा उसका भी इसीसे निषेध स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में कौन-सा दो सवर्ण झयो का संयोग बचा रह जाता जिसके निषेधके लिए सवर्णझय्-द्वय-संयोग का स्वतन्त्र रूप में यह निषेध सार्थक है?

इसके उत्तर में यह कहा गया है—स्वसमानरूप व्यञ्जनों के संयोग का एक से अधिक बार प्रयोग होने पर हीं पूर्वोक्त निषेध किया गया है, एक बार प्रयोग होने पर नहीं। अतः यदि प्रथम-प्रथम, तृतीय-तृतीय और पञ्चम-पञ्चम व्यञ्जनों के संयोगों को भी पूर्वोक्त निषेधके हीं विषय मानेंगे तो इनमें भी मधुररस-प्रतिकूलता

संयोगनिषेधो निरवकाश इति चेत्? न, सकृत्प्रयोगविषयत्वेनास्य पार्थक्यात्। अन्यथा मनाक्कुरुष इति निर्दोषं स्यात्।

महाप्राणघटितसंयोगो यथा—

अयि मृगमदबिन्दुं चेद्भाले बाले समातनुषे।

जश्त्वाद् गकाररूपेणैवोपलब्धिर्न तु ककाररूपेण, यस्तु गकारद्वयसंयोगस्तस्य हलां स्वात्मना संयोगनिषेधोक्तेरेव संग्रहादिदमुक्तम्। सकृदित्यादि। अत्र महाप्राणघटितसंयोगातिरिक्तस्य सवर्णझय्द्वयसंयोगस्य सकृत्प्रयोगो निषेधस्य विषयत्वेन विवक्षित इति बोध्यम्। अत एवाग्रिमपद्यव्याख्याने 'अधुनैव महाप्राणसंयोगस्याऽसकृत्प्रयोगे निषेधविषयतां व्यवस्थाप्य तत्सकृत्प्रयोगे पुनरेतदुदाहरणप्रदर्शनं कथं संगच्छत इति चिन्त्यम्' इति चन्द्रिकोक्तिश्चिन्त्या, पूर्वमप्यस्य सकृत्प्रयोगस्यैव निषेधात्। अस्य = प्रकृतनिषेधस्य। अन्यथेति। यदि निषेधान्तरविषयत्वमस्य सवर्णझय्द्वयनिषेधस्योच्येत तर्हीत्यर्थः। निर्दोषं स्यादिति। प्रकृतस्य संयोगस्य निषेधान्तरविषयत्वे स्वीकृते महाप्राणघटितातिरिक्तसवर्णझय्द्वयसंयोगोऽपि असकृदेव प्रयुक्तो निषिद्धः स्यात्, न तु सकृदपि, पूर्वं तस्य तस्य निषेधस्याऽसकृत्प्रयोगविषयत्वोक्तेः; तथा च सकृत्संयोगे 'क्कु' इत्यत्रोदाहृतपद्यस्थे प्रतिकूलतयाऽभिमतेऽपि निषेधविषयत्वं न स्यादिति तात्पर्यम्।

अयीत्यादि। अयि बाले! यदि त्वं स्वभाले मृगमदस्य कस्तूरिकाया बिन्दुं समातनुषे तर्हि राकारमणस्य साम्राज्यमधुनैव शमितं कलयेति पूर्वपद्योत्तरार्धेनेदं

तभी प्रतीत होगी यदि इनका अनेक बार प्रयोग किया गया हो, एक बार प्रयोग करने पर नहीं। किन्तु ऐसा संयोग एक बार प्रयुक्त होने पर भी मधुर रस के लिए प्रतिकूल है। अतः ऐसे संयोगों का एक बार भी प्रयोग करना अनुचित है— इस विषय को सिद्ध करने के लिए सवर्ण-झय् द्वय-संयोग का स्वतन्त्र रूप में निषेध किया जाना सर्वथा आवश्यक है। अन्यथा उदाहृत पद्य में 'मनाक्कुरुषे' इस अंश में सवर्ण-झय्-द्वय का एक संयोग कथमपि दुष्ट नहीं होता, जबकि वस्तुतः यह रसप्रतिकूल होने से दुष्ट है हीं। अतः यह स्वतन्त्र निषेध सार्थक है।

महाप्राणघटित संयोग का एक बार प्रयोग 'अयि मृगमद···' आदि पद्य के 'द्भाले' अंश मे है। इस पद्य का उत्तरार्द्ध पूर्वोदाहृत पद्य का उत्तरार्द्ध —"अधुनैव कलय···साम्राज्यम्' हीं है। इस प्रकार पद्य का अर्थ यह हुआ —

"अरी बाले! अगर तू अपने माथे पर कस्तुरी की बिन्दी लगा ले तब तो सच मान पूर्णचन्द्र का सौन्दर्य पर जो आधिपत्य है वह समाप्त हो चुका॥"

उत्तरार्धं तु प्राचीनमेव।

एवं त्वप्रत्ययं यङन्तानि यङ्लुगन्तान्यन्यानि च शाब्दिकप्रियाण्यपि मधुररसे न प्रयुञ्जीत। एवं व्यङ्ग्यचर्वणातिरिक्तयोजनाविशेषापेक्षानापाततोऽधिकचमत्कारिणोऽनुप्रासनिचयान् यमकादींश्च संभवतोऽपि कविर्न निबध्नीयात्। यतो हि ते रसचर्वणायामनन्तर्भवन्तः सहृदयहृदयं स्वाभिमुखं विदधाना रसपराङ्मुखं विदधीरन्. विप्रलम्भे तु सुतराम्। यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्येव तनीयानपि स्वातन्त्र्यमावहन्पदार्थः सहृदयहृदयारुन्तुदतया न सर्वथैव सामानाधिकरण्यमर्हति।

पद्यं प्रपूर्य व्याख्येयमित्याह—उत्तरार्द्धमित्यादि। अत्र दकारभकारयोस्संयोगः सकृत् प्रयुक्तो दोषः, भकारस्य महाप्राणत्वेन तद्घटितस्य संयोगस्य निषेधात्।

एवमन्येषामपि भूयःप्रयोगे प्रातिकूल्यं प्रतिपादयति—एवमिति। पूर्वोक्तवदित्यर्थः। अन्यानि=कृदन्ततद्धितान्तानि अमधुरवर्णघटितानि पदानि तोष्टूय्यमान इत्यादीनि।

व्यङ्ग्येत्यादि। व्यङ्ग्यो रसः, तस्य चर्वणाया अतिरिक्ता बहिर्भूता अत एव योजनाविशेषापेक्षाः आपाततोऽधिकचमत्कारयुक्ताश्च ये तानित्यर्थः। स्वाभिमुखमिति। स्वमनुप्रसादयः। अत्र हेतुरापाततोऽधिकचमत्कारित्वमेषामिति पूर्वोक्तः। तनीयानपीत्यादि। स्वातन्त्र्यमावहन् तनीयानपि पदार्थ इत्यन्वयः। स्वातन्त्र्यं चात्र रसव्यञ्जकभावनाऽविषयत्वेन रसव्यञ्जकभावनाभिन्नभावनाविषयत्वेन वा बोध्यम्। सामानाधिकरण्यमिति। विप्रलम्भविषयकाव्यविषयत्वम्। यस्मिन् काव्ये विप्रलम्भस्य निबन्धनम् तस्मिन्नेव काव्येऽनुप्रसादादेरपि निबन्धनमिति

इसी प्रकार त्व-प्रत्ययान्त शब्दों, यङ्लुगन्त क्रिया-पदों या संज्ञा-शब्दों और अन्यान्य कटु शब्दों, जो वैयाकरणों के लिये प्रिय हों, का भी भूयो-भूयः प्रयोग मधुर-रसाभिव्यञ्जक रचना में कवि को नहीं करना चाहिए।

इसी तरह व्यङ्ग्य अर्थ की चर्वणा के लिए जिनकी योजना आवश्यक हो उससे भिन्न योजना की अपेक्षा रखने वाले अनुप्रास-यमक आदि अलङ्कारों का भी कवि को अपने काव्य में समावेश नहीं करना चाहिए, भले हीं वे अनुप्रासादि सामान्य दृष्टि से पाठकों के अधिक आकर्षक क्यों न हों। इसका कारण यह है कि वे अनुप्रासादि पाठकों को अपनी हीं ओर आकृष्ट कर लेते जिससे पाठकों को रसास्वाद हो नहीं पाता। विप्रलम्भ शृंगार में तो उक्तविध अनुप्रासादि का परिहार विशेष रूप में करना चाहिए। कारण यह है कि यह मधुरतम रस है। अतः निर्मल चीनी से बनी हुई

यदाहुः—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥

सरलार्थः । एतच्च सामानाधिकरण्यं रसान्तरेणापि दोष एव । अत्र योजनाविशेषापेक्षा इत्यनेन चानुप्रासादीनां रसचवर्णापेक्ष्यप्रयत्नभिन्नप्रयत्ननिर्वर्त्यानामेव निषेध्यत्वमुच्यते । आपाततोऽधिकेत्यादिना च रसचर्वणापूर्वकालिकभावनाविषयत्वं ज्ञाप्यते । अत एवैतेषां रसानामलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वे बाधकत्वं पर्यवस्यति । एतत्प्रतिषेधस्य व्यङ्ग्यविषयत्वोक्त्या चाङ्गिरसाभिव्यञ्जक एव काव्येऽनुप्रासादीनां निबन्धनं निषेध्यमिति सूच्यते । ध्वन्यालोके चैकरूपानुबन्धवानित्युक्त्या विचित्रो भिन्न-भिन्नव्यञ्जनावृत्त्यात्मकोऽनुप्रासो न दोषायेत्यपि लभ्यते । परन्तु अङ्गरसेऽनुप्रासादिनिबन्धने कामचारे किं बीजमिति नावगच्छामः । एवमेव शार्दूलविक्रीडितादौ प्रतिपादं विचित्रानुप्रासयोजने का वार्त्तेत्यपि चिन्तनीयम् ।

उक्तार्थे ध्वनिकारवचनं प्रमाणयति—यदाहुरित्यादि । ध्वन्यात्मेत्यादि । ध्वनिस्वरूपे प्रधानीभूते शृङ्गारे यमकादेः यमकादिप्रकारस्य क्लिष्टस्य यमकस्य, शब्दभङ्गश्लेषस्य च क्लिष्टस्य, खड्गबन्धादेश्च निबन्धनं कवेस्तन्निबन्धनशक्तौ सत्यामपि प्रमादित्वं प्रतिपादयतीत्यतस्तन्निबन्धनं कविना कदाऽपि न कर्त्तव्यम् । सुकुमारातिशयाद्विप्रलम्भे त्विदं निबन्धनं विशेषेण प्रमादित्वं प्रतिपादयति, अतस्तत्र विशेषेण नियमतः परिहरणीयमित्याशयः । अत्र 'प्रमादित्वमित्यनेनैतद्दर्श्यते—काकतालीयेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नाऽलङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्त्तव्यः' इति तद्वृत्तिः । वयं त्ववगच्छामः—सर्वत्रैव परिहरणीयत्वे क्लिष्टत्वं सहृदयोद्वेजकत्वमेव तन्त्रम् । तथा चैकस्यानेकस्य वा यमकादेः प्रयोगे नाग्रहः । यदि एकोऽप्युद्वेजकस्तर्हि स परिहरणीय एव, अनेकोऽप्यनुद्वेजकस्तर्हि

शर्बत में थोड़े से बालू मिल जाने से जैसे वह अनास्वाद्य हो जाती वैसे ही इस रस में भी यदि थोड़ा-सा भी रस-चर्वणा के प्रतिकूल किसी पदार्थ का मिश्रण हो जाये तो यह रस अनास्वाद्य हो जाता। अतः सहृदय का उद्वेजक होने से उक्त अनुप्रासादि का विप्रलम्भ-शृंगार-रसाभिव्यञ्जक काव्य में कभी नहीं समावेश करना चाहिए। अत एव ध्वन्यालोककार ने कहा है:—

'यदि कवि में यमक-अनुप्रास आदि के विन्यास का सामर्थ्य हो तो भी ध्वनि-काव्यों मे प्रधानतम शृंगाराभिव्यञ्जक काव्य में उन यमक आदि का समावेश कवि का प्रमाद ही है, गुण नहीं। विप्रलम्भ-शृंगार-रसाभिव्यञ्जक काव्य में तो उक्त यमक आदि का समावेश और भी अधिक प्रतिकूल होने से विशेषतया त्याज्य है ॥"

ये तु पुनरक्लिष्टतथानुन्नतस्कन्धतया च न पृथग्भावनामपेक्षन्ते, किं तु रसचर्वणायामेव सुसुखं गोचरीकर्तुं शक्याः, न तेषामनुप्रासादीनां त्यागो युक्तः ।

यथा—

कस्तूरिकातिलकमालि विधाय सायं
स्मेरानना सपदि शीलय सौधमौलिम् ।

तत्परिहारे नाग्रहग्रहिलेन कविना भाव्यम् । प्रायेण यमकादीनां भूम्ना प्रयोग उद्वेजकत्वसम्भावनेति त्वन्यत् ।

तदेवं पूर्वकारिकार्थं संगृह्य—

रसाक्षिप्ततया येषां बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥

इत्यनन्तरकारिकोक्तमर्थं संगृह्णाति—ये त्वित्यादिना । अक्लिष्टा इति । क्लिष्टा उद्वेजकास्तद्भिन्ना इत्यर्थः । 'क्लिष्टा विलम्बेनास्वादपथमवतीर्णाः' इति रसचन्द्रिकोक्तमपव्याख्यानम् । यतो हि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये रसे ये तदभिव्यक्तिपूर्वकालिकाभिव्यक्तिविषया रसप्रतीतौ व्यवधायकास्त एव परिहरणीयत्वेनाभिमताः । तथा च परिहरणीयानां झटित्यास्वादविषयतैवोचिता, विलम्बेनास्वादपथावतीर्णत्वे तु तदास्वादात्पूर्वं रसास्वादे सम्पन्ने किम्प्रयोजनं तेषां परिहरणीयत्वम् ? अनुन्नतस्कन्धा इति । पूर्वप्रतीतिविषया उन्नतस्कन्धास्तद्भिन्नाः । यद्वा विभावादियोजनाविशेषातिरिक्तो यो योजनाविशेषस्तद्धेतुभूतः प्रयत्नोऽत्र क्लेशः, तत्साध्याः क्लिष्टास्तद्भिन्ना इत्यर्थोऽक्लिष्टा इत्यस्य । तथा चानुन्नतस्कन्धा इत्यस्य विभावादियोजनानान्तरीयकतया योजिताः, रसप्रतीतिपूर्वकालिकप्रतीतिविषयत्वाभाववन्त इत्यभिप्रायः । शिष्टं निगदव्याख्यातम् ।

कस्तूरिकेत्यादि । हे आलि ! स्मेरानना सती त्वं सायं कस्तूरिकातिलकं विधाय

हाँ, जिन अनुप्रास आदि के निबन्धन के लिये कवि को स्वतन्त्र प्रयत्न न करना पड़े—जो अनुप्रासादि रसाभिव्यञ्जक सामग्री के वर्णन में अनायास उपनिबद्ध हो जाँय और इस लिये रस-चर्वणा के बहिर्भूत न हों उनका यत्नपूर्वक परित्याग करना भी अच्छा नहीं है ।

जैसे 'कस्तूरिकातिलक...' आदि पद्य में अनायास-निबद्ध अनुप्रासादि रस-चर्वणा के अनुकूल हैं, प्रतिकूल नहीं । पद्यार्थ निम्नलिखित है—

"अरी सखी ! शाम के वक्त अपने माथे पर कस्तूरी का टीका लगा कर मुस्कु-

प्रौढिं भजन्तु कुमुदानि मुदामुदारा-
मुल्लासयन्तु परितो हरितो मुखानि ॥

इत्थमेते प्रसङ्गतो मधुररसाभिव्यञ्जिकायां रचनायां संक्षेपेण निरूपिता दोषाः ॥

एभिर्विशेषविषयैः सामान्यैरपि च दूषणै रहिता ।
माधुर्यभारभङ्गुरसुन्दरपदवर्णविन्यासा ॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुता ।
तां विबुधा वैदर्भीं वदन्ति वृत्तिं गृहीतपरिपाकाम् ॥

सुधाधवलस्य प्रासादस्य शिखरं शीलय । एतेन मुखचन्द्रोदयः सूच्यते । तेन च कुमुदानि मुदां हर्षाणामुदारां प्रौढिं परमां काष्ठां भजन्तु, हरितो दिशश्च अन्धकारावगुण्ठनं निरस्य स्वमुखानि उल्लासयन्त्विति पद्यार्थः ।

अत्र वृत्त्यनुप्रासः, 'मुदामुदा' इत्यत्र चांशे यमकमित्येतत्सर्वं शृङ्गाराभिव्यञ्जकयोजनानान्तरीयकतया योजितं रसप्रतीत्यतिरिक्तप्रतीत्यविषयत्वान्न प्रतिकूलमित्याशयः ।

उपसंहरति—इत्थमित्यादि ॥

अन्ते माधुर्यव्यञ्जकरचनायां वैदर्भरीतेरुचितत्वात् प्रसङ्गतः तां वर्णयति—एभिरित्यादिकेन पद्यद्वयेन । विशेषविषयाः समान्यविषया दोषाश्च पूर्वोक्ता एव ।

राती हुई चमकती अटारी पर चली जा जिससे तेरे मुख-चन्द्र की चन्द्रिका से ये कुमुदिनी प्रफुल्लित हो उठें और सारी दिशाएँ चमक उठें ॥"

इस पद्य में ककार आदि का वृत्त्यनुप्रास और 'मुदामुदा·····'शब्द में यमक का स्वाभाविक रूप में विन्यास होने से ये अनुप्रासादि सम्भोग-शृंगार की चर्वणा के अनुकूल हैं, अतः ये त्याज्य नहीं हैं ।

इस प्रकार प्रसङ्ग आ जाने के कारण मधुर-रसों के अभिव्यञ्जक काव्य में जो दोष हो सकते हैं उनका, संक्षेप में, निरूपण किया गया है ॥

इसी प्रसङ्ग में वैदर्भी रीति (=उपनागरिका) का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया जा रहा है—

"पूर्वोक्त सामान्य और विशेष दोषों से रहित, माधुर्य गुण के भार से लदे हुए सुन्दर पदों और वर्णों से संग्रथित, रचनाकार की व्युत्पत्ति—निपुणता को प्रकट करने वाली, प्रसादगुण-समन्वित और रस-परिपाक कराने में समर्थ वृत्ति (रीति) को विद्वज्जन 'वैदर्भी' कहते ॥"

अस्यामुदाहृतान्येव कियन्त्यपि पद्यानि ।

यथा वा—

आयातैव निशा निशापतिकरैः कीर्णं दिशामन्तरं
भामिन्यो भवनेषु भूषणगणैरुल्लासयन्ति श्रियम् ।
वामे मानमपाकरोषि न मनागद्यापि, रोषेण ते
हा हा बालमृणालतोऽप्यतितमां तन्वी तनुस्ताम्यति ।।

अस्याश्च रीतेर्निर्माणे कविना नितरामवहितेन भाव्यम् । अन्यथा तु परिपाकभङ्गः स्यात् ।

या तै रहिता माधुर्यस्य भारेण भङ्गुरो नम्रः कमनीयः सुन्दरपदवर्णानां विन्यासो यत्र तथाविधा, निर्मातुः कवेर्व्युत्पत्ति निर्माणकौशलं प्रकटयन्ती अथ च प्रसादगुणसमन्विता वृत्तिस्तां गृहीतः परिपाको मधुररसाभिव्यक्तिसामर्थ्यकाष्ठा रसचर्वणा वा यया तादृशीं वैदर्भीं विबुधा वदन्ति ।

अस्याम्—वैदर्भ्यां वृत्तौ । उदाहरणान्तरम्—आयातैवेत्यादि । मानिनीं प्रसादयितुर्नायकस्योक्तिरियम् । हे वामे ! निशा आयातैव, दिशामन्तरं च निशापतेश्चन्द्रस्य किरणैः कीर्णं व्याप्तम्, प्रेमार्द्रा अन्या भामिन्यः स्वस्वकेलिगृहेषु भूषणगणैरलङ्काररराशिभिरात्मनां श्रियं सौन्दर्यं वर्धयन्ति । परन्त्वमधुनाऽपि स्वस्य मानं मनागीषदपि नापाकरोषि, पश्य–तव रोषेण बालमृणालतोऽपि तन्वी कृशतरा ते तनुरतितमां ताम्यति ।

अस्याश्चेत्यादि । एतच्च मधुरसाभिव्यञ्जककाव्यविषये ज्ञेयम् । परिपाकोऽत्र रसस्य विवक्षितः ।

पूर्वनिर्दिष्ट अनेक उदाहरण-पद्यों में इसे देखा जा सकता है ।

अथवा, यह एक अन्य उदाहरण भी देखिए:—

(कोई नायक मानिनी नायिका से कह रहा है—)

"रात भी आ गई, चन्द्रमा चारों तरफ अपनी चन्द्रिका बिखेर चुका, कामिनियाँ अपने-अपने घर में अपने को तरह-तरह के आभूषणों से सजा कर जगमगा रही हैं पर तूँ अब भी अपना मान नहीं छोड़ रही है । कितने दुःख की बात है कि नवीन मृणाल से भी अधिक कोमल तेरा शरीर इस कोप से स्याह पड़ गया है ।।"

इस रीति के निर्माण में कवि को अत्यधिक सावधान रहना चाहिए, नहीं तो रस-परिपाक हीं न हो सकेगा ।

यथाऽमरुककविपद्ये—

> शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
> निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
> विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
> लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अत्रोत्थाय किंचिच्छनैरित्यत्र सवर्णझयद्वयसंयोगस्तत्रापि नैकटयेनेति

अधुना मुक्तकरचनापटीयसोऽमरुकस्य शल्यकर्म कर्त्तुमारभते—यथेत्यादिना ।

शून्येत्यादि । प्रथमावतीर्णमदनविकारक्रियावर्णनमिदम् । नवोढा मुग्धा स्ववासगृहं कौतुकागारं शून्यं स्वपतिभिन्नजनरहितं विलोक्य, शयनात् शय्यायाः वलयादिक्वणनेन पतिनिद्राभङ्गभयात् शनैः किञ्चिदपरकायेन उत्थाय निद्राया व्याजं छलमुपागतस्य प्रियत्वेनाऽनुभवाभावात् पत्युः मुखं सुचिरं निर्वर्ण्यावलोक्य विस्रब्धं विश्वासयुक्तं यथा स्यात्तथा परिचुम्ब्य तस्य गण्डस्थलीं तच्चुम्बनप्रभावेण जातपुलकां दृष्ट्वा पतिजागरणनिश्चयात् लज्जया नम्रमुखी जाता, अथ च व्याजसाफल्येन हसता तेन प्रियेण चिरं चुम्बिताऽभूदित्यर्थः ।

अत्र विलोक्येत्यादौ पदपञ्चके विहिते क्त्वाप्रत्यये समानकर्तृकत्वमुपपादयितुं लज्जेति पृथगसमस्तं पदं लज्जत इति लज्जेति पचाद्यजन्तं वा अर्शआद्यजन्तं वा मन्यन्ते मर्मप्रकाशकृतः । यद्वा लज्जाहेतुकनम्रमुखीभवनक्रियापेक्षमेव विलोकनादिक्रियायाः समानकर्त्तृकत्वं पूर्वकालिकत्वं चोपपाद्यम् । तथा च लज्जाशब्दस्य समस्तत्वेऽपि न क्षतिः । अधिकं व्यक्तिविवेकादिभ्योऽवसेयम् । अत्र व्यभिचारिणोर्लज्जाहासयोः शब्दत उपादाने दोषोऽपि विवेचनीयः ।

अत्रोत्थायेत्यादि । 'त्थ'-शब्दे 'च्छ' शब्दे च सवर्णझयद्वयसंयोगो । यदा

उदाहरणार्थ, अमरुक कवि का 'शून्यं वासगृहं······'आदि पद्य द्रष्टव्य है जिसकी रचना में कवि की असावधानी से इतनी कामयाँ आ गई हैं जिनके कारण रस-परिपाक हो नहीं पाता । पद्यार्थ इस प्रकार है—

"पतिदेव सोने का बहाना करके आँखें मून्द कर लेटा हुआ था। घर में कोई और न था । ऐसी स्थिति में एकाएक धीरे से अपने बिस्तर से नायिका उठी और पति के मुँह को कुछ देर तक देखती रही । फिर जब उसे अपने पतिदेव के सो जाने का विश्वास हो गया तो उसने उस (प्रियतम) का गाल चूम लिया जिससे सोने का बहाना कर लेटे हुए उसके प्रियतम के गाल पर रोमाञ्च हो उठा । यह देखकर उस नायिका ने लाज से सर झुका लिया और उसका प्रियतम उसे देर तक चूमता रहा ।"

इस पद्य के 'उत्थाय किञ्चिच्छनैः' इस अंश में त्-थ् और च्-छ् के संयोग

सुतरामश्रव्यः। एवं झय्घटितसयोगपरह्रस्वस्यापि। तथा शनैर्निद्रेत्यत्र, निर्वर्ण्य पत्युर्मुखमित्यत्र च रेफघटितसंयोगस्य, झय्घटितसंयोगपरह्रस्वस्य च प्राचुर्यम्। विस्रब्धमित्यत्र महाप्राणघटितस्य, लज्जेत्यत्र स्वात्मसवर्णझय्द्वय-घटितस्य मुखी प्रियेणेत्यत्र भिन्नपदगतदीर्घानन्तरस्य संयोगस्य, तथा क्त्वा-प्रत्ययस्य पञ्चकृत्वः, लोकतेश्च धातोर्द्विः प्रयोगः कवेर्निर्माणसामग्रीदारिद्र्यं प्रकाशयति। इत्यलं परकीयकाव्यविमर्शनेन। इति संक्षेपेण निरूपिता रसाः॥

अथ भावध्वनिर्निरूप्यते—

सकृदेवायं संयोगोऽश्रव्यतापादकस्तदा द्वौ तु सुतरामेव तथा। नैकट्येन प्रयोगे त्वतितमामश्रव्यतेति भावः। एवं झय्घटितेत्यादि। 'दु'-शब्दे, 'चि'-शब्दे, 'नि'-शब्दे, 'प'-शब्दादौ च झय्घटितसंयोगपूर्वस्य ह्रस्वस्य बहुलमुपलब्धिः। अन्यत् स्पष्टम्। तदेवं साङ्गोपाङ्गं रसनिरूपणमुपसंहरति — इति संक्षेपेणेत्यादि॥

भावध्वनिरित्यत्र भावशब्दो हर्षादिचतुस्त्रिंशत्पदार्थपरः, तस्य ध्वनिरित्यर्थः।

सवर्ण-झय्-द्वय-संयोग हैं। ये भी आस-पास हैं। अतः अत्यधिक अश्रव्य हैं। इन दोनों संयोगों से पूर्व क्रमशः 'उ' और 'इ' (चि-शब्द में) ह्रस्व स्वरों में भी अश्रव्यता है। इसी प्रकार 'शनैर्निद्रा······निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्' इस अंश में रेफघटित संयोगों का अनेक बार प्रयोग किया गया है। 'द्रा' और 'त्यु' इन झय्-घटित संयोगों से पूर्व 'इ' और 'अ' इन दो ह्रस्व स्वरों का भी प्रयोग हुआ है। 'विस्रब्धम्' इस पद में 'ब्ध' यह संयोग महाप्राण धकार से घटित है। 'लज्जा' शब्द में पुनः सवर्णझय्-द्वय-संयोग तथा उससे पूर्व ह्रस्व स्वर का प्रयोग है। 'मुखी प्रियेण' इस अंश में दीर्घ स्वर (खी-के) ईकार के बाद अन्य पद 'प्रियेण' में 'प्र' इस संयोग का भी प्रयोग है। एक ही पद्य में 'विलोक्य', 'उत्थाय', 'निर्वर्ण्य', 'परिचुम्ब्य' और 'आलोक्य' ये पाँच क्त्वा-प्रत्ययान्त पद भी प्रयुक्त हैं। साथ ही 'लोक्' धातु का भी दो बार प्रयोग किया गया है। इन सबसे यह स्पष्ट है कि कवि के पास पद्य-रचना के लिए अपेक्षित सामग्री नहीं थी।

इसी प्रकार अन्यान्य कवियों की रचनाओं में भी दोषों का अनुसन्धान पाठकों को स्वयं करना चाहिए। दूसरे के काव्य के दोषों का इस ग्रन्थ में अधिक विवेचन करना सम्भव नहीं।

उपर्युक्त रीति से रसों तथा इनसे सम्बद्ध विषयों का निरूपण किया गया॥

अब भाव-ध्वनियों का निरूपण किया जा रहा है—

अथ किं भावत्वम्? विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वमिति चेत्? रसकाव्यवाक्येऽतिव्याप्त्यापत्तेः, अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात्। द्वारान्तरनिरपेक्षत्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसम्भवः प्रसज्येत। भावस्यापि भावनाद्वारैव व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेश्च। अत एव च विभावानुभावभिन्नत्वस्येव शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वे न निस्तारः;

रसकाव्येति। रसाभिव्यंजककाव्येत्यर्थः। काव्ये रसाभिव्यञ्जकत्वं च तदभिव्यंजकार्थोपस्थापनद्वारेणेति सम्प्रदायः 'अर्थस्य व्यंजकत्वे तत् शब्दस्य सहकारिता' इत्यादिना वर्णितः। तदाह—अर्थद्वारेत्यादिना। लक्षणवाक्ये साक्षाद्व्यंजकत्वानुक्तेः परम्परया रसव्यञ्जके काव्यवाक्येऽतिव्याप्तिरुक्ता। भावनायामित्यादि। भावनाया द्वारान्तरनिरपेक्षाया एव रसव्यञ्जकत्वादिति भाव। न निस्तार इति। भावनायां शब्दभिन्नत्वस्यापि सत्त्वेन तत्रातिव्याप्तेर्यथापूर्वमवस्थानादित्यर्थः।

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम यह विवेचनीय है कि 'भाव'[1] कहते किसे? इसका क्या लक्षण है? 'विभाव और अनुभाव से भिन्न जो रस-व्यञ्जक तत्त्व है वह भाव है' यह कहना तो उचित नहीं है, क्योंकि रस-व्यञ्जक काव्यात्मक वाक्य में इस लक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है। उक्त काव्य-में विभावानुभाव-भिन्नत्व भी है, और रस-व्यञ्जकत्व भी, क्योंकि रस-व्यञ्जक अर्थ का प्रतिपादक होने से काव्य को रस-व्यञ्जक कहना कविसम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। यदि 'विभाव-अनुभाव से भिन्न और रस के साक्षाद् व्यञ्जक जो भाव' कहा जाय तो उक्त अतिव्याप्ति तो नहीं होगी, क्योंकि काव्य वाक्य में अर्थ-द्वारा रस-व्यञ्जकता होती, साक्षात् नहीं। परन्तु असम्भव तो होगा हीं, कारण एक भी 'भाव' विना भावना के रस-व्यञ्जक नहीं होता। ऐसी स्थिति में सब भावों में भावना-द्वारा हीं रस-व्यञ्जकता के प्रसिद्ध होने से (किसी भी भाव के साक्षाद् रस-व्यञ्जक न होने से) किसी भी भाव में उक्त लक्षण समन्वित न हो सकेगा। इसके साथ हीं, भावों की 'भावना' में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति भी होगी हीं, क्योंकि भावों की भावना साक्षाद् रस-व्यञ्जक भी है और विभावानुभाव से भिन्न भी। 'भाव' की भावना में इस अतिव्याप्ति के कारण हीं 'विभाव-अनुभाव से भिन्न, शब्द से भिन्न और साक्षाद् रस-व्यंजक तत्त्व को भाव' कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि भाव की

1. यहाँ परिष्कार भावत्व का अभीष्ट है जिसके आश्रय को 'भाव' कहा जाना सम्भव है। परन्तु सरलता की दृष्टि से इन सब लक्षणों को भाव के लक्षण कहा गया है। इससे इन लक्षणों के अनुसार भावत्व का स्वरूप क्या होगा—यह समझना सरल हो जायेगा।

प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताभावादव्याप्त्यापत्तेश्च । न च तत्रापि प्रान्ते रसोऽभिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भावध्वनिविलोपप्रसङ्गात् । भावचमत्कारप्रकर्षाद्भावध्वनित्वम्, रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न ध्वनिव्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम् । चमत्काररहितरसव्यक्तौ मानाभावात् । रसे हि धर्मिग्राहकमानेनानन्दांशाऽविनाभावस्य प्रागेवावेदनात् ।

प्रधानेत्यादि । यत्र भावस्यैव प्राधान्येन ध्वननम्, न तु रसस्य तेन, तथा सति गुणस्य भावस्य ध्वनिव्यपदेशानुपपत्तेरित्यतः तस्मिन् भावे यथाकथञ्चिदपि रसव्यंजकत्वाभावाद् भावलक्षणाऽव्याप्तिः । दर्पणाद्युक्तदिशो निराकरणार्थमाह—नचेत्यादि । प्रान्ते = भावध्वननानन्तरम् । विलोप इति । रसस्य प्रान्तेऽभिव्यज्यमानस्यैव प्रधानतया ध्वनिव्यपदेशार्हत्वेन तदङ्गभूतभावस्याप्रधानस्य कुत्रापि ध्वनिव्यपदेशार्हत्वानुपपत्तेरित्यर्थः । भावचमत्कारेत्यादिः पूर्वपक्षः । चमत्कारातिशयनिमित्तकस्तु रसाङ्गीभूतेऽपि भावे ध्वनित्वव्यवहार उपपन्न इत्याशयः पूर्वपक्षस्य । चमत्काररहितेत्यादिरुत्तरपक्षः । निरतिशयचमत्काररहितेत्यर्थः । यो हि रसः स निरतिशयचमत्कारवानेव, यश्च न निरतिशयचमत्कारवान् स न रस इत्याशय उत्तरपक्षस्य । एतमेवोपपादयति—रसे हीत्यादिना । आनन्दांश एव निरतिशयचमत्कारविशिष्टो, न कश्चिदन्यः । तथा

भावना के भी शब्दभिन्न होने से उक्त अतिव्याप्ति दोष इस तृतीय-पक्ष में भी यथापूर्व बना हीं रहता है । इसके अतिरिक्त, इस तृतीय लक्षण की भाव-ध्वनि में अव्याप्ति भी होगी हीं, क्योंकि ध्वन्यमान भाव रस व्यंजक नहीं होते । यदि कोई भी भाव पहले व्यञ्जित होकर भी पश्चात् रस का व्यंजक हो जाय तो उसे ध्वनि—भाव-ध्वनि कहा नहीं जा सकता । कोई भी तत्त्व 'ध्वनि' तभी कहा जाता जब वह प्रधान रूप में अभिव्यक्त होता हो । स्वयम् अभिव्यक्त होकर दूसरे की अभिव्यक्ति करने वाला तो उस अभिव्यज्यमान अन्य तत्त्व का अङ्ग बन जाता । ऐसी स्थिति में तृतीय लक्षण करने पर तो भाव ध्वनि का अस्तित्व हीं मिट जाएगा । अतः तृतीय लक्षण असंगत है । भाव द्वारा अन्ततः रस का अभिव्यंजन होने पर भी जहाँ अभिव्यज्यमान रस की अपेक्षा उसका अभिव्यंजक भाव अधिक आकर्षक—चमत्कारजनक (और वाक्यार्थ की अपेक्षा प्रधान) हो वही भाव-ध्वनि कहलाता, अन्य नहीं; अतः तृतीय लक्षण करने पर भी भाव-ध्वनि के अस्तित्व का मिटना और उस कारण भाव-ध्वनि में अव्याप्ति दिखलाकर तृतीय लक्षण का खण्डन करना अनुचित है—यह तर्क भी असंगत है, क्योंकि एक

विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वम् ॥

यदाहुः—'व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः' इति। हर्षादीनां च सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः।

विभावादीत्यादि। विभावादिव्यज्यमानत्वे सति हर्षाद्यन्यतमत्वं भावत्वमिति लक्षणार्थः। तत्र हर्षाद्यन्यतमत्वमात्रोक्तौ लौकिकहर्षादावतिव्याप्तिरतो विभावादिव्यज्यमानत्वमिति विशेषणम्। विभावादिव्यज्यमानत्वमात्रोक्तौ रसेऽतिव्याप्तिरतो हर्षाद्यन्यतमत्वमप्युक्तम्। विभावादिरित्यत्रादिशब्दादनुभावस्य क्वचिच्च व्यभिचारिणोऽपि परिग्रहः।

उक्तेऽर्थे मम्मटोक्तिं प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—यदाहुरित्यादिना। "व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः......' इति शुद्धः पाठः (द्र० का० प्र० ४।३५–३६)। 'व्यभिचार्यञ्जितो भावः' इति मुद्रितः पाठस्त्वमूलगतत्वादस्मादिभिरुपेक्षितः। विभावादिभिरञ्जितो व्यंजितो यो व्यभिचारी निर्वेदादिर्हर्षादिर्वा स भाव इति मम्मटवचनार्थः।

स्थायिभावन्यायेनेति। यथा कामिन्यादिविषया रत्यादयो वर्त्तमाना एव सामाजिके विभावादिसामग्रीबलादलौकिकत्वमापन्नाः स्थायितया व्यज्यन्ते तथैव देवादिविषया रत्यादयोऽपि पूर्वत एव सामाजिकहृदये वर्त्तमाना विभागादिसामग्रीबलादलौकिकत्वेन रूपेणाभिव्यक्ता भवन्ति, अत एव च भावपदव्यपदेश्या

उपर्युक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए ग्रन्थकार अब इन (व्यभिचारी) भावों का परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं—

विभाव और अनुभाव से व्यज्यमान हर्ष आदि (३४) चित्तवृत्तियों को 'भाव' कहा जाता है।

अत एव मम्मट ने कहा है—"(विभाव आदि से) अभिव्यक्त होने वाले (निर्वेद, ग्लानि आदि) को 'व्यभिचारिभाव' कहते ॥"

ये हर्षादि सामाजिक मे पहले से होते। किन्तु स्थायिभाव के समान इनकी विभावादि-सामग्री से अभिव्यक्ति होने पर हीं ये 'भाव' कहलाते, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सामाजिकनिष्ठ रत्यादि हीं विभावादि सभी सामग्री से अभिव्यक्त होने पर शृङ्गारादि रसों के 'स्थायिभाव' कहलाते, अन्यथा नहीं उसी प्रकार सामाजिकगत हर्षादि के लिए 'भाव' या 'व्यभिचारिभाव' शब्द का प्रयोग तभी होता है जब ये अपनी सामग्री से अभिव्यक्त होते, अन्यथा नहीं। यह भी ज्ञातव्य है कि रत्यादि 'स्थायिभाव' रूप में भी अभिव्यक्त होते और 'व्यभिचारिभाव' के रूप में भी। किन्तु दोनों में अन्तर यही है कि ये जब सकल

अपीति तात्पर्यम् । तथापि यदा परिपूर्णा विभावादिसामग्री रत्यादेरभिव्यञ्जिका तदा ध्वन्यमान्यो रत्यादिर्भजते रसव्यपदेशमन्यथा तु भावव्यपदेशम् । अत एवैषां व्यभिचारित्वमप्युपपद्यते । ततुक्तं संगीतरत्नाकरे—

रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूयिष्ठविभावजाः ।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः ।। इति ।।

शब्दान्तरेण—

रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद् देवादिविषयोऽथवा ।
अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक् ।।

इत्यनेन प्रदीपेऽप्येतदुक्तमेव ।

इदन्तु बोध्यम्—सविषयकाणां पदार्थानां विषयभेदाद् भेदस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्त-सिद्धतया नायिकादिविषयकरत्यादेः देवादिविषयकरत्यादिभिन्नत्वेऽपि रतित्वेन साजात्यमादाय 'त एव' इत्युक्तम् । 'स्तोकैर्विभावैः' इत्यस्यायमाशयः—स्थायि-भावाभिव्यञ्जिका विभावादिसामग्री सकला, भावाभिव्यञ्जिका पुनर्विकला । भावा-भिव्यञ्जने हि क्वचिदालम्बनत्वे सत्यपि आलम्बनत्वादिना विशेषरूपेण विभावादेर्न कारणत्वम्, बहूनां भावानां निर्विषयत्वेन विषयरूपालम्बनस्य तत्रासम्भवात् । यत्पुनरुद्दीपनविभावस्यावश्यकत्वं तदपि नोद्दीपनत्वेन विशेषरूपेण कारणत्वमभिप्रेत्येति स्वयमपि 'विभावस्त्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्' इत्यनेन वक्ष्यत्येव । अधिकमनुपदं वक्ष्यते ।

सामग्री से अभिव्यक्त होने के कारण प्रधान रूप में योग्य आलम्बन को विषय बनाते तब ये 'स्थायिभाव' होते, विकल सामग्री से अप्रधानरूप में अभिव्यक्त होने पर 'व्यभि-चारि-भाव' कहलाते । विकल सामग्री का अभिप्राय यही है कि व्यभिचारि-भाव के रूप में इनकी अभिव्यक्ति के लिये आलम्बन-उद्दीपन आदि की विशेष रूप में (आलम्बन-त्वादि रूप में) अपेक्षा नहीं होती । कुछ निर्विषयक व्यभिचारि-भाव तो ऐसे हैं जिनके आलम्बन विभाव होते ही नहीं । जिनके सविषय होने से आलम्बन-विभाव होते भी उनकी भी अभिव्यक्ति के लिये आलम्बन-विभाव की विशेष रूप में (आलम्बन-त्वेन रूपेण) नहीं अपि तु सामान्य निमित्त कारण के रूप में ही आवश्यकता होती । यही स्थिति उद्दीपन-विभाव की भी है । परन्तु 'स्थायिभाव' की अभिव्यक्ति के लिये तो आलम्बन और उद्दीपन इन दोनों ही विभावों की आवश्यकता विशेषरूप में होती ही है, सामान्य रूपमात्र में नहीं । स्वयं ग्रन्थकार ही 'विभावस्त्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम्' इत्यादि वचनों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करेंगे ।

इस प्रकार 'स्थायिभाव-न्याय से व्यभिचारि-भाव की अभिव्यक्ति' का तात्पर्य

सापि रसन्यायेनेति केचित् ।
व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे मन्यन्ते ।

रसन्यायेनेति । यथा विभावादिसकलसामग्रीचर्वणाभग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिरूपो भग्नावरणरत्याद्युपहितचित्स्वरूपो वा रसोऽभिव्यज्यते चर्व्यते तथैव विभावादिचर्वणाभग्नावरणचिद्विशिष्टो हर्षादिभावोऽपीत्यर्थः । इदं चाभिनवगुप्तादि-मतेनोक्तम् ।

स्वमतमाह—व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेति । व्यङ्ग्याद्रसादन्यो व्यङ्ग्योऽलङ्कारादिर्व्यङ्ग्यान्तरम्, तस्य यथा स्वसामग्रीबलेनाभिव्यक्तिस्तथैव हर्षादिभावाना-मप्यभिव्यक्तिरित्यर्थः । 'अपरे' इत्यस्य 'न परे' इत्यर्थात् स्वमतमिदमिति प्रतीयते । अस्य मतस्येदं सारम्—यावानानन्दो रसचर्वणायामनुभूयते सामाजिकैस्तावानानन्दो नालङ्कारादिव्यङ्ग्यचर्वणायामिति वस्तुगतिः । तथा च विभावादिसकलसामग्री-चर्वणया आनन्दरूपायाश्चितो यादृश आवरणभङ्गस्तादृशो नालङ्कारादिविषय इत्या-स्थेयं फलबलात् । यत्किञ्चिदानन्दमात्रानुभवाच्चालङ्कारध्वनावपि तदधिष्ठानभूताया-स्तदुपहिताया वा चित (आनन्दरूपायाः) आनन्दावरणस्य शैथिल्यं पुनरवश्याभ्युपेयम्, सर्वथा सत्यावरणे तत्रानन्दमात्राप्रत्ययाऽसम्भवात् । एवं भावध्वनावपि रसाप-कृष्टानन्दमात्रानुभवोपपादनाय विकलविभावादिसामग्रीचर्वणया हर्षाद्यधिष्ठान-चैतन्यस्य यदावरणं तस्य यथानुभवं यथायथं शैथिल्यमत्रवश्यमास्थेयम् । सकल-

---

स्पष्ट करना चाहिए ।

उपर्युक्त भावाभिव्यक्ति रसाभिव्यक्ति के तुल्य होती—ऐसा कुछ (अभिनव गुप्त आदि) आचार्यों का मत है । आशय यही है कि जिस प्रकार विभावादि-सकल-सामग्री की चर्वणा से जिसका आवरणभङ्ग हो चुका होता उस 'चित्' से विशिष्ट रत्यादि की रस-रूप में अभिव्यक्ति होती उसी प्रकार विभावादि-विकल-सामग्री की चर्वणा से जिसका आवरण (आंशिक रूप में) हट चुका होता उस 'चित्' से विशिष्ट हर्षादि भावों की अभिव्यक्ति होती । इस मत में रस-चर्वणा और भाव-चर्वणा में समान आनन्दानुभव होना चाहिए था, किन्तु ऐसा होता नहीं । साथ ही सकल सामग्री और विकल सामग्री से समान रूप में 'चित्' के आवरण का अभिनव मानना भी उचित नहीं है ।

अतः ग्रन्थकार का मत यही है कि रस-चर्वणा और भाव-चर्वणा में अनुभूय-मान आनन्द के उत्कर्षापकर्ष के अनुसार दोनों प्रकार की सामग्रियों से होने वाले आवरण भङ्ग में भी उत्कर्षापकर्ष अवश्य मन्तव्य है । अतः जैसे रस-चर्वणा की अपेक्षा स्वल्प आनन्द का अनुभव अन्य अलङ्कारादि व्यङ्ग्यों की चर्वणा में होता वैसे ही

विभावानुभावौ चात्र व्यञ्जकौ । न त्वेकस्मिन्व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने व्यभिचार्यन्तरं व्यञ्जकतयावश्यमपेक्ष्यते, तस्यैव प्राधान्यापत्तेः ।

वस्तुतस्तु प्रकरणादिवशात्प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे तदीयसामग्रीव्यङ्ग्यत्वेन नान्तरीयकतया तन्निमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्या-

---

विभावादिसामग्रीचर्वणया यथावरणभङ्गो न तथा विकलविभावादिसामग्रीचर्वणया सम्भवति, तथा तु सति रसानन्दभावानन्दयोस्तुल्यकक्ष्यत्वमनुभवविरुद्धं युक्तिविरुद्धं चापतेत् । अतश्च यत्रापि देवादिविषयकरत्यादावापाततः प्रतीयत आलम्बनादिसकलसामग्री तत्रापि फलबलादालम्बनादौ रसचर्वणाप्रयोजकालम्बनादिवैजात्यं कल्पनीयमेवेति तत्रापि विकलैव सामग्री । यत्र पुनरालम्बनासम्भवो निर्विषयेषु भावेषु तत्र सामग्रीवैकल्यं तु सुतरामेवागतमिति भावध्वनिस्थले चिदावरणशैथिल्यमेवालङ्कारादिध्वनिस्थलवदभ्युपेयमिति । संलक्ष्यक्रमतामादाय व्यङ्ग्यान्तरन्यायस्तु नोपयुज्यत इत्यपि बोध्यम् । एष सन्दर्भोऽन्यैर्व्याख्यातृभिरन्यथा व्याख्यातः, तत्र युक्तायुक्तत्वे सहृदयाः प्रमाणम् ।

अत्र—भावविषये । अवश्यमिति । एतेन कदाचिदपेक्ष्यत एवेति सूच्यते । तस्यैव—अवश्यमपेक्ष्यमाणस्य व्यभिचार्यन्तरस्यैव नान्तरीयकस्य । प्राधान्यापत्तेरिति । अवश्यापेक्षणीयताऽत्र हेतुः ।

किन्त्ववश्यापेक्षणीयत्वं प्रधान्येऽप्रयोजकम्, अन्यथा रसाभिव्यक्तयेऽवश्यापेक्षणीयानां विभावादीनामेव प्राधान्यापत्तेरित्यत आह— वस्तुतस्त्वित्यादि ।

स्वल्प आनन्द का ही अनुभव भाव-चर्वणा में भी स्वीकरणीय है । अतः भावों की व्यञ्जना अलङ्कारादि की व्यञ्जना के समान समझना चाहिए, रस की व्यञ्जना के समान नहीं ।

भाव के अभिव्यञ्जक प्रायः विभाव और अनुभाव होते । कदाचित् एक किसी व्यभिचारि-भाव का अभिव्यञ्जक कोई अन्य व्यभिचारि-भाव भी हो सकता है, किन्तु आवश्यक रूप में सभी भावों के लिये यह अपेक्षित नहीं होता । यदि सभी भावों के अभिव्यञ्जन के लिये अन्य कोई व्यभिचारि-भाव आवश्यक होता तो वही व्यञ्जक व्यभिचारि-भाव प्रधान हो जाता । इसका कारण व्यञ्जक के रूप में किसी अन्य व्यभिचारि-भाव को आवश्यकता ही तो हो सकता है, किन्तु यह आवश्यकता व्यञ्जक की प्रधानता का आधार नहीं हो सकती, क्योंकि तब तो रस की व्यञ्जना के लिए जिन विभाव आदि की आवश्यकता होती वे विभाव आदि रस की अपेक्षा प्रधान हो जाते । अतः ग्रन्थकार 'वस्तुतस्तु...' आदि सन्दर्भ में यथार्थ स्थिति का विवेचन कर रहे हैं । जहाँ प्रकरण आदि के बल से किसी अभिव्यज्यमान भाव-विशेष की

ङ्गत्वेऽपि न क्षतिः । यथा गर्वादावमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य । न चैवं सति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिः, पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैव (भावस्य) गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वात् । अत एव न नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति । अन्यथा गर्वादिध्वनेरुच्छेद एव भवेत् ।

नान्तरीयकस्यापि भावस्य प्रधानभावाङ्गभूतस्य व्यङ्ग्यत्वेन तमादाय गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं कथं न तत्र सम्भवति—इत्याशङ्कां निरस्यति—न चैवमित्यादिना। एषा चाशङ्का विवक्षावशाद्ध्वनेरपि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि ध्वनित्वमित्यभ्युपगच्छतां ध्वनिकारादीनां मतमनुसृत्य । स्वमते तु यथेच्छं नान्तरीयकस्य पार्यन्तिकस्यैव वेति नावसरोऽस्या आशङ्कायाः । पृथगित्यादि । पृथक् स्वतन्त्रावेकभावाभिव्यञ्जकभिन्नौ यौ विभावानुभावौ ताभ्यामभिव्यक्तस्यैव, न त्वेकविभावानुभावाभिव्यक्तस्य, अत एव नान्तरीयकस्य भावस्येत्यर्थः। भावस्येत्यनन्तरं चमत्कारातिशयवत इति पूरणीयम् । अभिव्यञ्जकस्य च पृथक्त्वान्नान्तरीयकत्वं न सम्भवतीति हेतोः क्वचित् पुस्तके (काशीमुद्रिते) पृथग्विभावानुभावाभिव्यक्तस्यैवातएवाऽनान्तरीयकस्य भावस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यदेशहेतुत्वात् । अन्यथा गर्वादिध्वनेरुच्छेद एव स्यात् । इति पाठोऽपि सम्यगेव । अत एवेत्यादि । अत्र अत एव नान्तरीयकस्य भावस्य ध्वननं भवति इति निर्णयसागरमुद्रितः पाठोऽसङ्गतत्वादस्माभिरुपेक्षितः । अत्र ध्वननम् प्राधान्येनाभिव्यक्तिः । यद्यपि नान्तरीयकस्यात एवाङ्गभूतस्य भावस्याऽप्रधानस्य

(अतिशय-चमत्कार-युक्तता के कारण) प्रधानता सुनिश्चित हो जाती वहाँ उसी प्रधान भाव के अभिव्यञ्जक सामग्री से प्रधान भाव के पहले अभिव्यक्त होने वाला नान्तरीयक भाव प्रधान भाव का अङ्ग हो जाता । फलतः उस नान्तरीयक भाव की अभिव्यक्ति भी सुस्पष्ट रूप से नहीं हो पाती । इससे वह नान्तरीयक भाव दुर्बल रूप में प्रतीत होता और उसमें प्रधान भाव के समान चमत्कारातिशय भी नहीं होता । अतः ऐसा नान्तरीयक भाव यदि किसी ध्वन्यमान भाव का अङ्ग—व्यञ्जक कदाचित् हो भी तो भी कोई अनुपपत्ति नहीं । इसके उदाहरण के रूप में 'गर्व' का प्राधान्येन अभिव्यञ्जन के लिए उससे पूर्व नान्तरीयक 'अमर्ष' का अभिव्यञ्जन या 'अमर्ष' का ही प्राधान्येन अभिव्यञ्जन से पूर्व उसी सामग्री से नान्तरीयक रूप में अभिव्यक्त 'गर्व' को लिया जा सकता है । अतः स्पष्ट है कि नान्तरीयक भाव में वह चमत्कार नहीं होता जो प्रधानीभूत भाव में होता । अत एव व्यङ्ग्य होने पर भी किसी नान्तरीयक भाव के आधार पर किसी काव्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नहीं कहा जा सकता । 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' तो तब कहा जाता है

विभावस्त्वत्र व्यभिचारिणो निमित्तकारणसामान्यम् । न तु रसस्येव सर्वथैवालम्बनोद्दीपने अपेक्षिते । यदि तु क्वचित्संभवतस्तदा न वार्येते ।

भावान्तरापेक्षयाऽतिशयचमत्कारवत्त्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तिस्तथापि स्वमते नान्तरीयकस्य भावस्य चमत्कारातिशयवत्त्वं न कथञ्चिदभ्युपेयते, यथा गर्वादावमर्षस्य अत एव 'नान्तरीयकतया तनिमानमावहतो व्यभिचार्यन्तरस्य' इत्यनुपदमेवोक्तम् । तत्र तनिमानमित्यस्य शैथिल्यमत एवाऽचमत्कारित्वमित्यर्थः । यद्यपि चात्र प्रधानीभूतस्य भावस्य चमत्कारातिशयजनकत्वेनोत्तमोत्तमकाव्यत्वम्, रसध्वनिस्थलेऽपि तथैव तथापि सामग्रीवैकल्याद्विषयस्वभावाच्च भावध्वन्यादिस्थले न तावानानन्दो यावान् रसध्वनिस्थले । अत उत्तमोत्तमत्वेऽप्युभयोः किञ्चित्तारतम्यमस्त्येव । विभागे चैतत्तारतम्यं न बाधकमिति नोत्तमोत्तमत्वव्याघातो भावध्वनेरिति बोध्यम् । अन्यथेति । गुणीभूतस्य नान्तरीयकस्यापि भावस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यपदेशहेतुत्वाभ्युपगमे सतीत्यर्थः । उच्छेद इति । गर्वादिध्वनावप्यमर्षादेर्भावस्य नान्तरीयकस्य नियमेन व्यङ्ग्यतया तत्रापि तमादाय गुणीभूतव्यपदेश एव स्यान्न तु भावध्वनिव्यपदेश इत्याशयः ।

निमित्तेत्यादि । कारणतावच्छेदकं च तद्व्यक्तित्वमेव । आलम्बनत्वादिना कारणत्वं तु न घटते, निर्विषयाणां ग्लान्यादिभावानामालम्बनाभावेन तत्त्वेन कारणत्वे व्यतिरेकव्यभिचारात् । अतो यत्रापि भावे देवादिविषयकरत्यादौ शङ्कादौ च सम्भव-

---

जब एक प्रधान भाव के व्यञ्जक विभावादि से भिन्न[1] विभावादि सामग्री से किसी दूसरे भाव की अभिव्यक्ति हो और वह दूसरा भाव चमत्कारातिशययुक्त हो । ऐसी स्थिति में यह दूसरा भाव नान्तरीयक नहीं, अपितु अनान्तरीयक होगा । अत एव नान्तरीयक भाव की ध्वनि प्रधान रूप में अथवा चमत्कारातिशययुक्त भाव के रूप में कथमपि सम्भव नहीं ।

व्यभिचारि-भाव के अभिव्यञ्जन में विभाव की कारणता विशेषरूप में (विभाव अथवा आलम्बन उद्दीपन के रूप में) नहीं, अपितु एक निमित्त-कारण के रूप में ही होती, न कि रस के अभिव्यञ्जन में जिस प्रकार विशेषरूप में विभाव की कारणता होती उस प्रकार । यह विषय पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है । अतः मात्र उद्दीपन-विभावस्वरूप निमित्त कारण से, आलम्बन के विना भी, व्यभिचारि-भाव की अभिव्यक्ति हो ही सकती है । हाँ, यदि किसी भाव के निमित्त कारण के रूप में आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही सम्भव हों तो दोनों को हीं निमित्त कारण मानना चाहिए ।

---

१. यह भिन्नता आंशिक रूप में ही प्रायः सम्भव है ।

हर्षादयस्तु—

हर्षस्मृतिव्रीडामोहधृतिशङ्काग्लानिदैन्यचिन्तामदश्रमगर्वनिद्रामतिव्याधित्राससुप्तविबोधामर्षावहित्थोग्रतोन्मादमरणवितर्कविषादौत्सुक्यावेगजडतालस्यासूयापस्मारचपलताः। प्रतिपक्षकृताधिक्कारादिजन्मा निर्वेदश्चेति त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। गुरुदेवनृपपुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत्।

एतेन वात्सल्याख्यं पुत्राद्यालम्बनं रसान्तरमिति परास्तम्। उच्छृङ्खलतायाः मुनिवचनपराहतत्वात्।

तत्र

त्यालम्बनं तत्राप्यालम्बनस्य आलम्बनत्वेन न निमित्तत्वमपि तु तद्व्यक्तित्वेनैवेति ज्ञेयम्। क्वचित्—सविषयकभावस्थले।

भावान् परिगणयति—हर्षेत्यादिना। 'माङ्गलिकतया हर्षनिरूपणं प्रथमं रोचते पण्डितराजाय' इति रसचन्द्रिका। काव्यविषयत्वाद्वा तथा कृतम्।

मुनिवचनेत्यादि। यदि वात्सल्यमपि रसान्तरं स्यात्तर्हि सर्वज्ञेन मुनिना तस्यापि स्थायिभावरूपेण पुत्रादिविषयकरतेर्गणना कृता स्यात्, न चैवमित्यतो न वात्सल्यं रसान्तरम्। अत एव च पुत्रादिविषया रतिरपि भाव एव, न स्थायिभाव इत्याशयः।

हर्ष आदि भाव निम्न-निर्दिष्ट हैं—

(१) हर्ष, (२) स्मृति, (३) व्रीडा, (४) मोह, (५) धृति, (६) शङ्का, (७) ग्लानि, (८) दैन्य, (९) चिन्ता (१०) मद, (११) श्रम, (१२) गर्व, (१३) निद्रा, (१४) मति, (१५) व्याधि, (१६) त्रास, (१७) सुप्त, (१८) विबोध, (१९) अमर्ष, (२०) अवहित्था, (२१) उग्रता, (२२) उन्माद, (२३) मरण, (२४) वितर्क, (२५) विषाद, (२६) औत्सुक्य, (२७) आवेग, (२८) जड़ता, (२९) आलस्य, (३०) असूया, (३१) अपस्मार और (३२) चपलता। शत्रु द्वारा धिक्कारने-ललकारने आदि से उत्पन्न, (३३) निर्वेद—वैराग्य भी एक भाव है। इनके अतिरिक्त, गुरु-विषयक, देव-विषयक, नृप-विषयक, और पुत्रादि-विषयक (३४) रति भी एक भाव है। इस प्रकार चौतीस (३४) भाव हुए।

कुछ लोग पुत्रादि-विषयक वात्सल्य को भी एक अन्य रस मानते। पुत्रादि-विषयक रति इसका स्थायिभाव होना चाहिए था। किन्तु पुत्रादि-विषयक रति का भरत मुनि द्वारा एक व्यभिचारि-भावरूप में परिगणन न किये जाने से इसे स्थायिभाव मानकर वात्सल्य रस मानना उच्छृङ्खलता मात्र है। अतः वात्सल्य को रस नहीं माना जा सकता।

इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्षः ॥

तदुक्तम्—

'देवभर्तृगुरुस्वामिप्रसादः प्रियसंगमः।
मनोरथाप्तिरप्राप्यमनोहरधनागमः॥
अथोत्पत्तिश्च पुत्रादेर्विभावो यत्र जायते।
नेत्रवक्त्रप्रसादश्च प्रियोक्तिः पुलकोद्गमः॥
अश्रुस्वेदादयश्चानुभावा हर्षं तमादिशेत्॥' इति॥

उदाहरणम्—

अवधौ दिवसावसानकाले भवनद्वारि विलोचने दधाना।
अवलोक्य समागतं तदा मामथ रामा विकसन्मुखी बभूव॥

अत्रावधिकाले प्रियागमनं विभावः। मुखविकासोऽनुभावः।

इष्टप्राप्त्यादीति। आदिशब्देनानिष्टनिवृत्त्यादिगृह्यत इति रसचन्द्रिका। तच्च तदैव शोभते यद्यनिष्टनिवृत्त्या दुःखाभावातिरिक्तं किमपि भावरूपं भवतीति मन्यते। न चैवमनुभवसिद्धम्। अनिष्टनिवृत्त्यनन्तरं कस्यचनेष्टस्य प्राप्तौ जायमानं सुखन्तु नानिष्टनिवृत्तिजयम्। अत एव स्वयमेव ग्रन्थकृदाद्यादिपदग्राह्यं तदुक्तमिति ग्रन्थेन। प्रियसङ्गम इत्युपलक्षणं प्रियासंगमस्यापि। अप्राप्येति। दुष्प्राप्येत्यर्थः। दुष्प्राप्यानिष्टधननिवृत्त्यर्थं मनोहरेति धनविशेषणम्। सर्वेषामेतेषामिष्टप्राप्तिरूपत्वेऽपि गोबलीबर्दन्यायेन ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन वा पृथगुपादानम्।

अवधावित्यादिपद्यं स्पष्टार्थम्।

प्रियागमनमित्यत्र आगमनमुत्तरपदम्। अनुभाव इति। आभ्यां हर्षो भाव्यो

इष्ट वस्तु की प्राप्ति आदि से उत्पन्न सुखविशेषात्मक चित्तवृत्तिविशेष को हर्ष कहते।

यही बात संगीतरत्नाकर में कही गयी है—

"जिस चित्तवृत्ति-विशेष के विभाव होते हैं—देवता, राजा, गुरु और स्वामी (पति) की प्रसन्नता; प्रिय के साथ मिलन; मनोरथ (उत्कटेच्छाविषयीभूत वस्तु) की प्राप्ति; उस प्रकार के धन का लाभ जो सरलता से प्राप्त करने योग्य नहीं होता और पुत्र-पुत्री आदि की उत्पत्ति तथा अनुभाव होते—नेत्रों और मुख की प्रसन्नता; प्रिय वचन; रोमाञ्च, अश्रु एवम् स्वेद (पसीना) आदि उसे ही हर्ष कहना चाहिए॥"

इसका उदाहरण निम्नलिखित है—

"मेरे आगमन की अवधि जो सायं सन्ध्या थी उस समय घर के दरवाजे पर अपनी आँखें टिका कर खड़ी मेरी प्रियतमा ने जब मुझे आया हुआ देखा तब उसका

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ॥

यथा—

तन्मञ्जु मन्दहसितं श्वसितानि तानि
सा वै कलङ्कविधुरा मधुराननश्रीः ।
अद्यापि मे हृदयमुन्मदयन्ति हन्त
सायंतनाम्बुजसहोदरलोचनायाः ॥

चिन्ताविशेषोऽत्र विभावः । भ्रान्तिगात्रनिश्चलत्वादय आक्षेपगम्या

व्यजत इत्यर्थः ॥

मुद्रणेऽतिविलम्बेन व्याख्या नष्टा पुरातनी ॥
साम्प्रतं समयाभावादक्षरार्थो निरूप्यते ॥

संस्कारजन्यमिति । संस्कारमात्रव्यापारकमित्यर्थः ।

तन्मञ्जु मन्देत्यादि । चिरविप्रयुक्तस्य नायकस्योक्तिरियम् । यदीयम् उक्तिरात्मगता हसितादिस्वरूपविशेषज्ञानवन्मित्रकर्मिका वा तर्हि तत्पदं बुद्धिस्थ-प्रकारावच्छिन्नबोधकम्, यदि तु अज्ञातहसितादिस्वरूपविशेषमित्रकर्मिका तर्हि तत्पदं बुद्धिस्थत्वावच्छिन्ने शक्तमिति विशेषः । एतमेव मनसि निधाय ग्रन्थकृदनुपदं तत्पदस्य शक्यद्वयं वक्ष्यति । 'अद्यापि' इत्यनेन चिरविप्रयुक्तत्वप्रतीतिः । सायन्त-नाम्बुजसहोदरेत्यादिना तु उत्तरोत्तरनिमीलनोन्मुखत्वध्वनिरिति स्वयमेव वक्ष्यति ।

चिन्ताविशेषोऽत्र स्मृतिबीजभूतस्य संस्कारस्योद्बोधकः 'सदृशादृष्टचिन्ताद्याः

मुख खिल उठा ॥"

यह नायक द्वारा अपने प्रिय मित्र को कहा गया है । इसमें समय समाप्त होते ही प्रिय का आगमन विभाव है और नायिका के मुख का खिल उठना अनुभाव है । इनसे हर्ष की अभिव्यक्ति होती है ।

संस्कारस्वरूप एकमात्र व्यापार-कारण से उत्पन्न ज्ञान स्मृति है ॥

उदाहरण देखिये—

"सायंकालिक (अर्थात् संकुचित होने वाले) कमल के समान लज्जावश उत्तरोत्तर अधिकाधिक संकुचित होती जाने वाली आँखों से युक्त प्रियतमा के वह मधुर मुस्कान, रतिश्रमजन्य वे श्वास और वह मनोररञ्जक निष्कलङ्क मुखच्छबि---ये सब आज भी मेरे मन को पागल बना रहे हैं ॥"

यह नायक की प्रियतमा के वियोग में स्वगत उक्ति है अथवा अपने प्रिय मित्र के प्रति । इसमें वियुक्त नायिका के विषय में विशेष प्रकार की नायकगत चिन्ता विभाव है और शब्दतः उपात्त न होने पर भी उक्त चिन्ता से उत्पन्न होने से

अनुभावा ।

यद्यप्यत्रास्या एव स्मृतेः संचारिण्याः, नायिकारूपस्य विभावस्य, हन्तपदगम्यस्य हृदयवैकल्यरूपानुभावस्य संयोगाद् विप्रलम्भरसाभिव्यक्ते रसध्वनित्वं शक्यते वक्तुम्, तथापि स्मृतेरेवात्र पुरःस्फूर्तिकत्वाच्चमत्कारित्वाच्च तद्ध्वनित्वमुक्तम् ।

तदादेर्बुद्धिस्थप्रकारावच्छिन्ने शक्तिरिति नये बुद्धेः शक्यतावच्छेद-

---

स्मृतिबीजस्य बोधिकाः' इत्युक्तत्वात् । आक्षेपगम्या इति तु वाचकशब्दाभावात् ।

अस्य विप्रलम्भध्वनित्वमाशङ्क्य निराचष्टे—**यद्यपीत्यादिना** । हन्तपदगम्य-स्येति निपातानां द्योतकत्वमिति मतानुसारेणोक्तम् । पुरःस्फूर्तिकत्वादिति तच्छब्द-सामर्थ्यात् । चमत्कारित्वाच्चेति वचनस्वाभाव्यात् । तद्ध्वनित्वम्—स्मृति-ध्वनित्वम् ।

स्मृतेरस्यास्तत्पदवाच्यतासंस्पर्शेण कथं ध्वनित्वमिति निरूपयति—**तदादे-रित्यादिना** । बुद्धिस्थो यः प्रकारो घटत्वादिस्तदवच्छिन्ने घटादौ शक्तिरित्येकः प्रसिद्धो नयः । अत्र च घटत्वादीनां प्रकाराणामानन्त्येन शक्त्यानन्त्यप्रसङ्गः, तं परि-हर्तुं बुद्धिस्थत्वेनैकेन रूपेणानुगमान्न तदादिपदस्य नानार्थत्वापत्तिरिति बोध्यम् । तथा च पक्षेऽत्र बुद्धिस्थत्वं न शक्यं न वा शक्यतावच्छेदकम् अपि तु शक्यतावच्छेद-कतावच्छेदकमिति स्पष्टम् । अत एवास्योपलक्षणत्वम् । शक्यतावच्छेदकपर्यन्तस्य शक्यत्वं तु प्रसिद्धम् । तथा चात्र पक्षे बुद्धेः शक्यकोटावप्रवेशान्न तत्पदेन बुद्धित्वेन सामान्यरूपेणापि बुद्धिविशेषस्य स्मृतेर्वाच्यतासंस्पर्श इति सुव्यक्तमेव । यदा तु पूर्वोक्त-प्रकारेण बुद्धिस्थत्वं शक्यतावच्छेदकतया शक्यमेव, न पुनः शक्यतावच्छेदकतावच्छेदक-तयाऽशक्यम्, तदापि बुद्धित्वेन रूपेण स्मृतेस्तत्पदवाच्यत्वेऽपि स्मृतित्वेन विशेषरूपेण

आक्षेपलभ्य भ्रुकुटी का उन्नयन और शरीर में निश्चलता आदि इसके अनुभाव हैं जिनसे स्मृतिस्वरूप चित्तवृत्ति ध्वनित होती है ।

यहाँ प्रश्न यह उठता कि इस पद्य से विप्रलम्भ शृङ्गार रस की ध्वनि क्यों नहीं मानी जाती, कारण इसमें अभिव्यज्यमान स्मृतिस्वरूप सञ्चारिभाव, नायिकारूपी आलम्बनविभाव और 'हन्त' इस निपात पद से गम्यमान हृदय-विकलतारूपी अनुभाव के प्रस्तुत होने से इनके संयोग से विप्रलम्भ की ध्वनि की परिस्थिति तो है ही । फिर इसमें प्रधानरूप में स्मृति की ही ध्वनि क्यों मानी जाती ? इसका उत्तर यही दिया गया है कि यहाँ शब्दसामर्थ्य से स्मृति की ही अभिव्यक्ति पहले होती और वही स्मृति चमत्कारिणी है । इसीलिए यहाँ स्मृतिध्वनि ही मान्य है, विप्रलम्भ-ध्वनि नहीं ।

कानुगमकतया न वाच्यतासंस्पर्शः । बुद्धिस्थत्वं शक्यतावच्छेदकमिति नयेऽपि स्मृतित्वेन स्मृतेर्व्यक्तिवेद्यतैव ।

न वाच्यत्वसंस्पर्श इति तद्ध्वनित्वमाह—बुद्धिस्थत्वमित्यादिना । तथा च वाच्यतावच्छेदकव्यङ्ग्यतावच्छेदकयोर्भेदात् सामान्याकारेण वाच्याया अपि स्मृतेर्विशेषाकारेण व्यङ्ग्यत्वं चमत्कारित्वाच्च ध्वनित्वमिति लभ्यते ।

यत् पुनः बुद्धिस्थत्वमिति प्रतीकमादयोक्तं रसचन्द्रिकायाम्—'परमिदं सर्वमसङ्गतमेव । यतः सर्वत्रैवोपस्थितौ शक्यतावच्छेदकं भासते, बुद्धिस्थत्वन्नु न कुत्रापि घटादिपदजन्योपस्थितौ ।' इति तत्तु तत्पदजन्योपस्थितौ बुद्धिस्थत्वस्य शक्यतावच्छेदकतया भानमिति वदतो ग्रन्थकृतः किं विरुणद्धि इति न विद्मः । किञ्च कृतसंकेतं मित्रादिकम्प्रति अधुना तत्र गन्तव्यमित्यादि वचनात् विशेषार्थकपदान्तरासमभिव्याहृततत्पदात् तटस्थस्य यो बोधस्तत्र बुद्धिस्थत्वादतिरिक्तं किं शक्यतावच्छेदकं सम्भवतीत्यपि विभावनीयम् । तथा च लाघवात् सर्वत्रैव तत्पदघटितबोधे बुद्धिस्थत्वमेव शक्यतावच्छेदकमस्त्विति ग्रन्थकृतोऽभिप्रायः ।

इदं पुनरत्र विचिन्त्यताम्—पदार्थोपस्थितिपूर्वकस्यैव शब्दप्रयोगस्य वक्तृकर्तृकस्य सम्भवात् पूर्वानुभूतपदार्थप्रतिपादकशब्दप्रयोगात्पूर्वं तदुपस्थितेरावश्यकत्वमिति निर्विवादम् । न चैतादृशस्थलेषु पदार्थोपस्थितिर्वक्तुरनुभवरूपा, तस्याः संस्कारशेषत्वात् । तथा च या बुद्धिस्तत्पदस्य शक्यतावच्छेदिका तद्घटिका वा सा स्मृतिरूपापीतिपरिशेषाद्-वाच्यत्वमेवान्ततः स्मृतेरिति भावरूपायाः स्मृतेस्तत्पदाघटित-

---

पुनः प्रश्न उठ सकता है कि 'तत्' आदि सर्वनाम शब्दों के वाच्य अर्थ के अन्तर्गत स्मृति के आ जाने से उसे व्यङ्ग्य कैसे माना जा सकता । इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने—उक्त सर्वनाम शब्दों की शक्ति किस अर्थ मे है और उसमें स्मृति का समावेश है अथवा नहीं, यदि है भी तो किस रूप में है—एक बुद्धि के रूप में अथवा स्मृति के रूप में—इसका विचार कर यह स्पष्ट किया है कि जिस रूप में स्मृति के वाच्य होने पर उसे व्यङ्ग्य मानना असम्भव है उस रूप में स्मृति 'तत्' आदि पदों का वाच्य नही है, अतः उसे व्यङ्ग्य मानने में कोई आपत्ति नही उठती । यहाँ 'तत्' आदि पदों की शक्ति के विषय में प्रथमतः यह मत प्रस्तुत किया गया है कि इनकी शक्ति बुद्धिस्थ जो (घटत्व-पटत्व) आदि प्रकार—विशेषण हैं, उनसे अवच्छिन्न-विशिष्ट (घट-पट आदि) पदार्थों में है । इस मत में बुद्धिस्थत्व शक्यतावच्छेदकीभूत घटत्व-पटत्व आदि नाना प्रकारों का अनुगमक है, स्वयं में यह न शक्य है और न शक्यतावच्छेदक । बुद्धिस्थत्व को शक्यतावच्छेदक का अनुगमक (उपलक्षण) न मानने पर शक्यतावच्छेदकों के और उनके कारण शक्यों के भी नानात्व के कारण एक-एक शक्य

तस्याश्चात्र वाक्यवेद्यत्वेऽपि पदस्यैव कुर्वद्रूपत्वात्पदध्वनिविषयत्वम्। एतेन भावानां पदव्यङ्ग्यत्वे न वैचित्र्यमिति परास्तम्। सायंतनाम्बुजोपमानेन नयनयोरुत्तरोत्तराधिकनिमीलनोन्मुखत्वध्वननद्वारा तस्या आनन्दमग्नताप्रकाशः।

मुदाहरणान्तरं मृग्यम्। श्रोतुस्तत्पदश्रवणानन्तरं वक्तृकर्तृकपूर्वानुभवविषयस्यैव पदार्थस्य प्रतीतिरिति यदि विभाव्यते तर्हि स्मृतेर्न सामान्येनापि तत्पदवाच्यत्वम्। तथापि स्मृतेरपि संस्कारजनकत्वमिति गुरुतरं पक्षान्तरमादाय कथंचित्संगमनीयो ग्रन्थः।

अत्रेदमपि विवेचनीयम्—'शयिता सविधे' इत्यादिपद्यविवरणावसरे 'कथमपि वाच्यवृत्त्यनालिङ्गितस्यैव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारित्वेनालङ्कारिकैः स्वीकारात्' इत्यभिदधतो ग्रन्थकृतो वचनमिदं प्रकृतेऽन्यत्र च साहङ्कारेत्यादिपद्यव्याख्यानावसरे निबद्धं विरुद्धम्। अत एव चास्माभिरपि पूर्वमेवमेवोक्तम्। परन्तु सामान्याकारविशेषाकारप्रतीत्योर्वैलक्षण्यं परीक्षकोपदेशसहकृतरत्नादिप्रत्यक्षवन्निर्विवादम्। अत एव प्रकृतेऽपि तथोक्तं ग्रन्थकारेण। अत एव च 'शयिता सविधे' इत्यादिपद्यव्याख्यानावसरेऽपि 'कथमपि वाच्यवृत्ति' इत्यादिपूर्वाचार्यप्रसिद्धपक्षमुपस्थाप्यान्ते 'चुम्बनेच्छायाः ... अचमत्कारित्वाच्च' इति सन्दर्भेण प्रकारान्तरमुक्तम्। अत्र च 'व्यङ्ग्यताव-

---

में एक-एक शक्ति माननी होगी जिसका परिणाम एक-एक 'तत्' आदि सर्वनाम शब्द में नाना शक्तियों का अपरिहार्य अभ्युपगम होगा। इससे प्राप्त गौरव का परिहार, अर्थात् शक्ति-नानात्व का निवारण, करने के लिए आवश्यक है कि उन शक्यतावच्छेदकों का अनुगमक एक बुद्धिस्थत्व को माना जाय। तब तो बुद्धिस्थ रूप में सभी प्रकारों—शक्यतावच्छेदकों की एक रूप में ही उपस्थिति और प्रतीति होगी और इस प्रकार एक ही शक्ति सभी शक्यतावच्छेदकों और उनसे विशिष्ट शक्यों की उपस्थिति तथा प्रतीति में पर्याप्त हो जायेगी। इस प्रथम मत के अनुसार अनुगमक बुद्धिस्थत्व के अन्तर्गत स्मृति का समावेश होने पर भी इसे वाच्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वाच्यता शक्य और शक्यतावच्छेदक तक ही सीमित है, उनसे अतिरिक्त में नहीं। अतः इस मत में उक्त पद्य में स्मृति को व्यङ्ग्य मानने में कोई दोष नहीं है। द्वितीय मत यह है कि 'तत्' आदि सर्वनामों की को शक्ति बुद्धिस्थत्वविशिष्ट बुद्धिस्थ पदार्थों में है। इस मत में बुद्धिस्थत्व शक्यतावच्छेदक होगा और बुद्धिस्थ पदार्थ शक्य। इनमें शक्यतावच्छेदकीभूत बुद्धिस्थत्व और शक्य—बुद्धिस्थ के घटक बुद्धि के अन्तर्गत स्मृति एक बुद्धि के रूप में अवश्य आती, किन्तु बुद्धिविशेष स्मृति के रूप में नहीं। अतः बुद्धित्वविशिष्ट

दरानमत्कंधरबन्धमीषन्निमीलितस्निग्धविलोचनाब्जम् ।
अनल्पनिश्वासभरालसाङ्गं स्मरामि सङ्गं चिरमङ्गनायाः ॥

च्छेदकतया भासमानजात्यादिरूपेण यत्र वाच्यता तत्रैवाचमत्कारिता । पूर्वोदाहरणे हि मनोरथत्वेच्छात्वयोर्घटत्वकलशत्ववदेकतया तेनैव रूपेण वाच्यताऽस्तीति न दोषः ।' इति मर्मप्रकाशोक्तं मतान्तरमपि चिन्त्यमेव ।

तस्याः—स्मृतेः । कुर्वद्रूपत्वं कार्यजननसामर्थ्यं तच्च प्रकृते स्मृतिव्यञ्जकत्वमेव तदादिपदे प्रसिद्धमिति भावः । तेन च कुर्वद्रूपेण पदेन चमत्कारकारिणा तद्घटितवाक्यस्यापि तथात्वं विज्ञेयम् । यदाहुर्ध्वनिकृतः —

विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी ।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती ॥ इति ।

प्रत्युदाहरणम्—दरानमदिति । दरमीषदानमन् कन्धरबन्धो यस्मिन् (तमङ्गनायाः सङ्गम्), अथ च ईषन्निमिलिते स्निग्धे विलोचने अब्जे इव मनोज्ञे यत्र तम् अनल्पनिःश्वासभरेणालसमङ्गं यस्यास्तस्या अङ्गनायाः प्रियतमायाः सङ्गं चिरं स्मरामीत्यर्थः ।

स्मृति में वाच्यता आने पर भी स्मृतित्वविशिष्ट स्मृति में, जिसमें व्यङ्ग्यता अभिप्रेत है, वाच्यता नहीं है । इस प्रकार स्मृति को व्यङ्ग्य कहना सर्वथा उचित है । इस विषय में विशेष विचार संस्कृतटीका में द्रष्टव्य हैं ।

उक्त स्मृति की अभिव्यञ्जना यद्यपि पूरे पद्यात्मक वाक्य से होती हुई प्रतीत होती तथापि पद्यान्तर्गत 'तत्', 'तानि' और 'सा' इन तीन पदों में स्मृतिव्यञ्जनसामर्थ्य की उत्कटता के कारण यहाँ स्मृति को पद से ही व्यङ्ग्य समझना चाहिए । अत एव यह मत निरस्त हो जाता है कि हर्षादि भावों के पद-व्यङ्ग्य होने पर उनमें चमत्कार नहीं रह जाता ।

इस पद्य से प्रसङ्गात् नायिका की आनन्दमग्नता भी उसकी आँखों के उत्तरोत्तर अधिकाधिक संकोच प्राप्त करते जाने की व्यञ्जना द्वारा ध्वनित होती है । संकोच की अभिव्यक्ति सायंकालिक कमल से आँखों की उपमा से होती है ।

अब एक प्रत्युदाहरण भी द्रष्टव्य है—

"मैं प्रियतमा के साथ हुए उस समागम का स्मरण चिरकाल करता रहता हूँ जिसमें उसकी गर्दन कुछ झुकी हुई थी, उसके आकर्षक नयन-कमल लज्जा से कुछ संकुचित हो गये थे और उसका सारा शरीर रतिश्रमजन्य अत्यधिक निःश्वास से अलसाया हुआ था ॥"

इत्यत्र स्मृतिर्न भावः, स्वशब्देन निवेदनादव्यङ्ग्यत्वात्। नापि स्मरणालङ्कारः, सादृश्यामूलकत्वात्। सादृश्यमूलकस्यैव स्मरणस्यालङ्कारत्वम्, अन्यस्य तु व्यञ्जितस्य भावत्वमिति सिद्धान्तात्। किं तु विभाव एव सुन्दरत्वात्कथंचिद्रसपर्यवसायी।

स्त्रीणां पुरुषमुखावलोकनादेः, पुंसां च प्रतिज्ञाभङ्गपराभवादेरुत्पन्नो वैवर्ण्याधोमुखत्वादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो व्रीडा।

यथा—

कुचकलशयुगान्तर्मामकीनं नखाङ्कं
सपुलकतनु मन्दं मन्दमालोकमाना।
विनिहितवदनं मां वीक्ष्य बाला गवाक्षे
चकितनतनताङ्गी सद्म सद्यो विवेश॥

स्वशब्देन—स्मरणवाचकस्मरामीतिशब्देन। अव्यङ्ग्यत्वादिति। व्यङ्ग्यस्यैव व्यभिचारिणो भावत्वादिति भावलक्षणेनैव प्रतिपादितत्वादिति तात्पर्यम्। कथञ्चिदिति। नायिकास्वरूपालम्बनविभावातिरिक्तानुभावादीनामनवबोधादित्याशयेनैतदुक्तम्।

व्रीडां लक्षयति—स्त्रीणामिति। अधोमुखत्वादीत्यत्र आत्मगोपनं नखविलेखनादिकं च आदिपदग्राह्यम्।

नायकः स्वमित्रं व्याहरति—कुचेत्यादि। कुचौ कलशाविव पीनोन्नतौ इति

नायक द्वारा अपने मित्र से कहे गये इस पद्य में स्मृति 'स्मरामि' इस क्रिया पद का वाच्य है, व्यङ्ग्य नहीं। अतः यहाँ इसे भाव नहीं कहा जा सकता। इसे स्मरणालङ्कार कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि सादृश्यदर्शनजन्य स्मृति ही अलङ्कार होती। यहाँ तो स्मृति नायिका-विषयक पुनः-पुनः चिन्तन से जन्य है। यह अलङ्कारिकों का सिद्धान्त है कि सादृश्यदर्शनजन्य स्मृति अलङ्कार है, और व्यङ्ग्य होने पर भाव। नायिकास्वरूप आलम्बन विभाव के आकर्षक होने से विप्रलम्भ शृङ्गार-व्यञ्जक सामग्री के अभाव में भी किसी तरह यहाँ विप्रलम्भ की व्यञ्जना मानी जा सकती है।

स्त्रियों में पुरुषों के मुखदर्शन आदि से और पुरुषों में प्रतिज्ञाभङ्ग, शत्रुकृत पराभव आदि से उत्पन्न वह विशेष प्रकार की चित्तवृत्ति 'व्रीडा' (लज्जा) कहलाती जिससे मुख विवर्ण हो जाता, नीचे झुक जाता॥

उदाहरण देखिए—

"अपने कलशतुल्य विशाल एवम् उन्नत कुचों के बीच मेरे द्वारा किये गये नख-

शुण्डादण्डं कुण्डलीकृत्य कूले कल्लोलिन्याः किंचिदाकुञ्चिताक्षः ।
नैवाकर्षत्यम्बु नैवाम्बुजालिं कान्तापेतः कृत्यशून्यो गजेन्द्रः ।।

लोभ शोक · भयादिजनितोपप्लवनिवारणकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषो धृतिः ।।

उदाहरणम्—

संतापयामि हृदयं धावं धावं धरातले किमहम् ।
अस्ति मम शिरसि सततं नन्दकुमारः प्रभुः परमः ।।

अत्र विवेकश्रुतसंपत्त्यादिर्विभावः । चापलाद्युपशमोऽनुभावः । ननु चोत्तरार्धे चिन्ता नास्तीति वस्तुनोऽभिव्यक्तेः कथमस्य धृतिभावध्वनित्वमिति

शुण्डादण्डमित्यादि । कान्तापेत इत्यनेन विभावः प्रदर्शितः । अनुभावाश्चाक्षेपगम्याः ।

धृतिलक्षणम्—लोभेत्यादि । जनिपर्यन्तमुपप्लवविशेषणम् ।

सन्तापयामीत्याद्युदाहरणं धृतेः । धावं धावमित्याभीक्ष्ण्ये णमुल्, धावित्वा धावित्वेत्यर्थः । अर्थः स्पष्टः । उत्तरार्धे कारणवर्णनम् ।

विवेकसम्पत्तिः श्रुतं शास्त्रीयं ज्ञानं तस्य च सम्पत्तिः विवेकश्रुतसम्पत्तिः । वस्तुनः—चिन्ताभावस्य । अभावस्य तुच्छस्यापि रसालङ्कारभिन्नत्वाद् वस्तुत्व-

"गजराज अपनी प्रियतमा हथिनी के वियोग से इतना किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो चुका है कि अपनी सूँड़ को कुण्डलाकार बना और आँखों को सिकोड़कर वह नदी-तट पर खड़ा होकर भी न तो पानी पी रहा और न ही कमलों को ही अस्त-व्यस्त कर रहा है ।।"

यहाँ भी प्रिया-वियोग विभाव है और नदी-तट पर खड़ा होकर पानी न पीना आदि अनुभाव जिन सबसे गजेन्द्रगत मोह की अभिव्यञ्जना होती ।।

लोभ, शोक और भय आदि से उत्पन्न होने वाली अशान्ति को उत्पन्न होने से रोकने वाली चित्तवृत्ति धृति है ।।

इसका उदाहरण देखिए—

"इस धरातल पर इधर-उधर भाग-दौड़कर अपने हृदय को मैं क्यों सन्तप्त करूँ जब परमेश्वर नन्दकुमार—भगवान् श्रीकृष्ण मेरे सर पर हाथ रखे हुए हैं !!"

यहाँ (आक्षेपगम्य) विवेकज्ञान, शास्त्राध्ययन-मनन आदि विभाव हैं और चित्तचाञ्चल्य आदि का अभाव अनुभाव । इन सबसे धृति अभिव्यक्त होती ।

अब प्रश्न यह है कि जब उत्तरार्ध से 'फिर मुझे कैसी चिन्ता' इस प्रकार निश्चिन्ततास्वरूप वस्तु की व्यञ्जना होती तब इसमें धृति को व्यङ्ग्य भाव कैसे

*चेत्, तस्य धृत्युपयोगितयैवाऽभिव्यक्तेः।

किमनिष्टं मम भविष्यतीत्याकारश्चित्तवृत्तिविशेषः शङ्का।

उदाहरणम्—

विधिवञ्चितया मया न यातं, सखि! सङ्केतनिकेतनं प्रियस्य।
अधुना बत! किं विधातुकामो, मयि कामो नृपतिः पुनर्न जाने॥

रूपेणैव ध्वननमत्र प्रतीयत इति कथमस्य पद्यस्य धृतिसंज्ञक-भावध्वनेरुदाहरणत्वमिति प्रश्नः। तस्य चिन्ताऽभावरूपस्य वस्तुनो धृतिभावोपयोगितयैव तदुपकारितयेव तदङ्गतयैवाभिव्यक्तिर्भवतीति धृतिरेवात्र प्रधानं, चिन्ताऽभावरूपं वस्तु गौणमिति भवतीदं पद्यं धृतिभावध्वनेरुदाहरणमित्युत्तरम्।

शङ्करं शङ्करं नत्वा रसगङ्गाधरं हरम्।
अपूर्णां पूरये व्याख्यां रम्यां रसतरङ्गिणीम्॥

शङ्काख्यं भावं लक्षयति—**किमनिष्टेति**। भाविनः स्वानिष्टस्यानिश्चितस्यापि या आशङ्का मनसि जायते सैव शङ्काख्यो भावः। आशङ्कात्र सम्भावना। अनिष्टसम्भावनायाः कारणरूपाः परक्रूरतादयः शङ्काया विभावः, वैवर्ण्यादिश्चानुभावः।

विधीति। हे सखि! भाग्यप्रतारितया मया नायिकया प्रियस्य संकेतभवनं नैव गतम्, न स्वेच्छया विवेकपूर्वकमपि तु भाग्यवशादेवेति नाहमपराधिनीति ध्वनितम् प्रियेत्यनेन प्रणयाश्रयत्वेन तत्रावश्यं गन्तुमुचितमिति च। अधुना हन्त! भाग्यप्रेरणया मया अपराधे कृते सति नृपतिः कामो राजा कामदेवः, शासकत्वाद् युवजनानां स राजेति दण्डदायकः क्रूर इति ध्वन्यते। स किं विधातुकामो वर्तते इति न जाने, कठोरं दण्डं दास्यति, किं वा विधास्यतीति शङ्का। विधातुकाम इत्यत्र "तुंकाममनसो"रित्यादिवार्त्तिकेन मलोपः।

माना गया? उत्तर है कि यहाँ 'चिन्ता का अभाव' यह वस्तु प्रधान नहीं है, अपितु धृतिभाव के उपकारक के रूप में गौण ही है। उसी रूप में चिन्ता के अभाव की अभिव्यक्ति हुई है। अतः यहाँ भावध्वनि ही प्रधान है। वस्तु-भावध्वनि के पोषक होने से ही चमत्कारक है।

'किस प्रकार का अनिष्ट मुझे हो जायेगा?' इस प्रकार की मानसिक भावना को शंका नामक भाव कहते हैं। इसमें अनिश्चित अनिष्ट के सन्देह का चिन्तन रहता है। यथा—

---

*किन्हीं अपरिहार्य कारणों से आचार्य डॉ० श्रीनारायण मिश्र जी द्वारा सम्पादित व्याख्या समाप्त्यन्त तक सम्पन्न न हो पायी। अतः अवशिष्ट भाग की पूर्ति आचार्य श्री डॉ० शशिनाथ झा जी द्वारा की गयी।

अत्र राजापराधो विभावः। मुखवैवर्ण्यादय आक्षेप्या अनुभावाः। इयं तु भयाद्युत्पादनेन कम्पादिकारिणी, न तु चिन्ता।

आधिव्याधिजन्य-बलहानिप्रभवो वैवर्ण्य-शिथिलाङ्गत्वदृग्भ्रमणादि-हेतुर्दुःखविशेषो ग्लानिः।

यथा—

शयिता शैवल-शयने, सुषमाशेषा नवेन्दुलेखेव।
प्रियमागतमपि सविधे, सत्कुरुते मधुरवीक्षणैरेव॥

अत्र प्रियविरहो विभावः। मधुरवीक्षणैरेवेत्येवकारेण बोध्यमाना प्रत्युद्गम-चरणनिपतनाश्लेषादीनां निवृत्तिरनुभावः। न चात्र श्रमः शङ्क्यः, कारणाभावात्।

अत्रोदाहरणे राज्ञः कामदेवस्य (तं प्रति) अपराधो नायिकाकृतः शङ्काख्य-भावस्य कारणत्वाद् विभावः साक्षादुक्त एव। नायिकाया मुखविवर्णत्वादयः साक्षादनुक्ता अपि आक्षेपलभ्याः शङ्कायाः कार्यरूपा अनुभावाः। साक्षादुक्तं कारणं दृष्ट्वा तत्कार्यस्या-नुमानलभ्यत्वमाक्षेप्यत्वम्। शङ्काख्यभावस्य चिन्ताख्यभावतो वैशिष्ट्यं दर्शयति—**इयमिति**। इयं शङ्का, भयकष्टादिकमुत्पाद्य कम्प-मुखवैवर्ण्यादिकं जनयति, चिन्ता तु नैव जनयतीत्यनयोर्भेदः।

ग्लानिलक्षणमाह—**आधिव्याधीति**। मानसिक-शारीरिकदुःखेन शरीरे या बलस्य हानिस्तदुत्पन्नं दुःखमेव ग्लानिभावश्चित्तवृत्तिविशेष एव। तयैव ग्लान्या देहे विवर्णता-शिथिलतानयनभ्रमणानुत्साहादयो जायन्ते।

ग्लानिभावमुदाहरति—**शयितेति**। सुषमा परमा शोभैव शेषा यस्याः सा विर-हिणी द्वितीयाचन्द्रलेखा इव सूक्ष्मावयववती अतिक्षीणा शारीरिकदुःखयुक्तेति यावत्, शैवलशयने शयिता मानस-शारीरतापशमनाय शैवालतल्पे शयिता न तूपविष्टा बलहीना-त्वात्, प्रियं रमणम् सविधे समीपे आगतमपि मधुरदृष्ट्यैव सत्कुरुते, प्रत्युत्थानादिष्व-सामर्थ्यात्।

हे सखि! भाग्य से वञ्चित होने (भाग्य के साथ न देने) के कारण मैं प्रिय के द्वारा संकेतित स्थान पर नहीं जा सकी। 'हाय! अब न जाने राजा कामदेव मेरे विषय में क्या करना चाहता है'। स्वेच्छा से नहीं, दुर्भाग्यवश मैं अपराधिनी हो गई। राजा स्वभावतः क्रूर होते हैं। कामराज कहीं दण्ड न दे दें, इसकी शङ्का है।

इस शंका का विभाव राजा के प्रति अपराध है, अनुक्त भी मुखविवर्णतादि आक्षेपलभ्य अनुभाव है। यह शंका 'भय आदि उत्पन्न कर' कम्प आदि ला देती है, चिन्ता ऐसा नहीं करती है। अतः शंका चिन्ता से भिन्न है।

मानसिक एवं शारीरिक दुःख के कारण हुई दुर्बलता से उत्पन्न दुःखविशेष को

केचित्तु व्याध्यादिप्रभव-बलनाशं ग्लानिमाहुः। तेषां मते चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु नाशरूपाया ग्लानेः कथं समावेश इति ध्येयम्। यद्यपि—

बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधि-समुद्भवः।

इतिलक्षणवाक्यादपचयशब्देन नाश एव प्रतीयते, तथापि प्रागुक्तानुपपत्त्या बलनाशजन्यं दुःखमेव बलापचयशब्देन विवक्षितम्।

विरहेति। विरहजन्याधिसम्भूतबलहानिरित्युक्तिरुचितेति **कविशेखरचरणाः**। **श्रम** इति। ननु श्रमेण परिक्लान्तापि प्रत्युद्गमादिकरणेऽसमर्था भवतीति प्रस्तुतोदाहरणेन श्रमभावस्यैव प्रतीतिरस्त्विति चेन्न, बहुतरशरीरायासरूपश्रमप्रतिपादककारणोपन्यासाभावात्।

बलनाशमिति। बलाभावस्य चित्तवृत्तित्वाभावात् कथं भावत्वम्। भावस्य चित्तवृत्त्यात्मकता अन्यैः स्वीकृता इत्याशयादिदमुक्तम्। यद्यपि भरतमुनिना तादृशबलापचयरूपैव ग्लानिरुक्ता। तत्रापचयेन नाशस्यैव प्रतीतिर्भवति, तथापि तेनैव पूर्वं भावस्य चित्तवृत्तित्वं कथितम्, तदनुरोधेनात्र तन्नाशजन्यं दुःखमेव ज्ञेयम्।

ग्लानि कहते हैं, जो मुख की विवर्णता, अङ्ग की शिथिलता, आँखों का घूमना आदि का कारण है। यथा—

परम सौन्दर्यमात्र शेष है, जिसमें ऐसी नवीन चन्द्रलेखा के समान क्षीण गात्रवाली नायिका शैवाल के बिछौने पर पड़ी हुई, समीप में आये हुए भी प्रिय का सत्कार मधुर दृष्टि से ही करती है। (शैवालशयन से, मन एवं शरीर का ताप है, जिसे शान्त कर रही है, ऐसा ध्वनित होता है और मधुरदृष्टि से ही स्वागत से ध्वनित होता है कि वह उठने में भी असमर्था है।)

यहाँ ध्वनित प्रियविरह (से उत्पन्न बलहानि) ग्लानि का विभाव है, 'मधुरवीक्षणैरेव' में एव शब्द से बोध में आते हुए अगवानी करना, पैर पर गिरना, आलिङ्गन देना आदि के अभाव (नहीं करना) अनुभाव हैं।

इस पद्य में अगवानी आदि करने में अक्षमता से श्रमभाव व्यक्त होता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रम के कारण 'बहुतरशरीरायास' का यहाँ अभाव है।

कोई आचार्य 'व्याधि आदि से उत्पन्न बलनाश' को ही ग्लानि कहते हैं। उनके मत में चित्तवृत्ति स्वरूप भावों में नाशरूप (जो चित्तवृत्ति नहीं है) ग्लानि का समावेश कैसे होगा? यह विचारणीय है। (आचार्यों ने सभी भावों को चित्त में रहने वाला ही माना है)। यद्यपि "आधि-व्याधि से उत्पन्न बल की क्षीणता को ग्लानि कहते हैं"—ऐसा भरतमुनिकृत लक्षण के 'अपचय' शब्द से नाश ही समझा जाता है, तथापि उनके द्वारा पूर्व में कहे हुए (चित्तवृत्तिविशेषा भावः) वचन की अनुपपत्ति के

दुःख-दारिद्र्यापराधादि-जनितः स्वापकर्ष-भाषणादिहेतुश्चित्तवृत्ति-विशेषो दैन्यम् ।

उदाहरणम्—

हतकेन मया वनान्तरे, वनजाक्षी सहसा विवासिता ।
अधुना मम कुत्र सा सती, पतितस्येव परा सरस्वती ॥

सीतां परित्यक्तवतो भगवतः श्रीरामभद्रस्येयमुक्तिः । अत्र सीतापरित्यागरूपोऽपराधस्तज्जन्यं दुःखं वा विभावः । पतितसाम्यरूप-स्वापकर्षभाषणमनुभावः । यदाहुः—

दैन्यं भावं निरूपयति—**दुःखेति** । स्वीयदुःखादिकारणेन यद् "अहं पातकी"-त्यादिभाषणद्वारा स्वकीयहीनत्वं प्रकाश्यते तेन दैन्यो भावश्चित्तवृत्तिविशेषो व्यज्यते ।

उदाहरति—**हतकेनेति** । सीतापरित्यागानन्तरं रामस्योक्तिरियम् । हतकेन औचित्य-हननकर्त्रा हतभाग्येन वा, मया रामेण, वनजाक्षी जलजाक्षी कमलनयना अतिकोमलाङ्गीति भावः, 'पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः, सहसा झटिति अविचारिततयैव वनान्तरे सुदूरे वने, निर्वासिता ! अधुना सम्प्रति स्वीयघोरापराधे ज्ञाते सति मयि सा निर्दोषा, सती पतिव्रता सीता, पतितस्य भ्रष्टस्य विप्रस्य, परा सर्वोत्कृष्टा सरस्वती श्रुतिरिव, मम कुत्र भविष्यति ? यथा पतितैः श्रुतिर्नैव प्राप्यते तथैव सा मत्सम्पर्कवर्ती नैव भवितुमर्हतीति भावः । स्वस्मिन् पतितवदपकर्षप्रतिपादकं वचनं दैन्यभावं प्रकाशयति ।

अत्रेति । अपराधोऽत्र विभावः । साक्षादपराधस्तेन च दुःखं व्यज्यते । वस्तुतो नापराधमात्रेण स्वापकर्षभाषणं सम्भवति, अपि तु स्वापराधजन्यदुःखेनैवेति दैन्यलक्षणे 'दारिद्र्यापराधादिसमुत्पन्नदुःखजनित' इत्येव कथनं युज्यते । अत एव 'तज्जन्यं दुःखं वेति' पक्षान्तरमुक्तम् ।

कारण बल के नाश से उत्पन्न दुःख ही यहाँ 'बलापचय' शब्द से विवक्षित है, ऐसा जानना चाहिए ।

दुःख, दरिद्रता, अपराध आदि के कारण उत्पन्न अपनी हीनता को प्रकाशित करने वाली अपनी उक्ति का कारण जो चित्तवृत्ति उसे दैन्य भाव कहते हैं । उदाहरण—

अभागा मैंने पहले कमल-नयना कोमलाङ्गी सीता को बिना विचारे ही सुदूर वन में निर्वासित कर दिया ! अब पतित व्यक्ति की श्रुति (वेद) के समान वह पतिव्रता मेरी कहाँ हो सकती है ।

सीता के परित्याग करने के बाद भगवान् रामचन्द्र की यह उक्ति है । यहाँ सीतापरित्याग रूप अपराध या उस अपराध से उत्पन्न दुःख विभाव है और 'पतित के

चित्तौत्सुक्यान्मनस्तापाद् दौर्गत्याच्च विभावतः ।
अनुभावात्तु शिरसोऽभ्यावृत्तेर्गात्रगौरवात् ॥
देहोपस्करणत्यागाद् दैन्यं भावं विभावयेत् ॥ इति ।
दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ॥ इति च ।

अत्र हतकेन मया विवासिता, न तु विधिनेत्येतस्यार्थस्य पतितोपमयैव परिपोषः, न तु शूद्राद्युपमया । यतः शूद्रस्य जात्यैव श्रुतिदौर्लभ्यं विधिना कृतम्, पतितस्य तु ब्राह्मणादेर्विधिना श्रुतिसुलभत्वे स्वभावेन कृतेऽपि तेनैव तथाविधं पापमाचरता स्वतः श्रुतिर्दूरीकृतेति तस्य पतितेन साम्यम् । तस्याश्च श्रुत्येत्युपमालङ्कारो दैन्यमेवालङ्कुरुते ।

चित्तौत्सुक्येति । चित्तस्य औत्सुक्यं, मनोव्यथा, दौर्गत्यं दरिद्रता चेति दैन्यभावस्य विभावाः, शिरसोऽभ्यावृत्तिः पुनःपुनर्धूननं, देहशैथिल्यं, देहप्रसाधनत्यागश्चेति अनुभावाः तेभ्यो दैन्यं भावं विभावयेद् जानीयात् । दौर्गत्यादेर्दारिद्र्यादिकारणाद् यद् अनौजस्यम् ओजोहीनता, सैव दैन्यं यद् मुखमालिन्यादि करोतीति ।

अत्रेति । पूर्वोक्तोदाहरणे मयेत्यनेन मयैव न तु विधिनेति व्यज्यते । तदर्थस्य पतितसादृश्येनैव परिपुष्टिर्भवति, न तु शूद्रसादृश्यकथनेन 'वृषलस्येव' इत्यनुमितपाठ-कल्पनेन । जात्यैव शूद्रत्वेनैव ''न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्'' इत्यागमबोधितेनैव वेद-शून्यत्वं शूद्रस्य जन्मनैव विधिना विहितम् । पतितो द्विजातिस्तु विधिना स्वभावेन, स्वजात्यैव श्रुतिप्राप्त्यधिकारीकृतः, परन्तु स पतितः स्वकीय-पापाचणेनैव स्वतः श्रुतिं दूरीकृत्य तादृशपावनवस्तुतो विहीनो भवतीति । तथैव रामोऽपि सीतायाः पतित्वेन स्वतः सुलभां तां स्वीयाविवेकाद् दूरीकृत्य तदनधिकारी संवृत्त इति रामे पतितद्विजाति-

---

समान' इस प्रकार का अपने विषय में हीनता के प्रतिपादक वचन अनुभाव है । इन्हीं से दैन्य संज्ञक भाव अभिव्यक्त हो रहा है । ऐसा ही प्राचीनाचार्यों ने कहा है—

मन की उत्सुकता, मनस्ताप और दरिद्रता इन विभावों से तथा सर को बार बार हिलाने, देह का भारीपन और शरीर के प्रसाधन का त्याग, इन अनुभावों से दैन्य भाव को जाने । और यह भी कहते हैं कि दरिद्रता आदि के कारण जो दुर्बलता (ओज-स्विता का अभाव) हो जाती है, वही दैन्य भाव है जो मुखमलिनतादि का कारण है ।

यहाँ 'अभागा मैंने सीता को निर्वासित कर दिया, न कि विधाता ने' इस अर्थ की परिपुष्टि पतितसादृश्य से ही होती है, न कि शूद्रादि के सादृश्य से । क्योंकि शूद्र के लिए जन्म से ही या जाति से ही वेद को दुर्लभ कर दिया विधाता ने, पर पतित ब्राह्मणादि के लिए विधाता ने स्वाभाविक रूप से वेद को यद्यपि सुलभ कर दिया है, तथापि उसी पतित ने उस प्रकार के पाप करके स्वतः वेद को दूर कर दिया । अतः

तथा मयेति सेति चोपादानलक्षणामूलध्वनिभ्यां कृतघ्नत्व-कृतज्ञात्व,-निर्दयत्व-दयावतीत्वाद्यनेकधर्मप्रकाशनद्वारा तदेव परिपोष्यते, सेति स्मृत्या च लेशतः प्रतीयमानया ।

इष्टाप्राप्त्यनिष्टप्राप्त्यादिजनितो ध्यानपरपर्यायो वैवर्ण्य-भूलेखनाऽधोमुखत्वादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषश्चिन्ता ।

सादृश्यं संघटते । **तस्याश्च** सीतायास्तु श्रुतिसादृश्यमिति उपमालङ्कारोऽत्र स्फुटतया वाच्यो व्यङ्ग्यं दैन्यमलङ्करोति । व्यङ्ग्यप्राधान्यादस्योत्तमकाव्यतैवेति । दैन्यभावोदाहरणत्वमस्य भवत्येव ।

मयेति । वनवासेऽपि सीतया अत्यक्तोऽहं, तादृशेनात्यक्तेन मयेत्युपादानलक्षणया 'स्वसिद्धये पराक्षेप' इत्युक्तलक्षणवत्त्या ज्ञायते । तेन लक्ष्यार्थेन रामे कृतघ्नत्व-निर्दयत्व-गर्हितत्वादिधर्मा ध्वन्यन्ते । एवमेव सेति पदेन विपन्नावस्थायामपि सहचरी सेति प्रयोजनमूलोपादानलक्षणाद्वारा ज्ञायते, ततश्च सीतायां कृतज्ञात्व-दयावतीत्व-क्षमावतीत्वादिधर्मा ध्वन्यन्ते । ध्वनिनाऽपि **तदेव** दैन्यमेव परिपोष्यते । सेति पदेन यद्यपि तादृश्या गुणवत्याः सीतायाः **स्मृतिर्लेशतः** आंशिकरूपेण परिपोषकसामग्रीविरहात् प्रतीयते, तथापि स्मृतिरपि दैन्यमेव पोषयतीति, नेदं स्मृतेरपितु दैन्यस्योदाहरणमेव ।

चिन्तां लक्षयति—**इष्टेति** । इष्टाप्राप्त्यादयश्चिन्तायाः कारणस्वरूपा विभावाः, तस्याः कार्यस्वरूपाः तज्जन्याः मुखविवर्णतादयोऽनुभावाः । ध्यानं चिन्तापरपर्यायं स्मृत्यनुकूलव्यापाररूपमिति प्रौढमनोरमा-शब्दरत्नग्रन्थादौ **हरिदीक्षिताः** । चिन्ता-

---

यहाँ पतित से ही राम का साम्य दिखाया गया । उस सीता का श्रुति से साम्य कहा गया । यहाँ उपमा अलङ्कार दैन्य भाव को ही अलंकृत करता है, अतः प्रधान नहीं है । प्रधान तो दैन्य ही है ।

इसी तरह उपर्युक्त उदाहृत पद्य में 'मया' और 'सा' इन पदों में उपादान-लक्षणामूलक ध्वनियों के द्वारा कृतघ्नत्वादि अनेक धर्म प्रकाशित होकर उसी दैन्य भाव को पुष्ट कर रहे हैं और 'सा' इस पद से अत्यन्तप्रिया सीता की हल्की स्मृति भी उसी का पोषक है । 'मया' पद से 'वनवास के समय में भी सीता से अत्यक्त मैं' ऐसा अर्थ प्रयोजनमूला उपादान लक्षणा से होता है, जिससे राम में कृतघ्नत्व, निर्दयत्व, आदि धर्म ध्वनित होते हैं । 'सा' पद से उक्त लक्षण द्वारा 'विपन्नावस्था में भी सहचरी वह सीता' यह अर्थ आकर सीता में कृतज्ञत्व, दयावतीत्व आदि धर्म ध्वनित करते हैं, जो दैन्य को ही पुष्ट कर रहे हैं ।

अभीष्ट वस्तु की अप्राप्ति अनिष्ट वस्तु का प्राप्त हो जाना इत्यादि कारणों से उत्पन्न मुख का पीले पड़ जाना निष्प्रयोजन नख से भूमि पर लिखना, नीचे मुख करना आदि कार्यों का कारण जो चित्तवृत्ति, उसे ही ध्यान या चिन्ता कहते हैं ।

यदाहुः—

विभावा यत्र दारिद्र्यमैश्वर्यभ्रंशनं तथा।
इष्टार्थापहृतिः शश्वच्छ्वासोच्छ्वासावधोमुखम् ॥
सन्तापः स्मरणं चैव कार्श्यं देहानुपस्कृतिः।
अधृतिश्चानुभावाः स्युः सा चिन्ता परिकीर्तिता ॥
वितर्कोऽस्याः क्षणे पूर्वे पाश्चात्येवोपजायते ॥ इति ॥
ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः सन्तापादिकरी मता ॥ इति च।

उदाहरणम्—

अधरद्युतिरस्त-पल्लवा, मुखशोभा शशिकान्ति-लङ्घिनी।
अकृतप्रतिमा तनुः कृता, विधिना कस्य कृते मृगीदृशः ॥

लक्षणस्यास्य प्राचीनाचार्यसम्मतत्वं दर्शयति—**यदाहुरिति**। सा चिन्ता, यत्र दारिद्र्यादयो विभावाः, इष्टार्थापहृत्यादयोऽनुभावा इति सारांशः। दरिद्रता जन्मजाता पश्चाद्भवा वा धनाभावजन्या, प्रभुत्वस्य प्रभावस्य नाश ऐश्वर्यभ्रंशनं, शश्वत् सदैव, स्मरणमर्थादिनाशस्य, कार्श्यं देहस्य क्षीणता, अनुपस्कृतिरसंस्कारः, अधृतिर्धैर्याभावः। अस्याः पूर्वक्षणे पश्चात्क्षणे वा वितर्को जायते। हिताप्राप्तिजन्यं यद्ध्यानं तदेव चिन्ता।

चिन्ताख्यं भावमुदाहरति—**अधरेति**। विधिना विधात्रा, मृगीदृशो मृगनयनाया रमण्या एताः कस्य पुण्यातिशयवतो भाग्यवतो यूनः कृते कृता निर्मिताः? अस्तो दूरे निक्षिप्तः पल्लवो यया जितपल्लवेत्यर्थः तथाविधा अधरकान्तिः, चन्द्रशोभातिक्रमणकारिणी मुखशोभा, न कृता प्रतिमा प्रतिकृतिर्यस्यास्तादृशी अनुपमाना तनुश्चेति। व्यतिरेकालङ्कारः।

जैसे कि आचार्यों ने कहा है—

जहाँ जन्मसिद्ध दरिद्रता, ऐश्वर्य (प्रभुत्व या सम्पत्ति) से च्युत होना एवं इष्ट वस्तु का अपहरण हो जाना चिन्ता के कारण होने से विभाव हों और सतत श्वास का तेजी से ऊपर नीचा होना, नीचे मुख करना, सन्ताप, नष्ट वस्तु का स्मरण, दुबले होना, देह को परिष्कृत न करना, अधीरता इत्यादि कार्यरूप अनुभाव हों, उस चित्त-वृत्ति को चिन्ता कहा गया है। इस चिन्ता के पूर्वक्षण में या बाद के क्षण में वितर्क (सन्देहादि के बाद आने वाला स्फूर्तियुक्त विचार) उत्पन्न होता है। और भी कहा है कि हित वस्तु की अप्राप्ति से उत्पन्न उस विचार को चिन्ता कहते हैं जिससे सन्ताप आदि उत्पन्न होते हों। उदाहरण—

विधाता ने इस मृगनयना के शरीर की रचना किसके लिए की, जिसे नायिका के अधर की कान्ति पल्लव की शोभा को दूर फेंक दी, मुखशोभा चन्द्रमा की कान्ति से बढ़कर है और शरीर तो अनुपम ही है।

अत्र तदप्राप्तिर्विभावः। अनुतापादय आक्षेप्या अनुभावाः। न चात्रौत्सुक्यध्वनिरिति वाच्यम्, 'कस्य कृते' इत्यनिर्धारितधर्म्यालम्बनायाश्चिन्ताया एव प्रतीयमानतया सतोऽप्यौत्सुक्यस्यैतद्वाक्येन प्राधान्येनाबोधनात्।

मद्याद्युपयोगजन्मा उल्लासाख्यः शयन-हसितादिहेतुश्चित्तवृत्तिविशेषो मदः।

यदाहुः—

सम्मोहानन्दसन्दोहो मदो मद्योपयोगजः॥ इति।

तदप्राप्तिर्वर्ण्यमानाया नायिकाया अप्राप्तिश्चिन्ताख्यभावस्य कारणत्वेन विभावः, तज्जन्या व्याकुलीभावादयः कार्यतयानुभावाः। शब्दतोऽनुच्यमाना अपि ज्ञायमाना अनुतापादयोऽनुभावा आक्षेपलभ्या इति।

न चात्रेति। अस्मिन् पद्ये नायिकाप्राप्तिविषयकोत्कटेच्छायाः सत्त्वेन औत्सुक्याख्यभावध्वनिरेवास्तु, चिन्ता हि तस्यानुभावत्वेनेति शङ्का, 'कस्य कृते' इत्यनेन 'मम स्यात् अन्यस्य वा' इति चिन्तैव प्रबला भवति, औत्सुक्यं गौणम्, यदि अन्यस्येयमिति ज्ञानविरहः स्यात्, स्वप्राप्तिर्निश्चिता स्यात् तदैव औत्सुक्यभावः सम्भवति, अत्र तु तथा नास्तीति चिन्तोदाहरणमेवेदमिति **समाधानम्**।

मादकद्रव्याणाम् मद्य-सुरा-भङ्गा-नालीप्रभृतीनां सेवनेनोत्पन्न उल्लासापरपर्यायः स्वाप-हसनादीनां कारणस्वरूपा चित्तवृत्तिर्मदनामको भावः। अत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—**यदाहुरिति।** सम्मोहस्य अविवेकस्य = मूढभावस्य, आनन्दस्य च सन्दोहः समुच्चयो मद्यसेवनादुत्पन्नो मदसंज्ञको भावः। अत्र स्वापादीनामाधिक्य एवानुभावत्वम्। परुषोक्तिः कठोरवाक्। **साहित्यदर्पणा**नुसारि चेदमनुभावनिरूपणं **काव्यप्रदीप**प्रतिकूलम्। तथा हि—

यहाँ उस नायिका की अप्राप्ति विभाव है। उस अप्राप्ति से उत्पन्न दुःख, विकलता आदि अनुभाव है, जो शब्दतः नहीं रहने से आक्षेपलभ्य है।

यहाँ नायिका के प्रति उत्सुकता व्यक्त होने से औत्सुक्य ध्वनि ही है, न कि चिन्ता, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'किसके लिए' यह नायिका है—इस उक्ति के द्वारा किसी अनिश्चित व्यक्ति के विषय में होने वाली चिन्ता ही ध्वनित हो रही है। अतः औत्सुक्य के विद्यमान रहने पर भी इस वाक्य से उसकी प्रधानता प्रतिपादित नहीं हो रही है।

मदिरा पीने से उत्पन्न शयन हसित आदि का कारण उल्लास नाम का चित्तगत जो भाव उसे मद कहते हैं। जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

विचारशून्यता और आनन्द के समुदाय को मद कहते हैं, जो मद्य के सेवन से उत्पन्न हुए हों।

तत्रोत्तमे पुरुषे स्वापोऽनुभावः। मध्यमे हसित-गाने। नीचे तु रोदन-परुषोक्त्यादि। अयं च मदस्त्रिविधः—तरुण-मध्यमाधमभेदात्। अव्यक्तासंगत-वाक्यैः सुकुमारस्खलद्गतया च योऽभिनीयते स आद्यः। भुजाक्षेप-स्खलित-घूर्णितादिभिर्मध्यमः। गतिभङ्ग-स्मृतिनाश-हिक्काच्छर्द्यादिभिरधमः। उदाहरणम्—

मधुरतरं स्मयमानः, स्वस्मिन्नेवाऽलपञ्शनैः किमपि।
कोकनदयँस्त्रिलोकीमालम्बन-शून्यमीक्षते क्षीबः॥

उत्तमसत्त्वः प्रहसति, गायति तद्वच्च मध्यमप्रकृतिः।
परुषवचनाभिधायी, शेते रोदित्यधमसत्त्वः॥

उत्तमे प्रहासोऽट्टहासः, अधिके मदे सति स्वापः, मध्यमे उत्तमवद् अतिहासो गानं च, अधमे परुषवचनं, रोदनम् अपहसितं च, अधिके मदे तु सर्वत्र स्वाप एवेति तत्त्वम्।

अव्यक्तेति। अव्यक्तमस्फुटाक्षरम्, असंगतमसम्बद्धम्। सुकुमारा अनुद्धता, स्खलन्ती वारं वारं त्रुट्यन्ती चासौ गतिस्तया। हिक्का 'हिचकी' इति हिन्दीभाषाप्रसिद्धा, पित्तोल्वणवशात्कण्ठगतविकृतवायुध्वनिः। छर्दिः वमनम्।

मधुरतरमिति। कश्चित् क्षीबो मत्तः, मन्दं मन्दं स्मितं कुर्वन्, स्वस्मिन् आत्मनि अन्यं विनैव, किमपि असम्बद्धं, शनैरस्पष्टम् आलपन् वार्तालापं कुर्वन्, त्रिलोकीं त्रिभुवनमेव मदारुणदृष्ट्या कोकनदयन् रक्तकमलमिव कुर्वन्, आलम्बनशून्यं निरालम्बं निर्विषयं शून्यमेवेति यावत्, पश्यति।

उत्तम व्यक्ति मद्यपान के बाद सो जाता है और यही शयन मदभाव का अनुभाव है। मध्यम व्यक्ति में हँसना और गाना अनुभाव होता है, जब कि अधम व्यक्ति (नीच) में रोदन और कठोर वचन आदि अनुभाव अनुभूत हैं। यह मद तीन प्रकार का है—तरुण, मध्यम एवं अधम। अव्यक्त एवं असंगत वाक्यों के द्वारा कोमल एवं लड़खड़ाती हुई गति के द्वारा जो अभिनीत हो, वह तरुण मद कहलाता है। बाँहों को फड़काना, स्खलित एवं चकराती गतियों से मध्यम मद व्यक्त होता है। चलने में रुकावट, स्मृतिनाश, हिचकी एवं वमन आदि से अधम मद प्रकटित होता है। यथा—

मत्त व्यक्ति मधुर-मधुर मुस्काता हुआ, आप-ही-आप धीरे-धीरे कुछ-कुछ (असम्बद्ध) बोलता हुआ, तीनों लोकों को लाल कमल के समान (मदजन्य आँख एवं मन की रक्तिमा से) रक्त वर्ण करता हुआ, विषय के बिना ही शून्य को देख रहा है।

अत्र मादकद्रव्यसेवनं विभावः। अव्यक्तालापाद्यनुभावः। अत्र मत्त-स्वभाववर्णनस्य तन्निष्ठमदव्यञ्जनार्थत्वान्मदभाव एव प्रधानमिति न स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य प्राधान्यम्, अपि तु तद्ध्वन्युपस्कारकत्वमेव।

इदं वा पुनरुदाहरणम्—

मधुरसान्मधुरं हि तवाधरं, तरुणि! मद्वदने विनिवेशय।
मम गृहाण करेण कराम्बुजं, पपपतामि हहा! भभभूतले॥

अत्रापि स एव विभावः। अधिकवर्णोच्चारणादिरनुभावः। पूर्वार्धगता ग्राम्योक्तिः, उत्तरार्धे च तरुणीकरेऽम्बुजोपमेयतया निरूपणीये स्वकरस्य तदुपमेयतया निरूपणं च मदमेव पोषयतः।

बहुतर-शारीरव्यापारजन्मा निश्श्वासाङ्गसम्मर्दनिद्रादिकारणीभूतः खेदविशेषः श्रमः।

मत्तस्वभावेति। यद्यप्यत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः स्फुटः, तथापि मदाख्यभावोपकारकत्वान्न तस्य प्राधान्यम्, अपि तु मदस्यैव प्राधान्यम्। ननु क्षीबपदेन मदाश्रयो मत्तपुरुषो वाच्यवृत्त्यैव ज्ञायते, तत्र मदोऽपि विशेषणतया वाच्य एव इति वाच्यार्थीकृतस्य व्यङ्ग्यस्य कथं चमत्कारित्वमिति चेदुदाहरणान्तरं दर्शयति—**इदं वेति**।

मधुरसेति। हे तरुणि! मधुरसादपि मधुरतरं तवाधरं स्वकीयाधरं त्वं मद्वदने मन्मुखे विनिवेशय। किञ्च त्वं स्वकरेण (साधारणेन) मम कराम्बुजं करकमलं गृहाण। हहा हन्त! अहं भूतले पतामि। पकारद्वयं भकारद्वयं चाधिके मदभावसूचिके।

स एव मादकद्रव्यसेवनादिः। **ग्राम्योक्तिः** स्ववदनेऽधरनिवेशनस्य गूढतया प्राकाश्यस्य वाच्यरूपेणोक्तिः। स्वकरस्य कृते कमलविशेषणं नायिकाकरस्य कृते तु नेति वैषम्योक्तिर्विपरीता मदस्य पोषिका।

श्रमभावं निरूपयति—**बहुतरेति**। बहुतरेण अत्यधिकेन, शारीरव्यापारेण भारवहनादिना जन्म उत्पत्तिर्यस्य। एतेन श्रमभावस्य विभावो वर्णितः। निश्श्वासो

यहाँ मादक द्रव्य का सेवन विभाव है। अव्यक्त आलाप आदि अनुभाव है। यहाँ मत्तस्वभाव का वर्णन रहने से स्वभावोक्ति अलंकार है, परन्तु वह मत्तव्यक्ति में रहनेवाले मदभाव को अभिव्यक्त करने के लिए ही वर्णित हुआ है। अतः मदभाव ही प्रधान है, न कि स्वभावोक्ति अलंकार। अपितु मदभाव ध्वनि के उपकारक (संस्कारक) के रूप में गौणतया ही वह अलंकार उपस्थापित है। अथवा यह भी मद का उदाहरण है—

हे तरुणि! मधु रस से भी मधुर अपने अधर को तू मेरे मुख में डाल दो, अपने हाथ से मेरे करकमल को पकड़ो, हाय हाय! मैं तो भ भ भूतल पर ग ग गिर रहा हूँ।

यदाहुः —

अध्वव्यायामसेवाद्यैर्विभावैरनुभावकैः ।
गात्रसंवाहनैरास्य-सङ्कोचैरङ्गमोटनैः ॥
निःश्वासैर्जृम्भितैर्मन्दैः पादोत्क्षेपैः श्रमो मतः ॥ इति ।
श्रमः खेदोऽध्वगत्यादेर्निद्राश्वासादिकृन्मतः ॥ इति च ।

अयं च सत्यपि बले जायते, शारीरव्यापारादेव जायते, न तु ग्लानिः । अतो ग्लानिः श्रमस्य च भेदः ।

दीर्घश्वासः, अङ्गसम्मर्दः स्वेनैव देहमर्दनं, निद्राऽऽलस्यादिः, एतेषां कारणस्वरूपः । एतेन श्रमभावस्यानुभावो दर्शितः । खेदो दुःखं चित्तवृत्तिरेव श्रमभाव उच्यते ।

प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—अध्वेति । अत्राध्वपदं श्रमकारणत्वेन अध्वगमनपरम् । मार्गगमन-व्यायाम-सेवाप्रभृतिभिः विभावैः, गात्रस्य शरीरस्य संवाहनैर्मर्दनैः, मुखसंकोचैः, अङ्गतिर्यक्करणैः, दीर्घोष्णश्वासैः, जृम्भाकरणैः मन्दतया पादोत्क्षेपैश्चानुभावैः श्रमाख्यो भावो जायते ।

इतरविपश्चिन्मतमप्याह—श्रम इति । अध्वगत्यादिकारणादुत्पन्नः खेद एव श्रमो मतः, यो हि निद्रादिकारको भवति ।

ननु ग्लानिभावेऽपि खेद एव जायत इति तेनैवास्य श्रमस्य गतार्थतास्तु, इति चेन्न, श्रमस्य सबलपुरुषेऽपि सत्त्वात् शारीरव्यापारादेव जन्यत्वात्, ग्लानेस्तथात्वाभावाच्च ।

यहाँ भी वही (मादक द्रव्य सेवन) विभाव है । अधिक वर्णों का उच्चारण अनुभाव है । पद्य के पूर्वार्ध में ग्राम्य उक्ति (मुख में अधर देना) और उत्तरार्ध में तरुणी के हाथ को कमल से उपमा देने के बजाय अपने हाथ की ही उपमा देना भी मदभाव को ही पुष्ट कर रहे हैं ।

अत्यधिक शारीरिक मिहनत से उत्पन्न एवं दीर्घ श्वास, देह मोड़ना, निद्रा आदि का कारण जो खेद उसे श्रम संज्ञक भाव कहते हैं । जैसा कि प्राचीनाचार्यों ने कहा है—

राह में अधिक चलना व्यायाम एवं सेवादि करना इन विभावों के द्वारा एवं देहमर्दन, मुँह सिकोड़ना, देह मोड़ना, लम्बी साँस, जम्हाई लेना, मन्द-मन्द पैर फेंकना इन अनुभावों से श्रम को प्रकटित होते हुए माना गया है ।

अन्यों ने भी कहा है कि मार्ग गमन आदि से उत्पन्न खेद को श्रम कहते हैं जो निद्रा, श्वास आदि करनेवाला होता है ।

यह श्रमभाव शरीर में बल रहने पर भी होता है, शारीरिक व्यापार से ही होता है जबकि ग्लानिभाव में ऐसी बात नहीं है । अतः खेदविशेष रूप ऐक्य रहने के बावजूद ग्लानि से श्रम का भेद है । उदाहरण—

उदाहरणम्—

विधाय सा मद्वदनानुकूलं कपोलमूलं हृदये शयाना ।
चिराय चित्रे लिखितेव तन्वी, न स्पन्दितुं मन्दमपि क्षमासीत् ॥

अत्र विपरीतसुरतरूपः शारीरव्यापारो विभावः । स्पन्दराहित्य-शयनादयोऽनुभावाः । न चात्र निद्रा-भावध्वननेन गतार्थतेति शङ्क्यम्, सुषुप्तौ हि ज्ञानराहित्येनैव यत्नराहित्यान्मन्दमपि स्पन्दितुं न क्षमासीदित्यस्यानतिप्रयोजनकत्वापत्तेः, शीङाभिहिततया तस्या व्यङ्ग्यत्वानुपपत्तेश्च । श्रमे त्वानुगुण्यमुचितम् ।

रूपधनविद्यादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षज्ञानाधीनपरावहेलनं गर्वः ।

उदाहरति—**विधायेति** । सा तन्वी कोमलाङ्गी, कपोलमूलं मद्वदनानुकूलं विधाय हृदये नायकस्योरसि शयाना सती, चिराय चिरकालं यावत् चित्रे लिखिता इव, मन्दं स्वल्पमपि स्पन्दितुं शरीरसंचारं कर्त्तुं क्षमा समर्था नासीत् ।

न चात्रेति । अत्र श्रमोदाहरणपद्ये निर्व्यापारत्वादिना व्यज्यमाना निद्रैवेति तयैव श्रमभावो गतार्थ इति नाशङ्कनीयम् । अत्र हेतुद्वयम्—सुषुप्तौ निद्रायां ज्ञानाभावेनैव चेष्टाशून्यत्वं स्वतः सिद्धं, तदर्थं च स्पन्दराहित्यवर्णनं व्यर्थं स्यादित्येको हेतुः, अपरश्च "शयाना" इतिपदेन वाच्यतयैव निद्रोपस्थिता कथं व्यङ्ग्यता स्यादिति । श्रमभावे तु निद्राद्युपकारकमेव ।

गर्वं निरूपयति—**रूपेति** । रूपधनादिकारणैः स्वस्मिन् उत्कर्षज्ञानेन जायमानं परेषाम् अवज्ञा तिरस्कारः चित्तवृत्तिविशेषो गर्वाख्यो भावः । आत्मोत्कर्षप्रतिपादनं गर्वस्य विभावः, परावहेलनजनको वाक्प्रयोगोऽनुभावः ।

वह कोमलाङ्गी अपने गाल के मूल को मेरे मुख के अनुकूल करके मेरे (नायक के) हृदय पर सोयी हुई देर तक तस्वीर में लिखित होने के समान थोड़ा भी शारीरिक संचार करने में अक्षम थी ।

यहाँ विपरीत सुरत रूप शारीरिक व्यापार श्रम का विभाव है और हिलने में असमर्थता, शयन आदि अनुभाव है । यहाँ निद्रा भाव के ध्वनित होने से ही श्रम को गतार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि निद्रित अवस्था में ज्ञानरहित होने से ही यत्न-रहितत्व सिद्ध ही है, फिर "थोड़ा भी हिलने में सक्षम नहीं थी" इस कथन का निष्प्रयोजन होने की आपत्ति आती है और शीङ् धातु के रूप "शयाना" के द्वारा वाच्यरूप से उपस्थित निद्रा को व्यङ्ग्य कहना अनुपपन्न है । श्रमभाव में तो ऐसा कथन अनुकूल ही है ।

रूप, धन, विद्या आदि के कारण अपने उत्कर्ष ज्ञान के अधीन अन्य व्यक्ति का तिरस्कार ही गर्व भाव है ।

उदाहरणम्—

आमूलाद् रत्नसानोर्मलय-वलयिताद् आ च कूलात् पयोधे-
र्यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु।
मृद्वीका-मध्य-निर्यन्मसृण-रसझरीमाधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यताया: पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः॥

अत्र स्वकीयकविताया अनन्यसाधारणताज्ञानं विभावः। पराधिक्षेपपरै-तादृशवाक्यप्रयोगोऽनुभावः। इमं चासूयापि लेशतः पुष्णाति। उत्साहप्रधानो गूढगर्वो हि वीररसध्वनिः, अयं तु गर्वप्रधान इति तस्मादस्य विशेषः।

आमूलादिति। रत्नसानोः सुमेरुपर्वतस्य, मूलमभिव्याप्य तत आरभ्य मलयाचलवेष्टितात्, पयोधेः कूलं तटमभिव्याप्य तावत्पर्यन्तं यावन्तः यावत्सङ्ख्यकाः काव्यरचनाकुशलाः सन्ति, ते विशङ्कं निश्शङ्कं वदन्तु। अत्र मलयवेष्टितसमुद्रतटस्य दक्षिणवर्त्तित्वात्सुमेरोरुत्तरवर्त्तित्वं स्वतः सिद्धम्, 'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितम्' इति पौराणिकवचनमप्येतत्साधकम्। 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इति सूत्रेण अभिविधावर्थेऽत्र आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, तद्योगे पञ्चमी। किं वदन्त्वित्याह—**मृद्वीकेति**। मृद्वीकानां द्राक्षाफलानां मध्यान्निर्यन्ती निस्सरन्ती मसृणा चिक्कणा रसझरी रसधारा तस्यां माधुरी मधुरतैव भाग्यं भजन्तीति तादृशीनां वाचाम् आचार्यतायाः पदं स्थानम् अनुभवितुं मदन्यो मद्भिन्नो धन्यः कृतार्थः कोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः।

अनन्यसाधारणं सर्वोत्कृष्टम्। पराधिक्षेपपरः परतिरस्कारकः।। **इममिति**। इमं गर्वम् असूया परयशोऽसहनं लेशतः प्रतीयमानापि पोषयति। ईषत्प्रतीताप्यसूयाऽप्रधानैवेति भावः। **उत्साहेति** वीरध्वनित्वमस्य निरस्यति। वीरध्वनौ हि गर्वोऽप्रधान-उत्साह एव प्रधानः, गर्वध्वनौ गर्वस्य प्राधान्यम्, उत्साहस्याप्रतीतिश्चेति।

कोई अभिमानी कवि कह रहा है कि सुमेरु पर्वत के मूल से लेकर मलयपर्वत से घिरे सागरतट पर्यन्त में बसनेवाले जितने भी काव्यरचना में निपुण कविगण हैं, वे साफ-साफ कहें कि अंगूर के मध्य से निकलती हुई चिकनी रसधारा के माधुर्य-भरी वाणियों के आचार्यत्व पद पाने वाले मुझे छोड़कर कौन धन्य हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं।

यहाँ अपनी कविता का अन्य की कविता से असाधारण (उत्कृष्ट) होने का ज्ञान विभाव और अन्यों पर आक्षेपयुक्त वाणी का प्रयोग अनुभाव है।

इस गर्वभाव को असूया (दूसरे के यश को न सहना) भी आंशिकरूप से पुष्ट कर रही है। (अतः प्रतीयमाना भी असूया गौण ही है।) इस उदाहरण को वीररसध्वनि नहीं कह सकते, क्योंकि वीररसध्वनि में उत्साह प्रधान रहता है और गर्व गूढ़ रहता है, जबकि यहाँ तो गर्व ही प्रधान है। अतः वीररस-ध्वनि से इस

तथा हि—वीररसप्रसङ्गे प्रागुदाहृते "अपि वक्ति" (पृ० १५५) इत्यादि पद्ये गीष्पतिना गिरामधिदेवतयापि साकमहं वदिष्यामीति वचनेनाभिव्यक्तस्यो-त्साहस्य परिपोषकतया स्थितः सर्वेभ्यः पण्डितेभ्योऽहमधिक इति गर्वः, न तु प्रकृतपद्य इव नास्त्येव महीतले मदन्य इति स्फुटोदितेन सोल्लुण्ठवचनेनानुभावेन प्राधान्येन प्रतीयमानः।

श्रमादिप्रयोज्यं चेतःसम्मीलनं निद्रा।

नेत्रनिमीलन-गात्रनिष्क्रियत्वादयोऽस्यानुभावाः।

उदाहरणम्—

सा मदागमन-बृंहिततोषा, जागरेण गमिताखिलदोषा ।
बोधितापि बुबुधे मधुपैर्न, प्रातराननज-सौरभलुब्धैः ॥

सोल्लुण्ठं साभिप्रायम्।

निद्राख्यं भावं लक्षयति—**श्रमादीति**। श्रम-क्लम-निशीथादिकारणेन समुत्पन्नं चेतःसम्मीलनं मनसः इन्द्रियसम्पर्करहितावस्था निद्रा। न्यायनये मनसः हृदयसमीपस्थपुरी-तत्संज्ञकनाड्यां प्रवेशः सुषुप्तिः। वेदान्तनये तस्य हृदयसमीपस्थ-दहराकाशसंज्ञकशून्य-स्थानेऽवस्थानं निद्रेति। निद्रायां चेतसो वृत्तिर्न भवति, स्वप्ने तु भवत्येवेति उभयोर्भेदः।

उदाहरति—**सेति**। सा पूर्वानुभूतप्रीतिमती, मदागमनेन नायकस्य प्रवासादा-गमनेन बृंहितो वर्द्धितस्तोषो यस्याः, जागरेण आलापविलासादिवशान्निद्राभावेन गमिता यापिता अखिलापि दोषा रात्रिर्यया, सा प्रातःकाले आननज-सौरभलुब्धैः मुखोत्पन्न-सुगन्धिलोलुपैर्मधुपैर्भ्रमरैः बोधितापि जागरितापि, न बुबुधे न जागृतवती।

(गर्व) का वैलक्षण्य है। इसे और स्पष्ट करते हैं कि वीररस के प्रसङ्ग में पूर्वोदाहृत "अपि वक्ति" (पृ० १५५) इत्यादि पद्य में 'बृहस्पति और सरस्वती के साथ भी मैं बोलूँगा' इस वचन के द्वारा प्रकाशित उत्साह के पोषक के रूप में स्थित 'सभी पण्डितों से मैं अधिक हूँ' यह गर्व है। वहाँ इस प्रस्तुत पद्य के समान 'पृथ्वी पर मुझसे भिन्न कोई ऐसा है ही नहीं' इस प्रकार के स्पष्ट कथित साभिप्राय वचन रूप अनुभाव के द्वारा प्रधानरूप से व्यंग नहीं है।

परिश्रम, थकावट, देर तक जागने, मध्यरात्रि होना आदि कारणों से चित्त सम्मीलन (पुरीतत् संज्ञक नाड़ी में प्रवेश होने के कारण विषय से शून्य रहना) को निद्रा कहते हैं। श्रम से थकावट और उससे निद्रा होती है। अतः श्रम निद्रा का साक्षात् कारण नहीं है। इसीलिए 'जन्य' न कहकर प्रयोज्य कहा है। इसका विभाव श्रम आदि और अनुभाव आँखें मूँदना, देह का निष्क्रिय होना आदि है। उदाहरण—

वह मेरी प्रियतमा मेरे प्रवास से आने पर बहुत आनन्दित हुई, उसने सारी

रात्रिजागरणश्रमोऽत्र विभावः। मधुपैर्बोधाभावोऽनुभावः।

शास्त्रादिविचारजन्यमर्थनिर्धारणं मतिः।

अत्र निःशङ्कतदर्थानुष्ठान-संशयोच्छेदादयोऽनुभावाः।

उदाहरणम्—

निखिलं जगदेव नश्वरं, पुनरस्मिन् नितरां कलेवरम्।
अथ तस्य कृते कियानयं, क्रियते हन्त ! मया परिश्रमः॥

"शरीरमेतज्जलबुद्बुदोपमम्" इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनमत्र विभावः। हन्तपदगम्या स्वनिन्दा राजसेवादिविरतिर्वितृष्णता चानुभावः। झगिति मतेरेव चमत्काराद् ध्वनिव्यपदेशहेतुता, न शान्तस्य, विलम्बेन प्रतीतेः।

बोधाभाव इति। मधुपैर्बोधनानन्तरमपि बोधाभावोऽनुभाव इति तात्पर्यम्।

मतिसंज्ञकभावं लक्षयति—**शास्त्रादीति**। शास्त्र-व्यवहारशिष्टोक्त्यादि-विचारेणोत्पन्नो योऽर्थस्तस्य निर्धारणं निर्णयस्वरूपा मतिरुच्यते।

निःशङ्कस्य असन्दिग्धतया ज्ञातस्य तदर्थस्य निर्णीतार्थस्य अनुष्ठानं व्यवहरणम्, सन्देहदूरीकरणं चेत्यादयो मतेरनुभावा भवन्ति। शास्त्रवचनाद्यनुशीलनं विभावः।

उदाहरति—**अखिलमिति**। यतो निखिलं सम्पूर्णं, जगत् संसार एव नश्वरं विनाशशीलमस्ति, अस्मिन् जगति, कलेवरं शरीरं पुनर्नितरां नश्वरं वर्तते। अथ तदा, तस्य नश्वरस्य शरीरस्य कृते पोषणादिनिमित्तं हन्त ! मया अयं कियान् परिश्रमः क्रियते। व्यर्थ एव मया श्रमः क्रियत इति मे मूढतैवेति निर्णयोऽत्र मतिसंज्ञको भावः।

ननु जगन्नश्वरता देहसंसारनिरर्थकता चेति निर्वेदमेव प्रकटयतस्तेन शान्तस्य एव रसोऽस्त्विति शङ्कां निराचष्टे—**झगितीति**। शरीरं क्षणिकमिति मतिरेव प्रथमोप-

---

रातें जागकर बिता दी और प्रातःकाल में उसके मुख की सुगन्धि से लुभाये भौंरों के द्वारा जगाने पर भी वह नहीं जाग सकी।

यहाँ रात में जागने से हुए श्रम विभाव एवं भौंरों के द्वारा जगाने पर भी न जागना अनुभाव है।

शास्त्र, लोकाचार एवं मान्यजनों के वचन के विचार से उत्पन्न किसी वस्तु के निश्चयात्मक चित्तवृत्ति को मति कहते हैं।

इस मति भाव के (शास्त्रवचनानुशीलन आदि विभाव और) निःशंक होकर निर्णीत अर्थ को करना, सन्देह का नाश आदि अनुभाव हैं।

जब यह सम्पूर्ण संसार ही नश्वर (नाश को प्राप्त होने वाला) है और उसमें भी शरीर तो अत्यन्त ही नाशशील है, हाय ! तो भी शरीर के लिए मैं कितना परिश्रम करता हूँ ?

'यह शरीर जल के बुलबुले के समान है' इत्यादि शास्त्रवचन का अनुशीलन

रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः ।

गात्रशैथिल्य-श्वासादयोऽत्रानुभावाः । यदाहुः—

एकैकशो द्वन्द्वशो वा त्रयाणां वा प्रकोपतः ।
वातपित्तकफानां स्युर्व्याधयो ये ज्वरादयः ।।
इह तत्प्रभवो भावो व्याधिरित्यभिधीयते ।।

उदाहरणम्—

हृदये कृतशैवलानुषङ्गा, मुहुरङ्गानि यतस्ततः क्षिपन्ती ।
तदुदन्तपरे मुखे सखीनाम्, अतिदीनामियमादधाति दृष्टिम् ।।

स्थितत्वाद् भावध्वनितामधिरोहति । शान्तस्तु तदनन्तरभावीति विलम्बितत्वान्न प्रधान इति ।

व्याधिभावं लक्षयति—**रोगेति** । यद्यपि व्याधिशब्दो रोगपर्याय एव, तथापि साहित्यशास्त्रे चित्तवृत्तिविशेषो रोगादिजन्यो गृह्यते । वात-पित्त-कफानां सर्वेषा-मन्यतमानां वा प्रकोपाद् रोगो जायते । प्रियविश्लेषो हि विरहस्तज्जन्यस्तापो दुःखं व्याधिभावः कथ्यते ।

एकैकश इति । वात-पित्त-कफानां शरीरस्य व्यवस्थापकतत्त्वानां प्रकोपतः अन्यतमस्य सर्वेषां वा विकृतावस्थापन्नत्वात् दोषतापन्नत्वात् ज्वरादयो व्याधयो रोगास्त्रिदोषोत्पन्नाः । इह काव्यशास्त्रे तत्प्रभवो ज्वरादिव्याध्युत्पन्नस्य भावस्य व्याधि-संज्ञास्ति ।

उदाहरति—**हृदय इति** । इयं वियोगिनीहृदये कृतः शैवलस्य अनुषङ्गः सम्पर्को यया तादृशी । अत्र कृत इत्यस्य हृदयपदसापेक्षत्वे कथं समास इति चेद् देव-

---

यहाँ विभाव और 'हन्त' पद से गम्य (प्रतीयमान) अपनी निन्दा अर्थात् राज-सेवादि से विरति और तृष्णा का अभाव अनुभाव है ।

यहाँ यद्यपि वैराग्य की प्रतीति होने से शान्त रस की प्रतीति हो रही है, परन्तु मति झट से चमत्कार लाती है, जब कि शान्त विलम्ब से । अतः यहाँ मति को ही ध्वनि का पद मिल सकता है ।

रोग, विरह आदि से उत्पन्न मन के ताप (दुःख) को व्याधि कहते हैं ।

देह की शिथिलता, तेज श्वास आदि यहाँ अनुभाव हैं । जैसा कि कहा है :— वात, पित्त और कफ इन तीनों में किसी एक के, दो के या तीनों के कुपित (उत्कट) होने से जो ज्वर आदि होते हैं, उन्हें व्याधि कहा जाता है । इस साहित्यशास्त्र में उस व्याधि से उत्पन्न भाव को ही व्याधि कहते हैं ।

यह विरहिणी हृदय पर शीतलता के लिए शैवाल के रखे जाने पर भी अङ्गों को

विरहोऽत्र विभावः, अङ्गक्षेपादिरनुभावः ।

भीरोर्घोरसत्त्वदर्शन-स्फूर्जथु-श्रवणादिजन्मा चित्तवृत्तिविशेषस्त्रासः ॥

अनुभावाश्चास्य रोमाञ्च-कम्प-स्तम्भ-भ्रमादयः । यदाहुः—

औत्पातिकैर्मनःक्षेपस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥

उदाहरणम्—

आलीषु केली-रभसेन बाला, मुहुर्ममालापमुपालपन्ती ।
आरादुपाकर्ण्य गिरं मदीयां, सौदामिनीयां सुषमामयासीत् ॥

दत्तस्य गुरुकुलमिति गुरुद्वारा देवदत्तस्य कुलेऽप्यन्वयाद्यथा समासस्तथैवेति । यतस्ततो मुहुर्वारं वारं स्वाङ्गानि क्षिपन्ती, सखीना तदुदन्तपरे तस्य नायकस्य य उदन्तो वृत्तान्तः तद्वर्णनपरायणे मुखे इयं नायिका अतिदीनां दृष्टिम् आदधति । सखीनां कृते प्रयुक्ते मुख-शब्दे एकवचनेन सर्वासां मुखे एक एव वृत्तान्तो नायकागमनसंकेतरहितः सूच्यते ।

त्रासाख्यभावमाह—**भीरोरिति** । भीरोर्भयशीलस्य, घोरसत्त्वानि व्याघ्र-वराहादयः तेषां दर्शनेन, स्फूर्जथुः वज्रपातशब्दः तच्छ्रवणेन, आदिना विकृताकारपुरुष-दर्शनेन चोत्पन्नः कम्पादिजनको मनोधर्मस्त्रासशब्देनोच्यते ।

घोरसत्त्वदर्शनादिर्विभावः, तज्जन्या रोमाञ्चादयोऽनुभावाः ।

औत्पातिकैरिति । उत्पातेन भव औत्पातिको वज्रनिर्घोषादिः तेनोत्पन्नो मनःक्षेपो मनसो व्याकुलीभावः कम्प-रोमाञ्चादिजनक एव त्रासः । यथा—

आलीष्विति । नायकः सखायं वक्ति—सा बाला मुग्धा मत्प्रिया, केलीरभसेन विलासकथनकौतुकेन, आलीषु सखीनां मध्ये, मुहुरनेकशः मम सम्बन्धिनम् आलापं

बार बार इधर-उधर फेंक रही है । सखियों ने जब उसके मन बहलाने के लिए उस नायक के सम्बन्ध में बातें छेड़ी तो यह अत्यन्त दीन होकर दृष्टि डाल रही है ।

यहाँ विरह विभाव और अङ्गक्षेपणादि अनुभाव है ।

डरपोक (भीरु) के मन में भयानक जीव के देखने या मेघ गर्जन सुनने से उत्पन्न चित्तवृत्ति को त्रास कहते हैं ।

इसके विभाव घोरसत्त्वदर्शनादि और अनुभाव रोमाञ्च, कम्प, चेष्टाहीनत्व, भ्रम आदि हैं । जैसा कि कहा है :—उत्पात करने वाले वस्तुओं या प्राणियों से उत्पन्न मन की बेचैनी को त्रास कहते हैं, जो कम्प आदि को उत्पन्न करता है ।

(जैसे अमर्ष भाव के प्रसंग में मूलकार ने शंका की है कि स्थायीभाव क्रोध और संचारी भाव अमर्ष में क्या भेद है ? वैसे ही यहाँ भी भयानक रस का स्थायीभाव भय और इस संचारी भाव त्रास में क्या भेद है ? यह प्रश्न उठ सकता है । दोनों का समाधान विषयता-वैलक्षण्य ही है । अर्थात् वही डर उत्कट दशा में भय और अनुत्कट दशा में त्रास होगा ।) उदाहरण—

नायक कहता है कि वह बाला (मेरी मुग्धा प्रिया) क्रीडाकौतुकवश सखियों के

अत्र पत्या स्ववचनाकर्णनं विभावः। पलायनमनुभावः। न चात्र लज्जाया व्यङ्ग्यत्वमाशङ्कनीयम्, शैशवेनैव तस्या निरासात्।

इदं वा विविक्तमुदाहरणम्—

मा कुरु कशां कराब्जे, करुणावति ! कम्पते मम स्वान्तम्।
खेलन् न जातु गोपैरम्ब ! विलम्बं करिष्यामि ॥

वार्तालापम् उपालपन्ती कथयन्ती सती आराद् दूरादेव मदीयां नायकस्य गिरं वाणीम् उपाकर्ण्य श्रुत्वा, सौदामनीयां विद्युत्सम्बन्धिनी चपला सुषमा शोभातिशयम् अगमत् प्राप्तवतीत्यर्थः। सौदामनी विद्युत्, 'सुषमा परमा शोभे'त्यमरः। नायकशब्द-श्रवणेनैव सद्य एव पलायितेति भावस्तेन त्रासो व्यज्यते। अत्रालापस्य नायकनिष्ठत्वात् उपालापस्य च नायिकानिष्ठत्वान्नाधिकपदत्वशङ्का।

स्ववचनेति। नायिकाया वचनस्य आकर्णनं पतिद्वारेत्यर्थः। यद्यपि स्वशब्देन सन्निकृष्टस्य पत्युरेव परामर्श इत्यायाति, तथापि स्वेति सर्वनाम्नो बुद्धिस्थसन्निकृष्टाया नायिकाया एव परामर्शित्वम्। किञ्च स्वशब्दमहिम्नैव पतिकृत-नायिकावचनाकर्णनं जातमिति नायिका यदा जानाति तदैव तस्य विभावत्वमिति लभ्यते।

न चात्रेति। अत्र लज्जयापि पलायनं संभवतीति लज्जैव भावोऽस्तु, न त्रास इति निराकरोति **शैशवेनैवेति,** बालापदबोध्येनेति भावः। ननु बालापदमत्र न शिशु-मपि तु मुग्धामेव बोधयतीति पुनर्लज्जाया उपस्थितिस्तदवस्थैवेति उदाहरणान्तरं प्रस्तौति—**इदं वेति।** विविक्तं स्फुटम् लज्जाया असंसक्तम् स्वतन्त्रं त्रासस्योदाहरणम्।

मा कुर्विति। श्रीकृष्णो यशोदया तर्जितस्तां प्रति सभयं ब्रूते। हे करुणावति अम्ब ! मातः ! मम कराब्जे करकमले कशां चर्मसटिकां मा नहि, कुरु ताडय।

बीच मेरे विषय में बार-बार बातें कर रही थी, कि दूर से ही मेरी आवाज को सुनकर बिजली की शोभा को प्राप्त कर गयी (फुर्ती से भाग गयी)।

यहाँ पति के द्वारा अपने (नायिका के) वचन को सुन लेना विभाव और भागना अनुभाव है।

यहाँ लज्जा ही व्यंग्य है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'बाला' पद से नायिका में शिशुत्व कहा गया है और बचपन में लज्जा का प्रश्न ही कहाँ है।

यदि कहें कि यहाँ बाला पद से मुग्धा अभिप्रेत है, बच्ची नहीं तो त्रास और लज्जा का सांकर्य ही मानना पड़ेगा। अतः लज्जा से असम्पृक्त स्वतन्त्र रूप से त्रास का दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है :—

हे दयावती माता ! तू अपने करकमल में कोड़ा मत उठाओ, क्योंकि इससे मेरा मन काँप जाता है। अब मैं गोपों के साथ खेलता हुआ कभी भी देर नहीं करूँगा।

एषा भगवतो लीलागोपकिशोरस्योक्तिः ।

निद्राविभावोत्थज्ञानं सुप्तम् ॥

स्वप्न इति यावत् । अस्यानुभावः प्रलापादिः । नेत्रनिमीलनादयस्तु निद्राया एवानुभावाः, न त्वस्य, अनिद्रजन्यत्वात् । यत्तु प्राचीनैः "अस्यानुभावा निभृतगात्रनेत्रनिमीलनम्" इत्याद्युक्तं, तदन्यथासिद्धानामपि तेषामेतद्भावव्यापकत्वादिति ध्येयम् ।

उदाहरणम्—

अकरुण ! मृषाभाषासिन्धो ! विमुञ्च ममाञ्चलं
तव परिचितः स्नेहः सम्यङ्मयेत्यनुभाषिणीम् ।
अविरल-गलद्बाष्पां तन्वीं निरस्तविभूषणां
क इह भवतीं भद्रे निद्रे ! विना विनिवेदयेत् ॥

तेन मम स्वान्तं मनः, कम्पते । अम्ब ! गोपं खेलन् अतः परं न जातु नैव, विलम्बं करिष्यामि । लीलया गोपकिशोरोऽत एव त्रासमभवत्येव ।

सुप्ताख्यं भावं लक्षयति—**निद्रेति** । निद्रारूपविभावात् उत्थम् उत्पन्नं ज्ञानमेव सुप्तं सुप्तज्ञानं सुप्ताख्यो भावः । स्वप्न इति फलितोऽर्थः । स्वयं भावरूपापि निद्रा सुप्तभावस्य विभावो भवति । नेत्रनिमीलनं निद्राजन्यं, न स्वप्नजन्यम् । **अनिद्रजन्यत्वात्** अस्वप्नजन्यत्वात् । **अन्यथासिद्धानां** निद्रयैवोत्पन्नत्वात् तेषां नेत्रमीलनादीनाम् **एतद्भावव्यापकत्वात्** स्वप्नभावः तावदेव यावन्नेत्रमीलनमिति स्वप्नकाले नेत्रमीलनदर्शनेनैव प्राचीनैरेतद्भावानुभावत्वेनोक्तम् । वस्तुतो नैव तदुचितम् ।

विदेशस्थो नायकः स्वप्ने प्रियां दृष्ट्वा निद्रां प्रति वदति—**अकरुणेति** । हे भद्रे निद्रे ! भवतीं विना को जनः एवंविधां तन्वीं कोमलाङ्गीं मत्प्रियां विनिवेदयेत्

यह उक्ति लीला करते हुए गोपकुमार श्रीकृष्ण की है ।

निद्रा विभाव से उत्पन्न या निद्रादशा में उत्पन्न ज्ञान को सुप्त भाव कहते हैं । इसे ही स्वप्न कहा जाता है ।

इसके अनुभाव (कार्य) प्रलाप (बड़बड़ाना) आदि हैं । आँखों का बन्द रहना तो निद्रा के अनुभाव हैं, सुप्त के नहीं, क्योंकि ये स्वप्न से उत्पन्न नहीं होते हैं ।

प्राचीनाचार्यों ने जो कहा है कि इस सुप्त के अनुभाव देह की निश्चेष्टता और आँखों का बन्द रहना है । परन्तु ये तो अन्यथासिद्ध हैं । अर्थात् निद्रा से ही सिद्ध हैं, इससे नहीं । उनका तात्पर्य है कि ये विभाव निद्रा के समय में रहने से इस सुप्तभाव में भी रहते ही हैं ।

प्रवासी विरही नायक को स्वप्न में प्रिया का दर्शन हुआ था । जागने पर वह निद्रा से कह रहा है—हे निद्रे ! कल्याणदायिनि ! आपके बिना कौन मुझे ऐसी प्रिया

एषा प्रवासगतस्य स्वप्नेऽपि प्रियामेवंभाषिणीं दृष्टवतो निद्रां प्रति कस्य-चिदुक्तिः। यद्यप्येवंभूतायाः प्रियतमावस्थाया निवेदनेन "निद्रे मम भवत्या महानुपकारः कृतः" इति वस्तु, विप्रलम्भशृङ्गारश्चात्र प्रतीतिपथमवतरति, तथापि पुरःस्फूर्तिकतया स्वप्नध्वननमत्रोदाहृतं न प्रान्ते तयोर्ध्वननं निरोद्धुमीष्टे।

निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विबोधः ॥

निद्रानाशश्च तत्पूर्ति-स्वप्नान्त-बलवच्छब्द-स्पर्शादिभिर्जायत इति त एवात्र विभावाः। अक्षिमर्दन-गात्रमर्दनादयोऽनुभावाः। तत्र संक्षेपेणोदाहरणम्—

उपस्थापयेत्? न कोऽपीत्यर्थः। कीदृशीं प्रियाम्? हे अकरुण! प्रियादशां विस्मृत्य निष्ठुरस्वरूप! मिथ्याकथनसागर! मम अञ्चलं विमुञ्च, मया तव नायकस्य स्नेहः सम्यक्तया परिचितः, तव स्नेहः कृत्रिमो, न वास्तविक इत्यर्थः, इत्येवं भाषिणीम्। किञ्च धाराप्रवाह-निपतदश्रुयुक्ताम्, परित्यक्तालङ्काराञ्चेति।

विभावोऽत्र निद्रा, अनुभावश्च मुखविकास-हस्तसंचारादिः आक्षेपलभ्यः। स्वप्न-ध्वननमत्र प्राथम्येनोपस्थाय प्राधान्यं भजते। वस्तु-रसध्वनिद्वयस्य पश्चाद्भावित्वेन अप्राधान्यम्। स्वप्नध्वननं हि **प्रान्ते** अन्ते, **तयोः** वस्तुरसध्वन्योः ध्वननं न निरोद्धुं समर्थम्। अङ्गितया स्वप्नभावः, अङ्गत्वेन च वस्तु-रसध्वनी अत्र विराजत एव।

विबोधं लक्षयति—**निद्रानाशेति**। निद्राभङ्गानन्तरमुत्पद्यमानं प्रकृतिस्थं ज्ञानं

को दिखा सकता है? अर्थात् कोई नहीं। स्वप्न में वह प्रिया धारा-प्रवाह आँसू बहा रही थी, आभूषणों को उतार चुकी थी और मुझे कह रही थी कि हे निष्ठुर! महा-मिथ्यावादी (झूठे का सागर)! मेरी आँचल छोड़ो, तेरे स्नेह को मैंने भलीभाँति जान लिया है!

यह उक्ति प्रवास-गत किसी नायक की है, जो स्वप्न में प्रिया को इस प्रकार देखकर निद्रा से कह रहा है।

यद्यपि इस प्रकार की प्रियतमावस्था के निवेदन से—(१) निद्रे! आपने मेरा महान् उपकार किया—ऐसा वस्तुध्वनि और (२) विप्रलम्भ शृङ्गार यहाँ जाना जाता है, तथा उनसे पहले ही स्वप्नभाव की स्फूर्ति होने से उसी भावध्वनि के रूप में इसे यहाँ उदाहरण के रूप में रखा गया है। परन्तु यह ध्वनि अपने बाद अन्त में उन दोनों (वस्तु एवं शृंगार) ध्वनि को रोकने में समर्थ नहीं है। अर्थात् ये ध्वनियाँ भी यहाँ होते ही हैं। प्रथमोपस्थिति के कारण स्वप्नध्वनि प्रधान है।

निद्रानाश के बाद होनेवाले ज्ञान को विबोध कहते हैं।

निद्रा का नाश अनेक कारणों से होता है, जैसे—निद्रा पूर्ण होना, स्वप्न का

नितरां हितयाऽद्य निद्रया मे, बत ! यामे चरमे निवेदितायाः ।
सुदृशो वचनं शृणोमि यावन्, मयि तावत् प्रचुकोप वारिवाहः ॥

अत्र गर्जितश्रवणं विभावः । प्रियावचनश्रवणोल्लासनाशोऽनुभावस्तून्नेयः ।

केचिदविद्याध्वंसजन्यमप्यनुमाममनन्ति । तेषां मते—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ॥

इतिगीतापद्यमुदाहार्यम् ।

विबोधः, सद्यो जागृतावस्थायां समुत्पन्नं ज्ञानमित्यर्थः । **त एवेति** निद्रापूर्ति-स्वप्नावसानोच्चशब्द-कठिनस्पर्शादयः ।

नितरामिति । बत हन्त ! अद्य मे मम, नितरामतिशयेन हितया प्रियकारिण्या निद्रया निवेदिताया उपस्थापितायाः, सुदृशः सुलोचनायाः प्रियाया वचनं चरमे यामे रात्र्यन्तिमप्रहरे यावत् शृणोमि, तावत् वारिवाहो मेघः, मयि नायके, प्रचुकोप अतिकुपितोऽभूत् । घनगर्जितेन मधुरस्वप्नो भग्न इत्याशयः । उन्नेय उद्भावनीयः ।

विबोधलक्षणे मतान्तरमाह —**केचिदिति** । अविद्यायाः स्वकर्तृत्वाभिमानादिरूपायाः ध्वंसजन्यम् आत्मज्ञानं विबोध इत्यपि स्वीकुर्वन्ति । तदनुसारम् —

नष्टो मोहः इतिपद्यमत्रोदाहरणीयम् । मोहः अज्ञानं शरीरात्मवादादि नष्टम्, स्मृतिः आत्मस्मरणं तत्त्वज्ञानं, हे अच्युत श्रीकृष्ण ! त्वत्प्रसादात् त्वदुपदेशाल्लब्धम् । इदानीं विगतसन्देहोऽहं स्थितोऽस्मि, ते तव वचनं करिष्ये पालयिष्यामीति । अत्र अविद्याध्वंसजन्यस्य विबोधस्य स्पष्टत्वात्तदुदाहरणमपन्यस्तम् ।

अन्त, तेज आवाज, जोरदार स्पर्श आदि, ये कारण ही विबोध संज्ञक भाव के विभाव होते हैं । आँख मलना, देह का अंगड़ाई लेना आदि अनुभाव हैं ।

संक्षिप्त रूप से उदाहरण—

आज रात के अन्तिम पहर में अत्यन्त हितकारिणी निद्रा के द्वारा लायी गयी सुन्दरी का वचन जब-तक मैं सुनने लगा, तभी मेरे ऊपर मेघ कुपित हो गया ।

यहाँ गरजने का शब्द सुनना विभाव है । प्रिया के वचन को सुनने के उल्लास का नाश अनुभाव है, जो ऊह करने पर जाना जाता है । (साक्षात् प्रतिपादित न होने से गम्य है ।)

कोई आचार्य अविद्या (अज्ञान) नाश से उत्पन्न आत्मसाक्षात्कार को ही विबोध मानते हैं । उनके मत में इसका उदाहरण निम्नांकित गीता का पद्य हो सकता है । (उपर्युक्त उदाहरण नहीं)—

हे श्रीकृष्ण ! आपकी कृपा से मेरा अज्ञान नष्ट हुआ, ज्ञान प्राप्त हुआ । अब मैं सन्देह-रहित हो चुका हूँ । इसलिए तुम्हारा वचन ही करूँगा ।

न तु वारिवाहविषयाया असूयाया एवात्र वाक्यार्थतेति शङ्क्यम्, विबोधप्रतीतौ हि सत्यां तस्मिन्नौचित्यावगमे सत्यनुचित-विबोधजनकत्वेन वारिवाहेऽसूयाया विलम्बेन प्रतीतेः, परमुखनिरीक्षकत्वात्। स्यादपि तस्या अपि प्राधान्यम्, यदि वारिवाहे निष्करुणत्वादिबोधकं किञ्चिदपि स्यात्। नापि स्वप्नस्य, वारिवाहनादेन तन्नाशस्यैव प्रतिपत्तेः। अस्तु वा स्वप्नभावप्रशमेनासूयया च सहास्य सङ्करः।

इदन्तु नोदाहार्यम्—

गाढमालिङ्ग्य सकलां, यामिनीं सह तस्थुषीम्।
निद्रां विहाय स प्रातरालिलिङ्गाथ चेतनाम्॥

न त्विति। अत्र 'न चेति' पाठ एवोचितः। पूर्वोपन्यस्तोदाहरणे "**नितरां** हितयेति" पद्ये सिंहावलोकनन्यायेन शङ्कते—**न त्विति**। वस्तुतः "केचिद्" इति मतप्रदर्शनात्पूर्वमेवास्याः शङ्काया उपस्थापनं सुसङ्गतम्। यद्यप्यत्र मेघविषया असूया प्रतीयते, तथापि सा न प्रधानम्, विबोधानन्तरमेव तस्याः प्रतीतिः, असूयाप्रतीतेः कारणं विबोध एवात्र प्रधानम्। असूसाया विबोधज्ञानसापेक्षत्वमेव तस्याः परमुखनिरीक्षकत्वरूपं गौणत्वम्। **स्वप्नस्येति**, वाक्यार्थता, प्राधान्यमितियावत्। यदि सहृदयैः असूया स्वप्नश्च स्वातन्त्र्येण गृह्येते, तर्हि ताभ्यां सह विबोधस्यात्र सङ्करः स्वीकार्यः। तत्रापि विबोधस्यैव मुख्यतेत्याशयः।

गाढेति। स नायकः सकलां यामिनीं रात्रिमभिव्याप्य गाढमालिङ्ग्य सहस्थितवतीं निद्रामेकां नायिकामिव प्रातःकाले विहाय अपरां नायिकामिव चेतनां जाग्रता-

---

विबोधभाव के पूर्वोक्त 'नितरां हितयाद्य' इस उदाहरण पर शंका करते हैं कि यहाँ मेघविषयक असूया (ईर्ष्या) ही वाक्यार्थ है, प्रधान है। पर, ऐसी शंका उचित नहीं है, क्योंकि पहले विबोध की प्रतीति होने पर उसमें औचित्यबोध के बाद अनुचित विबोध के कारण मेघ में असूया की प्रतीति विलम्ब से होती है, कारण यह (असूया) परमुखापेक्षी है, अर्थात् विबोधज्ञान पर अवलम्बित है। अतः यहाँ विबोध ही प्रधान है। यदि कहें कि यहाँ स्वप्न ही प्रधान (वाक्यार्थ) है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि मेघगर्जन से उसके (स्वप्न के) नाश की ही प्रतीति होती है। यदि कहें कि असूया का प्राधान्य सहृदयानुमोदित है, तो यह भी मान सकते हैं कि स्वप्नभाव के प्रशमन और असूया के साथ विबोध भाव का संकर (सम्मिश्रण) यहाँ है। पर, उसमें भी प्राधान्य विबोध का ही रहेगा।

विबोधभाव के लिए इसे तो नहीं उदाहृत किया जा सकता है—

किसी नायक ने पूरी रात साथ-साथ रहने वाली निद्रा को कसके आलिङ्गित करके सुबह में उसे छोड़कर चेतना (जाग्रतावस्था) को आलिङ्गित कर लिया।

विबोधस्य चेतनापदवाच्यत्वात् ।

यथा कश्चित् सत्यप्रतिज्ञो द्वाभ्यां नायिकाभ्यां द्वौ कालावुपभोगार्थं दत्त्वा यथोचिते काल एकामुपभुज्य कालान्तरे प्रवृत्ते तां विहायापरां भुङ्क्ते, तथैवायं रात्रौ निद्रां, प्रातश्चेतनामिति समासोक्तेरेवेह प्रकाशनात् ।

परकृताऽवज्ञादि-नानापराधजन्यो मौन-वाक्पारुष्यादि-कारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽमर्षः ॥

प्राग्वत् कारणानां कार्याणां च क्रमेण विभावानुभावत्वम् ।

उदाहरणम्—

वक्षोजाग्रं पाणिनाऽऽमृश्य दूरे
यातस्य द्रागाननाब्जं प्रियस्य ।

वस्थां (विबोधम्) आलिलिङ्ग । अत्र विबोधस्य प्रतीतावपि चेतनापदेन तस्य वाच्यायमानत्वान्न भावत्वम् । समासोक्त्यलङ्कारस्यैवात्र प्राधान्यम् ।

अथामर्षं निरूपयति—**परकृतेति** । अन्येन केनापि कृता या अवज्ञा तिरस्कारः प्रतिकूलाचरणादिश्च तज्जन्यं यत् स्वस्मिन् तूष्णीम्भाव-कठोरभाषण-लोचनवक्रत्वादि तत्कारणमेवामर्षः असहिष्णुता । **प्राग्वद्** विबोधभाववत् । अमर्षस्य विभावः परकृतापराधः, अनुभावास्तु मौनवाक्पारुष्यादयः ।

अमर्षमुदाहरति—**वक्षोजेति** । पाणिना स्वकरेण वक्षोजाग्रं नायिकायाः स्तनाग्रं

यहाँ प्रयुक्त 'चेतना' पद का वाच्यार्थ ही विबोध है, जो व्यंग्य न होने के कारण भाव नहीं बन सकता ।

जैसे कोई नायक अपने वचन की सत्यता पर दृढ़ रहकर अपनी दो नायिकाओं के उपभोग के लिए दो (भिन्न-भिन्न) समय देकर यथोचित समय पर एक (नायिका) का उपभोग कर दूसरे समय में पहली को छोड़कर दूसरी का उपभोग कर दूसरे समय में पहली को छोड़कर दूसरी का उपभोग करता है, वैसे ही यह व्यक्ति रात में निद्रा को और सुबह में चेतना को आलिङ्गित करता है—इस प्रकार की समासोक्ति (श्लेषयुक्त विशेषणों के द्वारा प्रकृत के साथ अप्रकृत का भी उपस्थापन) ही यहाँ प्रकाशित हो रही है । अतः यह भावध्वनि न होकर अलङ्कारध्वनि ही है ।

अब अमर्ष भाव का निरूपण करते हैं—दूसरे के द्वारा किये गये अपमान, विरुद्धकार्य आदि अनेक अपराधों से उत्पन्न तथा चुप होना, कठोर वचन, आँख तानना आदि का कारण जो चित्तवृत्ति उसे ही अमर्ष कहते हैं ।

पूर्वभाव (विबोध) के समान ही यहाँ भी अमर्ष के कारण एवं कार्य क्रमशः इसके विभाव एवं अनुभाव हैं । अर्थात् परकृतापराध विभाव एवं मौन-वाक्पारुष्यादि अनुभाव होते हैं । उदाहरण—

(नायिका के) स्तन के अग्रभाग को हाथ से छू-कर (मार खाने के डर से)

शोणाग्राभ्यां भामिनी लोचनाभ्यां
जोषं जोषं जोषमेवावतस्थे ॥

इह त्वाकस्मिक-स्तनाग्रस्पर्शो विभावः। नयनारुण्यनिर्निमेषनिरीक्षणे अनुभावौ। ननु क्रोधामर्षयोः स्थायि-सञ्चारिणोर्भावयोः किं भेदकमिति चेद्, विषयतावैलक्षण्यमेवेति गृहाण। तत्र तु गमकं झटिति परविनाशादौ प्रवृत्ति-र्वचनवैमुख्यादिकं चेति कार्यवैलक्षण्यम्।

व्रीडादिभिर्निमित्तैर्हर्षाद्यनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषो-ऽवहित्थम् ॥

सहसा आमृश्य संस्पृश्य (अपराधं कृत्वा ताडनभीत्या) द्राग् झटिति दूरे यातस्य प्रियस्य कृतापराधस्य रमणस्य, आननाब्जं मुखकमलं शोणाग्राभ्याम् कोपादीषद् रक्ताभ्यां लोचनाभ्यां, जोषं जोषं दृष्ट्वा-दृष्ट्वा, भामिनी कोपनस्वभावा नायिका, जोषं तूष्णीमेव अवतस्थे स्थितवती। जोषं जोषमिति णमुलन्तं 'जुषी प्रीतिसेवनयोरिति'धातोः। लोचनाभ्यां सेवनं दर्शनमेव।

इह त्विति। अमर्षलक्षणे परकृतावज्ञा विभावत्वेनोक्ता, इह तु आदिपदेन ग्राह्य आकस्मिककुचस्पर्श एव। क्रोधः स्थायी भावः, अमर्षस्तु संचारिभावः समान एव प्रतीयते। तथापि उभयोः वस्तुगतवैलक्षण्येन पार्थक्यमस्ति। क्रोधे झटिति पर-विनाशे प्रवृत्तिः, अमर्षे तु वचनवैमुख्यादिकमित्येव भेदः। किञ्च परकृतावज्ञादिजन्यस्य भावस्य अनुत्कटावस्थाऽमर्षस्तेन मौनादिकार्यं जायते, तस्यैव उत्कटावस्था क्रोधस्तेन क्षिप्रमेव परविनाशे प्रवृत्तिरूपं कार्यं जायते। इत्युभयोः कार्यमेव विषयतावैलक्षण्यं ज्ञापयतीति।

अवहित्थं भावं निरूपयति—**व्रीडादिभिरिति**। लज्जा-भयवञ्चना-धूर्त्ततादिभिः कारणैर्विभावस्वरूपैः, हर्षौत्सुक्यादिजनितानामनुभावानामश्रुपात-रोमाञ्चमुखविकासादीनां

शीघ्र ही दूर भागे हुए प्रिय के मुख-कमल को कोपनस्वभावा नायिका लाल-लाल आँखों से देख-देखकर चुप ही रही।

यहाँ आकस्मिक रूप से स्तनाग्रस्पर्श विभाव तथा आँख लाल होना, अपलक देखना आदि अनुभाव है। अब यहाँ शंका करते हैं कि स्थायीभाव क्रोध और संचारी-भाव अमर्ष में क्या भेदक तत्त्व है, तो इसका उत्तर है कि भेदक तो कोई नहीं, पर विषय के धर्म का विलक्षण होना ही भेदक है। अर्थात् परकृत-अपमान से उत्पन्न सामान्य कोप अमर्ष एवं उत्कट कोप क्रोध है। इसमें नियामक कार्य का वैलक्षण्य ही है कि क्रोध में परविनाश के लिए झट से प्रवृत्ति होती है, जब कि अमर्ष में वचन देने से विमुख होना आदि ही होता है।

लज्जा, भय, धृष्टता आदि कारणों से हर्ष, औत्सुक्य आदि के अनुभावों (अश्रु-

तदुक्तम्—

अनुभाव-पिधानार्थेऽवहित्थं भाव उच्यते ।
तद् विभाव्यं भय-व्रीडा-धाष्ट्र्य-कौटिल्य-गौरवैः ॥

यथा—

प्रसङ्गे गोपानां गुरुषु महिमानं यदुपते-
रुपाकर्ण्य स्विद्यत्पुलकितकपोला कुलवधूः ।
विषज्वालाजालं झगिति वमतः पन्नगपतेः
फणायां साश्चर्यं कथयतितरां ताण्डवविधिम् ॥

अत्र व्रीडा विभावः । तादृश-कालियकथाप्रसङ्गोऽनुभावः । एवं भयादि-प्रयोज्यमप्युदाहार्यम् ।

गोपनाय निगूहनाय उत्पन्नो भावोऽवहित्थम् । अत्र विभावो व्रीडादिः, अनुभावश्च हर्षादिगोपनचेष्टादिः ।

अत्र प्राचीनाचार्यसम्मतिं दर्शयति—**तदुक्तमिति** । अनुभावस्य हर्षादिजनितरोमाञ्चादेः, पिधानार्थे गोपनार्थे जनितो भावोऽवहित्थमुच्यते । तद् अवहित्थं, भयादिभिर्विभावैर्विभावनीयम् । यथा—**प्रसङ्ग इति** ।

गोपानां मुखात् कथाप्रस्तावक्रमे गुरुजनानां समक्षमेव **यदुपतेः** श्रीकृष्णस्य महिमानम् उपाकर्ण्य श्रुत्वा कुलवधूः गोपकुलाङ्गना कान्ति स्वेद-पुलकयुक्तगण्डस्थला जाता । श्रीकृष्णप्रेम्णा पुलकभावप्रकाशो गुरुजन-समीपे नोचित इति मनसि निधाय सा तद्गोपनाय विषज्वालाराशिं झगिति अतिशीघ्रं वमत उद्गिरतः पन्नगपतेः कालिय-

---

पात, रोमांच आदि) को छिपाने के लिए उत्पन्न भाव-विशेष (एक प्रकार के भाव) को अवहित्थ कहते हैं ।

जैसा कि कहा गया है—

अनुभाव को छिपाने के लिए उत्पन्न भाव को अवहित्थ कहा जाता है । वह भय, लज्जा, धृष्टता, कुटिलता और गौरव से प्रकाशित होता है । उदाहरण—

गोपों के मुख से कथावर्णन-क्रम में गुरुजनों (ससुर आदि) के समक्ष ही श्रीकृष्ण के गुणवर्णन को सुनकर गोपकुलवधू के गालों पर (प्रेमवश) आनन्द के कारण जलकण उछल पड़े । तब वह विष की ज्वालाओं को तुरन्त वमन करते हुए सर्पराज कालिय नाग के फणा पर श्रीकृष्ण के ताण्डव नृत्य करने की घटना को आश्चर्य से कहने लगी । (तात्पर्य यह कि यह गाल पर जलकण, इस घटना की वजह से ही प्राप्त है, न कि प्रेम से ।)

यहाँ लज्जा विभाव है । इस प्रकार की कालिय-कथा अनुभाव है । इसी तरह भय के कारण भी हर्षादि के छिपाने का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए ।

अधिक्षेपापमानादिप्रभवा किमस्य करोमीत्याद्याकारा चित्तवृत्ति-रुग्रता ॥

यदाहुः—

नृपापराधोऽसद्दोषकीर्तनं चोरधारणम् ।
विभावाः स्युरथो बन्धो वधस्ताडन-भर्त्सने ।
एते यत्राऽनुभावास्तदौग्र्यं निर्दयतात्मकम् ॥ इति ।

यथा—

अवाप्य भङ्गं खलु सङ्गराङ्गणे, नितान्तमङ्गाधिपतेरमङ्गलम् ।
परप्रभावं मम गाण्डिवं धनुर्विनिन्दतस्ते हृदयं न कम्पते ॥

नागस्य फणायां श्रीकृष्णस्य ताण्डवविधिं समुद्धतनृत्यरीतिं साश्चर्यं कथयतितराम् । तदाश्चर्येणैव स्वेद-पुलकादिकं जातमिति बोधयितुं तथा कथनम् ।

उग्रताख्यं भावं निरूपयति—**अधिक्षेपेति ।** निन्दापमानवृथारोपादिकारणै-रुत्पन्ना 'किमस्य दण्डविधानं करोमी'त्याद्याकारा चित्तवृत्तिः उग्रतासंज्ञको भावः ।

यदाहुरिति । प्राचीनाचार्या इति शेषः । यस्मिन् जने उग्रता भाविनी तं प्रति तत्कारणतया (१) राज्ञोऽपराधोऽनुचितशासनम्, (२) तस्मिन् जनेऽविद्यमानस्य गूढतया विद्यमानस्य वा असतोऽक्षम्यस्य दोषस्य अन्येन कथनम्, (३) तद्वस्तु-चोरस्य अन्येन धारणम् आश्रयप्रदानम् इत्येतानि उग्रताया विभावस्वरूपाणि । तत्कार्यतया बन्ध-वध-ताडन-भर्त्सनानि अनुभावस्वरूपाणि । निर्दयता एव औग्र्यम् उग्रतासंज्ञको भावः ।

सङ्गराङ्गणे युद्धप्राङ्गणे अङ्गराजाद् कर्णात् नितान्तमत्यन्तम् अमङ्गलमशुभं भङ्गं पराजयम् अवाप्य प्राप्य, खलु निश्चयेन, पर उत्कृष्टः प्रभावो यस्य तादृशं मम अर्जुनस्य गाण्डिवं धनुः तदाख्यं चापं विनिन्दतः, ते युधिष्ठिरस्य हृदयं न कम्पते, 'कथं न कम्पत' इति काक्वा 'अवश्यं कम्पनीयम्' इति व्यज्यते । गण्डिः वृक्षमूलाच्छा-खोद्गमस्थानपर्यन्तो भागः अस्यास्तीति संज्ञायां वः, पूर्वपदस्य विकल्पेन दीर्घ इति

निन्दा, अपमान, निरर्थक अभियोग आदि से उत्पन्न 'मैं इसका क्या अनिष्ट कर डालूँ'' इत्यादि प्रकार की चित्तवृत्ति को उग्रता कहते हैं ।

जैसे कि आचार्यों ने कहा है :—

जहाँ राजा का अत्याचार, अनुचित दोष कथन, चोर को आश्रय देना आदि विभाव हैं तथा बान्धना, वध करना, पीटना, डाँटना ये अनुभाव हैं, वहाँ निर्दयता-स्वरूप उग्रता नामक भाव होता है । जैसे—

युद्धभूमि में कर्ण से अत्यन्त अमंगल पराजय पाकर उत्कृष्ट प्रभाव वाले मेरे (अर्जुन के) गाण्डोव धनुष की निन्दा करते हुए आपका (युधिष्ठिर का) हृदय

एषा कर्णेन पराभूतं गाण्डिवं निन्दन्तं, युधिष्ठिरं प्रति धनञ्जयस्योक्तिः। युधिष्ठिरकर्तृका गाण्डिवनिन्दात्र विभावः। वधेच्छाऽनुभावः।

न चामर्षोग्रतयोर्नास्ति भेद इति वाच्यम्, प्रागुदाहृतेऽमर्षध्वनावुग्रताया अप्रतीतेः। नाप्यसौ क्रोधः, तस्य स्थायित्वेन अस्याः सञ्चारिणीत्वेनैव भेदात्।

विप्रलम्भ-महापत्ति-परमानन्दादिजन्माऽन्यस्मिन्नन्यावभास उन्मादः॥

शुक्तिरजतादिज्ञानव्यावृत्तये जन्मान्तम्।

गाण्डीवो गाण्डिवश्चेति सिद्धौ। युधिष्ठिरद्वारा अनुपमप्रभावस्य गाण्डिवस्य निन्दां श्रुत्वा अर्जुनः उग्रतया शत्रुवधेच्छामकरोदिति भावः।

प्रागुदाहृते "वक्षोजाग्रं पाणिनेति" पद्ये। अमर्षे मौन-वाक्पारुष्याद्यनुभावाः तस्य अनुत्कटताम्, उग्रतायां तु वध-बन्धादयोऽनुभावा उत्कटतां द्योतयन्ति। **अस्या** उग्रतायाः सञ्चारिभावत्वात् क्षणिकत्वम्।

उन्मादं निरूपयति—**विप्रलम्भेति**। विप्रलम्भो वियोगः, महापत्तिर्घोरविपत्तिः, अतिशयानन्दादिभ्य उत्पन्नो योऽन्यवस्तुनि तदितरवस्तुनोऽवभासो ज्ञानं, स एव उन्माद-संज्ञको भावः। वियोगादयो विभावाः, अन्यस्मिन्नन्यावभासव्यवहारोऽनुभावः। शुक्तौ रजतभ्रमस्थलेऽतिव्याप्तिवारणाय जन्मान्तं 'परमानन्दादिजन्मा' इत्यन्तं लक्षणे निवेशितम्।

काँपता नहीं है? अर्थात् अवश्य काँपना उचित है, मैं अवश्य इस धनुष से शत्रु का नाश करूँगा।

यह उक्ति कर्ण से परास्त एवं गाण्डीव धनुष की निन्दा करते हुए युधिष्ठिर के प्रति अर्जुन की है। युधिष्ठिर के द्वारा की गयी गाण्डीव की निन्दा यहाँ विभाव और शत्रुवध की इच्छा अनुभाव है।

अमर्ष और उग्रता में भेद नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अमर्षध्वनि के "वक्षोजाग्रम्" इस पूर्वोदाहृत पद्य में उग्रता की प्रतीति नहीं होती है। विषयगत अनुत्कटता एवं उत्कटता ही दोनों में भेदक है। यह उग्रता क्रोध के अन्तर्गत भी नहीं आ सकती, क्योंकि क्रोध स्थायीभाव है, जबकि उग्रता संचारीभाव (क्षणिक है), और यही दोनों में भेद है।

वियोग, घोर विपत्ति, अतिशय आनन्द इत्यादि से उत्पन्न जो किसी एक वस्तु में अन्य वस्तु होने का ज्ञान उसे उन्माद कहते हैं।

इस लक्षण में 'जन्मा' यहाँ तक का अंश इसलिए दिया गया कि यह लक्षण 'शुक्ति में रजत-भ्रम' स्थल में न चला जाय। रजतभ्रम का कारण वियोगादि नहीं, अपितु चाकचिक्य, दूरत्व आदि है।

उदाहरणम्—

अकरुणहृदय ! प्रियतम ! मुञ्चामि त्वामितः परं नाहम् ।
इत्यालपति कराम्बुजमादायालीजनस्य विकला सा ॥

एषा प्रवासगतं स्वनायिकावृत्तान्तं नायकं प्रति कस्याश्चित् सन्देशहारिण्या उक्तिः । प्रियविरहोऽत्र विभावः । असम्बद्धोक्तिरनुभावः । उन्मादस्य व्याधावन्तर्भावे सम्भवत्यपि पृथगुपादानं व्याध्यन्तरापेक्षया वैचित्र्यविशेषस्फोरणाय ।

रोगादिजन्या मूर्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ॥

न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम्, चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसक्तेः, भावेषु च सर्वेषु कार्य-सहवर्त्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात् ।

अकरुणेति । विकला सा वियोगिनी, आलीजनस्य सखीजनस्य करकमलं गृहीत्वा 'अकरुणहृदय ! निष्ठुर ! प्रियतम ! त्वाम् (चिरान्मिलितं) इतःपरमद्यप्रभृति अहं न मुञ्चामि' इति आलपति । अत्र सखीजने प्रियतमावभासः, तेनैवंविधा उक्तिः ।

व्याध्यन्तरेति । व्याधिभावे शय्याशयनम्, उन्मादे भ्रान्तिरसम्बद्धप्रलापः, मरणे मूर्च्छा, अपस्मारे कम्प-श्वास-पतनादय इत्येव वैचित्र्यम् ।

मरणाख्यं भावं लक्षयति—**रोगादीति** । रोग-शोक-वियोगादिकारणेनोत्पन्ना चेतनाशून्या मरणात्पूर्वावस्था (न तु वास्तविकं मरणम्) मरणाख्यो भावः ।

कोई वियोगिनी नायिका विकल होकर सखी के करकमल को पकड़कर बोलती है—निष्ठुरहृदय ! प्रियतम ! तुझे इसके बाद मैं कभी नहीं छोड़ूंगी' । यहाँ सखी को प्रियतम मानकर कहना ही उन्माद को प्रकटित करता है ।

यह उक्ति किसी सन्देशहारिणी दूती की है, जो प्रवासस्थित नायक के प्रति उसकी नायिका की दशा कह रही है । प्रिय का विरह यहाँ विभाव है । असम्बद्ध उक्ति अनुभाव है । यद्यपि उन्माद भी व्याधि (भाव) में ही आ जाता है, तथापि इसका अलग से कथन इसलिए किया गया है कि यह अन्य व्याधि की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होता है, जो सहृदय के द्वारा स्वतः अनुभूत होता है । व्याधि में बिछावन पर पड़े रहना, उन्माद में भ्रम एवं असम्बद्ध बोलना, मरण में मूर्छा तथा अपस्मार में काँपकर गिरना आदि वैशिष्ट्य हैं ।

रोग, शोक एवं वियोगादि से उत्पन्न जो मूर्छा, जिसे मरण की पूर्वावस्था कह सकते हैं, वह मरण-संज्ञक भाव है ।

यहाँ प्राणवियोग रूप मुख्य मरण का ग्रहण करना उचित नहीं है, क्योंकि चित्तवृत्ति (मन में रहने वाले) स्वरूप भावों में प्राणवियोगात्मक (चित्तरहित)

उदाहरणम्—

दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती
शयने सम्प्रति या विलोकितासीत् ।
अधुना खलु हन्त ! सा कृशाङ्गी
गिरमङ्गीकुरुते न भाषितापि ॥

प्रियविरहोऽत्र विभावः । वचनविरामोऽनुभावः । हन्तपदस्यात्रात्यन्तमुपकारकत्वाद् वाक्यव्यङ्ग्योऽप्ययं भावः पदव्यङ्ग्यतामावहति । एतेन भावस्य पदव्यङ्ग्यतायां नात्यन्तं वैचित्र्यमिति परास्तम् । दयितस्य गुणाननुस्मरन्तीत्यनेन व्यज्यमानं चरमावस्थायामपि तस्या दयितगुणविस्मरणं नाभूदिति वस्तु विप्रलम्भस्य शोकस्य वा चरममभिव्यक्तस्य पोषकम् ।

दयितेति । प्रवासस्थस्य दयितस्य प्रियस्य, गुणोत्कीर्त्तनं कुर्वती अतिदौर्बल्याद् या शयने शय्यायां दृष्टा, सैव कृशाङ्गी प्रियविरहेऽतिशयितं दुर्बलाङ्गी अधुना क्षणानन्तरमेव हन्त ! भाषितापि पृष्टापि गिरं स्ववचनं नैव अङ्गीकुरुते स्वीकुरुते प्रत्युत्तरं नैव ददातीति भावस्तेन मूर्च्छावस्था गम्यते ।

वचनविरामो भाषणशक्तिनिवृत्तिः । **हन्तपदस्य** दुःखातिशयबोधकस्य । **एतेन** पदव्यङ्ग्यतायां चमत्कारातिशयप्रदर्शितेन । **व्यज्यमानं** वस्तु विप्रलम्भस्य शोकस्य वा पोषकमित्यन्वयः । **चरमावस्था** मरणम् । **चरममभिव्यक्तस्य** अन्ते

मरण का प्रसंग ही नहीं है और सभी भावों में, कार्य (अनुभाव) के साथ-साथ रहने वाला शरीर के साथ प्राण का संयोग ही हेतु है । (यह कारण कार्य से पूर्व नष्ट न होकर कार्यकाल में भी रहता ही है) ।

जो दुर्बल अङ्गवाली अपने प्रियतम के गुणों का स्मरण करती हुई अभी-अभी बिछावन पर लेटी हुई देखी गयी, वही अब तुरत ही हाय हाय ! पूछने पर भी नहीं बोलती है ! उसे बोलने की भी शक्ति नहीं रही ।

यहाँ प्रिय का विरह विभाव है । बोलने की भी शक्ति का अभाव अनुभाव है । दुःखातिशयबोधक 'हन्त' पद यहाँ (मरणभाव में) अत्यन्त उपकारक है, इसलिए वाक्य द्वारा व्यंग्य होने पर यह मरण-भाव पदव्यंग्य बन जाता है । इस प्रकार पदव्यंग्य में भी वैलक्षण्य देखने के कारण किसी आचार्य का यह मत खण्डित हो जाता है कि 'भाव की पदव्यंग्यता में कोई चमत्कार नहीं है' ।

"प्रिय के गुणों का स्मरण करती हुई" इस उक्ति से व्यग्य वस्तु ध्वनि यह है कि "अन्तिम (मरण) अवस्था में भी वह प्रिय के गुणों को नहीं भूली" । यह वस्तुध्वनि भी अन्त में अभिव्यक्त विप्रलम्भ या शोक का पोषक होता है । प्रथमतः प्रतीत मरण भावध्वनि ही प्रधान है । वस्तु एवं रस ध्वनि बाद में प्रतीत हो रहे हैं ।

अयं च भावः स्वव्यञ्जक-वाक्योत्तरवर्तिना वाक्यान्तरेण सन्दर्भघटकेन नायिकादेः प्रत्युज्जीवनवर्णने विप्रलम्भस्य, अन्यथा तु करुणस्य पोषक इति विवेकः। कवयः पुनरमुं प्राधान्येन न वर्णयन्ति, अमङ्गलप्रायत्वात्।

सन्देहाद्यनन्तरं जायमान ऊहो वितर्कः॥

स च निश्चयानुकूलः।

यदि सा मिथिलेन्द्रनन्दिनी
नितरामेव न विद्यते भुवि।
अथ मे कथमस्ति जीवितं
न विनालम्बनमाश्रितस्थितिः॥

प्रतीतस्य। मरणावस्थायाः प्राथम्येन प्रतीतिरत एव प्राधान्यम्। वस्तुना पोषितस्य विप्रलम्भस्य शोकस्य च पश्चात् प्रतीतिरत एव न प्राधान्यम्।

अयं चेति। च शब्दस्तु शब्दार्थे, अथवा भावस्य वैशिष्ट्यान्तरस्य समुच्चयार्थे। अयं मरणाख्यो भावः प्रबन्धकाव्ये यत्र निरूपितः, तस्मिन्नेव काव्ये तदग्रे नायिकायाः स्वस्थता चेन्निरूप्यते तर्हि विप्रलम्भसाधकः, अन्यथा करुणसाधक इति।

वितर्क-भावं निरूपयति—**सन्देहेति**। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति विरुद्धकोटिद्वयावगाहि-ज्ञानरूपे सन्देहे एकतरपक्षीययुक्तिस्फुरणरूपः, स्थाणौ पुरुषावधारणरूपे विपर्यये च स्थाणुत्वप्रतीतिसाधकयुक्तिस्फुरणरूपो वितर्काख्यो भावः।

स चेति वितर्को भावो निश्चयानुकूलस्तेन चिन्तादिभावतो वैलक्षण्यम्। पूर्वं सन्देहस्तदनन्तरमूहश्चिन्तायामपि भवति, किन्तु न स निश्चयानुकूल इति।

उदाहरति—**मिथिलेन्द्रेति** सा मत्प्राणाधारस्वरूपा, मिथिलेन्द्रनन्दिनी सीता यदि भुवि नितरामेव निश्चितरूपेणैव न विद्यते, परलोकमेव गता, अथ तर्हि, मे रामस्य जीवितं कथमस्ति केन प्रकारेणास्ति, यतः आलम्बनम् आश्रयं विना आश्रितस्य

यह मरणभाव तो अपने प्रकाशक वाक्य से आने वाले वाक्य के द्वारा, जो वाक्य अपने प्रबन्ध (ग्रन्थ) के अन्तर्गत ही हों, नायिका आदि मरणावस्था प्राप्त व्यक्ति के पुनर्जीवित (जी-जाने के) वर्णन से विप्रलम्भ श्रृंगार का पोषक होता है और यदि पुनर्जीवन का वर्णन न हो तो करुण का पोषक होता है। कविगण तो इसे प्रधान रूप से वर्णित नहीं करते हैं, क्योंकि यह अमङ्गल है।

सन्देह, विपर्यय (विपरीत ज्ञान) आदि के बाद होने वाला ऊह (एक पक्ष के साधक युक्ति का स्फुरण) ही वितर्क-संज्ञक भाव है।

यह वितर्क निश्चय के अनुकूल होने से निश्चयात्मक है। (जब कि चिन्ता में अनिश्चयात्मक ही रहता है।)

उदाहरण—यदि यह प्राणाधार-स्वरूपा मैथिली (सीता) इस धरातल पर सर्वथा नहीं है तो यह मेरा (राम का) जीवन कैसे विद्यमान है ? क्योंकि बिना

स्वात्मनि भगवतो रामस्यैषोक्तिः। भुवि सीताऽस्ति न वेति सन्देहोऽत्र विभावः। भ्रूक्षेप-शिरोऽङ्गुलिनर्त्तनम् आक्षिप्तमनुभावः। न चासौ चिन्तेति शक्यं वदितुम्, चिन्ताया नियमेन निश्चयं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। 'किं भविष्यति', 'कथं भविष्यति' इत्याद्याकारायाश्चिन्तायाः 'इदमित्थं भवितुमर्हति प्रायशः' इत्याकारस्य वितर्कस्य विषयवैलक्षण्योपलम्भाच्च। 'न विने'त्यादिनोक्तोऽर्थान्तरन्यासोऽप्यस्मिन्नेवानुकूलः।

इष्टासिद्धि-राजगुर्वाद्यपराधादिजन्योऽनुतापो विषादः।

स्थितिर्न क्वापि सम्भवति। सीताजीवनं विना मज्जीवनासम्भवाद् मज्जीवनदर्शनादेव सीताया जीवितत्वं सम्भावनीयमिति 'सीता भुवि अस्ति न वा' इति सन्देहे निश्चयानुकूल ऊहोऽत्र वितर्कः।

स्वात्मनि स्वगतम्। **आक्षिप्तमिति,** अत्र शब्दतोऽनुक्तमपि आक्षेपलभ्यम्। वितर्कसमये भ्रूक्षेपः, शिरोनर्त्तनम्, अङ्गुलिनर्तनं च स्वभावसिद्धम्। वितर्कस्य चिन्तातः पार्थक्यं दर्शयति—**न चेति।** चिन्तायां निश्चयो न लक्ष्यते, वितर्कस्तु निश्चयानुकूलो भवतीति विषयवैलक्षण्यमुभयोः। **न विनेति।** अत्रोदाहृतपद्ये 'न विनालम्बनमाश्रितस्थितिः' इत्यनेन सामान्येन, विशेषस्य रामजीवनेन सीताजीवस्थितेः समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासो निश्चयप्रत्यायको वितर्केऽनुकूलः।

विषादभावं निरूपयति—**इष्टेति।** बहुप्रयत्नानन्तरमपि अभीष्टकार्यस्यासिद्धौ,

---

आश्रय के आश्रित वस्तु का रहना सम्भव नहीं है। सीता के जीवन के विना मेरा जीवन रह नहीं सकता। अतः मेरे जीवन से जानकी जी के जीवित रहने का निश्चय हो रहा है।

अपने मन में भगवान् राम की यह उक्ति है। 'सीता इस पृथ्वी पर है या नहीं' यह सन्देह यहाँ विभाव है। भौहें तानना, शिर और अंगुलियों को नचाना इत्यादि अनुभाव हैं, जो उदाहृत पद्य में शब्दतः अनुक्त रहने पर भी 'वितर्क-काल में रहते ही हैं' इस ज्ञान के द्वारा आक्षिप्त (आक्षेपलभ्य) हैं।

यह वितर्क चिन्ता ही है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि चिन्ता नियमतः निश्चय के प्रति कारण नहीं हो सकती (प्रयोजक, साक्षात् या परम्परया कारण)। 'क्या होगा' 'कैसे होगा'—इस प्रकार की चिन्ता होती है, जिससे 'यह ऐसा हो सकता है, प्रायः' इस प्रकार के वितर्क की विषयगत-विलक्षणता (पार्थक्य) स्पष्ट ही है। इस पद्य के अन्तिम चरण 'न विनालम्बन' इत्यादि के द्वारा कथित अर्थान्तरन्यास अलंकार भी इसी निश्चयात्मक वितर्क में अनुकूल है। (यहाँ सामान्य उक्ति के द्वारा विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।)

बहुत आयास के बाद भी अभीष्ट कार्य के सिद्ध न होने से तथा राजा, गुरु, देवता, देश आदि के प्रति अपराध आदि करने से उत्पन्न सन्ताप को विषाद कहते हैं।

उदाहरणम्—

भास्करसूनावस्तं याते, जाते च पाण्डवोत्कर्षे ।
दुर्योधनस्य जीवित ! कथमिव नाद्यापि निर्यासि ॥

अत्र स्वापकर्ष-परोत्कर्षयोर्दर्शनं विभावः । जीवितनिर्याणाशंसा तदाक्षिप्तं वदन-नमनादि चानुभावः ।

अस्मिन्नेव च विषादध्वनौ दुर्योधनस्येत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिरनुग्राहकः । न चात्र त्रासभावध्वनित्वं शंक्यम्, परवीरस्य दुर्योधनस्य त्रासलेशस्याप्ययोगात् । नापि चिन्ताध्वनितम्, युद्ध्वा मरिष्यामीति तस्य व्यवसायात् । नापि दैन्यध्वनित्वम्, सकलसैन्यक्षयेऽपि विपदस्तेनागणनात् । न वा वीररसध्वनित्वम्, मरणस्य शरणीकरणे परापकर्षजीवितस्योत्साहस्याभावात् ।

राज-गुरु-राष्ट्रादिकान् प्रति कृतेऽपराधे च स्वात्मनि जायमानोऽनुतापः सन्तापः, स एव विषादसंज्ञको भाव उच्यते । यथा—

भास्करेति । कर्णे मृते निराशस्य दुर्योधनस्य स्वजीवनं प्रति उक्तिरियम् । भास्करसूनौ सूर्यपुत्रे अनुपमप्रतापशालिनि कर्णे अस्तं याते मृते सति, तदनन्तरं पाण्डवोत्कर्षे पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनां वैरिणाम् उत्कर्षे च जाते, हे दुर्योधनस्य जीवित ! अतुलपराक्रमस्य कर्णैकप्राणस्य मम जीवन ! अद्यापि स्वकीयसर्वनाशे शत्रुदलोत्कर्षे च जाते इदानीमपि कथमिव कथं खलु न निर्यासि निर्गच्छसि ? अवश्यनिर्गन्तव्यस्य तवावस्थानं नोचितमिति भावः ।

निर्याणाशंसा प्रयाणेच्छा, तदिच्छासमये वदननमनवैवर्ण्यादिकं स्वभावसिद्धमनुक्तमपि आक्षेपलभ्यम् ।

अर्थान्तरसंक्रमितेति । दुर्योधनः स्वयं वक्ता 'ममेति' वक्तव्ये 'दुर्योधनस्ये'ति पदं साभिप्रायं प्रयुंक्ते । तेन तस्य तत्तद्गुणवत्त्वं लक्ष्यते—अतुलप्रताप-पराक्रमादियुक्तः कर्णैकप्राणः, प्रधर्षित-पाण्डव इत्यादि । तेन दुर्योधनशब्दोऽत्र अर्थान्तरे संक्रमितः । परन्तु

उदाहरण—

कर्ण के मर जाने पर निराश दुर्योधन की अपने जीवन के प्रति यह उक्ति है—हे दुर्योधन के प्राण ! तुम सूर्यपुत्र कर्ण के अस्त हो जाने (मर जाने) पर और पाण्डवों की उन्नति हो जाने पर भी अभी तक क्यों नहीं निकल जाते हो ?

यहाँ अपनी अवनति और शत्रु की उन्नति देखना विभाव है और प्राण निकल जाने की इच्छा तथा उसके द्वारा आक्षेपलभ्य सर झुकाना आदि अनुभाव हैं ।

इसी विषाद ध्वनि में 'दुर्योधनस्य' इस पद से प्राप्त अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि सहायक है । इस उदाहृत पद्य का वक्ता स्वयं दुर्योधन ही है । वह 'मम' (मेरा) कहने के स्थान में 'दुर्योधनस्य' पद का साभिप्राय प्रयोग करता है, जिससे अतिप्रतापी,

इदं पुनरत्र नोदाहार्यम्—

अयि ! पवनरयाणां निर्दयानां हयानां
श्लथय गतिमहं नो सङ्गरं द्रष्टुमीहे ।
श्रुतिविवरममी मे दारयन्ति प्रकुप्यद्-
भुजगनिभ-भुजानां बाहुजानां निनादाः ॥

पर्यवसाने दुःखातिशयोत्पादकत्वेन विषादध्वनेः **अनुग्राहक** उपस्कारक एव अर्थान्तर-संक्रमितध्वनिर्न तु प्रधानम् । परवीरस्य उत्कृष्टवीरस्य । **व्यवसायात्** निश्चयात्, चिन्तायां तु तथाविधव्यवसायाभावात् । विपदोऽगणनात् परवीरस्य दुर्योधनस्योक्ति-रियं वीररसमेव कथं न ध्वनयतीत्याह—**उत्साहेति** । परस्य शत्रोः अपकर्षो हीनत्वं तदेव जीवितं प्राणा अस्य, तथाविधस्य उत्साहस्यात्राभावः, दुर्योधनो हि विषादं प्राप्य स्वस्य मरणमेवाङ्गीकरोति, तेन शत्रोरुत्कर्ष एव प्रतीयते नापकर्षः । अतो नैवात्र त्रास-चिन्ता-दैन्य-वीर-रसध्वनीनां शङ्कास्ति ।

अत्र = विषादध्वनौ । **अयीति** । कोमलसम्बोधनं बृहन्नलावेषधारिणमर्जुनं सारथिनं प्रति युद्धकातरस्य विराट्पुत्रस्योत्तरस्य । पवन इव रयो वेगो येषां तथा-विधानां दयारहितानां कठोराणां घोटकानां गतिं श्लथय मन्दीकुरु । अहमुत्तरः सङ्गरं संग्रामं द्रष्टुं न ईहे इच्छामि । यतो हि—प्रकुप्यन्तश्च ते भुजगाः सर्पाः, तन्निभाः तत्सदृशा भुजा बाहवो येषां तेषां बाहुजानां क्षत्रियाणां; 'बाहू राजन्यः कृत' इति पुरुष-

---

परमवीर, कर्ण का प्राणाधिक मित्र, पाण्डवों को बार-बार नीचा दिखा चुकने वाला आदि विशेषण युक्त वक्ता, ऐसा अर्थान्तर में संक्रमितवाच्य ध्वनि है, परन्तु प्रधान न होकर विषाद का पोषक ही है । यहाँ त्रासभावध्वनि की शंका न करें, क्योंकि परमवीर दुर्योधन को त्रास का लेश रहना भी संगत नहीं है । तब चिन्ताध्वनि भी नहीं कह सकते, 'युद्ध करके मारूँगा' यही उसका निश्चय है, जब कि चिन्ता में ऐसा निश्चय नहीं रहता है । यहाँ दैन्यध्वनि भी नहीं हो सकती, क्योंकि सकल सेना के क्षय होने पर भी उसने विपत्ति की परवाह न की । इसे वीररसध्वनि भी नहीं कह सकते, क्योंकि मरण को स्वीकार करने से शत्रु को नीचा दिखाना रूप उत्साह का ही यहाँ अभाव है ।

यह पद्य तो इस विषादध्वनि के लिए उदाहृत नहीं हो सकता है—हे सारथी ! वायु के समान वेग वाले इन निर्दय घोड़ों की गति को शिथिल करो, मैं युद्ध नहीं देखना चाहता । प्रकुपित सर्पों के समान भुजा वाले इन क्षत्रियों के ये युद्धोन्माद-शब्द मेरे कान के बिल को फाड़ रहे हैं । यह उक्ति युद्ध से भयभीत विराट्पुत्र उत्तर का बृहन्नलावेशधारी अर्जुन के प्रति है ।

अत्र त्रासस्यैव प्रतीयमानत्वेन विषादस्याप्रतीतेः, लेशतया प्रतीतौ वा त्रास एव आनुगुण्यौचित्येन ध्वनिव्यपदेशायोग्यत्वात् ।

अधुनैवास्य लाभो ममास्त्वितीच्छा औत्सुक्यम् ॥

इष्टविरहादिरत्र विभावः । त्वरा-चिन्तादयोऽनुभावाः । यदाहुः—

सञ्जातमिष्टविरहादुद्दीप्तं प्रियसंस्मृतेः ।
निद्रया तन्द्रया गात्रगौरवेण च चिन्तया ॥
अनुभावितमाख्यातमौत्सुक्यं भावकोविदैः ॥ इति ।

सूक्तम्, अमी समीपस्था एव निनादाः शब्दाः, मे मम, श्रुतिविवरं कर्णकुहरं दारयन्ति स्फोटयन्ति ।

अत्र उत्तरस्य विषादो विद्यमानोऽपि न भावपदवीमावहति, भीरुत्वेन कठोरशब्दश्रवणरूपविभावेन च प्रतीयमानस्त्रास एवात्र भावः । यथाकथञ्चित् लेशतया यत्किञ्चित् कर्णविवर-विदीर्णनद्वारा प्राणान्ताशङ्कया प्रतीतोऽपि विषादः, पूर्णाभिव्यक्तत्वेन प्रतीयमानस्य त्रासस्य आनुगुण्येन अनुकूलतया पोषकत्वेन गौणो ध्वनित्वेन व्यवहारस्यायोग्य एव ।

औत्सुक्याख्यं भावं लक्षयति—**अधुनैवेति** । अभिलषितवस्तुनः प्राप्त्यर्थमुत्कटेच्छास्वरूपो भाव औत्सुक्यसंज्ञकः । इष्टस्य प्रियजनस्य वस्तुनो वा विरहोऽभावस्वरूप एव विभावः । तत्प्राप्तये त्वरा शीघ्रकारिता, चिन्तादिश्च कार्यतयानुभावः । अत्र प्राचीनसम्मतिं दर्शयति—**सञ्जातमिति** । इष्टविरहात् संजातमुत्पन्नं, प्रियसंस्मृतेः उद्दीप्तं वर्धितं, तेन प्रियसंस्मृतिरुद्दीपनविभाव इति सूचितम्, निद्रा-तन्द्रादेहगुरुत्वानुभव-चिन्तादयोऽनुभावाः तैः अनुभावितम् अनुभावनव्यापारसम्बन्धीकृतम्, यत् तद् भावज्ञैः औत्सुक्यभावरूपं प्रतिपादितम् ।

यहाँ त्रास (भय) ही प्रतीयमान हो रहा है, इसलिए विषाद की प्रतीति ही नहीं होती है । अंशतः उसकी प्रतीति मान भी लें तो उसे त्रास के अनुकूल गौण रहने के कारण वह ध्वनि कहलाने योग्य नहीं है ।

'अभी मुझे यह मिल जाय' इस प्रकार की उत्कट इच्छा ही औत्सुक्य है ।

इष्ट का विरह (अभाव) यहाँ विभाव एवं प्राप्ति की शीघ्रता, चिन्ता आदि अनुभाव हैं । जैसा कि आचार्यों ने कहा भी है—

इष्ट व्यक्ति या वस्तु के विरह से उत्पन्न, उसी प्रिय व्यक्ति या वस्तु के स्मरण से उद्दीप्त (वर्धित) और निद्रा, तन्द्रा, देह के भारीपन तथा चिन्ता से अनुभवगोचर होने वाले भाव को भाववेत्ताओं ने औत्सुक्य कहा है ।

उदाहरणम्—

निपतद्वाष्प-संरोध-मुक्तचाञ्चल्यतारकम् ।
कदा नयननीलाब्जमालोकेय मृगीदृशः ॥

अनर्थातिशयजनिता चित्तस्य सम्भ्रमाख्या वृत्तिरावेगः ।

उदाहरणम्—

लीलया विहित-सिन्धुबन्धनः, सोऽयमेति रघुवंशनन्दनः ।
दर्पदुर्विलसितो दशाननः, कुत्र यामि ? निकटे कुलक्षयः ॥

एषा स्वात्मनि मन्दोदर्या उक्तिः । रघुनन्दनागमनमत्र विभावः । कुत्र यामीत्येतद्व्यङ्ग्यः स्थैर्याभावोऽनुभावः ।

न चात्र चिन्ता प्राधान्येन व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, कुत्र यामीति स्फुटं प्रतीतेन स्थैर्याभावेनोद्वेगस्येव चिन्ताया अप्रत्यायनात् । परन्त्वावेग-चर्वणायां तत्परिपोषकतया गुणत्वेन चिन्तापि विषयीभवति ।

निपतदिति । विरही नायकश्चिन्तयति—मृगीदृशो नयननीलाब्जं नयनरूपं नीलकमलं कदा आलोकेय पश्येयम्, यत्कमलं निपततां वाष्पाणां नेत्रबिन्दूनां संरोधेन स्तम्भनेन मुक्तं त्यक्तं चाञ्चल्यं याभ्यां ते तारके कनीनिके यस्य तथाविधम् । प्रियविरहालम्बनेन तत्स्मरणोद्दीपनेन तच्चिन्तानुभावेन प्रियादर्शनोत्कटेच्छारूप औत्सुक्यभावः प्रतीयते ।

आवेगाख्य भावं लक्षयति—**अनर्थेति** । आकस्मिकरूपेण अत्यन्तानिष्टघटनायाः कारणेन चित्ते जायमानः सम्भ्रमो विक्षोभ एव आवेगाख्यो भावः । यथा—रावणपत्न्या

उदाहरण—मृगनयनी के गिरते हुए आँसू (जल) को रोकने के कारण चञ्चलता को त्यागने वाले पुतलियों से युक्त आँख रूपी नीलकमल को कब देखूँगा ?

अत्यन्त अनर्थ (अनिष्ट घटना) के अकस्मात् आ जाने से उत्पन्न चित्त के सम्भ्रम (विक्षोभ, हड़बड़ी) को आवेग या उद्वेग कहते हैं । विश्वनाथ ने आवेग को हर्ष से भी उत्पन्न माना है ।

लीला से ही सागर में सेतु बाँधने वाले, अतुल पराक्रमशाली रूप में प्रख्यात वे (जिनकी पत्नी का अपहरण किया गया है) श्रीरामचन्द्रजी लङ्का आ रहे हैं और रावण उनके स्वागत के बजाय दर्प से दुराचाररत है, उनसे द्वेष ही कर रहा है । तब तो सम्पूर्ण कुल का ही नाश बहुत निकट है । हाय ! कहाँ जाऊँ ?

यह अपने मन में मन्दोदरी की उक्ति है । रघुनन्दन का आगमन यहाँ विभाव है । 'कहाँ जाऊँ' इससे व्यंग्य चंचलता अनुभाव है ।

यहाँ चिन्ता ही प्रधानरूप से प्रतीत हो रही है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'कहाँ जाऊँ' इस वाक्य के द्वारा स्फुट (स्पष्ट) रूप से प्रतीत स्थिरता के अभाव

चिन्तोत्कण्ठा-भय-विरहेष्टानिष्टदर्शनश्रवणादिजन्याऽवश्यकर्त्तव्यार्थ-प्रतिसन्धान-विकला चित्तवृत्तिर्जडता ।

इयं च मोहात् पूर्वतः परतश्च जायते । यदाहुः—

कार्याविवेकोः जडता, पश्यतः शृण्वतोऽपि वा ।
तद्विभावाः प्रियानिष्टदर्शनश्रवणे रुजा ॥
अनुभावास्त्वमी तूष्णीम्भाव-विस्मरणादयः ।
स पूर्वं परतो वा स्यान्मोहादिति विदां मतम् ॥ इति ।

मन्दोदर्या विलापोऽयम् । लीलया अनायासेनैव विहितः सिन्धुबन्धनः सागरबन्धनो येन सोऽयं परिचितो दिव्यपराक्रमशाली समीपस्थितो रामचन्द्रो लङ्कामागच्छति । किन्तु दशाननो रावणो दर्पेण दुर्विलसितो दुराग्रही, रामस्य समर्चां न करोति, तं द्वेष्टि । अत एव कुलक्षयो निकट एव । अशरणा क्व गच्छामीति । अत्र कुलस्यैव क्षय इत्यालम्बन-विभावो, रघुनन्दनागमनमुद्दीपनविभावः, स्थैर्यस्य स्थिरताया अभावः चञ्चलताऽनुभावः । उद्वेगस्येव = आवेगस्येव चिन्तायाः प्राधान्येन प्रतीत्यभावात् । चर्वणायाम् = आस्वाद-काले । गुणत्वेन = अङ्गतया ।

जडताख्यं भावं लक्षयति—**चिन्तेति** । चिन्तोत्कर्षभयेति पाठान्तरम् । उत्कर्षाति-शयादपि कर्त्तव्यमौग्ध्येन जडता भवति । चिन्तादि-समुत्पन्ना किङ्कर्तव्यविमूढता जडता । इष्टस्यानिष्टस्य च दर्शनेन श्रवणेन चेत्यर्थः ।

इयं जडता । **मोहात्** = मूर्च्छनात् । **कार्याविवेक** इति । किमपि पश्यतः शृण्वतो वा जनस्य कर्त्तव्यनिर्धारणाज्ञानं जडता । तस्याः विभावाः प्रियस्य इष्टस्य अनिष्टस्य च दर्शन-श्रवणे रोगश्च, अनुभावास्तु तूष्णीम्भावो विस्मृतिश्चेत्यादयः ।

(चाञ्चल्य) के द्वारा जैसे उद्वेग (आवेग) दृष्ट हो रहा है, वैसे चिन्ता प्रधानरूप से प्रतीत नहीं होती है । परन्तु आवेग-भाव के आस्वादनकाल में उसके पोषक के रूप में अङ्ग बनकर चिन्ता भी यहाँ सम्मिलित होकर विषय बनती है ।

चिन्ता, उत्कण्ठा, भय, विरह, इष्ट एवं अनिष्ट के दर्शन एवं श्रवण आदि से उत्पन्न अवश्यकर्त्तव्य ज्ञान से विकल (रहित) चित्तवृत्ति को जड़ता कहते हैं ।

यह जड़ता मूर्च्छा से पहले और बाद में भी होती है । जैसा कि आचार्यों ने कहा है—किसी को देखने या सुनने वाले में कर्त्तव्य के ज्ञान का अभाव ही जड़ता है । इसके विभाव हैं—प्रिय एवं अनिष्ट के दर्शन एवं श्रवण तथा रोग, अनुभाव हैं—चुप्पी, विस्मरण आदि । वह जड़ता-भाव मूर्च्छा से पहले या बाद में होता है—ऐसा विद्वानों का मत है ।

उदाहरणम्—

यदवधि दयितो विलोचनाभ्यां, सहचरि ! दैववशेन दूरतोऽभूत् ।
तदवधि शिथिलीकृतो मदीयैरथ करणैः प्रणयो निजक्रियासु ॥

प्रियविरहोऽत्र विभावः, करणैश्चक्षुःश्रवणादिभिः क्रियासु तत्तत्प्रमितिषु प्रणयस्य शिथिलीकरणमनुभावः। मोहे चक्षुरादिभिश्चाक्षुषादेरजननम्, इह तु प्रकारविशेषवैशिष्ट्येन बाहुल्येनाजननमिति तस्मादस्य विशेषः। अत एवोदाहरणे शिथिलीकृत इत्युक्तं, न तु त्यक्त इति ।

अतितृप्ति-गर्भ-व्याधि-श्रमादिजन्या चेतसः क्रियाऽनुन्मुखताऽऽलस्यम् ।

उदाहरति—**यदवधीति** । हे सहचरि सखि ! दैववशेन भाग्यवशात् मम दयितः प्रियः यदवधि यस्मात्कालादारभ्य मम विलोचनाभ्यां दूरतोऽभूद् दूरं गतवान्, तदवधि तस्मादेव कालात् मदीयैः करणैः चक्षुरादिभिः निजक्रियासु दर्शन-श्रवणादिषु प्रणयः स्वव्यापारासक्तिरूपः, शिथिलीकृतो मन्दीकृतः। अत्र अथेति पादपूरणे। 'प्रणयो निजे'त्यत्र पूर्वान्त्य-परादिवर्णयोः सहावस्थानेनाश्लीलत्वम् ।

प्रमितिषु चाक्षुषप्रत्यक्ष-श्रावणप्रत्यक्षादिषु। ननु मोहजडतयोर्ज्ञानवैकल्यरूपत्वात् कुतः पृथगुपादानमिति समाधत्ते—**मोह** इति। मोहे इन्द्रियाणां सर्वथा क्रियाशून्यत्वं, जडतायां तु ईषत्कार्यकरत्वं, न सर्वथा ज्ञानाभाव इत्युभयोर्वैलक्षण्येन पृथगुपादानम् । **प्रकारेति** तत्तदसाधारणरूपेण बहुशो न तु सर्वथा। तेन क्वचिच्चाक्षुषादेर्जननमपि जडतायां, मोहे तु सामान्यरूपेणैव तदजननमिति ।

आलस्यं लक्षयति—**अतितृप्तीति** । अतिसन्तुष्टि-गर्भरोगश्रमादिकारणेन

उदाहरण—हे सखि ! जब से मेरे प्रियतम भाग्यवश मेरी आँखों से दूर हो गये हैं, उसी समय से मेरी आँख-कान आदि इन्द्रियों ने अपने देखना-सुनना आदि कार्यों में स्नेह को मन्द कर दिया है ।

यहाँ प्रिय का विरह विभाव है, करणों (साधनों) आँख-कान आदि से कार्यों में—उन-उन इन्द्रियों की प्रमितियों (प्रत्यक्षों) में प्रणय (स्नेह) का मन्द करना अनुभाव है। मोह-भाव में आँख आदि से चाक्षुषादि प्रतीति नहीं होती और यहाँ जड़ता भाव में उन-उन असाधारण विशेषताओं के द्वारा अधिकतर रूप से प्रतीति नहीं होती, किन्तु कहीं-कहीं प्रतीति होती भी है। इसलिए मोह से जड़ता का पार्थक्य ही है। मोह में इन्द्रियों के विषयों से सम्पर्क होने पर भी कदापि कुछ भी प्रतीति नहीं होती है, जब कि जड़ता में स्थूल रूप से कुछ-कुछ होती है ।

इसलिए पूर्वोक्त उदाहरण में 'शिथिलीकृत' कहा है, 'त्यक्त' नहीं ।

अत्यन्त तृप्ति, गर्भ, व्याधि, श्रम आदि के कारण उत्पन्न मन में कार्य न करने की प्रवृत्ति को आलस्य कहते हैं ।

अत्र च नासामर्थ्यम्, नापि कार्याकार्यविवेकशून्यत्वम् । तेन कार्याकरणरूपस्यानुभावस्य तुल्यत्वेऽपि ग्लानेर्जडतायाश्चास्य भेदः ।

उदाहरणम्—

निखिलां रजनीं प्रियेण दूरादुपयातेन विबोधिता कथाभिः ।
अधिकं नहि पारयामि वक्तुं सखि ! मा जल्प, तवायसी रसज्ञा ॥

एषा हि प्रियागमनद्वितीयदिवसे मुहुर्निशावृत्तान्तं पृच्छतीं सखीं प्रति रजनिजागरणजनितालस्यायाः कस्याश्चिदुक्तिः । अत्र रजनिजागरणं विभावः, अधिकसम्भाषणाभावोऽनुभावः ।

समुत्पन्ना चित्ते या व्यापाराप्रवृत्तिः सैव आलस्यम् । वस्तुतो व्यापारमन्थरता, न तु व्यापाराभावः । अन्यथा भावरूपालस्यस्य अभावरूपतापत्तिः स्यात् ।

कार्यस्याकरणरूपोऽनुभावः आलस्य-ग्लानि-जडतासु एक एवेति कथं त्रयाणां नैक्यमिति प्रतिपादयति—**अत्र चेति** । आलस्ये असामर्थ्यं कार्यकरणे अशक्तिर्न भवति, ग्लानौ तु भवतीत्युभयोर्भेदः । आलस्ये कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञानाभावो न भवति, जडतायां तु भवतीत्युभयोर्भेदः ।

उदाहरति—**निखिलामिति** । हे सखि ! दूराद् दूरदेशात्, चिराद् उपयातेन प्रियेण कथाभिर्वार्तालापादिभिः अहं निखिलां सम्पूर्णां रजनीं रात्रिं विबोधिता जागरिता । रजनीमित्यत्रात्यन्तसंयोगे द्वितीया । अत एवालसाहम् इतोऽधिकं वक्तुं नहि पारयामि । त्वं मा जल्प । मन्ये, तव रसज्ञा जिह्वा आयसी लौहनिर्मिता वर्तते, यन्मां श्रान्तामपि वारं वारं रात्रिवृत्तान्तं पृच्छसीति ।

कथाभिरिति । चिरान्मिलितायां प्रियायां केवलाभिः कथाभिरेव रात्रिजागरणमनुपपन्नं सत् कथाभिरित्यस्य वाच्यमविवक्षितं, लक्षणया सुरतव्यापारं गमयति ।

इस आलस्य भाव में कार्य करने में सामर्थ्य का अभाव नहीं रहता है (जब कि ग्लानि में रहता है) और कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य के ज्ञान का अभाव भी नहीं रहता है (जब कि जड़ता में रहता है) । इसीलिए 'कार्य का न करना' रूप अनुभाव के (आलस्य, ग्लानि और जड़ता—इन तीनों भावों में) तुल्य रहने पर भी ग्लानि और जड़ता से इस आलस्य का भेद ही है ।

उदाहरण—हे सखि ! दूर देश से (या बहुत दिन पर) आये हुए प्रिय ने मुझे अनेक कथा-चर्चादियों के द्वारा पूरे रातभर जगाये रखा है । अतः मैं इससे अधिक बोल नहीं सकती हूँ । अब तू मत बोलो । क्या तेरी जिह्वा लोहे की बनी है ? (जो मुझे अत्यन्त थकी रहने पर भी बार-बार पति-वृत्तान्त पूछ रही हो और जिह्वा थकती ही नहीं है ?)

प्रिय के आगमन के दूसरे दिन में बार-बार रात्रि-वृत्तान्त पूछती हुई सखी के

जडतायां मोहात् पूर्ववर्त्तित्वमुत्तरवर्त्तित्वं वा नियतं, न त्वत्रेत्यपरो विशेषः। गोपनीयविषयत्वाद् यदि कथाभिरित्यविवक्षितवाच्यं, तदा श्रमोऽस्तु परिपोषकः, श्रमजन्ये ह्यालस्ये श्रमस्य परिपोषकताया अवार्यत्वात्। अति-तृप्त्यादिजनिते त्वालस्ये श्रमाद् विविक्तविषयत्वं बोध्यम्।

परोत्कर्षदर्शनादिजन्यः परनिन्दादिकारणीभूतश्चित्तवृत्तिविशेषोऽसूया।

इमामेवासहनादिशब्देन व्यवहरन्ति। यथा—

गोपनीयत्वाद् वाच्यरूपेण तस्योपादानं न कृतं, लज्जारक्षणाय च। तेन सुरतेन श्रमातिशयो व्यङ्ग्यार्थो लभ्यते, किन्तु तज्जन्यमेवालस्यं प्रधानमेव। श्रमस्य स्वजन्यालस्यपरिपोषकत्वमपरिहार्यम्। न च श्रमं विनालस्यं न सम्भवतीति वाच्यम्, अतितृप्ति-गर्भ-व्याधिजन्य आलस्ये श्रमरहितोदाहरणसम्भवात्।

असूयाख्यं भावं लक्षयति—**परेति**। परस्य उत्कृष्टत्वदर्शनेन उत्पन्ना, तन्निन्दायाः कारणस्वरूपा चित्तवृत्तिरसूया। इमामसूयामेव असहनासहिष्णुतादिशब्देनापि कथयन्ति। परगुणासहिष्णुता परदोषाविष्कृतिश्चासूयाशब्दार्थः।

प्रति किसी नायिका की यह उक्ति है, जो रातभर जागने से अलसायी हुई है। यहाँ रात में जागना विभाव और अधिक बोलने का अभाव अनुभाव है।

जड़ता भाव में मूर्च्छा से पहले या बाद में जड़ता का रहना नियत है, किन्तु इस आलस्य में ऐसी बात नहीं, यह इसकी दूसरी विशेषता है। सुरत के गोपनीय विषय होने के कारण 'कथाभिः' यह पद अविवक्षितवाच्य ध्वनि के रूप में अपने वाच्यार्थ वार्तालाप की अविवक्षा कर सुरतव्यापाररूप लाक्षणिक अर्थ के द्वारा श्रमातिशय को ही ध्वनित कर रहा है और तब तो यह श्रमध्वनि का ही उदाहरण हुआ, आलस्य का नहीं, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि श्रमध्वनि रहने पर वह आलस्य का ही पोषक है, क्योंकि श्रम से उत्पन्न आलस्य में श्रम का पोषक होना अपरिहार्य है। (नायक बहुत दिन पर आया है, वह बात ही में रात बिता दे, यह संगत नहीं है, इसलिए 'कथा' शब्द से सुरत अर्थ लेना आवश्यक है और लज्जानिवारणार्थ नायिका सुरत न कहकर 'कथा' से काम चला रही है।) श्रम से असंकीर्ण आलस्य का उदाहरण अतितृप्ति आदि से उत्पन्न रहेगा।

दूसरे के उत्कर्ष को देखने आदि से उत्पन्न, इस उत्कृष्ट की निन्दादि के कारण-स्वरूप चित्तवृत्ति को असूया कहते हैं।

इसे ही असहन (असहिष्णुता) आदि शब्द से कहते हैं। यथा—

कुत्र शैवं धनुरिदं क्व चायं प्राकृतः शिशुः।
भङ्गस्तु सर्वसंहर्त्रा कालेनैव विनिर्मितः॥

एषा भग्नहरकार्मुकस्य रामस्य पराक्रममसहमानानां तत्रत्यानां राज्ञामुक्तिः। अत्र च श्रीमद्दाशरथिबलस्य सर्वोत्कृष्टताया दर्शनं विभावः, प्राकृतशिशुपदगम्या निन्दानुभावः।

तृष्णालोलविलोचने कलयति प्राचीं चकोरव्रजे,
मौनं मुञ्चति किञ्च कैरवकुले, कामे धनुर्धुन्वति।
माने मानवतीजनस्य सपदि प्रस्थातुकामेऽधुना
धातः! किं नु विधौ विधातुमुचितो धाराधराडम्बरः॥

कुत्रेति। जनकनगरे धनुर्यज्ञे रामविद्वेषिणामुक्तिरियम्। कुत्र पुरुषोत्थापनाशक्यमिदं शैवं शिवसम्बन्धि धनुः? अयं रामः प्राकृतो वैशिष्ट्यरहितः साधारणः शिशुर्बालश्च क्व? उभयोः सम्बन्धोऽसम्भव एव। तेन धनुर्भङ्गो नैव रामेण सम्भाव्यते। तर्हि तद् भग्नं कथमिति चेदुच्यते, तस्य भङ्गस्तु सर्वसंहारकेण कालपुरुषेणैव विनिर्मितो निर्धारितः। धातूनामनेकार्थत्वाद् रचनार्थकस्य निर्मितेः करणार्थे प्रयोगः। निदर्शनालङ्कारः।

भग्नहरकार्मुकस्य भग्नं हरकार्मुकं शिवधनुर्येन। **तत्रत्यानां** धनुर्यज्ञे सीतापरिणयार्थमागतानां राज्ञाम्।

पुनरसूयाममर्षसङ्कीर्णमुदाहरति—**तृष्णेति**। अत्र कस्यचिद् राजकुमारस्यागमनं प्रस्तुतं सहसाऽवरुद्धमिति अप्रस्तुतेन चन्द्रवृत्तान्तेन वर्णितम्। चन्द्रोदयकाल एव मेघाडम्बरविधातारं धातारं कश्चिदाक्रोशति—हे **धातः** अधुना सायंकाले चन्द्रोदयावसरे तृष्णया चन्द्रिकाप्राप्तीच्छया लोले चञ्चले विलोचने यस्य तस्मिन्, चकोरसमुदाये प्राचीं दिशं कलयति पश्यति सति, किञ्च अपि च, कैरवकुले कुमुदगणे मौनं दिवाकृतमुद्रणं मुञ्चति सति, कामदेवे धनुः धुन्वति कम्पयति सति, मानवतीजनस्य माने प्रणयकोपे

कहाँ यह शिव का धनुष और कहाँ यह साधारण बालक (राम)? इस धनुष का भङ्ग तो सबों के संहार करने वाले कालपुरुष ने ही किया है।

यह शिवधनुष को तोड़ने वाले राम के पराक्रम को न सहने वाले वहाँ सीतापरिणय के लिए उपस्थित राजाओं की उक्ति है। यहाँ श्रीमान् दाशरथि राम के सैन्यों को सर्वोत्कृष्टता देखना विभाव एवं 'साधारण शिशु' पद से ध्वनित निन्दा अनुभाव है।

अमर्षमिश्रित असूया का उदाहरण—हे विधाता! अभी चन्द्रोदय होने के समय सायंकाल में जब चाँदनी को देखते हेतु चंचल आँखों वाले चकोरगण पूरब की ओर देखने लगे, कुमुदिनी-वन अपनी चुप्पी (संकुचित होना) छोडने लगे, काम-

अत्रापि यद्यपि तदीयोच्छृङ्खलतादि-दर्शनजन्या, अनुचितकारित्वरूप-निन्दाप्रकाशानुभाविता, कविगता, विधात्रालम्बनासूया व्यज्यत इति शक्यते वक्तुम्, तथापि कार्यकारणयोस्तुल्यत्वादभिव्यक्तेनामर्षेण शबलितैवासौ न विविक्ततया प्रतीयते। नहि विधातुरपराध इव भगवतो रामस्यापराधोऽस्ति, येन कवेरिव वीराणामप्यमर्षोऽभिव्यज्येत। स्वभावो हि महोन्नतक्रियानिष्पादनं वीराणाम्।

प्रस्थातुकामे प्रस्थातुमुद्यते सति, विधौ चन्द्रे, धाराधराडम्बरः मेघाच्छन्नत्वं किं नु त्वया विधातुमुचितः? सर्वथा नैवोचित इत्यर्थः।

तदीया विधातुः, उच्छृङ्खलता अनुचितकारिता। विधात्रालम्बना विधातृ-सम्बन्धिनी। कार्यकारणयोः अनुभावविभावयोः निन्दाप्रकाशोच्छृङ्खलतादर्शनयोः तुल्य-त्वात्, समानत्वात्, असूयामर्षयोस्तुल्यविभावानुभावकत्वादेककालोपस्थितावसूयामर्षौ। **शबलितैव** मिश्रितैव। **विविक्ततया** पृथक्तया। **नहीति**। अमर्षमिश्रितासूयो-दाहरणे प्रस्तुतपद्ये विधातुरपराधेन कवेरमर्षः। शुद्धासूयोदाहरणे "कुत्र शैवम" इत्यादि पद्ये रामस्यापराध एव नास्ति, येन वीराणाममर्षः स्यात्। वीरो हि रामो नैवापराधी, स स्वभावतो महोन्नतिप्रदकार्ये धनुर्भङ्गे प्रवृत्तो न तु मत्सरतया।

देव अपने धनुष को कँपाने लगे और मानवती जनों के मान झट से प्रस्थान करने लगे, तब उसी समय चन्द्रमा पर यह मेघ की घटा लाद देना क्या उचित हुआ?

यहाँ यद्यपि विधाता की उच्छृंखलता (मनमानी) के दर्शन में उत्पन्न 'अनुचित किया विधाता ने' इस निन्दा से अनुभावित कविगत विधाता-विषयक असूया अभिव्यक्त हो रही है—ऐसा कहा जा सकता है, तथापि उसी समय अभिव्यक्त अमर्ष (अपराध के कारण बिगड़ना या चुप होना) के साथ वह मिश्रित रूप से ही प्रकाशित हो रही है, पृथक् स्वतन्त्र रूप से नहीं। असूया एवं अमर्ष के विभाव और अनुभाव यहाँ समान (एक) ही हैं, इस कारण दोनों समानकाल में ही प्रतीत होते हैं। अतः यह उदाहरण अमर्षसंकीर्ण असूया का है।

पूर्वोदाहृत 'कुत्र शैवं' पद्य शुद्ध-असूया का उदाहरण है, क्योंकि जैसे 'तृष्णा-लोल' पद्य में विधाता का अपराध है, वैसे इस पद्य में भगवान् राम का अपराध नहीं है, जिससे कि विधाता के प्रति कवि के अमर्ष के समान वीरों को भी राम के प्रति अमर्ष हो। शिव के धनुष को तोड़ना अपराधवश नहीं, स्वभाववश ही राम के द्वारा हुआ, क्योंकि महान् उन्नतिदायक कार्य करना वीरों का स्वभाव ही है।

अत्राप्रस्तुत-चन्द्रवृत्तान्तेन प्रस्तुत-राजकुमारादिवृत्तान्तस्य ध्वननान्नास्त्यसूयाध्वनित्वमिति तु न वाच्यम्, एकध्वनेरन्यध्वनेरन्यन्तराविरोधित्वात् । अन्यथा महावाक्यध्वनेरवान्तरवाक्यध्वनिभिः, तेषां च पदध्वनिभिः सह सामानाधिकरण्यं कुत्रापि न स्यात् ।

वियोग-शोक-भय-जुगुप्सादीनामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मारः ।

व्याधित्वेनास्य कथनेऽपि विशेषाकारेण पुनः कथनं बीभत्स-भयानकयोरस्यैव व्याधेरङ्गत्वं नान्यस्येति स्फोरणाय । विप्रलम्भे तु व्याध्यन्तरस्यापि च ।

अत्रेति । "तृष्णालोलेति" पद्ये चन्द्रवृत्तान्तेन राजकुमारवृत्तान्तोऽपि ध्वन्यते । तत्समकालमेवासूयाध्वनिः स्वतन्त्रतयैव प्रतीयते । उभयध्वनेरेकत्र समावेशे न कश्चिद्विरोधः । महावाक्ये प्रबन्धरूपे अनेकध्वनीनां समावेशः । एकस्मिन् वाक्येऽनेकपदध्वनीनां प्रतीतिर्भवत्येव ।

अपस्मारभावं लक्षयति—**वियोगेति** । वियोगादीनामाधिक्याद् भूताद्यावेशाच्च समुत्पन्नश्चित्तविक्षेपरूपो व्याधिरेवापस्मारः । व्याधावस्मिन् ज्ञानहरण-कम्प-स्वेद-लाला-निपातादयो भवन्ति । ग्रहपदेनात्र पूतनादयो बालपिशाचा भूतादयो वा ग्राह्याः । विरहादयोऽत्र विभावाः । निपतनादयोऽनुभावाः ।

ननु व्याधिभावः पृथगुक्तस्तद्विशेषस्यापस्मारस्य तदन्तर्गतत्वेन पृथगुपादानं

यहाँ अप्रस्तुत चन्द्रवृत्तान्त के द्वारा प्रस्तुत (वर्णनीय) राजकुमार के वृत्तान्त के ध्वनित होने से अप्रस्तुतप्रशंसालंकारध्वनि ही है, न कि असूयाध्वनि, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि एक ध्वनि दूसरे ध्वनि का विरोधी नहीं है। तात्पर्य यह है कि एक ही जगह दो स्वतन्त्र प्रधान ध्वनियों का समावेश हो सकता है । अतः यहाँ दोनों ध्वनि हैं । यदि एकत्र एक ही ध्वनि रहे तो प्रबन्ध या प्रकरण रूप महावाक्यस्थित ध्वनि का उस प्रकरणस्थ लघुवाक्यस्थ ध्वनियों के साथ एवं एकत्रवाक्यस्थ ध्वनि का पदध्वनि के साथ सहावस्थिति (एक साथ रहना) कहीं भी न होती ।

वियोग, शोक, डर, घृणा आदि के अत्यधिक होने पर या भूत लगने से उत्पन्न चित्तविक्षेपरूप (जिसमें गिरना, कँपकँपी, मुँह से लार आना आदि हो जाते हैं) व्याधि-विशेष को अपस्मार (मृगी) कहते हैं ।

व्याधिसंज्ञक भाव पहले ही प्रदर्शित हो चुका है और यह अपस्मार भी तो व्याधि ही है । व्याधिरूप में इसका कथन सामान्यरूप से यद्यपि हो चुका है, तथापि विशेषरूप से इसका यहाँ पुनः कथन इसलिए हुआ है कि बीभत्स और भयानक रस में

उदाहरणम्—

हरिमागतमाकर्ण्य मथुरामन्तकान्तकम् ।
कम्पमानः श्वसन् कंसो निपपात महीतले ॥

अत्र भयं विभावः, कम्प-निःश्वास-पतनादयोऽनुभावाः ।

अमर्षादिजन्या वाक्पारुष्यादिकारणीभूता चित्तवृत्तिश्चपलता ॥

यदाहुः—

अमर्षप्रातिकूल्येर्ष्यारागद्वेषाश्च मत्सरः ।
इति यत्र विभावाः स्युरनुभावस्तु भर्त्सनम् ॥

व्यर्थमिति चेन्न; बीभत्स-भयानकरसयोरपस्माररूप एक एव व्याधिराधीयते नान्य इति सूचनाय विशेषसाधनत्वात् । विप्रलम्भशृङ्गारे अपस्मारेण सहैवान्यव्याधिरपि दृश्यते ।

हरिमिति । अन्तकस्य यमराजस्यापि अन्तकं विनाशकं हरिं श्रीकृष्णं मथुरां कंसस्य राजधानीम् आगतम् आकर्ण्य चारमुखात् श्रुत्वा कंसः भयात् कम्पमानः श्वसन् महीतले निपपात । अत्र हर्यागमनजन्यं भयं विभावः, कम्प-श्वास-निपतनानि चानुभावाः ।

चपलताख्यं भावं लक्षयति—**अमर्षेति** । असहिष्णुताद्वेषादिसमुत्पन्ना कठोर-वाक्प्रयोग-ताडनादिजनिका चित्तवृत्तिरेव चपलता । "अमर्षादिजन्य-वाक्पारुष्यादि"-पाठो भट्टमथुरानाथ-केदारनाथसम्मतोऽपि न समीचीनो "विशेषणद्वयस्य गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वाद्" इति मीमांसकसिद्धान्तेनान्वयासम्भवात् "समासस्य दुर्घट-तयोपेक्षित" इति कविशेखरचरणैरुक्तत्वाद्, असूयादिभावलक्षणे मूलकृता तथैवाचरणाच्च । चपलता हि अमर्षादिजन्या सती वाक्पारुष्यादि जनयति । नहि अमर्षजन्यं वाक्पारुष्यं, तत्कारणस्य चपलतारूपस्य विद्यमानत्वादिति ।

अमर्षप्रातिकूल्येति । यत्र चपलतायामिति । अमर्षः, प्रतिकूलता, ईर्ष्या, द्वेषः, मत्सरोऽन्यशुभद्वेषः इत्येते कारणत्वेन विभावाः । भर्त्सनं तर्जनं, वाक्पारुष्यं कठोर-

---

इसी व्याधि का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं । जब कि विप्रलम्भ शृंगार में अपस्मार ही नहीं, अन्य किसी भी व्याधि का ग्रहण होता है ।

यमराज के भी अन्तकारक (सर्वशक्तिमान्) श्रीकृष्ण को मथुरा में आया हुआ सुनकर काँपता एवं तेज साँस लेता हुआ कंस पृथ्वी पर गिर गया ।

यहाँ भय विभाव एवं कम्प, निःश्वास, गिरना आदि अनुभाव हैं ।

अमर्ष (अपराधी के प्रति असहिष्णुता), ईर्ष्या, द्वेष आदि से उत्पन्न एवं कठोरवचन, मारना, पीटना, कोसना आदि का कारण जो चित्तवृत्ति है उसे चपलता (चञ्चलता) कहते हैं । अमर्ष से चपलता एवं उससे वाक्पारुष्यादि यही क्रम है ।

जैसा कि कहा है—अमर्ष (असहिष्णुता), प्रतिकूलता, ईर्ष्या, राग, द्वेष और मत्सर (अन्य की उन्नति से जलन)—ये जहाँ विभाव हों और डाँटना, कठोर वचन

वाक्पारुष्यं प्रहारश्च ताडनं वधबन्धने।
तच्चापलमनालोच्य कार्यकारित्वमिष्यते ॥ इति।

उदाहरणम्—

अहितव्रत ! पापात्मन् ! मैवं मे दर्शयाननम्।
आत्मानं हन्तुमिच्छामि, येन त्वमसि भावितः ॥

एषा भगवदनुरक्तिविघटनोपायमपश्यतः, प्रह्लादं प्रति हिरण्यकशिपोरुक्तिः। भगवद्द्वेषोत्थापितः पुत्रद्वेषोऽत्र विभावः, आत्मवधेच्छा परुषवचनं चानुभावः।

वाक्प्रयोगः, प्रहारः, ताडनं, वधः, बन्धनमित्यादयोऽनुभावाः कार्यरूपाः। अनालोच्य अविचार्यैव कार्यकरणं चापलं चपलताख्यो भावः। उदाहरति—**अहितेति**। 'अस्य विष्णोर्हितमहितं मदपकारं वा व्रतमङ्गीकृतं यस्य स तत्सम्बुद्धौ। पितुरादेशावहेलनात् पापस्वरूप प्रह्लाद ! त्वं मे मह्यम् आननं स्वमुखम् एवं = धृष्टवन्मा दर्शय। त्वदाचरण-परिवर्त्तनाय वधाय वा अप्रतीकारः सन्नहं स्वात्मानमेव हन्तुमिच्छामि, येन मया त्वं भावित उत्पादितोऽसि। त्वदुत्पादनेन त्वत्कृतानिष्टाचरणस्य पापो ममैवेति भावः।

चिरकालेति। चिरकालाद् विद्यमानत्वेनेत्यर्थः। सदैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे सदैव हिरण्यकशिपोरमर्षः, किन्तु न सदैव न वा प्रारम्भकाले आत्मवधेच्छा, अपि तु चिरवर्षादनन्तरमेव। अत आत्मवधेच्छा नामर्षमात्रजन्या। इयम् आत्मवधेच्छा एव प्रथमा इति इदम्प्रथमा तस्या भाव इदम्प्रथमता प्रथमोत्पत्तिः। इदम्प्रथमकार्यम् आत्मवधेच्छा। इदम्प्रथमकारणं चपलता। प्राचीनचित्तवृत्तिः चिरकालात् स्थितोऽमर्षः। सद्यः प्राथम्येनोत्पन्नाया आत्मवधेच्छायाः कारणं सद्यः तत्पूर्वक्षणे समुत्पन्ना चपलतैव, न तु चिरकालात् स्थितोऽमर्ष इत्यत्र चपलताध्वनिरेव।

बोलना, प्रहार करना, पीटना, वध करना और बाँधना—ये जहाँ अनुभाव हों, वह बिना सोचे-विचारे कार्य करना चपलता है।

उदाहरण—हे अनिष्ट कार्य करने की प्रतिज्ञा वाला ! पिता की आज्ञा को उपेक्षित करने के कारण पापस्वरूप ! प्रह्लाद ! तू इस तरह निर्लज्ज होकर अपना मुँह मत दिखा। अब मैं आत्महत्या ही कर लेता हूँ (क्योंकि बहुत प्रयास से भी न तो तुझे सुधार सका और न ही मार सका), क्योंकि तुझे पैदा करने के कारणस्वरूप तेरा दुराचार मेरा ही अपराध है।

यह भगवान् में (प्रह्लाद के) अनुराग को हटाने के उपाय को न देखने पर हिरण्यकशिपु की प्रह्लाद के प्रति उक्ति है। भगवान् के प्रति विद्यमान द्वेष के कारण समापतित भगवद्भक्त पुत्र के प्रति द्वेष यहाँ विभाव है और आत्महत्या की इच्छा तथा कठोर वचन अनुभाव है।

न चामर्ष एवात्र व्यज्यत इति वाच्यम्, सदैव भगवदनुरागिणि प्रह्लादे हिरण्यकशिपोरमर्षस्य चिरकालसम्भृतत्वेनात्मवधेच्छाया इदम्प्रथमतानुपपत्तेः, इदम्प्रथमकार्यस्य चेदम्प्रथमकारणप्रयोज्यतया प्राचीनचित्तवृत्तिविलक्षणाया एव चपलताख्यचित्तवृत्तेः सिद्धेः। न चामर्षप्रकर्ष एवात्मवधेच्छादिकारणमभिव्यज्यतामिति वाच्यम्, प्रकर्षस्यापि स्वाभाविक-विलक्षणलक्षणताया आवश्यकतया तस्यैव चपलतापदार्थत्वात्।

नीचपुरुषेष्वाक्रोशनाऽधिक्षेप-व्याधि-ताडन-दारिद्र्येष्टविरह-परसम्पद्दर्शनादिभिः, उत्तमेषु त्ववज्ञादिभिर्जनिता विषयविद्वेषाख्या रोदन-दीर्घश्वास-दीनमुखतादिकारिणी चित्तवृत्तिर्निर्वेदः।

स्वाभाविकेति। स्वाभाविकाद् विलक्षणं लक्षणं यस्याः सा, तस्याः भावः। अमर्षस्य स्वभावः चिरकालिकः, स तु नात्मवधेच्छाजनकः, ततो विलक्षणमेवोत्कटामर्षस्तज्जनकः। उत्कटावस्था हि स्वाभाविकावस्थाविलक्षणा भवत्येव। उत्कटामर्ष एव चपलता वैलक्षण्यातिशयाद् भावान्तरमिति।

निर्वेदाख्यं भावं लक्षयति—**नीचेति**। आलम्बनभेदेन निर्वेदस्य द्वौ भेदौ—नीचपुरुषगत उत्तमपुरुषगतश्च। तत्र नीचेषु भर्त्सन-गालिप्रदान-रोगादिभिः, उत्तमपुरुषेषु अपमानादिभिः सांसारिकविषयाद् विरागरूपा चित्तवृत्तिर्निर्वेदो जायते। वस्तुतस्तु अवज्ञया उत्तमेष्वेव न नीचेषु, आक्रोश-ताडन-परसम्पद्दर्शनैर्नीचेष्वेव नोत्तमेषु

अमर्ष भाव ही यहाँ अभिव्यक्त हो रहा है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सतत भगवान् में अनुरागवाले प्रह्लाद मे हिरण्यकशिपु का अमर्ष चिरकाल से विद्यमान रहने के कारण आत्मवधेच्छा का अभी-अभी प्राथमिकरूप से होना संगत नहीं होता है (यदि आत्मवधेच्छा अमर्ष से ही होती तो इससे पहले भी विद्यमान अमर्ष के द्वारा होती रहती, अभी ही क्यों हुई और इससे पहले क्यों नहीं हुई ?)। पहले-पहल उत्पन्न कार्य का पहले-पहल समागत कारण से ही उत्पत्ति युक्त है, अतः चिरकाल से विद्यमान चित्तवृत्ति से विलक्षण ही एक चित्तवृत्ति, जो अभी-अभी हुई है, इसका कारण है और वही तो चपलता है।

यदि यह कहे कि उत्कट-अमर्ष ही आत्मवधेच्छा के कारण के रूप में ध्वनि बन रहा है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रकर्ष (उत्कृष्ट, अतिशय) अमर्ष भी स्वाभाविक (सामान्य) से विलक्षण है, ऐसा मानना तो आवश्यक ही है और वही अमर्ष-प्रकर्ष तो चपलता कहलाता है।

निर्वेद भाव दो प्रकार का है—नीचपुरुषगत एवं उत्तमपुरुषगत। नीच पुरुष में गाली-गलौज, तर्जन, रोग, मारपीट, दरिद्रता, विरह, दूसरों की उन्नति देखना आदि के कारण एवं उत्तम पुरुष में अपमान आदि के कारण से सांसारिक विषयों से

उदाहरणम्—

यदि लक्ष्मण ! सा मृगेक्षणा, न मदीक्षासरणिं समेष्यति ।
अमुना जडजीवितेन मे, जगता वा विफलेन किं फलम् ॥

नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावान्नासौ रसपदव्यपदेशहेतुः ।

देवादिविषया रतिर्यथा—

निर्वेदो जायते, अधिक्षेप-व्याधि-दारिद्रयेष्टविरहादिभिस्तु उभयेषु उत्तमे रामचन्द्रे विरहेणैव निर्वेदस्यानुपदमेवोदाहृतत्वादिति । अनुभावास्तु उभयेषु रोदनादयः ।

उदाहरति—**यदीति** । सीताहरणापमानेन विरहेण वा रामस्येयमुक्तिः । हे लक्ष्मण ! सा मृगनयना सीता यदि मदीक्षासरणिं मन्नेत्रपथं न समेष्यति, (तदा) मे मम अमुना दुरवस्थापन्नेन जडवज्जीवनेन, विफलेन निरर्थकेन, जगता संसारेण वा किं फलम् ? न किमपीत्यर्थः । अत्र फलशब्दस्य द्विरुपादानरूपस्य कथितपदत्वदोषस्य परिहाराय 'फलम्' इत्यस्य स्थाने 'भवेत्' इति पाठ्यम् । उत्तरवाक्ये 'तदा' इति आक्षेपलभ्यम् ।

ननु निर्वेदस्य स्थायिभावत्वादत्र शान्तरसध्वनिरेव कथं न प्रतीयत इति चेत् समाधत्ते—नित्यानित्येति । योऽसौ स्थायीभावो निर्वेदः स हि नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यः । भावरूपस्यास्य निर्वेदस्य तु आक्रोशादिजन्यत्वादुभयोर्वैषम्यम् ।

चतुस्त्रिंशं भावं रतिमुदाहरति—**यथेति** । रतिर्हि द्विविधा—स्त्रीपुरुषयोः परस्परानुरागात्मिका स्थायीभावस्वरूपा शृङ्गाररसाधारभूता प्रथमा, देवता-गुरु-मित्र-पुत्रादि-विषयक-प्रेमाख्यचित्तवृत्तिस्वरूपा व्यभिचारिभावात्मिका द्वितीया । पूर्वनिरूपि-

विरक्तिस्वरूप निर्वेद उत्पन्न होता है, जो रोना, लम्बी साँस, दीन मुँह होना आदि का कारण है । वस्तुतः गाली, मारपीट और परसम्पत्तिदर्शन से नीचों में ही और अवज्ञा से उत्तमों में ही तथा विरहादि से दोनों में निर्वेद देखा जाता है । अतएव उत्तम श्रीराम में विरह से निर्वेद का उदाहरण प्रस्तुत हो रहा है ।

हे लक्ष्मण ! यदि वह प्राणप्रिया मृगनयनी सीता मेरी आँखों के सामने नहीं आयेगी तो मेरे इस जड़ (चैतन्यहीन) जीवन से तथा निरर्थक इस संसार से ही क्या फल होगा ? कुछ नहीं । यहाँ प्रिया का विरह विभाव एवं जीवन-जगत् का निष्फल बताना अनुभाव है ।

निर्वेद दो प्रकार का है—एक शान्तरस का स्थायीभाव, जो नित्यानित्यवस्तु-विवेक से उत्पन्न होता है और दूसरा प्रस्तुत भावरूप, जो विरहादि से उत्पन्न होता है । यहाँ नित्यानित्यवस्तुविवेक के न रहने से रसध्वनि नहीं हो सकता है ।

देवता-गुरु-पुत्र इत्यादि विषयक रतिभाव का उदाहरण देते हैं—

भवद्द्वारि क्रुध्यज्जय-विजय-दण्डाहतिदलत्-
किरीटास्ते कीटा इव विधिमहेन्द्रप्रभृतयः।
वितिष्ठन्ते युष्मन्नयनपरिपातोत्कलिकया
वराकाः के तत्र क्षपितमुर! नाकाधिपतयः॥

अत्रापमानसहन-भगवद्द्वारनिषेवण - भगवत्कटाक्षपाताभिलाषादिभिर्ब्रह्मादिगता भगवदालम्बना रतिर्नाभिव्यज्यते, अपि तु भगवदैश्वर्यमवाङ्मनसगोचर इति चेत्, तथापि तादृशभगवदैश्वर्यवर्णनानुभावितया कविगत-भगवदालम्बनरत्या ध्वनित्वमक्षतमेव।

तत्वादिह लक्षणं नोक्तम्। **भवद्द्वारीति।** हे क्षपितमुर! मुरनामकासुर-नाशक मुरारे! भवतो द्वारदेशे विधिमहेन्द्रप्रभृतयो ब्रह्मेन्द्रादयः, क्रुध्यतोर्जय-विजयाख्ययोर्द्वारपालयोर्दण्डाभ्यामननुमतिप्रवेशनिवारकाभ्यां वेत्रदण्डाभ्यां या आहतिराघातः तेन दलन्तः स्फुटन्तः किरीटा येषां ते कीटा इव स्वोपरि भवन्नयनपरिपातोत्कण्ठया विशेषेण यत्र तिष्ठन्ति, तत्र वराका दीनाः (महेन्द्राद्यपेक्षयाल्पप्रभावाः) नाकाधिपतयः स्वर्गराजाः यम-कुबेरादयः के भवन्ति? तेषां कुत्र गणना? कुबेरादयो हि स्वर्गे राजानः, इन्द्रस्तु महाराजोऽत एव महेन्द्रः।

अत्रेति। ननु रतिभावोदाहरणमिदं न सम्भवति, द्वारनिषेवणादि तु लोभादिनापि भवितुमर्हति, सर्वप्रभूणां ब्रह्मादीनां तथाचरणेन भगवदैश्वर्यं दुरधिगममिति वस्तु-

---

भवद्द्वारि इत्यादि। प्रेम नामक चित्तवृत्ति ही रति है। वह दो प्रकार की है—(१) स्त्री-पुरुष के परस्पर अनुरागस्वरूप स्थायीभाव, जो शृंगार रस का आधार है और (२) देवगुरु-मित्र-पुत्रादिविषयक अनुरागस्वरूप व्यभिचारीभाव। स्थायीभाव-निरूपण के अवसर पर लक्षण निरूपित हो जाने के कारण रति का लक्षण यहाँ नहीं दिया गया है।

हे मुरारे! आपके द्वार पर जहाँ जल्दबाजी से प्रवेश करने वालों पर बिगड़ते हुए जय-विजय नामक द्वारपालों के द्वारा दण्ड-प्रहार से भग्नमुकुट वाले ब्रह्मा, महेन्द्र आदि स्वयंप्रभु भी कीड़ों के समान अपने पर आपकी दृष्टि पड़ने की उत्कण्ठा से खड़े रहते हैं, वहाँ ये स्वर्ग के दीन राजा लोग (यम, कुबेर आदि) कौन होते हैं? (महेन्द्र के उल्लेख रहने के कारण 'स्वर्ग के राजा' कहने से कुबेर आदि धन, प्रशासन, जल, शिक्षा आदि विभागीय स्वर्गराजों का ग्रहण ही उचित है।)

यहाँ ब्रह्मा आदि के द्वारा अपमान सहना, भगवान् के द्वार पर खड़ा रहना, भगवान् के कटाक्ष पड़ने की अभिलाषा आदि के द्वारा ब्रह्मा आदि महान् देवों में स्थित भगवद्विषयक रति अभिव्यक्त नहीं हो रही है, अपितु 'भगवान् का ऐश्वर्य वाणी और मन से परे है' यह वस्तु ही ध्वनित हो रही है—यद्यपि ऐसा कहा जा सकता है,

इदं वोदाहरणम्—

न धनं, न च राज्यसम्पदं, नहि विद्यामिदमेकमर्थये ।
मयि धेहि मनागपि प्रभो ! करुणाभङ्गितरङ्गितां दृशम् ॥

अत्र धनाद्यपेक्षाशून्यस्य भगवद्दयादृगन्तपाताभिलाषो हि भगवत्यत्यन्तानुरक्तिं व्यनक्ति ।

एवं संक्षेपेण निरूपिता भावाः ॥

'अथ कथमस्य संख्यानियमः, मात्सर्योद्वेग-दम्भेर्ष्याविवेक-निर्णय-क्लैव्य-क्षमा-कुतुकोत्कण्ठा-विनय-संशय-धार्ष्ट्यादीनामपि तत्र तत्र लक्ष्ये दर्शनादिति

ध्वनिरेवात्रेति चेन्न, तादृशेन वस्तुना चरमप्रतीतिकाले कविगताया रतेरेव स्फुटतया प्रतीतेरत्र भावध्वनित्वमेव ।

यदि वस्तुध्वनिरेवात्र प्रधानं न भावध्वनिरित्येवाग्रहस्तर्हि वस्तुध्वन्यसम्पृक्तमुदाहरणान्तरं प्रस्तौति—**न धनमिति** । हे प्रभो भगवन् ! अहं त्वत्तो न तु धनं, न वा राज्यं, न वा विद्यामेव, अपि तु एकमेव वस्तु अर्थये याचे यत् त्वं मनागपि ईषदपि मयि भक्ते दयासङ्केतोच्छलितां दृष्टिं धेहि ।

संक्षेपेणेति । भेदादि-विस्तारं विनैव । त्रयस्त्रिंशत्संख्यकाः व्यभिचारिभावा निरूपिताः ।

अस्य = भावस्य । **संख्यानियम इति** । त्रयस्त्रिंशदेव व्यभिचारिभावा, न ततोऽधिका इति नियमः कथमिति प्रश्नः । उद्वेगस्यावेगपर्यायत्वेन मूलकृतैवोक्तत्वान्नात्र

तथापि उस प्रकार के भगवान् के ऐश्वर्य से प्रकाशित कविगत भगवद्विषयक रति का ध्वनित होना स्थिर ही है । वस्तु के द्वारा अन्ततः रतिभाव का ही प्रकाशन होना है ।

अथवा रतिभाव का स्वतन्त्र (वस्तु से अमिश्रित) उदाहरण—

हे प्रभो ! मैं आप से न धन, न राज्यसम्पत्ति और न विद्या ही माँगता हूँ, अपि तु यह एक मात्र मेरी याचना है कि आप मुझ पर थोड़ी भी दयाभरी चेष्टा से उछलती हुई दृष्टि डाल दें ।

यहाँ धन आदि की अपेक्षा से शून्य किसी भक्त की 'भगवान् के द्वारा दया-दृष्टिपात की अभिलाषा' भगवान् में अत्यन्त अनुराग को व्यक्त कर रही है ।

इस प्रकार संक्षेप में (भेद-निरूपण को छोड़कर) चौंतीस व्यभिचारिभावों (भावध्वनियों) का निरूपण सम्पन्न हुआ ।

अब प्रश्न उठता है कि इन भावों की संख्या ३३ ही है, ऐसा नियम कैसे करते हैं ? क्योंकि इनसे अतिरिक्त मात्सर्य (दूसरे की उन्नति से जलन), उद्वेग (उत्तेजना), दम्भ (घमंड), ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य (पौरुषहीनता), क्षमा, कुतुक (उत्सुकता), उत्कण्ठा (आकांक्षा या लालसा), विनय, संशय, धृष्टता आदि भी

चेद्, न; उक्तेष्वेवैषामन्तर्भावेण संख्यान्तरानुपपत्तेः, असूयातो मात्सर्यस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्थाख्याद् भावाद् दम्भस्य, अमर्षादीर्ष्यायाः, मतेर्विवेक-निर्णययोः, दैन्यात् क्लैब्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्यात् कुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जाया विनयस्य, तर्कात् संशयस्य, चापलाद् धाष्ट्र्यस्य च वस्तुतः सूक्ष्मे भेदेऽपि नान्तरीयकतया तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवसायात्, मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव उच्छृङ्खलताया अनौचित्याच्च ।

कथनौचित्यम् । उक्तेष्वेव = त्रयस्त्रिंशद्भावेषु गतार्थत्वादेषां पृथग् नोल्लेख इति संख्या-नियमः समुचित एव इत्युत्तरम् ।

नान्तरीयकेति । असूया-मात्सर्ययोः, त्रासोद्वेगयोरित्यादिषु यद्यपि सूक्ष्मतया भेदोऽस्ति, तथापि तत्तदुदाहरणे उभयोरविनाभावो दृश्यते । यत्र मात्सर्यं तत्र अनिवार्य-तोऽसूया भवत्येव, एवमेव त्रासादिस्थले उद्वेगादयः । अत एव मात्सर्यादीनां पृथग्लक्षणम-कृत्वैव असूयादिलक्षणमेव तथा कृतं येन तत्र तदनतिरिक्तानां = मात्सर्यादिसहितानामेव असूयादित्वेन अध्यवसायो बोधो भवति । **मुनिवचनेति** । भरतेन 'एकोनपञ्चाशद्भावाः' इति नाट्यशास्त्रे सप्तमाध्याये निरूपितम्—अष्ट स्थायिभावाः, अष्ट सात्त्विकभावाः, त्रयस्त्रिंशच्च व्यभिचारिभावाः । शमसहिताः पञ्चाशद्, देवादिविषयक-रतिसहिताश्च एकपञ्चाशद् भावा इति । मूलतः स्थायिसात्त्विक-व्यभिचारिणां सङ्कलनेन ४९ एकोन-पञ्चाशद्भावा मुनिसम्मताः । तेषां स्वीकरणसम्भवे उच्छृङ्खलतायाः तदुल्लङ्घनरूप स्वातन्त्र्यस्य अनौचित्यादव्यवस्थापत्तेश्च संख्यानियमस्वीकरणमावश्यकमेव ।

भावरूप में ही उन-उन प्रयोगों में देखे जाते हैं। तो इनके रहने पर भावों की संख्या बढ़ जानी चाहिए, ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त ३३ भावों में ही इनके अन्तर्भाव हो जाने से उक्त संख्या से अधिक संख्या उपपन्न नहीं होती। यद्यपि जिन-जिन भावों में इन मात्सर्य आदि को गतार्थ करते हैं उन-उन से इनका सूक्ष्म भेद है ही; यथा—असूया से मात्सर्य का, त्रास से उद्वेग का, अवहित्थ से दम्भ का, अमर्ष से ईर्ष्या का, मति से विवेक और निर्णय का, दैन्य से क्लैब्य का, धृति से क्षमा का, औत्सुक्य से कुतुक और उत्कण्ठा का, लज्जा से विनय का, तर्क से संशय का तथा चापल से धाष्ट्र्य का सूक्ष्मतः भेद रहने पर भी इनके अविनाभाव (अनिवार्यरूप से परस्पर जुड़े रहने) के कारण असूयादि का लक्षण ही ऐसा करेंगे कि उसके अन्तर्गत मात्सर्यादि भी आ जायँ, इससे भावों की संख्या वही रह जाती है। तात्पर्य यह है कि असूयादि स्थल में मात्सर्यादि रहता ही है, उसे असूयादि के लक्षण से ही गतार्थ कर लेते हैं। भरतमुनि के वचन का पालन न करने पर मनमानी स्वतन्त्रता अनुचित होगी और अव्यवस्था फैल जायगी। उन्होंने भावों की संख्या ४९ बतलायी है—स्थायी—८, सात्त्विकभाव—८ और "व्यभिचारीभाव-३३ = ४९। शान्तरस के स्थायीभाव शम को लेकर भाव पचास हो जाते हैं, जब कि देवादिविषयक रति को लेकर इक्यावन।

एषु च सञ्चारिभावेषु मध्ये केचन केषाञ्चन विभावा अनुभावाश्च भवन्ति । तथा हि—ईर्ष्याया निर्वेदं प्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम् । चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, औत्सुक्यं प्रति चानुभावत्वमित्यादि स्वयमूह्यम् ॥

अथ रसाभासः । तत्र—

अनुचित-विभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम् ।

विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयं, यत्र तेषाम्

एष्विति । हर्षादयो ये सञ्चारिभावा निरूपितास्ते कदापि कदाचिद् विभावा अनुभावाश्चापि जायन्ते । निर्वेदभावस्थले तज्जनकत्वेन ईर्ष्या विभावो भवति । असूयास्थले तज्जन्यत्वात् साऽनुभावतां याति । यद्यपि चिन्ता निद्राया बाधिकारूपेण प्रसिद्धा तथापि चिरकालस्थितया चिन्तया कदा निद्रा समागतेति न ज्ञायत इत्यपि प्रसिद्धमेवेति चिन्ता निद्रोत्पादिकारूपेण निद्राया विभाव इत्याद्यवसरप्रसङ्गादि दृष्ट्वा स्वयमेवास्वादकैरूहनीयम् ।

रसाभासत्वमिति । रसस्य आभासः प्रकाश आकृतिर्वा यस्मिन् असौ रसाभासः । अनुचितो विभाव आलम्बनं यस्य स अनुचितविभावालम्बन एव रसाभासः । **लोकानामिति** । वस्तुतः सहृदयानामित्येव वक्तव्यम् ! लोके हि स्वीयातिरिक्तानां नायिकानामनुचितत्वेऽपि साहित्ये तासां बहुत्र समुचितत्वप्रतिपादनात् परस्त्रीति वक्तव्ये मुनिपत्न्यादीत्यनुपदमेवोक्तत्वात् । शृङ्गारेऽनुचितविभावत्वं हि परस्परानुरक्तयोः स्त्रीपुंसयोरन्यतरस्य पूज्यत्वं, बहुनायकानुरक्तात्वं तयोरेकतरस्याननुरक्तत्वञ्चेति कविसमयप्रसिद्धम् । वस्तुतो नायकस्य स्वपरिणीता, स्वपरिणययोग्या कुमारी, वश्या चेति त्रिविधैव नायिकात्रोचिता, तद्भिन्ना सर्वा अपि अनुचिता एव ।

अतः भावों की संख्या पूर्वोक्त से अधिक नहीं मानी जा सकती है ।

इन हर्षादि ३३ संचारिभावों में कितने ही किन्हीं के विभाव एवं अनुभाव भी हो जाते हैं । जैसा कि—ईर्ष्या निर्वेद का विभाव एवं असूया के प्रति अनुभाव है । चिन्ता निद्रा के प्रति विभाव और औत्सुक्य के प्रति अनुभाव बन जाती है । इस प्रकार अन्य भावों के विषय में भी स्वयं ऊह करना चाहिए ।

अब रसाभास का निरूपण करते हैं । उसमें पहले इसका लक्षण दिया जा रहा है । जिसका आलम्बन विभाव अनुचित हो वह रसाभास (रस का प्रकाश या आकृति वाला) है ।

विभाव एवं रति के अनौचित्य का ज्ञान लोकव्यवहार से जानना चाहिए । जिस

'अनुचितमिति' धीरिति केचित्। तदपरे न क्षमन्ते, मुनिपत्न्यादिविषयक-रत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायक-विषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात्, तत्र विभावगतानौचित्यस्याभावात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः। इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रह इति। अनौचित्यं च प्राग्वदेव।

केचिदिति। प्राचीनाचार्याः पण्डितराजश्चेति। सूत्रे आलम्बनविभाव एव, अनौचित्यस्य विशेषितत्वात्। बहुनायकविषया रतिर्हि नायकगतबहुत्वानौचित्यादेवानुचिता, अनुभयनिष्ठा रतिरपि रत्यभावविशिष्टालम्बनानौचित्यादेवानुचितेति प्राचीन-मतेऽनुपदमेवाक्षिप्तदोषस्योद्धाराच्च।

अपर इति। नवीना इत्यर्थः। बहुनायक—रतिस्थले एकतरनिष्ठरतिस्थले च

विभाव में सामाजिकों को ''अनुचित है'' इस प्रकार का बोध हो, उससे उत्पन्न भाव रस न होकर रसाभास कहलाता है—ऐसा किन्हीं (प्राचीनों) का मत है। (पण्डितराज का भी यही मत है, क्योंकि सूत्र में भी यही है। यहाँ 'लोकानां' के स्थान में 'सहृद-यानां' कहना ही उचित है। लोक में तो विवाहिता से अतिरिक्त सभी को रति के अनुचित माने जाने पर भी सहृदयजन बहुधा परकीया का वर्णन कर देते हैं। उनके लिए श्रृंगार रस का अनुचित विभाव के रूप में यह कहा जा सकता है कि परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष में कोई एक-दूसरे का पूज्य, बहुत पुरुषों में अनुरक्त स्त्री और दोनों में एक अनुरागहीन। ऐसा इसलिए कहा गया कि आगे मूल में ही 'परस्त्री' कहने के स्थान में मुनिपत्न्यादि का उल्लेख किया है। वस्तुतः तीन प्रकार की ही नायिका उचित हैं, शेष अनुचित ही हैं—(१) स्वीया, स्वपरिणययोग्य कुमारी एवं वेश्या)।

पूर्वोक्त मत कि अनुचित विशेषण विभाव का है, इसको अन्य (नवीन) आचार्य नहीं मानते हैं, क्योंकि पूर्वमत में मुनिपत्नी आदि विषयक रति के संग्रह (अनुचित रूप में) होने पर भी अनेक नायक-विषयक एवं दोनों (स्त्री-पुरुषों) में न रहकर एक में ही रहने वाली रति का अनुचित रूप में संग्रह नहीं हो पाता है, क्योंकि वहाँ (बहु-नायकस्थल एवं एकपक्षीय प्रेमस्थल में) विभावगत अनौचित्य नहीं है। अतः रसाभास के लक्षण में अनौचित्य से रति, हास, शोक आदि स्थायीभावों को विशेषित करना चाहिए। अर्थात् अनुचित स्थायीभाव के रहने पर वहाँ रसाभास होता है। इस तरह अनुचित आलम्बन विभाव वाली, बहुत नायक में एक नायिका का अनु-राग वाली एवं एकपक्षीय इन तीनों रतियों का संग्रह हो जाता है। इस द्वितीय मत में भी अनौचित्य का विवरण पूर्वप्रतिपादित के समान ही होगा।

(यहाँ पूर्वमत में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि आलम्बनगत दोष से ही रति

तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणं, निर्मलस्यैव रसादित्वात्, 'हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेन' इत्येके। नह्यनुचितत्वेनात्महानिः, अपि तु सदोषत्वादाभासव्यवहारः, अश्वाभासादिव्यवहारवद् इत्यपरे।

विभावः समुचित एव, किन्तु तत्र रतिरेवानुचितेत्याशयः। **रत्यादिरिति**। नवीनमतेऽनुचितस्थायिभावत्वं रसाभासत्वमित्येव लक्षणम्। आदिपदेन हासशोकादीनां ग्रहणात्। **प्राग्वदिति**। लोकव्यवहारत इति भावः।

तत्रेति। रसाभासे। रसस्य भावस्य वा आभासत्वं प्रतिकूलनिरूपेण ज्ञानं रसत्वेन न व्यवहार्यम्। निर्मलस्य दोषरहितस्य। यथा—कार्यासाधकत्वेऽपि हेतुरिवाभासमानो हेत्वाभासोऽसद्धेतुर्न हेतुत्वेन कार्यसाधकरूपेण व्यवहृतो भवति, यथा वा साहित्ये विरोधाभासो न विरोधस्तथैव रसाभासो न रसः, किन्तु भिन्न एव रसवदाभासते—इत्येकेषामाचार्याणां मतम्।

अपरमतानुसारेण रसाभासोऽपि रस एवेत्युभयोः सामानाधिकरण्यमेव। रसाभासस्य अनौचित्यमेव बीजम्, तत्तु दोषरूपमेव। अनुचितत्वेन दोषसद्भावेन नैव स्वरूपहानिः कीटविद्धरत्नादिवत्। आभासव्यवहारस्तु दोषयुक्तत्वादेव रसस्य आभासो दोषो रसाभास इति। दुष्टोऽश्वोऽश्वाभासो, दुष्टो मनुष्यो मनुष्याभासो यथैव तथैव दुष्टो रसो रसाभासः। दुष्टत्वञ्चात्रानौचित्यरत्यादिमत्त्वम्। रसलक्षणेऽनुचितस्थायिभावनिवारकस्यानुक्तत्वेन रसाभासेऽपि रसव्यवहारे न कापि बाधा। हेतुरपि दुष्टत्वे विद्यमानोऽपि त्याज्यतयैव ज्ञायते नाभावतया। तस्माद् हेत्वाभासत्वेन दृष्टान्तोऽपि समानाधिकरणे बाधक इति।

में भी अनुचितत्व आता है। बहुनायकविषयक रति में नायकगत बहुत्व ही दोष है और एकपक्षीय रति में रत्यभावविशिष्टत्व ही अनुचितत्व है, जो आलम्बन में ही है।)

रसाभास को रस मानें या न मानें—इस विषय में दो मत दिखाते हैं। रस और भाव के आभास का रस के साथ समानाधिकरण नहीं है—दोनों एक स्थल में नहीं रह सकते, क्योंकि निर्मल (निर्दोष) को ही रस कह सकते हैं और जैसे हेत्वाभास (दुष्ट हेतु) का हेतुरूप में ग्रहण नहीं होता है (और साहित्य में विरोधाभास का विरोध के द्वारा ग्रहण नहीं होता) वैसे ही रसाभास का रस के रूप में ग्रहण उचित नहीं है—यह कुछ विद्वानों का मत है।

किसी के अनुचित रहने पर स्वरूप की हानि नहीं होती, दोषयुक्त रहने के कारण ही इसे आभास कहा गया है, जैसे दुष्ट (बुरी चाल वाले) घोड़े को अश्वाभास कहते हैं, वैसे ही अनुचित विभाव वाले रस को ही रसाभास कहते हैं—ऐसा अन्य आचार्य का मत है।

उदाहरणम्—

शतेनोपायानां कथमपि गतः सौधशिखरं
सुधाफेनस्वच्छे रहसि शयितां पुष्पशयने।
विबोध्य क्षामाङ्गीं चकितनयनां स्मेरवदनां
सनिश्श्वासं श्लिष्यत्यहह !! सुकृती राजरमणीम् ॥

अत्रालम्बनम् अनुचितप्रणया राजरमणी। रहोरजन्यादि उद्दीपनम्। साहसेन राजान्तःपुरे गमनं, प्राणेषूपेक्षा, निश्श्वासाश्लेषादयश्चानुभावाः। शङ्कादयश्च सञ्चारिणः। निषिद्धालम्बनकत्वाच्चास्या रतेराभासत्वं रसस्य।

शतेनेति। प्रच्छन्नकामुकस्य राजरमणीरमणवृत्तवर्णनमिदम्। कश्चित् सुकृती पुण्यवान् कामुक उपायानां परमोच्चप्रासादारोहणानुकूलव्यापाराणां शतेन कथमपि क्लेशेन सौधशिखरं राजप्रासादस्योच्चतमप्रकोष्ठं गतः प्राप्तः, तत्र सुधाफेनवन्निर्मलेऽतिधवले पुष्पशय्यायां रहसि एकान्ते शयितां सुप्तां क्षामाङ्गीं विरहातिशयात् कृशाङ्गीं राजरमणीं विबोध्य जागरयित्वा, तां चकितनयनां दुष्करतदागमनविस्मितनमनां स्मितमुखीम् अहह ! निःश्वासेन सहितं यथा स्यात्तथा श्लिष्यत्यालिङ्गति।

अनुचितेति। अनुचितः साधारणपरपुरुषाश्रितः प्रणयो यस्याः। रहो-रजन्यादि एकान्त-रात्रिप्रभृति। निषिद्धं सहृदयैरनुचितत्वेन ज्ञातमालम्बनं प्रच्छन्नकामुकसहिता राजरमणी, तदाश्रितमिदमुदाहरणं रसाभासस्य प्रथमभेदस्यैव।

रतिविषयक रसाभास तीन प्रकार का है—(१) साधारणजन का मुनिपत्नी, राजपत्नी आदि विषयक, (२) बहुनायकाश्रित-नायिकाविषयक और अनुभयनिष्ठ (एकपक्षीय)। क्रमशः तीनों का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

सैकड़ों उपायों के द्वारा किसी-किसी तरह (कड़े पहरे के बावजूद बड़ी कठिनाई से) राजमहल के ऊपरी प्रकोष्ठ में पहुँच कर पुण्यवान् कोई युवक एकान्त में अमृतफेन-तुल्य स्वच्छ फूल की शय्या पर सोई हुई कृशाङ्गी (विरह के कारण दुबली) राजपत्नी को जगाकर उस चकित आँखों वाली मुस्कानभरी रमणी को दीर्घ निःश्वास लेता हुआ आलिङ्गित कर लेता है, यह आश्चर्य है।

यहाँ आलम्बन विभाव अनुचित (परपुरुष में) प्रेम करने वाली राजा की रमणी है। एकान्त एवं रात आदि उद्दीपन विभाव है। साहसपूर्वक राजा के महल (रनिवास) में जाना, प्राणों की उपेक्षा, निःश्वास, आलिङ्गन आदि अनुभाव हैं और शंका आदि संचारीभाव हैं। निषिद्ध (अनुचित) आलम्बन (नायक-नायिका) वाली इस रति के कारण यहाँ रस का आभास है। अर्थात् यह अनुचित आलम्बन वाले रसाभास का उदाहरण है।

न चात्र चकितनयनामित्यनेन परपुरुषस्पर्शत्रासाभिव्यक्त्या रतेरनुभयनिष्ठतेत्याभासताहेतुर्वाच्यः। अस्याश्च चिराय तस्मिन्नासक्ताया अन्तःपुरे परपुरुषागमनस्यात्यन्तमसम्भावनया 'क एव मां बोधयति' इत्युचित एव त्रासः। अनन्तरं च परिचयाभिव्यक्त्या 'सोऽयं मत्प्रियो मदर्थं प्राणानपि तृणीकृत्यागत' इति ज्ञानादुत्पन्नं हर्षमभिव्यञ्जयत् 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणं रतिं तदीयामपि व्यनक्ति, परन्तु प्राधान्यं नायकनिष्ठाया एव रतेः, सकलवाक्यार्थत्वात्। यथा वा—

न चात्रेति। सुप्तावस्थायां सद्योजागरणानन्तरमपि नायिकायां रतेरभावादनुभयनिष्ठस्यैवोदाहरणमिदमिति पूर्वपक्षाभिप्रायः। जागृतायां त्रासस्यैव दर्शनं तन्मतं पुष्णाति। किन्तु 'स्मेरवदनाम्' इति विशेषणं तस्या हर्षं व्यञ्जयद् रतिमपि व्यञ्जयति। ततश्च नायिका अपि रतिविशिष्टैवेति नेदमुदाहरणमनुभयनिष्ठरत्याश्रितस्येत्युत्तरपक्षाभिप्रायः।

तदीयामपीति। "हर्षसमुच्चायकोऽपिः" इति भट्टनागेशो वाक्यान्वयं सम्यक् परीक्ष्यैव लिखति। सरलाकृत्तु अत्रत्येनापिना नायकरतिं समुच्चाययति—तदेतद्वाक्यान्वयपरीक्षानिरपेक्षमेव। नहि "स्मेरवदनाम्" इति विशेषणं नायिकारतिमिव नायकरतिमभिव्यनक्ति येन नायकरतेरत्र समुच्चयः स्यात्। किञ्च नायकरतिः पूर्वसिद्धैव। अत्र केवलं नायिकारतिरेव साध्या, तयैव उभयनिष्ठता रतेरभिप्रेता सिद्धा भवति।

वस्तुतः सन्दर्भान्वयो हि नायकरतिसम्मुच्चायकत्वमत्र 'अपि'शब्दस्य बोधयति। अत एव रतिमपीत्यनुक्त्वा तदीयामपीति लिखनं सङ्गच्छते। अपिर्हि यत्पदाव्यवहिताग्रे प्रयुज्यते तत्रैवान्वेतीति नियमात् नायिकारतिप्रतियोगिनीं नायकरतिं समुच्चाययति।

यदि कहें कि अनुभयनिष्ठ रति वाले रसाभास का ही उदाहरण है, क्योंकि 'चकितनयनां' इस पद से परपुरुषस्पर्श की शंका से त्रास की ही अभिव्यक्ति होती है, रति की नहीं और तब तो नायिका में रति न रहने से यह एकपक्षीय ही हुई—तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह नायिका तो बहुत दिन से इस नायक पर आसक्त ही है, पर रनिवास में परपुरुष के आगमन का अत्यन्त असम्भव होने के कारण (उस नायक के आगमन की संभावना के अभाव में) 'कौन यह मुझे जगा रहा है' इसमें त्रास (भय) उचित ही है। इसके बाद तुरत परिचय के व्यक्त हो जाने पर 'वही यह मेरा प्रिय मेरे लिए प्राणों को भी तिनके के समान मान कर आया है' इस ज्ञान से उत्पन्न हर्ष को प्रकाशित करते हुए "स्मेरवदनाम्" यह विशेषण उस (नायिका) की रति को भी व्यक्त कर रहा है। (उक्त विशेषण से नायिकानिष्ठ हर्ष एवं रति दोनों व्यक्त होते हैं और तब रति का नायिकानिष्ठ हो जाने पर उभयनिष्ठता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि रति नायकनिष्ठ तो पूर्व से ही है। परन्तु प्रधानता तो नायकनिष्ठ रति की

भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालव-लाभलालसेषु ।
तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव ॥

अत्र कुतश्चिदागच्छन्त्याः पथि तदीयरूपयौवनगृहीतमानसैर्युवभिरनुगम्यमानायाः कस्याश्चिद् भवनप्रवेशसमये निजसेवासार्थक्यविज्ञानाय गमनाज्ञापनरूपलाभलालसेषु तेषु परमपरिश्रमश्रवणसञ्जातकरुणाया गमनाज्ञादाननिवेदकस्य विलोचनाम्बुजमालापरिक्षेपस्यानुभावस्य वर्णनादभिव्यज्यमाना रतिर्बहुवचनेन बहुविषया गम्यत इति भवत्ययमपि रसाभासः ।

बहुनायकविषयरतिस्वरूपं द्वितीयं रसाभासमुदाहरति—**यथा वेति** । काचिद् बाला ग्रामान्तरात् स्वगृहमागच्छन्ती सती (स्वगृहसमीपमागत्य) स्वभवनं प्रविशन्ती (प्रवेशकाले) पथि 'चिरानुगमनानन्तरं गमनस्य परावर्त्तनस्य आज्ञाया यो लवो लेशस्तस्य लाभाय लालसा येषां' तेषु **अनुरक्तेषु** तरुणेषु करुणावती दयावती सती अथ अन्ततो **विलोचनाब्जमालां** नयनकमलश्रेणिं कतिपयकटाक्षान् पातयामास निक्षिप्तवती । अत्र बालाया अनुगमनेन तरुणेषु दृष्टिपातेन च बालायां रतिरभिव्यज्यते ।

निजसेवेति । प्रीत्यानुगमनरूपा तरुणदलकृता युवत्याः सेवा तस्या हृदये मनागपि स्थानं लब्धवती न वेति ज्ञानाय 'भवन्तः स्वगृहान् प्रति प्रस्थातुमर्हन्ति' इति

ही है, क्योंकि यह सम्पूर्ण वाक्यार्थ ही है ।) अन्य (नायिकानिष्ठ रति) तो वाक्य के एकदेशीयार्थ पर ही आश्रित हैं ।

बहुनायकविषयक रतिवाले रसाभास का उदाहरण—कोई तरुणी दूसरे गाँव से अपने घर जा रही थी, रास्ते में एक तरुणदल उसके पीछे मोहित होकर चल रहे थे, जब वह बाला अपने घर प्रवेश करने लगी तो वे युवकगण रुक गये कि अब हमें यह तरुणी प्रस्थान करने की आज्ञा दे तो हम उसी से कृतार्थ हो जायेंगे । दयावती उस तरुणी ने राह पर खड़े उन युवकों पर नयनकमल की श्रेणी ही डाल दी । इसी से वे अपने को धन्य समझ कर चले गये ।

यहाँ कहीं से आती हुई एक युवती का, राह में उसके रूप और यौवन से आकृष्ट मनवाले युवकों ने पीछे-पीछे चलना शुरू कर दिया । जब वह अपने घर के पास पहुँचकर घर में प्रवेश करने लगी तो वे वहाँ रुक गये । देर तक साथ रहने पर भी उस तरुणी का न तो वचन सुना और न ही नजर ही मिला सके । आखिर सुदूर तक अनुगमनरूप अपनी सेवा की सार्थकता (इस सेवा का स्थान उस तरुणी के हृदय में कुछ है या नहीं) को जानने के लिए 'अब आपलोग जा सकते हैं' इस आज्ञा को पाने के हेतु वे युवक तरस रहे थे । वह तरुणी भी उनके अथक परिश्रम को जानकर दया से उन पर अपने नयनकमल से एक नजर डाल दी, जिससे उन्हें जाने की आज्ञा मिल

यथा वा—

भुजपञ्जरे गृहीता, नवपरिणीता वरेण वधूः।
तत्कालजालपतिता, बालकुरङ्गीव वेपते नितराम्॥

अत्र रतेर्नववध्वा मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम्। तथा चोक्तम्—

"उपनायक-संस्थायां, मुनि-गुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायक-विषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्"॥ इति।

युवत्युक्तिश्रवणमेव साधकमित्येव तरुणेषु लालसा। सुदूर यावदनुगमनरूपपरिश्रमेण तरुणानां युवती दयावती सती दृष्टि प्रक्षिप्य, न तु वचनेनाज्ञां दत्तवती। **बहुवचनेति**। तेनात्र यदि एकवचनं प्रयुज्यते तर्हि रसप्रतीतिरेव।

रसाभासस्य तृतीयं प्रभेदमनुभयनिष्ठरतिमुदाहरति—**यथा वेति**। नवविवाहिता बाला वरेण (नायकेन) बाहुपाशे गृहीता सती तत्क्षण-जाल-निबद्धा बालमृगी इव नितरां कम्पते। कम्पनेनात्र बालायां त्रास एवाभिव्यज्यते, न रतिः, मुग्धात्वातिशयाद-ननुभूतरतित्वाच्च।

अनुचितत्वं हि रतौ कुत्र कुत्र भवतीति परिगणनं भेदप्रदर्शनपूर्वकं प्राचीनोक्तं प्रस्तौति—**उपनायकेति**। उपपतिविषयिणी, मुनि-गुरु-राजपत्नीविषयिणी, बहुनायक-विषयिणी, अनुभयविषयिणी (एकपक्षाश्रिता) च रतिः चतुर्विधा रसाभासतां याति। अत्र मुनिपत्न्यादिविषयिणी रतिर्हि उपपतिविषयिणी एव, किन्तूपपतिविषयिणी साधारणानौचित्यं, मुनिपत्न्यादिविषयिणी तु अत्यन्तानौचित्यं जनयतीत्यनयोर्भेदः। ग्रन्थकृता तूभयोरेकत्वमेवोररीकृतम्।

गयी। इस गमनाज्ञा देने के सूचक नयनकमलप्रक्षेपरूप अनुभाव के वर्णन से अभिव्यक्त होती हुई रति बहुवचन के द्वारा बहुविषयक सूचित होती है। इसलिए यह भी रसाभास ही है।

रसाभास के तृतीय भेद अनुभयनिष्ठा रति (एकपक्षीय) का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—पति ने नवीन विवाहिता वधू को बाहुपाश में बाँध लिया। इससे वह वधू तत्क्षण जाल में फँसी बालमृगी के समान अतिशय काँपने लगी'। कम्पन से यहाँ बाला में त्रास ही व्यक्त होती है, रति नहीं, क्योंकि वह अतिशय मुग्धा है और रति का अनुभव अभी उसे हुआ ही नहीं है।

यहाँ रति का नववधू से थोड़ा भी स्पर्श न होने के कारण अनुभयनिष्ठ (दोनों में न रहकर एक में ही स्थित) द्वारा आभासता है। जैसा कि कहा गया है—

उपपति में रहने वाली, मुनिपत्नी, गुरुपत्नी आदि में रहने वाली, बहुतों नायकों में एक नायिका द्वारा रहने वाली और अनुभयनिष्ठा रति आभासता को प्राप्त करती है।

अत्र मुनिगुरुशब्दयोरुपलक्षणपरतया राजादेरपि ग्रहणम्। अथात्र किं व्यङ्ग्यम् ?—

व्यानम्राश्चलिताश्चैव, स्फारिताः परमाकुलाः।
पाण्डुपुत्रेषु पाञ्चाल्याः, पतन्ति प्रथमा दृशः॥

अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलाकारताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततया अलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यम् अर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुल-सहदेवयोरौत्सुक्यं च व्यञ्जयन्तीभिर्दृग्भिः पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद् रसाभास एवेति नव्याः। प्राञ्चस्तु अपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः।

अथात्रेति। यदि बहुनायकविषया रती रसाभासस्तर्हि द्रौपद्याः पञ्च पाण्डवान् स्वीयान् प्रति प्रकाशितभावद्वारा किं व्यङ्ग्यं ? रसो रसाभासो वा ? स्वीयत्वेन रसो वा, बहुत्वेन रसाभासो वेति विचारणा। विशेषेण आ समन्तान्नम्राः।

बहुविषयाया इति। भक्ति-त्रासयो रतेरव्यञ्जनादपि हर्ष-परमाकुलत्वाभ्यामर्जुन-नकुल-सहदेवेषु द्रौपद्या रतेर्व्यञ्जनाद् बहुविषयत्वं सिद्धमेव। अत्र रसाभास एवेति नवीनाः, बहुनायकविषयत्वमात्रेण तत्सिद्धेः। विवाहित-बहुनायक-विषयत्वे रस एव न रसाभास इति रस एवात्र व्यङ्ग्यमिति प्राचीनाः। 'तु'शब्देन प्राचीनमतेऽरुचिः सूचिता इति नागेशभट्टः, रसाभासलक्षणे तद्भेदविवरणे वा परिणयशब्दस्योल्लेखाभावात्। चन्द्रिकाकृतस्तु प्राचीनमतस्य पूर्वोल्लेखनार्हस्य पश्चान्निर्देशस्तस्य गरीयस्त्वं सूचयति। रसाभासलक्षणे लोकशास्त्रगर्हितत्वरूपानौचित्यस्य प्रवेशेन, प्रकृते तथाविधानौचित्या-

---

यहाँ मुनि और गुरु शब्द उपलक्षण (दृष्टान्तपरक) हैं, इसलिए राजा, मित्र आदि का भी ग्रहण हो जाता है। यहाँ प्रथम भेद साधारण अनौचित्यप्रयुक्त है, जब कि द्वितीय भेद अत्यन्त अनौचित्य के कारण।

अब प्रश्न उठता है कि यदि बहुनायकगत रति को रसाभास मानते हैं तो स्वीय बहुनायकगत रति भी रसाभास ही होगा, पर इसे लोक में अनुचित नहीं माना जाता है। तो अग्रिम उदाहरण में व्यंग्य है क्या—रस या रसाभास ?

पाण्डुपुत्रों (पाण्डवों) पर द्रौपदी की प्रथम दृष्टियाँ इस प्रकार पड़ रही हैं—विनम्र, चञ्चल, विकसित और परम व्याकुल।

यहाँ (दृष्टि के) अतिविनम्र होने से 'धर्मात्मा होने के कारण युधिष्ठिर' के प्रति भक्ति को, चञ्चल होने से 'मोटा-तगड़ा होने के कारण भीमसेन' के प्रति भय को, विकसित होने से 'अद्भुतवीर' होने के यशःश्रवण के कारण अर्जुन के प्रति हर्ष को और परम व्याकुल होने से 'परम सुन्दर होने के कारण नकुल तथा सहदेव' के प्रति औत्सुक्य को व्यञ्जित करती हुई दृष्टियों से द्रौपदी के अनेक पुरुषविषयक रति के

तत्र शृङ्गाररस इव शृङ्गाररसाभासोऽपि द्विविधः, संयोग-विप्रलम्भ-भेदात् । संयोगाभासस्त्वनुपदमेवोदाहृतः । विप्रलम्भाभासो यथा—

व्यत्यस्तं लपति क्षणं, क्षणमथो मौनं समालम्बते,
सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम् ।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति, न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं,
वैदेही-कमनीयता-कवलितो, हा हन्त ! लङ्केश्वरः ॥

अत्र सीतालम्बनेयं लङ्केशगता विप्रलम्भरतिरनुभयनिष्ठतया, जगद्गुरुपत्नीविषयकतया चाभासतां गता 'व्यत्यस्तं लपती'त्यादिभिरुक्तिभिर्व्यज्यमानैरुन्माद-श्रम-मोह-चिन्ता-व्याधिभिस्तथैवाभासतां गतैः प्राधान्येन परिपोष्यमाणा ध्वनिव्यपदेशहेतुः ।

सम्भवान्नात्र रसाभास इति । यत्तु रसचन्द्रिकाकृद् 'न च तस्याम् (अनुभयनिष्ठायां) रतेरयुक्तताधीर्लोकस्य'' इति तन्नास्मभ्यं रोचते, एकपक्षीयरतिस्थले विवाहितायामविवाहितायां वा अनौचित्यस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्, अनौचित्याभावे हि रसाभासलक्षणमेव तत्राव्याप्तं स्यात् ।

अनुपदमेवेति । सद्यः प्रदर्शितपूर्वोदाहरणत्रये । **व्यत्यस्तमिति** । हा हन्त ! वैदेह्या जानक्याः कमनीयतया सौन्दर्येण कवलितो ग्रस्तोऽत्यन्तमाकृष्टो लङ्केश्वरो रावणः क्षणं व्यत्यस्तमसम्बद्धं लपति प्रलापं करोति, अथोऽनन्तरं क्षणं मौनं समालम्बते, किञ्च अपि च सर्वस्मिन् विषये निरालम्बनां शून्यां निष्फलां दृष्टिं विदधाति निक्षिपति दृष्टि-

---

अभिव्यक्त होने के कारण यह रसाभास ही है—ऐसा नवीन आचार्य कहते हैं । परन्तु प्राचीन आचार्य तो अविवाहित अनेक नायक विषय की रति को ही आभास मानते हैं । यहाँ तो पाँचों पाण्डव द्रौपदी से परिणय करने वाले हैं, अतः यहाँ रस ही है ।

शृंगार रस जैसे दो प्रकार का होता है, वैसे ही शृंगाररसाभास भी संयोग और विप्रलम्भ भेद से दो प्रकार का है । उनमें संयोगाभास का तो अभी-अभी उदाहरण दिया जा चुका है । अब विप्रलम्भाभास का उदाहरण दिया जा रहा है—

हाय हाय ! सीता के सौन्दर्य से वशीभूत लंकाधिपति रावण अत्यन्त व्याकुल है—क्षण में उलटा-पुलटा (असम्बद्ध) बोलता है, क्षण में ही चुप हो जाता है (चुप्पी लगा लेता), सभी विषयों में शून्य दृष्टि लगाता है (देखते हुए भी न देख पाता है), दीर्घ श्वास लेता है और अंगों में स्थिरता नहीं रखता है ।

यहाँ सीता पर आश्रित रावण में स्थित विप्रलम्भ रति अनुभयनिष्ठ होने के कारण एवं जगद्गुरु श्रीरामचन्द्र की पत्नी के विषय में रहने के कारण आभास (रत्याभास) होकर 'व्यत्यस्तं लपति' इत्यादि उक्तियों के द्वारा अभिव्यक्त (व्यंग्यार्थ) होते हुए उन्माद, श्रम, मोह, चिन्ता और व्याधि, जो आभास हो रहे हैं, के द्वारा

एवं कलहशील-कुपुत्राद्यालम्बनतया वीतरागादिनिष्ठया च वर्ण्यमानः शोकः, ब्रह्मविद्यानधिकारिचाण्डालादिगतत्वेन च निर्वेदः, कदर्य-कातरादिगतत्वेन पित्राद्यालम्बनत्वेन वा क्रोधोत्साहौ, ऐन्द्रजालिकाद्यालम्बनत्वेन च विस्मयः, गुर्वाद्यालम्बनतया च हासः, महावीरगतत्वेन भयम्, यज्ञीयपशुवसाऽसृङ्मांसाद्यालम्बनतया वर्ण्यमाना जुगुप्सा च रसाभासाः। विस्तृतिभयाच्चामी नोदाहृताः सुधीभिरुन्नेयाः।

क्षेपेणापि विषयं प्रत्यक्षीकर्तुं न प्रभवतीत्यर्थः। दीर्घं श्वासमङ्गीकरोति, अङ्गेषु च मनागपि ईषदपि धृतिं न धत्ते। अत्र प्रलापेन उन्मादः, मौनालम्बनेन श्रमः, दृष्टिदानेऽप्यदर्शनात् मोहः, दीर्घश्वासाच्चिन्ता, धैर्याभावाच्च व्याधिर्भावोऽभिव्यज्यते, तैश्च विप्रलम्भाभासो व्यज्यते, प्राधान्येन च तस्यैव ध्वनिपदव्यवहार्यता।

एवमिति। अनुचितालम्बनादिगता रतिर्यथा रसाभासो भवति, तथैव अनुचितालम्बननिष्ठा अनुचिताश्रयनिष्ठाश्च शोकादयः सर्वेऽपि स्थायिभावा रसाभासतां यान्ति। पित्रा कलहं कृत्वा कुपुत्रो हि पितुः शोकस्य कारणतया आलम्बनविभावो भवति, एवंविधानुचित-कलहोत्पन्नः शोको, वीतरागो विरक्तः तन्निष्ठस्तदाश्रितोऽपि शोको हि करुणरसाभासः। शोक-मोहादिशमनेनैव वीतरागत्वं भवति, तस्मिन् शोको नोचितः। नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यस्य निर्वेदस्य ब्रह्मविद्याज्ञानादेव प्रादुर्भावः सम्भवति, चाण्डालादेः स्वभाव एव तथाविधविवेकवैमुख्यस्य। अत एवानधिकारित्वमुक्तम्। कदर्यः कृपणः, कातरो भीरुः, आदिपदेन दुर्बलखञ्जादिपरिग्रहः, तदाश्रितयोः, गुरुपित्राद्यालम्बयोः शिष्यपुत्राद्याश्रितयोः क्रोधोत्साहयोरनौचित्येन रौद्र-वीररसाभासता। ऐन्द्रजालिक

प्रधान रूप से परिपुष्ट होने के कारण ध्वनि कहलाने योग्य है। तात्पर्य यह है कि यहाँ उन्मादादि भावाभास रत्याभास के उपकारक होने से गौण है, उन्हें ध्वनि की पदवी नहीं मिल सकती है, जबकि रत्याभास उनके द्वारा पुष्ट होने के कारण ध्वनि ही है।

इसी प्रकार श्रृंगाराभास की तरह करुणादि रसों के भी आलम्बनगत अनौचित्य से करुणाभासादि होते हैं। यथा— पिता से कलह करने वाले कुपुत्र के आलम्बन से पितृगत शोक एवं विरक्त में रहने वाला शोक वर्णित होने पर करुणाभास हो जाता है। ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डाल आदि (घोर कुकृत्यों में लिप्त) में स्थित निर्वेद वर्णित होने पर शान्तरसाभास हो जाता है। कृपण एवं कायर आदि में स्थित अथवा पिता आदि गुरुजनों पर होने वाला पुत्रादि स्थित क्रोध और उत्साह वर्णित होने पर क्रमशः रौद्र एवं वीर रस के आभास होते हैं। जादूगर आदि के आलम्बन से उत्पन्न विस्मय अद्भुतरसाभास होता है। गुरु आदि के आलम्बन से शिष्यादिगत हास हास्यरसाभास होता है। महान् वीर में स्थित भय वर्णित होने पर भयानक रसाभास होता है। यज्ञ में घातित पशु के चर्बी, शोणित, मांस आदि के आलम्बनरूप में वर्णित

एवमेवानुचितविषया भावाभासाः ।

यथा—

सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता
विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव ।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥

गुरुकुले विद्याभ्याससमये तदीयकन्यालावण्यगृहीतमानसस्य, अन्यस्य वा कस्यचिदतिप्रतिषिद्धगमनां स्मरतो देशान्तरं गतस्येयमुक्तिः ।

इन्द्रजालाख्याद्भुतविद्याप्रदर्शकः । यज्ञीयपशुघातस्य लोके सहृदयैर्नानौचित्यं ज्ञायते । यैर्बौद्धादिभिस्तत्रानौचित्यप्रतीतिः क्रियते, तेषां तत्र रसाभास एव ।

एवमेवेति । रसाभासवदेव आलम्बनविभावगता अनुचिता विषया येषां ते भावा एव भावाभासा भवन्ति । तथा च भावविशेषा एव भावाभासाः । स्थायिभावाश्रितास्तु रसाभासाः ।

उदाहरति—**सर्वे** इति । अधुना प्रियायाः स्मरणावसरे सर्वेऽपि विषया दर्शन-श्रवणादिविषयाः चिरसेविता अपि विस्मृतिपथं गताः, चिरादभ्यस्ता विद्याऽपि पराङ्गना-प्रीतिदर्शनेनेर्ष्यावशात् खेदकलिता खिन्ना सती मद्विमुखीभूता । परन्तु केवलमेका साऽचिरपूर्वं सेविता हरिण-शिशुलोचना प्रिया मे मम हृदयाद् अधिदेवता पृथिव्याद्य-धिष्ठातृदेवतेव नैव अपयाति कदापि नैव दूरीभवति ।

तदीयेति । गुरुकुलसम्बन्धिनीत्यर्थः । 'अप्रतिषिद्धे'ति मूलपाठो हि मूलोच्छेद-करत्वादुपेक्षितः, तथा सति अनौचित्याभावाद् भावाभासतैवात्र न स्यात् ।

होने पर घृणा ही बीभत्स रसाभास होता है । ग्रन्थविस्तार के भय से इन सभी रसा-भासों का उदाहरण नहीं दिया गया है, इन उदाहरणों का ऊह स्वयं विद्वान् लोग कर लेंगे ।

इसी प्रकार रसाभास की तरह ही अनुचित विषय रहने पर भावाभास होते हैं । अर्थात् जिस भाव का आलम्बनविभाव अनुचित हो उसे भावाभास कहते हैं । सहृदयों को जो अनुचित मालूम पड़े उसे ही यहाँ अनुचित कह सकते हैं । उदाहरण—

विरही नायक कहता है कि अभी (इस विरह-व्यथा में) सभी विषय (दर्शन—श्रवणादि से उत्पन्न) विस्मृति के मार्ग पर गयी हुई विद्या भी (परस्त्री-विषयक प्रीति देख) खिन्न होकर विमुख हो गयी, केवल मेरी वह (पूर्वदृष्टा अनुरक्ता) बालहरिण-लोचना (प्रिया) अधिष्ठात्री देवी के समान मेरे हृदय से कभी नहीं जाती है ।

गुरुकुल में विद्याभ्यास के समय गुरुपुत्री के सौन्दर्य से आकृष्ट मन वाले या

अत्र च स्वात्मत्यागात्यागाभ्यां स्रक्चन्दनादिषु विषयेषु चिरसेवितायां विद्यायां च कृतघ्नत्वम्, अस्यां च लोकोत्तरत्वमभिव्यज्यमानं व्यतिरेकवपुः स्मृतिमेव पुष्णातीति सैव प्रधानम्। एवं च त्यागाभावगतं सार्वदिकत्वं व्यञ्जयन्त्यधिदेवतोपमापि। एषा चानुचितविषयकत्वादनुभयनिष्ठत्वाच्च भावाभासः। यदि पुनरियं तत्परिणेतुरेवोक्तिः, तदा भावध्वनिरेव।

अत्र व्यङ्ग्योऽपि व्यतिरेकालङ्कारः स्मृतेरङ्गमेव। तथाहि—आजन्मसेविताः स्रक्चन्दनादयो विषयाः चिरसेविता विद्या च स्वस्मिन् आत्मीये चिरसेवके नायके आत्मनः स्वत्वस्य (विषयत्व-विद्यात्वयोः) त्यागेन कृतघ्नतां कृतज्ञत्वाभावं प्रकाशयतः, किन्तु इयं हरिणशावकलोचना स्वस्मिन् आत्मीयेऽचिरसेवके नायके आत्मनः स्वत्वस्य (प्रियात्वस्य) अत्यागेन कृतज्ञतामेव व्यनक्तीति त्रयाणां विषय-विद्या-नायिकानां सेव्यत्वेन साम्येऽपि त्यागात्यागाभ्यां वैषम्यदर्शनाद् व्यतिरेकः स्मृतिपोषकत्वेनाङ्गम्। यथा पृथिव्याद्यधिष्ठातृदेवता स्वसेवकं न कदापि त्यजति तथैवेयं नायिकापि इत्युपमापि स्मृतेरेव पोषिका।

अनुचितविषयकत्वात् अतिप्रतिषिद्धनायिकाचिन्तनविषयत्वात्, अनुभयनिष्ठत्वादेकतरनिष्ठत्वादिति। यदि तया नायिकया परिणयानन्तरं विदेशस्थस्य नायकस्योक्तिरियं तदा स्मृतिभावध्वनिरेव न भावाभासः, अनुचितत्वाभावात्।

किसी अन्य विदेशस्थ नायक की यह उक्ति है, जो रति के लिए अत्यन्त निषिद्ध नायिका का स्मरण कर रहा है।

यहाँ आजन्म सेवित माला, चन्दन आदि विषयों एवं चिरकाल से सेवित विद्या में स्वसेवक (नायक) के प्रति आत्मत्याग (विषयत्व एवं विद्यात्व को छोड़ने) के कारण उससे कृतघ्नता एवं इस (नायिका) में स्वसेवक (नायक) के प्रति आत्मत्याग (नायिकात्व रूप से न छोड़ने) के कारण उससे अलौकिक (अद्भुत) कृतज्ञता अभिव्यक्त होती हुई व्यतिरेकस्वरूप से स्मृतिभाव को ही पुष्ट कर रही है। नायक के द्वारा सेवित विषय, विद्या और नायिका में सेवितत्व रूप से सादृश्य रहने पर भी चिरसेवित विषय और विद्या द्वारा नायक का त्याग और अचिरसेवित नायिका द्वारा अत्याग रूप ही व्यतिरेक है। इसी तरह त्याग न करने में 'सदा' इस गुण को व्यक्त करती हुई पृथिव्यादि अधिदेवता की उपमा भी स्मृति को ही पुष्ट कर रही है। यहाँ व्यंग्य अलंकार गौण एवं स्मृतिभावाभासध्वनि प्रधान है। यह स्मृति अनुचित (परस्त्री) विषयक होने से एवं अनुभयनिष्ठ (केवल नायकनिष्ठ) रहने से भावाभास है और यदि यह उक्ति वर्णित नायिका के पति की ही हो, तो भावध्वनि ही है।

अथ भावशान्तिः

भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाशः।

स चोत्पत्त्यवच्छिन्न एव ग्राह्यः, तस्यैव सहृदयचमत्कारित्वात्। उदाहरणम्—

> मुञ्चसि नाद्यापि रुषं, भामिनि! मुदिरालिरुदियाय।
> इति तन्व्याः पतिवचनैरपायि नयनाब्जकोणशोणरुचिः॥

इह तादृश-प्रियवचनश्रवणं विभावः, नयनकोणगतशोणरुचेर्नाशः, तदभिव्यक्तः प्रसादो वाऽनुभावः। उत्पत्तिकालावच्छिन्नो रोषनाशो व्यङ्ग्यः। तथा—

भावस्येति। सञ्चारिभावस्य हर्षाद्यन्यतमस्य नाशो भावशान्तिः। स च नाशश्च उत्पत्तिकालिको भावलोपाव्यवहितकालिक एव सहृदयचमत्कारकत्वाद् भावशान्तिः कथ्यते, न तु नाशोत्तरदीर्घकालिकः। उदाहरति—**मुञ्चसीति**। हे भामिनि कोपने! मुदिरालिर्मेघमाला उदियाय प्रादुर्भूता, त्वञ्च अद्यापि इदानीमपि रुषं कोपं न मुञ्चसि, मेघमालादर्शनेन तव कोपस्य स्थितिरसम्भवेति। **इति** एवंविधैः पतिवचनैः तन्व्याः कोमलाङ्ग्याः नयनकमलकोणगतरक्तताछविः अपायि पीता विनाशितेति यावत्। शोणरुचिद्वारामर्षभावः पूर्वस्थितो व्यज्यते, पतिवचनेन च तन्नाशस्य सद्योजातत्वेनामर्षभावशान्तिः।

तादृशं मेघमालागमनबोधकं रतेः परमोद्दीपकम्। शोणरुचिनाशाद् अभिव्यक्तो

अब भावशान्ति का निरूपण करते हैं। पूर्वोक्त हर्षादि भावों के शान्तिकालिक स्वरूप को भावशान्ति कहते हैं।

लक्षण में 'नाश' पद से उत्पत्तिकालिक नाश का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि सहृदयों को वही चमत्कृत करता है। उदाहरण—

'हे कोपने! मेघमाला उदित हो गयी, पर अभी भी कोप को नहीं छोड़ रही हो' पति के इन वचनों ने कोमलाङ्गी के नयनकमल के कोने में स्थित लाल छवि को पी लिया।

मेघमालादर्शन से मानिनी का मान टिक नहीं सकता है। यहाँ इस प्रकार के प्रियतम-कथित वचन का सुनना विभाव है और नयनकमल के कोने में स्थित लाल छवि का नाश या उस लाल छवि के नाश से प्रकटित प्रसन्नता अनुभाव है।

इसी तरह वर्णन के समय में ही भाव की उत्पत्ति को भावोदय कहते हैं। उदाहरण—

हर्ष से प्रिय को आलिङ्गित करती हुई नायिका ने अचानक प्रिय के छाती पर

भावोदयो भावस्योत्पत्तिः ।

उदाहरणम्—

वीक्ष्य वक्षसि विपक्षकामिनी-हारलक्ष्म दयितस्य भामिनी ।
अंसदेश-वलयीकृतां क्षणादाचकर्ष निजबाहु-वल्लरीम् ॥

अत्रापि दयितवक्षोगत-विपक्षकामिनी-हारलक्ष्मदर्शनं विभावः । प्रियांसदेश-वलयीकृत-निजबाहु-लताकर्षणमनुभावः । रोषादयो व्यङ्ग्यः ।

यद्यपि भावशान्तौ भावान्तरोदयस्य, भावोदये वा पूर्वं भावशान्तेरावश्यकत्वाद् नानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेकत्र चमत्कारविरहात्, चमत्काराधीनत्वाच्च व्यवहारस्य, अस्ति विषयविभागः ।

नायिकागतः प्रसाद एव अमर्षनाशसूचक इति तस्यैवानुभावत्वमित्यभिप्रायेण पक्षान्तरमुक्तम् । उत्पत्तिकालावच्छिन्नः सद्योजायमानः ।

भावोदयं निरूपयति—**भावोदय** इति । वर्णनप्रसङ्गेऽविद्यमानस्य कस्यचिद् भावस्य उत्पत्तिर्जन्म भावोदयशब्देनोच्यते ।

वीक्ष्येति । हर्षेण प्रियालिङ्गिता भामिनी अकस्मात् प्रियस्य वक्षसि विपक्षकामिन्याः प्रतिनायिकाया अचिरोपभोगकालिक-हारचिह्नं वीक्ष्य अंसदेशवलयीकृतां प्रियस्कन्धोपरि वेष्टितां निजबाहुलतां क्षणादेव आचकर्ष पृथक्कृतवती । अत्र हर्षभावनाशोत्तरममर्षभावस्योत्पत्तिः प्रधानतया वर्णितत्वेन ध्वनिः ।

अत्रापीति । पूर्ववर्णितभावशान्त्युदाहरणे अमर्षभाव एव आश्रितः, अत्रापि भावोदये स एव वर्णितः । पूर्ववदत्रापि रोषपदममर्षस्य बोधकम् ।

भावान्तरोदयस्येति । पूर्वोक्तभावशान्त्युदाहरणे अमर्षनाशे हर्षोदयस्य,

---

उपनायिका के हारचिह्न को देखकर क्षणभर में उसके (प्रिय के) कन्धे से लिपटी बाँहरूपी लता को हटा ली ।

यहाँ हर्षभाव के नाश के बाद अमर्ष भाव की उत्पत्ति ही प्रधानतया वर्णित है । अतः यह भावोदय ध्वनि का उदाहरण है ।

भावशान्ति की तरह यहाँ भी अमर्ष भाव ही आश्रित है । प्रिय के छाती पर स्थित विरोधिनी नायिका (सपत्नी) के हारचिह्न का दर्शन विभाव है । प्रिय के कन्धे पर लिपटी अपनी बाहुलता को खींचकर हटा लेना अनुभाव है । 'सपत्नी से यह मेरा प्रिय प्रेम करता है' इस अपराध से रोष, 'सपत्नी ने इसे मोह लिया है' इस ज्ञान से ईर्ष्या आदि व्यंग्य होते हैं ।

यद्यपि जहाँ भावशान्ति वर्णित होगी वहाँ किसी भाव का उदय भी अवश्य होगा और जहाँ भावोदय होगा वहाँ किसी भाव की शान्ति अवश्य होगी—यह निश्चित है और ऐसी स्थिति में इन दोनों भावशान्ति एवं भावोदय का एक-दूसरे से अलग रूप

एवम्—

भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्योन्याभिभावनयोग्ययोः सामानाधिकरण्यम्। उदाहरणम्—

यौवनोद्गम-नितान्तशङ्किताः, शीलशौर्यबलकान्तिलोभिताः।
संकुचन्ति विकसन्ति राघवे, जानकीनयन-नीरजश्रियः॥

अत्र भगवद्दाशरथिगतस्य लोकोत्तरयौवनोद्गमस्य, तादृशस्यैव शील-शौर्यादेश्च दर्शनं विभावः। नयनगत-सङ्कोचविकासावनुभावः। व्रीडौत्सुक्ययोः सन्धिर्व्यङ्ग्यः। तथा—

प्रस्तुतोदाहरणे च हर्षनाशे अमर्षोदयस्य दर्शनेन उभयोः परस्परं सामानाधिकरण्यमेव। **विविक्तः** = पृथक्कृतः। सहृदयैर्यदंशे चमत्कारोऽधिकोऽनुभूयते तत्र तस्यैव ध्वनितवम्।

पूर्वोक्त-हर्षादिभावेषु कयोश्चिद् द्वयोरेकदेशकालस्थयोः प्रधानयोरेव परस्पर-प्रभावयुक्तयोः भावसन्धिरित्याख्या भवति। अनभिभूतयोरतिरस्कृतयोः प्रधानयोरेवेति भावः। उभयोरितरेतरस्याभिभवनयोग्यत्वे सति न कस्याप्यभिभवः सम्भवति, अपितु समबलराज्ञोरिव परस्परं सन्धिर्मैत्री एव भवति। एकतरस्याभिभवे, उभयोरसम्बद्धत्वे वा सन्धिरेव न सम्भवतीति विशेषणद्वयं लक्षणे प्रयुक्तम्।

यौवनेति। जानकीनयननीरजश्रियः सीतानयनकमलशोभाः, यौवनस्य सद्य उद्गमेन नितान्तमतिशयेन शङ्किताः, राघवीय-शील-शौर्यबलकान्तिषु लोभिता सत्यः राघवे श्रीरामचन्द्रोपरि लज्जया संकुचन्ति, औत्सुक्याच्च विकसन्ति। यौवनोद्गमेत्यादिना व्रीडा, शीलेत्यादिनोत्साहोऽभिव्यज्यते।

में (स्वतन्त्र) व्यवहार का विषय हो ही नहीं सकता, तथापि दोनों के एक स्थल में चमत्कारक नहीं होने के कारण और भावशान्त्यादि व्यवहार का चमत्कार के अधीन रहने से दोनों का विषय अलग-अलग ही है। एक स्थान पर दोनों की स्थिति मात्र रहती है, चमत्कार तो एक ही में रहता है और जिसमें चमत्कार रहेगा, वहाँ उसी का विषय माना जायेगा।

इसी तरह पूर्वोक्त हर्षादि भावों में एक स्थल या समय में स्थित किन्हीं दो प्रधान (किसी का अङ्ग नहीं) भावों का परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होकर (एक आश्रय पर) रहने को भावसन्धि कहते हैं। उदाहरण—

स्वयंवर में जानकी के नयनकमलों की शोभाएँ राघव के प्रति उनके यौवन के सद्यः उद्गम से अत्यन्त शंकित होती हुईं एवं शील, वीरता, बल तथा कान्तियों में लुभायी हुईं कभी संकुचित एवं कभी विकसित होती हैं।

यहाँ भगवान् राम में स्थित अलौकिक यौवन की उत्पत्ति का और उसी तरह के (अलौकिक) शील, शौर्य आदि का दर्शन विभाव है। आँखों का संकुचित एवं विकसित होना अनुभाव है। लज्जा और औत्सुक्य भावों की सन्धि व्यंग्य है। इसी तरह—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानाम् उदासीनानां वा व्यामिश्रणम् ।

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् । उदाहरणम्—

पापं हन्त ! मया हतेन विहितं, सीतापि यद् यापिता,
सा मामिन्दुमुखी विना बत ! वने किं जीवितं धास्यति ?
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां, किं ते वदिष्यन्ति मां,
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं, न प्राणितुं कामये ॥

पूर्वोक्तहर्षादिभावानां मध्यतः केषाञ्चन विरुद्धानां बाध्यबाधकभावापन्नानाम् अविरुद्धानां च तटस्थानामेकचमत्कारोपस्थितानां मिथो व्यामिश्रणमितस्ततोऽवस्थानं भावशबलत्वम् भावानां चित्रत्वम् । भिन्नाकृतीनां चित्राणां विरुद्धानां तटस्थानां वा एकसन्दर्भान्वियेनैकचित्रता कर्गतादिषु दृश्यते, तद्वदेव भावशबलत्वं नानावाक्यगतानां भावानां विरुद्धानां तटस्थानां वा एकसन्दर्भान्वयित्वमेव । व्यामिश्रत्वमेव स्पष्टीकरोति—**एकचमत्कृतीति** । ज्ञानविषयत्वमित्यर्थः ।

पापमिति । सीतापरित्यागानन्तरं सन्तप्यमानस्य श्रीरामस्योक्तिरियम् । हन्त ! मया रामेण हतेन हतकेन पापं दुष्कृत्यं विहितं, यत् सीतासदृशी पतिव्रताऽपि यापिता वनाय प्रस्थापिता निर्वासिता, बत हन्त ! मां विना सा इन्दुमुखी किं वने स्थिता जीवनं धास्यति ? नैव धारयिष्यति । अहं दुष्कर्मैतत् कृत्वा सुकृतीनां पुण्यात्मनां सभ्याना मुखानि कथमालोकेय पश्येयम् ? ते सुकृतिनो मां रामं किं धिक्कारं वदिष्यन्ति इति न जाने । मम राज्यं रसातलं पातालं यातु, न मे तेन प्रयोजनम्, प्राणितुं जीवितुमपि नाहं कामये, दुःखदुर्यशोज्वालासहनाक्षमो मरणमेवेच्छामि ।

परस्पर विरुद्ध (एक दूसरे के बाधक) या तटस्थ (न साधक और न बाधक) दो से अधिक हर्ष आदि भावों के विशिष्टरूप से मिलने को भावशबलता कहते हैं ।

व्यामिश्रण (विशिष्ट रूप से मिलने) का तात्पर्य है कि इन भावों के अनेक वाक्यों में रहने पर भी एक चमत्कार को उत्पन्न करने वाले ज्ञान से ही उनकी प्रतीति होती हो ।

उदाहरण—सीता-परित्याग के बाद सन्ताप से व्याकुल श्रीराम कहते हैं कि हाय ! हत्यारा मैंने पाप किया जो सीता जैसी पतिव्रता पत्नी को भी वन को विदा कर दिया । हाय ! वह चन्द्रमुखी मेरे बिना वन में जीवन को धारण कर सकेगी क्या ? (नहीं कर सकेगी) । मैं सज्जनों के मुखों को कैसे देखूं ? वे मुझे क्या कहेंगे ? मेरा यह राज्य रसातल में चला जाय । मैं जीना नहीं चाहता हूँ ।

अत्र मत्यसूया-विषाद-स्मृति-वितर्क-व्रीडा-शङ्कानिर्वेदानां प्रागुक्त-स्वस्वविभावजन्मनां शबलता ।

यत्तु **काव्यप्रकाशटीकाकारैः** "उत्तरोत्तरेण भावेन पूर्वपूर्वभावोपमर्दः शबलता" इत्यभ्यधीयत, तन्न—

'पश्येत् कश्चिच्', 'चल ! चपल रे !', 'का त्वरा' ? 'ऽहं कुमारी',
'हस्तालम्बं वितर', 'हहहा !!, व्युत्क्रमः', 'क्वासि' 'यासि' ॥

इत्यत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-मत्यौत्सुक्यानामुपमर्दलेशशून्यत्वेऽपि शबलताया राजस्तुतिगुणत्वेन पञ्चमोल्लासे मूलकृतैव निरूपणात् ।

अत्रेति । मया पापं विहितमित्यनेन मतिः, हतेनेत्यनेनासूया, सीतापीत्यनेन विषादः, सेत्यनेन स्मृतिः किं जीवितमित्यनेन वितर्कः, कथमालोकयेत्यादिना व्रीडा, 'किं ते' इत्यनेन शङ्का, राज्यं यात्वित्यनेन च निर्वेदो व्यज्यते । एतेषां भावानाम् एकान्वयिपृथग्वाक्येष्ववस्थितानामुदासीनानामवस्थानं भावशबलता ।

यत्त्विति । काव्यप्रकाशटीकाकारा बाध्यबाधकभावापन्नानां भावानामेकान्वयिनामेव भावशबलत्वमिच्छन्ति । उपमर्दोऽभिभवः । तटस्थानामपीति प्रस्तुतलक्षणेन ग्रहणम् । तत्र काव्यप्रकाशकारव्यवहारः तटस्थानामपि भावानां शबलत्वं ज्ञापयति, तेन टीकाकारा मूलकृन्मतविरोधित्वेनोपेक्ष्याः ।

पश्येदिति । पश्येत् कश्चिदित्यनेन शङ्का, चपलेत्यनेनासूया, का त्वरा इत्यनेन धृतिः, कुमारीत्यनेन स्मृतिः, हस्तालम्बमित्यनेन श्रमः, हहहेत्यनेन दैन्यम्, व्युत्क्रम इत्यनेन मतिः, क्वासीत्यनेन च औत्सुक्यं परस्पराभिभवशून्यत्वेऽपि राजस्तुतिगुणत्वेन एकान्विताः, भावशबलत्वेन काव्यप्रकाशे पञ्चमोल्लासे वर्णिताः ।

यहाँ पूर्वोक्त अपने-अपने विभावों से उत्पन्न मति, असूया, बिषाद, स्मृति, वितर्क, व्रीडा, शङ्का और निर्वेद भावों की शबलता (चित्रता) है ।

यह जो काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने कहा है कि "पूर्व-पूर्व भाव का अपने से उत्तर (आगे आने वाले) भाव के द्वारा दबा देने को शबलता कहते हैं"—सो उचित नहीं है, क्योंकि—

'कोई देख लेगा', 'चल रे चञ्चल !' 'जल्दबाजी क्या है' ? 'मैं कुमारी हूँ', 'हाथ का सहारा दो', 'हाय हाय !' 'क्रम भंग हो गया', 'कहाँ हो, कहाँ जा रही हो' ?

यहाँ क्रमशः शंका, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, मति और औत्सुक्य भावों में किसी के थोड़े भी दबाने (उपमर्द) से रहित होने पर भी शबलता के द्वारा राजस्तुति के गुण (उपकारक) रूप से काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में स्वयं मूल-ग्रन्थकार मम्मट ने ही निरूपित कर दिया है । अतः उत्तर-उत्तर भावों के द्वारा पूर्व-पूर्व भावों का उपमर्द ही शबलता है, यह मत खण्डित हो जाता है ।

स्वोत्तरविशेषगुणेन जायमानस्तु नाशो न व्यङ्ग्यः, नवोपमर्दपदवाच्यः, नापि चमत्कारी। तस्मात्—

नारिकेलजलक्षीर-सिताकदलमिश्रणे ।
विलक्षणो यथास्वादो भावानां संहतौ तथा ॥

अत्रेदं बोध्यम्—य एते भावशान्त्युदय-सन्धिशबलताध्वनय उदाहृताः,

---

स्वोत्तरेति। न्यायसिद्धान्ते चित्तवृत्तिस्वरूपा हर्षादयो भावा ज्ञानेच्छादि-विशेषगुणेष्वेवान्तर्भवन्ति। तथा च विशेषगुणस्वभाव एव पूर्वपूर्वगुणनाशोत्तरमेवोत्तरोत्तरगुणोदयः। एवमेव पूर्वभावनाशो हि उत्तरवर्तिभावेनावश्यक एवेति पूर्वोक्त-काव्यप्रकाशटीकाकृन्मतमेव सम्यगिति न मन्तव्यम्, तथाविधस्य नाशस्य स्वतःसिद्धत्वेन व्यङ्ग्यत्वाभावात्। उपमर्दस्तु विद्यमानस्यैव भावस्य सम्भवति, न तु नष्टस्य, यथा दिने विद्यमानस्यैव चन्द्रप्रकाशस्य सूर्यप्रकाशेनाभिभवो भवति। तथा च भावानां नाशो नैवोपमर्दपदवाच्यः। यदि नाशस्यैव उपमर्दसंज्ञा क्रियते तथापि नासौ चमत्कारी। अतो नैवोपमर्दोऽयं भावशबलतेति। **तस्मादिति।** बुद्धिगतविद्यमानानामेव भावानां शबलतेष्टा। भावानां सम्मिलनेन शबलत्वचमत्कारास्वादो हि विलक्षण एव पृथगवस्थितेभ्यो भावेभ्यः। कथम्? यथा लोके नारिकेलजलक्षीरसिता-कदलानां मिश्रणे स्वस्वास्वाद-सहितो विलक्षणास्वादो भवति, तथैवात्रेति भावः।

अत्रेदमिति। अत्र भावशान्त्यादिप्रकरणे ज्ञातव्यं यद् भावशान्त्यादयोऽपि

काव्यप्रकाश के टीकाकारों के पक्ष से युक्ति दी जाती है कि हर्षादि भाव चित्तवृत्ति (चित्त में रहने वाले) होते हैं, जो ज्ञान, इच्छा आदि आत्मवृत्ति (आत्मा में रहने वाले) विशेष गुण के अन्तर्गत ही आते हैं। विशेष गुणों का स्वभाव ही है कि एक गुण के नाश से ही अन्य गुण का उदय हो सकता है, एक साथ अनेक गुण वहाँ रह ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में अगत्या उत्तर भाव से पूर्व भाव के उपमर्द को ही शबलता कहना होगा।

इसके उत्तर में कहते हैं कि पूर्व गुणों का उत्तर गुणों से होने वाला नाश तो स्वतः सिद्ध ही है, व्यंग्य नहीं, अतः उसे शबलता भाव कहा नहीं जा सकता और उसे उपमर्द (दबाना) भी नहीं कह सकते, क्योंकि विद्यमान वस्तु को ही दबाया जा सकता है, नष्ट को नहीं। यदि इसी को आप उपमर्द कहें तो भी चमत्कारी न होने के कारण यह भावशबलता नहीं हो सकता है। इसलिए—

नारियल का जल, चीनी, केला आदि के मिश्रण से जैसे एक विलक्षण आस्वाद होता है, वैसे ही भावों के मिश्रण से भी होता है। बाह्यरूप से नष्ट होने पर भी सभी भाव बुद्धिगत विद्यमान ही रहते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ये जो भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भाव-

तेऽपि भावध्वनय एव, विद्यमानतया चर्व्यमाणेष्विव उत्पत्त्यवच्छिन्नत्व-विनश्यदवस्थत्व-सन्धीयमानत्व-परस्परसमानाधिकरणत्वैः प्रकारैश्चर्व्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्यौचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विश्रान्तेः । यद्यप्युत्पत्ति-विनाश-सन्धि-शबलतानां तत्सम्बन्धिनां भावानां च समानायां चर्वणाविषयतायां न प्राधान्यं विनिर्गन्तुं शक्यते, तथापि स्थितौ भावेषु प्रधानतायाः क्लृप्तत्वाद् भावशान्त्यादिष्वपि तेष्वेव शान्तिप्रतियोगित्वादिभिर्व्यज्यमानेषु तस्याः कल्पयितुमौचित्यात् ।

ध्वनित्वेन प्रकाशिता भावध्वनिस्वरूपा एव, न तु शान्त्यादिध्वनिस्वरूपाः । ये हर्षादयो भावा ध्वनित्वेनास्वाद्यन्ते ते विद्यमानावस्थापन्नत्वेन, तत्र यथा भावध्वनिरेव, न विद्यमानत्वध्वनिस्तथैव भावशान्तौ नाशावस्थापन्नभावस्य, भावोदये उत्पत्त्यवस्थापन्न-भावस्य, भावसन्धौ सन्धीयमानावस्थापन्नभावस्य, भावशबलतायां च परस्परसमानाधि-करणावस्थापन्नभावस्यैव ध्वनित्वं, न तु नाशोदयादेः । नहि नाशमात्रस्य भावशान्तित्व-मपि तु उत्पत्तिकालिकनाशस्यैव । तत्र नाशांशे नैवं चमत्कारोऽपितु विनश्यदवस्थापन्न-भावांश एव । वस्तुतो भावः पञ्चधा—विद्यमानभावः (शुद्धो भावः), विनश्यद्भावः (भावशान्तिः), उत्पद्यमानभावः (भावोदयः), सन्धीयमानभावः (भावसन्धिः), परस्परसमानाधिकरणभावः (भावशबलता) चेति । **स्थितौ** = विद्यमानदशायां भावः प्रधानमिति सर्वसम्मतम् । एवमेव भावशान्त्यादिष्वपि भावस्यैव प्राधान्यं न तु

शबलता ध्वनि उदाहृत हुए हैं, वे भी भावध्वनि ही हैं, क्योंकि विद्यमानत्व रूप से आस्वाद्यमान भावों की तरह उत्पत्तिकालिक अवस्था वाला, नाश होती हुई अवस्था वाला, मिलती हुई अवस्था वाला और परस्पर समानाधिकरण की अवस्था वाला प्रभेद से आस्वाद्यमान भावों में ही प्रधानता का औचित्य है, नाश, उत्पत्ति आदि में नहीं, क्योंकि चमत्कार भावों पर ही विश्राम लेता है । तात्पर्य यह है कि ये जो हर्ष आदि भाव ध्वनि कहलाते हैं, वे विद्यमान अवस्था वाले भाव हैं, वहाँ जैसे भाव ही प्रधान हैं, विद्यमानावस्था नहीं, उसी तरह भावशान्ति आदि में नाश होने की अवस्था में स्थित भाव में ही चमत्कार होने से वही प्रधान है, नाश नहीं; उत्पत्ति होने की अवस्था वाले भाव में भी भाव ही प्रधान है, उत्पत्ति नहीं । इसी प्रकार भावसन्धि एवं भाव-शबलता में भी भाव की प्रधानता जाननी चाहिए ।

यद्यपि उत्पत्ति, विनाश, सन्धि और शबलता तथा उनसे सम्बद्ध भावों का आस्वाद विषय समान ही है, जिसमें किसी का प्राधान्य कहना सम्भव नहीं है कि उत्पत्त्यादि प्रधान हैं या भाव, तथापि विद्यमान दशा वाले भावों (जहाँ शुद्ध हर्ष आदि भाव माने जाते हैं) में भावों की ही प्रधानता (विद्यमानत्व की नहीं) का पूर्व से स्वीकृत होने के कारण भावशान्ति आदि में भी शान्ति आदि के प्रतियोगी

किञ्च यदि भावशान्त्यादौ भावो न प्रधानं, किन्तु तदुपसर्जनकशान्त्यादिरेवेत्यभ्युपेयते, तदा व्यज्यमानभावेषु अभिहित-तत्प्रशमादिषु काव्येषु भावप्रशमादिध्वनित्वं न स्यात्। तथा हि—

उषसि प्रतिपक्षनायिका-सदनादन्तिकमञ्चति प्रिये।
सुदृशो नयनाब्जकोणयोरुदियाय त्वरयाऽरुणद्युतिः॥

अत्रोत्पूर्वकेणैतिना भावोदयस्य वाच्यतयैव प्रत्यायनात्।

तत्तदवस्थायाः। **औचित्यादिति**। विद्यमानभावे निर्णीतार्थः नाशादिभावेष्वपि स्वीकार्य इत्येवोचितम् "एकत्र निर्णीतः शास्त्रार्थोऽपरत्रापि सञ्चरती"ति न्यायात्।

कस्यचिद् भावस्य नाशोत्तरमेवापरभावस्योदयो भवतीति भावशान्तेः प्रथमोपादानं युक्तमत्र तद्व्युत्क्रमेण प्रथममुत्पत्त्यवच्छिन्नत्वोक्तिश्चिन्तनीयैव।

तदुपसर्जनकेति। स भाव उपसर्जनकं विशेषणं यस्य। भावो विशेषणमेव शान्त्यादेरिति भावः। **अभिहितेति**। येषु काव्येषु भावाः भावाः व्यंग्याः, शान्त्यादयश्च अभिहिता वाच्यार्थस्वरूपास्तत्र वाच्यायमानत्वात्तेषां ध्वनित्वं न सम्भवेदित्यर्थः। यथा—**उषसीति**। उषसि रात्र्यन्ते प्रस्तुतनायिकाया विरोधिन्या नायिकाया गृहात् प्रिये पत्यौ अन्तिकं समीपमञ्चति आगच्छति सति सुदृशः शोभननयनाया नायिकायाः नयन-कमल-कोणयोः अरुणद्युतिः रक्तच्छविः त्वरया शीघ्रमेव उदियाय उद्गताऽभूत्।

अत्रेति। उत्पूर्वकेण इण्धातुना उदयार्थकेन अमर्षभावोदयस्य वाच्यार्थरूपेण प्रतीतिगोचरीकृतत्वात् अमर्षभावोदयध्वनित्वं न स्यादुदयप्राधान्यादिनां मते, भावप्रधानवादिनां मते तु स्यादिति भावः।

(विशेष्य) के रूप में भावों की ही प्रधानता मानी जानी चाहिए, यही उचित है। (शान्तिविशिष्ट भाव, उत्पत्तिविशिष्ट भाव आदि रूप में भावशान्त्यादि को जानना चाहिए।

और यह भी जानना चाहिए कि यदि भावशान्ति, भावोदय आदि में भाव प्रधान न हो, किन्तु भावविशिष्ट शान्त्यादि ही प्रधान हो, ऐसा मान लेते हैं तो जिस काव्य में भाव व्यंग्य हैं और उनके शान्ति आदि वाच्य हैं, उस काव्य में भावशान्ति आदि ध्वनि नहीं हो सकेगा, क्योंकि शान्त्यादि तो वाच्य ही है। जैसा कि—

रात के अन्त में उपनायिका के घर से अपने घर के पास प्रिय के आने पर सुनयनी (नायिका) के नयनकमल के कोने में शीघ्र ही लाल चमक उग आयी।

यहाँ उदयार्थक उत् उपसर्गपूर्वक इण् धातु के द्वारा भावोदय का वाच्यरूप से ही प्रतीति होगी (आपके मत से)।

उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्यावाच्यत्वाद् ध्वनित्वं सुस्थमिति चेत्, प्रधानस्य व्यपदेशानौपयिकत्वेऽप्रधानकृतव्यपदेशस्यानुपपत्तेः। अस्मन्मते तूत्पत्ते-र्वाच्यत्वेऽपि उत्पत्त्यवच्छिन्नामर्षस्य प्रधानस्यावाच्यत्वाद् युक्त एव भावोदय-ध्वनिव्यपदेशः। एवं व्यज्यमानभावप्रतियोगिकस्य प्रशमस्य वाच्यत्वे भाव-शान्तिध्वनित्वं न स्यात्। यथा—

क्षमापणैकपदयोः पदयोः पतति प्रिये।
शेमुः सरोजनयना-नयनारुणकान्तयः॥

ननु भावोदये भावस्य उदयस्य च समवेतत्वेनैव ध्वनित्वमिति प्रस्तुतपद्ये उदयस्य वाच्यत्वेऽपि भावस्य व्यंग्यत्वाद् ध्वनित्वमुचितमिति चेन्न, भवन्मते प्रधानस्य उदयस्य **व्यपदेशानौपयिकत्वे** मुख्यव्यवहाराप्रयोजकत्वे (व्यंग्यार्थप्रतिपादकत्वाभावे) सति अप्रधानस्य भावस्य कृतो यो व्यङ्ग्यार्थव्यवहारस्तस्य ग्रहणानुपपत्तेः। **अस्मन्मते** भावप्रधानवादिमते उत्पत्तिविशिष्टस्य अमर्षभावस्य प्रधानस्य व्यंग्यत्वाद् भावोदयध्व-नित्वं सम्भवत्येव।

एवं यथा भावोदये भावस्याप्राधान्ये स्वीकृते उदयस्य यत्र वाच्यत्वं तत्र भावोदयध्वनित्वं न सम्भवति, तथैव भावशान्तौ व्यज्यमानभावस्थले तदभावरूपस्य प्रशमस्य शान्तेर्यदि वाच्यत्वं तर्हि तत्र ध्वनित्वं न स्यादित्यपि दोषः समापतति। यथा—क्षमापणस्य अपराधमर्षणस्य एकमात्रस्थानस्वरूपयोः स्वपदयोः नायिकाचरणयोः प्रिये पतति प्रणमति सति सरोजनयनायाः नायिकायाः नयनारुणकान्तयः नेत्रशोण-

---

यदि आप कहेंगे कि उदय के वाच्य रहने पर भी भाव के अवाच्य (व्यंग्य) रहने से इसे ध्वनि कहना ठीक ही है, तो यह भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि प्रधान (उदय) के मुख्य व्यवहार व्यंग्यार्थप्रतिपादकत्व में असाधक होने पर अप्रधान (भाव) के द्वारा कृत व्यंग्यार्थ-व्यवहार उचित नहीं है। हमारे (भावप्रधानवादी) के मत में तो उत्पत्ति के वाच्य होने पर भी उत्पत्तिकालिक अमर्ष के प्रधानरूप में अवाच्य (व्यंग्य) रहने से भावोदय ध्वनि कहना उचित ही है। इसी प्रकार व्यंग्य भाव के विशेष्य प्रशम (शान्ति) के वाच्य रहने पर भावशान्तिध्वनि नहीं हो सकेगा। जैसे—

क्षमा देने का एकमात्र स्थान प्रिया के चरणों पर प्रिय के गिरने पर कमलनयना के आँखों की लाल कान्ति शान्त हो गयी।

यह भावशान्तिध्वनि का उदाहरण है। यदि भाव को प्रधान न मान कर शान्ति को ही प्रधान मानते हैं तो वह (शान्ति) 'शेमुः' इस पद का वाच्यार्थ ही है, उसे ध्वनि कैसे कहा जा सकता है? पर शान्ति का प्रतियोगी (विशेष्य) अमर्ष

ननु शब्दवाच्यानां प्रशमादीनामरुणकान्त्यैवान्वयाद् अरुणकान्तिप्रशमादेरेव वाच्यत्वं पर्यवसितं, न तु तादृश-प्रशमादिव्यङ्ग्यस्य रोषप्रशमादेः, व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभेदस्यावश्यकत्वात्। न चारुण्यव्यङ्ग्यरोषस्यैव वाच्यीभूत-प्रशमाद्यन्वय इति वाच्यम्, वाच्य-व्यङ्ग्यप्रतीत्यारानुपूर्व्येण सिद्धतया वाच्यान्वयबोधवेलायां वाच्यैः सह व्यङ्ग्यान्वयानुपपत्तेः। अन्यथा 'सुदृशो नयनाब्जकोणयोः' इत्यस्यान्वयो न स्यात्। मैवम्। एवमपि—

कान्तयः शेमुः शान्तिं गताः। अत्रामर्षभावः शान्तिध्वनिः। नयनारुण्येनामर्षो व्यज्यते। शान्तिस्तु 'शेमुः' पदवाच्यैवेति।

भावशान्त्यादौ शान्त्यादिप्राधान्यवादिमतं पोषयति—**शब्देति**। अस्तु शब्दवाच्यः प्रशमादिः, किन्तु तस्यान्वयस्तु अरुणकान्त्यादिनैव, न तु रोषादिना। तथा च अरुण-कान्त्यादिशम एव वाच्योऽर्थः, तेनार्थेन व्यङ्ग्योऽर्थो रोषप्रशमादिः। एवं हि रोषप्रशमादिर्न वाच्यार्थो व्यङ्ग्यार्थत्वात्। व्यञ्जको हि वाच्यार्थो व्यङ्ग्यार्थाद् भिन्न एव सम्भवति। ततश्च रोषप्रशमादेर्व्यङ्ग्यार्थत्वे शान्तिप्राधान्येऽपि भावशान्तिध्वनित्वमक्षत-मित्यभिप्रायः पूर्वपक्षिणः। उत्तरपक्षिणा कृतम् आक्षेपं समाधत्ते—**न चेति**। वाच्यार्थस्य प्रशमादेरन्वयो नैवारुणकान्त्यादिना अपितु तद्व्यङ्ग्यरोषादिनैव। ततश्च वाच्येन शमेन रोषादेरन्वयाद् ध्वनित्वाभावस्तस्य तदवस्थ एवेति नैव वाच्यम्। यतो हि पूर्वं वाच्यार्थ-स्तदनु व्यङ्ग्यार्थः प्रतीयते इत्येव नियमः। ततश्च वाच्यस्य नाशस्य व्यङ्ग्येन शमादि-

---

भाव को मानने पर अरुण कान्ति के कारण के रूप में वह तो व्यंग्य ही है, तो यहाँ ध्वनि हो जाता है।

अब शान्त्यादि को प्रधान मानने वाले शंका करते हैं कि उपर्युक्त उदाहरण में शब्द से वाच्य शान्ति का अन्वय तो अरुण कान्ति से ही है, अमर्ष से नहीं। तब तो 'अरुण कान्ति का प्रशम' यही वाच्यार्थ निर्णीत हुआ, न कि उस वाच्यार्थ से व्यंग्य रोषप्रशम आदि, क्योंकि व्यंग्य (रोषप्रशम) और वाच्य (अरुणकान्तिप्रशम) में भेद रखना तो आवश्यक ही है। इस स्थिति में शान्ति का प्रधान मानने पर भी यहाँ भावशान्तिध्वनि ठीक ही रहता है। यदि इस पर कोई कहे कि केवल आरुण्य (लाली) से व्यंग्य होते हुए रोष का वाच्यस्वरूप प्रशम के साथ ही अन्वय यहाँ है और तब तो प्रशम वाच्य ही रहा, व्यंग्य नहीं, तो यह आपत्ति ठीक नहीं है; क्योंकि वाच्य और व्यंग्य का बोध आनुपूर्वी (एक के बाद दूसरा) रूप में ही सिद्ध है, तो वाच्यार्थ के अन्वयबोध के समय में वाच्य के साथ व्यंग्य अर्थ का अन्वय ही अ,पपन्न (अयुक्त) है, क्योंकि उस समय व्यंग्य अर्थ उपस्थित ही नहीं है। यदि ऐसा न हो तो "सुदृशो नयनाब्जकोणयोः" इसका 'अरुणद्युति' के द्वारा व्यंग्य अमर्ष से अन्वय ही नहीं हो

निर्वासयन्तीं धृतिमङ्गनानां, शोभां हरेरेणदृशो धयन्त्याः।
चिरापराधस्मृतिमांसलोऽपि, रोषः क्षणप्राघुणिको बभूव॥

इत्यादावपि भावप्रशमध्वनित्वापत्तेः, भावस्य वाच्यत्वेऽपि प्रधानस्य तत्प्रशमस्य व्यङ्ग्यत्वात्। उभयोरप्यवाच्यत्वमपेक्षितमिति चेत्, प्रागुक्तपद्यद्वये शमत्वोदयत्वाभ्यां शमोदययोर्वाच्यत्वादनुदाहरणत्वापत्तेः। इष्टापत्तिस्तु

नान्वयो नैव युक्तः। यदि बलादन्वयः इष्ट इत्युच्यते तर्हि पूर्वोक्तभावोदयोदाहरणपद्ये "उषसि प्रतिपक्षे"त्यादौ नयनकोणयोरुणद्युतेरुदयो वर्णितो विरुद्धयेत, यतो हि अरुणद्युतिव्यङ्ग्यार्थोऽमर्षश्चित्तवृत्तित्वान्नेत्रकोणयोर्नैव स्थातुमर्हति। तस्माद् वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोरन्वयो नोचितस्तथा सति पूर्वपक्षः सुदृढ इति नैव वक्तव्यमित्याह—**नैवम्** इति। शान्त्यादेः प्राधान्ये स्वीकृते यत्र भावो वाच्यार्थः, शान्त्यादिस्तु व्यङ्ग्यस्तत्र भावशान्त्यादिध्वनिरनिष्टोऽपि स्वीकर्त्तव्य इत्यापत्तिः समापतति।

तथाहि—**निर्वासयन्तीमिति**। अङ्गनानां गोपाङ्गनानां धृतिं धैर्यं निर्वासयन्तीं निस्सारयन्तीं हरेः श्रीकृष्णस्य शोभां सौन्दर्यं धयन्त्याः पिबन्त्या एणदृशो हरिणनयनायाः, चिरकालापराधानां स्मरणेन मांसलोऽपि परिपुष्टोऽपि रोषः अमर्षः क्षणमात्रस्य प्राघुणिकोऽतिथिः बभूव। हरिसौन्दर्याकृष्टाया रोषो विलीनोऽभूदिति भावः। अत्रामर्षभावो रोषपदवाच्य एव, तत्प्रशमस्तु क्षणप्राघुणिकशब्देन व्यज्यते। किन्त्वत्र भावशान्तिध्वनिर्नैव स्वीक्रियते भावस्याव्यङ्ग्यत्वात्।

सकेगा, क्योंकि लाली का अन्वय आँख से संभव है, पर उससे व्यंग्य अमर्ष तो चित्तवृत्ति है, वह आँख में कैसे रहेगा ?

भाव को प्रधान कहने वाले उत्तरपक्षी कहते हैं कि शान्त्यादि को प्रधान मानने वालों का ऐसा उपर्युक्त समाधान ठीक नहीं है, क्योंकि इस समाधान के बावजूद भी अग्रिम पद्य में, जहाँ भावशान्तिध्वनि नहीं होता है, उसमें भी वह ध्वनि हो जायगा—यह आपत्ति (दोष) अलग से खड़ी हो जाती है।

सुन्दरियों के धैर्य को निकालती हुई हरि की शोभा का पान करती हुई (उन्हें एकटक से देखती हुई) मृगनयना का रोष (अमर्ष) चिरकाल से हरि के द्वारा अपराध (अन्य रमणी-अनुराग) करने के स्मरण से परिपुष्ट होने पर भी क्षणभर का अतिथि हो गया (झट से भाग गया)।

इत्यादि पद्यों में भी भावशान्तिध्वनि की आपत्ति आ जायगी, क्योंकि यहाँ भाव (अमर्ष) के वाच्यरूप में (रोषपद से) रहने पर भी उसके प्रशम जो आपके मत से प्रधान ही है, वह तो व्यंग्य ही (क्षणप्राघुणिक शब्द से) है। (हमारे मत से तो भाव प्रधान है, जिसके वाच्य रहने से ध्वनित्व का प्रसंग ही नहीं है।) यदि

सहृदयानामनुचितैव। तस्माद् भावप्रशमादिष्वपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम्, प्रशमादेस्तूपसर्जनत्वम्। अतो न तस्य वाच्यतादोषः।

इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्—यदेकत्र चर्वणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्षादित्वम्, अमर्षादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थात्वादिरपीति।

यदि नाम भावस्य नाशादेश्चोभयोर्व्यङ्ग्यत्व एव भावशान्त्यादिध्वनित्वं स्वीक्रियतेऽत एवात्र न ध्वनित्वमिति चेत् पूर्वोक्तभावशान्ति-भावोदयोदाहरणपद्ययोः शमोदययोर्वाच्यत्वेऽपि केवलभावगतव्यङ्ग्यत्वमादायापि ध्वनित्वव्यवहारः सर्वसम्मतोऽसङ्गतः स्यात्।

उपसर्जनत्वम् = विशेषणत्वेन गौणत्वम्।

एकत्र = भावध्वनौ। **स्थित्यवच्छिन्नेति** = विद्यमानताविशिष्टामर्षादित्वम्।

आप कहेंगे कि ध्वनि होने में भाव और शान्त्यादि दोनों का अवाच्य (व्यंग्य) रहना अपेक्षित है, एक ही का नहीं, तो यह और अधिक आपत्तिजनक हो जायगा, क्योंकि पूर्वोक्त दोनों पद्यों में ''उषसि'' में शान्ति के और ''क्षमापण'' में उदय के वाच्य न रहने के कारण ये उदाहरण ही न रह सकेंगे, जबकि इनका उदाहरण होना सर्वसम्मत है। अतः इस आपत्ति को आप इष्ट नहीं कह सकते, क्योंकि सहृदय इसे अनुचित ही मानेंगे।

अतः भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता में भी प्रधानतया भावों में ही चमत्कार रहता है, शान्ति आदि तो गौण ही हैं। अतः उनके वाच्य रहने पर भी भाव के व्यंग्य रहने से भावशान्त्यादि ध्वनि मानने में वाच्यता दोष नहीं लगता है।

और भावध्वनियों की अपेक्षया भावशान्ति आदि के चमत्कार में विलक्षणता (फर्क) का यह भी एक मूल कारण है कि एक ओर भावों के आस्वादन में स्थिति रूप अवस्था वाले अमर्ष आदि रहते हैं (पूर्व से ही भाव की स्थिति बनी रहती है), दूसरी ओर भावशान्त्यादि में प्रशमादि उन-उन अवस्था वाले ही अमर्षादि रहते हैं। इस प्रकार भावों के विशेषण के रूप में स्थिति रूप अवस्था-विशेष वाले अमर्षादि या केवल अमर्षादि और भावशान्त्यादि के विशेषण (प्रकार) के रूप में प्रशमावस्थापन्न आदि देखे जा सकते हैं। भावों को प्रथम विशेषण युक्त रहने पर भी भावशान्त्यादि से वैलक्षण्य नहीं होता है, क्योंकि अमर्षादि भी तब भाव-विशेष स्थित्यवस्थापन्न होते हैं और भावशान्त्यादि भी प्रशमावस्थापन्न, उदयावस्थापन्न आदि भाव-विशेष ही होते हैं। अतः भावों को भावशान्त्यादि से विलक्षण दिखाने हेतु उसका प्रकार (विशेषण) अमर्षादित्व (अमर्षत्व, असूयात्व आदि) ही मानें, जिससे शुद्ध भावों का बोध होगा।

रसस्य तु स्थायिमूलकत्वात् प्रशमादेरसम्भवः, सम्भवे वा न चमत्कार इति स न विचार्यते ।

(अलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि-विचारः)

सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रत्यादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटप्रकरणे झगिति प्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिषु सहृदयतमेन प्रमात्रा सूक्ष्मेणैव

केवलं तत्तद्भावरूपत्वमेव वा प्रकारो विशेषणम् । अन्यत्र = भावशान्त्यादी भावत्वेन सह प्रशमावस्थात्वादिरपि विशेषणम् ।

यथा भावस्य प्रशमादिर्भवति, तथैव रसस्यापि कथं न भवतीत्याह—**रसस्य त्विति** । स्थायिभावमूलकत्वेन रसः सर्वदा नित्यत्वेन तिष्ठत्येवेति तस्य प्रशमो-दयादयो न सम्भवन्ति । यदि तथापि तद्वर्णनं क्रियते, तर्हि तत्र न कश्चिच्चमत्कार-सम्भावनेति ।

पूर्वप्रतिज्ञातं "स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमव्यंग्यत्वमुपपादयिष्यत" इति भाव-निरूपणानन्तरं प्राप्तावसरं प्रस्तौति—**सोऽयमिति** । सद्यः प्रतिपादितो रत्यादिलक्षणः= स्थायिभावाः सञ्चारिभावाश्च, तेषां प्रपञ्चः = समुदायः । स्फुटप्रकरणे स्पष्टवेद्ये प्रकरणे । झगिति = झटिति अविलम्बितेनैव । प्रमात्रा ज्ञात्रास्वादकपुरुषेण । हेतुहेतुमतो कारण-कार्ययोः विभावादि-रसप्रतीत्योर्विद्यमानस्यापि क्रमस्य अलक्षणाद् अप्रतीतेः, शतपत्र-भेदनवत् क्रमो नैव लक्ष्यत इति कारणाद् अलक्ष्यक्रम-नाम्ना मुख्यतया व्यवह्रियते, सर्वे बुधाः रसभावध्वनिमलक्ष्यक्रमत्वेनैव प्रतिपादयन्ति । किन्तु यत्र विचारेण चिन्तनानन्तरं ज्ञेयं प्रकरणं भवति, उन्नेया ऊहनीया वा विभावादयो भावानां कारणस्वरूपास्तत्र

तात्पर्य यह है कि भावों में केवल भावत्व रहता है, जब कि भावशान्त्यादि में शान्ति-विशिष्ट भावत्व आदि । शुद्ध जल और बर्फ में जो अन्तर है, वही भाव और भाव-शान्त्यादि में है । या मित्र के साथ-साथ रहने में जो आह्लाद होता है और उनके विदा, आगमन आदि के समय होता है, इनमें जो अन्तर है वही भाव और भावशान्त्यादि में हैं ।

रस तो स्थायीभावमूलक हैं, उनके सदा स्थायी रहने से उनका प्रशम, उदय आदि होना सम्भव नहीं है । अथवा यदि सम्भव भी हो तो तद्गत कोई अलग से चमत्कार नहीं होगा । अतः उसका विचार ही नहीं किया जा रहा है ।

पूर्ववर्णित ये सभी रत्यादि स्थायीभाव, सञ्चारीभाव रस आदि जितने व्यङ्ग्य-समुदाय हैं, वे सभी प्रकरण के स्पष्ट (व्यक्त) रहने पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के शीघ्र प्रतीत हो जाने से अत्यन्त सहृदय ज्ञाता के द्वारा अत्यल्प समय में ही समझ लिये जाते हैं, जिससे कारण (विभावादि) और कार्य (रसप्रतीति) के पूर्व-पर के क्रम के (कौन पहले और कौन बाद में—इसके) लक्षित न होने के कारण (कार्य-कारण में क्रम रहने पर भी कमल के सौ पत्तियों को गुंथने के समान क्रम-

समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यक्रमस्यालक्षणाद् अलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचारवेद्यं प्रकरणम्, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेर्मान्थर्यमिति संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति। यथा—"तल्पगतापि च सुतनुः" इति प्रागुदाहृते पद्ये 'सम्प्रति'—इत्येतदर्थावगतिर्विलम्बेन। न खलु धर्मिग्राहकमान-सिद्धं रत्यादिध्वनेरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम्। अत एव लक्ष्यक्रमप्रसङ्गे—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ-प्रकरण-विभावानुभावरूपाणां भावध्वनिबोधकोपकरणानां बोधे विलम्बः स्वाभाविकः। मान्थर्यं मन्थरता विलम्बः। तेन तत्र भावध्वनिबोधे क्रमस्य अनुभवेन तस्य संलक्ष्यक्रमतापि भवति।

धर्मिग्राहकेति। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वं धर्मस्तदाश्रयो रत्यादिध्वनिर्धर्मी, तद्ग्राहकाः तत्साधकाः सहृदया एवात्र मानं प्रमाणम्। तैः सहृदयैः आस्वादनमेव क्रियते, न तु अलक्ष्यक्रमत्वं साध्यते, तत्तु बोधगताविलम्बित्वेनैव साध्यते, तदभावे भावध्वनेः संलक्ष्यक्रमता स्वतःसिद्धैवेति भावः।

अत एवेति। रत्यादिध्वनेः संलक्ष्यक्रमत्वस्यापि सत्त्वादेव। स्वोक्तौ परममान्याचार्ययोरानन्दवर्धनाभिगुप्तयोः सम्मतिं प्रकाशयत्यत एवेति सन्दर्भेण। **एवंवादिनीति**।

प्रतीति न होने के कारण) अलक्ष्यक्रम कहे जाते हैं। किन्तु जहाँ प्रकरण (प्रसङ्ग) का ज्ञान कुछ सोचने के बाद होता है या विभाव आदि का ऊह करना पड़ता है वहाँ रसप्रतीति में अपेक्षित सामग्री (साधनों) के ज्ञान में विलम्ब के कारण चमत्कार मन्द पड़ जाता है और इसलिए यह रस, भाव आदि संलक्ष्यक्रम ध्वनि भी हो जाता है, क्योंकि वहाँ वाच्य-लक्ष्य-प्रकरण-विभाव-अनुभाव आदि के क्रम प्रतीत होते हैं। यथा—उत्तमोत्तम काव्य के उदाहरण में दिये गये "तल्पगतापि" इस पद्य में 'अभी' इस अर्थ की प्रतीति विलम्ब से होती है। (इस मुग्धा को पहले लज्जा अधिक थी, पर अभी भावी वियोग के कारण वह कम हो गयी है—ऐसा अर्थ प्रकरणज्ञान-सापेक्ष होने के कारण विलम्ब से होता है। अतः यहाँ का शृङ्गार रसध्वनि संलक्ष्यक्रमव्यंग्य है)।

रस अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि अलक्ष्यक्रमव्यंग्यत्व रूप धर्म (भाव) का धर्मी (आश्रय) रस के ग्राहक (ग्रहण करने वाले सहृदय) ही इसके संलक्ष्यक्रमत्व या असंलक्ष्यक्रमत्व में प्रमाण हैं, वे यह नहीं कहते कि रस अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ही है। इसलिए रस लक्ष्यक्रमव्यंग्य भी होता है। अतएव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के प्रसंग में आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में कहा है कि—

'इस प्रकार देवर्षि अङ्गिरा के बोलने पर पिता के पास बैठी हुई पार्वती नीचा मुँह करके खेलने के लिए हाथ में स्थित कमल की पत्तियों को गिनने लगी'।

इत्यत्र कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्योपपत्त्या मनाग् विलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरं व्रीडायाश्चमत्करणाल्लक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः'' इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः, ''रसभावादिरर्थो ध्वन्यमान एव, न वाच्यः, तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषय'' इति चाभिनवगुप्तपादाचार्याः।

स्यादेतत्, यद्ययं संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्याद्, अनुरणन-भेदगणनप्रस्तावे ''अर्थशक्तिमूलस्य द्वादशभेदा'' इत्यभिनवगुप्तोक्तिः, ''तेनायं द्वादशा-

पूर्वनिर्दिष्ट-शिवसन्देशं देवर्षौ अङ्गिरसि वदति सति पितुर्हिमालयस्य पार्श्वे स्थिता कुमारी पार्वती अधोमुखी लीलाकमलं क्रीडार्थं स्वहस्ते धृतं कमलं तस्य पत्राणि गणयितुमारेभे। कुमारसम्भवे षष्ठसर्गे स्थितं पद्यमिदम्। अत्र देवर्षिरङ्गिराः, न तु नारदः, पूर्वपद्येऽङ्गिरस एव उपक्रमात्। **उपपत्त्या** सिद्धत्वेन। सद्यो वाक्येऽन्वयानुपपत्तिद्वाराऽर्थान्तरव्यङ्ग्यत्वे विलम्बो न जायते, अन्वयोपपत्तौ तु प्रकरणादिनार्थान्तरबोधे विलम्बेन क्रमो लक्ष्यत एव। अत्र कुमार्याः स्वभाव एव तथाविधो भवतीति नान्वयानुपपत्तिः यया लज्जा व्यक्ता भवेत्, किन्तु पूर्वप्रक्रान्तस्व-विवाहचर्चयाऽधोमुखत्वं तेन तस्यां लज्जा-भावोऽभिव्यज्यते। अत्र कारण-कार्ययोः क्रमाववोधपुरस्सरं लज्जा-भावध्वनिप्रतीतेः तस्य लक्ष्यक्रमत्वं ध्वनिकृतोक्तम्। अभिनवगुप्तव्याख्यया च रसभावादिध्वनेः लक्ष्यक्रमता स्पष्टतां याति।

रसध्वनेः संलक्ष्यक्रमत्वमपीति पूर्वप्रतिपादितसिद्धान्तमाक्षिपति—**स्यादेतदिति।** **अयं** रसभावादिध्वनिः। **अनुरणनभेदः** संलक्ष्यक्रमध्वनिभेदः, अनु = पश्चात् क्रमज्ञानानन्तरं ध्वन्यत इति व्युत्पत्तेः, तथा च विश्वनाथः साहित्यदर्पणे संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-

कुमारसंभव के इस पद्य में कुमारी स्वभाववश भी नीचा मुँह करके कमलपत्रों का गिनना संगत हो सकता था, वहाँ लज्जा का बोध नहीं था, पर कुछ विलम्ब से नारद (वस्तुतः अङ्गिरा) के द्वारा चर्चित विवाह-प्रसङ्ग जानने के बाद ज्ञात लज्जा के चमत्कृत होने से यह ध्वनि लक्ष्यक्रम है (क्योंकि भावबोधक-सामग्री के बोध में क्रम देखा जा रहा है)। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन में कहा है कि ''रस, भाव आदि ध्वनि ही होते हैं, वाच्य नहीं, फिर भी वे सभी अलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं होते''।

रसभावादि ध्वनि को यदि संलक्ष्यक्रम भी मानते हैं तो इस पर शंका उठ रही है कि तब तो संलक्ष्यक्रमध्वनि की भेद-गणना के प्रकरण में रसध्वनि की भी गणना होनी चाहिए, परन्तु ''अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के बारह भेद होते हैं'' ऐसा अभिनवगुप्त (लोचनकार) का कथन एवं ''इस प्रकार यह बारह प्रकार का है'' ऐसा काव्यप्रकाशकार मम्मट का कथन संगत नहीं हो रहा है (वे इन बारह भेदों में

त्मक'' इति मम्मटोक्तिश्च न सङ्गच्छेत वस्त्वलङ्कारात्मना द्विविधेन वाच्येन स्वतःसम्भवित्व-कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभिस्त्रैविध्यमापन्नेन षडात्मना वस्त्वलङ्कारयोरिव रसादेरप्यभिव्यञ्जनाद् अष्टादशत्वप्रसङ्गात् ।

अत्रोच्यते—प्रकटैर्विभावानुभावव्यभिचारिभिरलक्ष्यक्रमतयैव व्यज्यमानो रत्यादिः स्थायिभावो रसीभवति, न संलक्ष्यक्रमतया। रसीभावो हि नाम

विषये ''व्यंग्यक्रमलक्ष्यत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्य'' इत्याह । **वस्त्वलङ्कारयोरिवेति** । संलक्ष्यक्रमध्वनौ वस्तु अलङ्कारश्चेति द्वावेव व्यङ्ग्यौ न रसादिरिति सिद्धयति 'द्वादशात्मक' इति कथनेन । तथा हि वाच्यस्वरूपौ वस्त्वलङ्कारौ व्यञ्जकौ स्वतःसम्भवि-कविप्रौढोक्तिसिद्ध-कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेति भेदैः त्रिविधौ । तथा च व्यञ्जकाः षट् । तैर्व्यञ्जकैर्वस्त्वलङ्कारयोर्व्यङ्ग्यत्वेन द्वादशात्मकता संलक्ष्यक्रमध्वनेः सिद्धा । रसादिध्वनेरपि सम्मेलनेन पूर्वोक्तषड्व्यञ्जकद्वारा तस्यापि षड्विधस्य व्यंग्यस्य सम्भव इति साकल्येन अष्टादशभेदाः कथयितुमुचिताः, किन्तु द्वादशात्मकत्वमेव कथितमिति मान्याचार्यसिद्धान्तविरोधः कथं परिहरणीय इत्याक्षेपः ।

समाधत्ते—**अत्रोच्यत** इति । केनचिदाचार्येणेति शेषो, न तु मयेति । स्वमतेन तु आक्षेपो युक्त एवेत्यत्रत्य-सन्दर्भेण प्रतिभाति । पण्डितराजेन ''उपपादयिष्यते च स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमत्वम्'', ''सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रसादिलक्षणो व्यङ्ग्यप्रपञ्चः.........संलक्ष्यक्रमोऽप्येष भवति'' इत्यादिसन्दर्भेण रसभावादिध्वनेः संलक्ष्यक्रमता

रसध्वनि का समावेश नहीं करते) क्योंकि वस्तु और अलंकार रूप वाच्य अर्थ के तीन-तीन उपाधि (धर्म या स्वभाव) स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध एवं कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध के मिलाकर छः व्यञ्जक (व्यंग्यार्थ के साधक) हुए । इन छः व्यञ्जकों के द्वारा व्यंग्य वस्तु एवं अलंकार को लेकर संलक्ष्यक्रमध्वनि के बारह भेद होते हैं । अब यदि रस को भी ले लिया जाय तो उक्त छः व्यंजकों से व्यंग्य रसध्वनि के छः भेद इसके बढ़ जाने से इन आचार्यों को बारह के स्थान में अठारह कहना चाहिए ।

ज्ञातव्य है कि यह आक्षेप रसध्वनि को संलक्ष्यक्रम भी मानने वाले अभिनवगुप्त एवं जगन्नाथ पर ही लगता है, मम्मट पर नहीं, क्योंकि उन्होंने रसध्वनि को कहीं भी संलक्ष्यक्रम कहा ही नहीं है । यहाँ अपने मत में मम्मट से विरोध रूप आपत्ति होने का ही आक्षेप है ।

उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव व्यक्त (स्पष्ट) रहते हैं वहाँ तो अलक्ष्मक्रमरूप से ही व्यंग्यार्थ होते हुए रति आदि स्थायीभाव रस बन जाते हैं, संलक्ष्यक्रमरूप से नहीं (क्योंकि वहाँ वाच्यार्थ

झगिति जायमानालौकिक-चमत्कारविषयस्थायित्वम्। संलक्ष्यक्रमतया व्यज्यमानस्य रत्यादेस्तु वस्तुमात्रतैव, न रसादित्वमिति तेषामाशयस्य वर्णनेन न

पूर्वाचार्यसम्मत्याः साधिता। अथवा यथाभिनवगुप्तमते स्वोक्तिविरोधपरिहाराय रसपदस्य रत्यादिस्थायिभावपरतोक्ता तथैव स्वमतेऽपि। युक्तञ्चैतत्, पूर्वप्रतिज्ञावाक्ये रसादीत्यनुक्त्वा "स्थाय्यादीनामपि संलक्ष्यक्रमत्वम्" इत्येव हि पण्डितराजेनोक्तम्, भेदगणनप्रस्तावे च रसगङ्गाधरे नैव रसध्वनिः संलक्ष्यक्रमत्वेन परिगणितः। तेन अत्रोच्यत इत्यस्य मयेति शेषः।

अक्रटैरिति। स्फुटप्रकरणे सुव्यक्ते विभावादौ या रतिः प्रतीयते सा अक्रमतयैव, सैव रसस्वरूपतां याति, अलक्ष्यक्रमसंज्ञा च लभते। या हि रतिः (भावमात्रम्) स्वबोधौ क्रममपेक्षते सा केवलं रतिस्वरूपा, न तु रसस्वरूपा। तस्या वस्तुध्वनावेवान्तर्भाव इति। **रसीभवतीति**, अरसो रसः सम्पद्यत इति अभूततद्भावे च्विप्रत्यये दीर्घे च सिद्ध्यति। नहि स्थायिभावा एव रसा अपि तु अलक्ष्यक्रमा एव, संलक्ष्यक्रमास्तु वस्तुरूपाः। झगिति अविलम्बेन। **तदुक्तीनाम्** आनन्दवर्धनाभिनवगुप्तपादानाम्। स्थाय्यादीनां संलक्ष्यक्रमत्वकथनेऽपि संलक्ष्यक्रमभेदगणने तदनुपादानमिति विरोधः, स्थाय्यादीनां वस्तुध्वनावन्तर्भाव इति समाधानम्।

विभाव एवं रस की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता है)। स्थायीभाव जो रस नहीं हैं, वे रस तब बनते हैं जब अतिशीघ्र उत्पन्न अलौकिक चमत्कार के विषय बनते हैं। जहाँ उक्त चमत्कार देर से उत्पन्न होता है वहाँ संलक्ष्यक्रम (क्रम का लक्षित होना) रूप से व्यंग्य होते हुए रति आदि स्थायीभाव या व्यभिचारीभाव भी वस्तुमात्र बनकर रह जाते हैं, अर्थात् रत्यादि वहाँ रस नहीं बन पाते हैं—इस प्रकार से उन लोगों (अभिनवगुप्त आदि) के आशय को वर्णित करने पर उनकी उपर्युक्त उक्तियों ("द्वादश भेदाः") से विरोध नहीं होता है। परन्तु ऐसा समाधान करने में कोई युक्ति होनी चाहिए, जो काव्यतत्त्व के मर्मज्ञ विद्वानों को विचारना चाहिए। (इसके बाद अभी युक्ति दिखायी जायगी।)

अब शंका होती है कि संलक्ष्यक्रम स्थल में यदि रत्यादि रस नहीं बनते, वस्तुमात्र रहते हैं तो अभिनवगुप्त ने जो पूर्व में "रसभावादि सब जगह अलक्ष्यक्रम ही नहीं रहते" ऐसा कहा है और जगन्नाथ ने स्वयं "सभी रसादिलक्षण" ऐसा जो कहा है वह असंगत हो जाता है। इसका समाधान करते हैं कि वहाँ रस शब्द रत्यादि भाव अर्थ में लाक्षणिक (लक्षणा से बोधक) है।

नागेशभट्ट ने उपर्युक्त समाधान में अपेक्षित युक्ति (उपपत्ति) प्रस्तुत की है और एक नवीनमत को भी 'गुरुमर्मप्रकाश' में रखा है। युक्ति यह है कि रस को

तदुक्तीनां विरोधः। उपपत्तिस्त्वर्थेऽस्मिन् विचारणीया। 'रसभावादिरर्थ' इत्यत्र रसादिशब्दो रत्यादिपरः।

उपपत्तिरिति। अस्मिन् स्थाय्यादीनामलक्ष्यक्रमत्वे रसत्वं संलक्ष्यक्रमत्वे तु वस्तुत्वमित्यत्र उपपत्तिर्युक्तिर्विचारणीया काव्यतत्त्वज्ञैः। विषयोऽयं सङ्गतः प्रतिभाति, किन्त्वत्र युक्तिं न पश्यामः, यदि युक्तिरुद्भाव्येत तर्हि मतमिदं मान्यमेवेत्याशयो ग्रन्थकृतः। युक्तिर्हि नागेशभट्टोक्तानुपदमेव वक्ष्यते।

ननु "रसभावादिरर्थो न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषय" इत्यभिनवगुप्तोक्तौ "सर्वोऽपि रसादिलक्षण" इति पण्डितराजोक्तौ च रसस्यापि संलक्ष्यक्रमता विरुद्धचत इत्याह—**रसभावेति**। तत्रत्य-रसपदं स्वाश्रये रत्यादौ लाक्षणिकम्।

अत्रोच्यते—रसादिध्वनेः संलक्ष्यक्रमत्वविषये मतत्रयमुपलभ्यते—(१) सर्वोऽपि रसभावादिध्वनिः संलक्ष्यक्रमोऽपि भवतीति पण्डितराजमतम्। (२) रसव्यतिरिक्ताः सर्वेऽपि स्थायिभावा व्यभिचारिभावाश्च अलक्ष्यक्रमत्वेन भावध्वनयो (रसध्वनयो) भवन्ति, संलक्ष्यक्रमत्वेन तु वस्तुध्वनय इत्यानन्दवर्धनाभिनवगुप्तयोर्मतम्। संलक्ष्यक्रमध्वनिरूपे हि तेषां वस्तुरूपेणैव भानं (रत्यादिरूपेण हर्षादिरूपेण वा), न तु भावत्वेन। अत्र नागेशभट्टोक्ता उपपत्तिः—विगलितवेद्यान्तर एव रसास्वाद इति सर्वसम्मतं, स च अलक्ष्यक्रम एव सम्भवति, यदि वाच्य-लक्ष्य-विभावानुभाव-रसेषु क्रमः पृथगवभासरूपः प्रतीयते तर्हि तत्र वेद्यान्तरस्य ज्ञानान्तरस्य अविगलितत्वेन रसत्वमेव न सम्भवति। अत एव तथाविधस्य स्थाय्यादेर्न रसत्वमपि तु वस्तुत्वमेवेति। (३) रसभावादीनां सर्वेषामपि (स्थाय्यादीनामपि) सदैवालक्ष्यक्रमध्वनित्वमेव, नैव संलक्ष्यक्रमत्वमिति मर्मप्रकाशे नागेशभट्टानां मतम्। अत्रोपपत्तिः—विभावादिप्रतीतिसामग्रीविलम्बे वाच्यार्थप्रतीतौ क्रमसत्त्वेऽपि विभावज्ञानोत्तरं रसप्रतीतौ नैव विलम्बः केनाप्यनुभूयते। वाच्यार्थज्ञानक्रमस्य ध्वनिप्रतीतिक्रमत्वेन नाङ्गीकारोऽपितु विभावज्ञान-रसज्ञानयोः क्रमस्यैव, वक्तृवैशिष्टचप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात्। अत एव सर्वत्र रसोऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एवेति।

सर्वसम्मत रूप से विगलितवेद्यान्तर (अन्य सभी ज्ञानों से रहित एकमात्र रसज्ञानस्वरूप) माना जाता है। ऐसी स्थिति में विभावादि-प्रतीति एवं रस-प्रतीति में यदि सूक्ष्म काल का भी अन्तर हो जाता है तो अन्य ज्ञान की प्रतीति के कारण रसत्व का भङ्ग हो जायगा और संलक्ष्यक्रम में ज्ञानान्तर का बोध हो ही जाता है। अतः उस स्थिति में रहने वाले रत्यादि को रस नहीं, वस्तुमात्र कहा जा सकता है।

नवीन विद्वानों के मत कहकर नागेश ने अपना मत भी दिया है। वक्तृवैशिष्ट्य प्रकरण आदि के ज्ञान सहित वाच्यार्थ ही व्यञ्जक होते हैं और क्रम तो प्रकरणादि ज्ञान में ही रहता है। व्यञ्जक की उपस्थिति से तत्क्षण विभावादि एवं रसादि की

तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पदवर्णरचना-वाक्य-प्रबन्धैः पदैकदेशैरवर्णात्मकै रागादिभिश्चाभिव्यक्तिमामनन्ति। तत्र वाक्यगतानां पदानां सर्वेषामपि स्वार्थोपस्थितिद्वारा वाक्यार्थज्ञानोपाये समानेऽपि

यत्तु "नहि विभावादीत्यारभ्य मर्मप्रकाशोऽशुद्धः प्रतिभाति" इति रसचन्द्रिकायामुक्तं तत्तु सूक्ष्मेक्षिकया गूढभावानाकलनजन्यमेव। विभावज्ञानात्पूर्वमेव वाच्यप्रकरणादिप्रतीतौ क्रमोऽनुभूयते, न तत्र विगलितवेद्यान्तरता सहृदयैरनुभूयते, सप्रकरण-वाच्यार्थ-प्रतीत्यनन्तरं तत्क्षणमेव विभावादिज्ञानं जायते यत्र विगलितवेद्यान्तरता, तत्र नैव क्रमोऽनुभूयते। मर्मप्रकाशे 'तत्क्रमग्रहणे' इत्यस्य वाच्यार्थक्रमग्रहण इत्यर्थः।

पूर्वोक्तेषु त्रिष्वपि मतेषु द्वितीये मते एव पूर्वाचार्यग्रन्थसमन्वयो भवति। परन्तु भावध्वनेः संलक्ष्यक्रमे वस्तुध्वनौ, असंलक्ष्यक्रमे तु रसध्वनौ स्थापनं नैव युक्तं, भावानां 'वस्तुतः' पार्थक्यस्य सर्वसम्मतत्वात्, रत्यादीनां विभावादिसामग्रीसमवेतानां न रसत्वमित्यपि नैव सहृदयसम्मतमित्यस्यापि प्रसिद्धत्वात्, विभावादि-रसबोधक-सामग्रीगत-क्रमस्य क्वाप्यदृष्टत्वाच्च रसस्थल इव भावादिस्थलस्य तुल्यत्वाच्चेति तृतीयमतमेव समर्थयामहे।

तदित्थमिति। प्रपञ्चः समुदायः। पदं = सुबन्तं तिङन्तं च। वर्णा अकारादयः, रचना वर्ण-पदोपस्थापनरीतिः, वाक्यं क्रियान्वितपरस्परसाकाङ्क्षपदसमुदायः; प्रबन्धो महावाक्यं मेघदूतादि, पदैकदेशः प्रकृतिः प्रत्ययो वा, अवर्णात्मको वीणादि-

---

प्रतीति होती है, जिसमें क्रम अलक्षित रहता है। अतः इसे अलक्ष्यक्रमव्यंग्य ही कहते हैं, संलक्ष्यक्रम नहीं। वाच्यार्थ के क्रम को लेकर रत्यादि को संलक्ष्यक्रम नहीं कह सकते, क्योंकि विभावादि ज्ञान से रहित यत्किंचित् वाच्यार्थ (वाच्यार्थ के अंश) से रस-प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः "तल्पगतापि च सुतनुः" इस उदाहरण में अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ही है। वहाँ व्यञ्जक के अवयव में ही क्रम है। व्यञ्जक और व्यंग्य के ज्ञान में क्रम अलक्षित ही है। अतः रसभावादि ध्वनि सर्वत्र अलक्ष्यक्रम ही होते हैं। अभिनव-गुप्त ने वाच्यार्थगत क्रम को लेकर रत्यादि को जो संलक्ष्यक्रम कहा है सो आरोपितरूप से ही यथाकथंचित् माना जा सकता है।

रस-भावादिध्वनि के विषय में ऊपर तीन मत प्रदर्शित हुए—(१) अस्फुट प्रकरण में रसादिध्वनि संलक्ष्यक्रम होते हैं—यह पण्डितराज का मत है। (२) अस्फुट प्रकरण में रत्यादि वस्तुमात्र रह जाते हैं, रस नहीं—यह आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त का मत है। (३) रसादिध्वनि सदा अलक्ष्यक्रम ही होते हैं—यह नागेश का मत है।

अब रसादिध्वनि के व्यंजकों के विषय में प्राचीन एवं नवीन विद्वानों के मत निरूपित करते हुए पहले प्राचीनों का मत प्रस्तुत कर रहे हैं। तो इस प्रकार निरूपित रसभावादि ध्वनियों के समुदायों का पद, वर्ण, रचना (वैदर्भी आदि रीति), वाक्य,

कुर्वद्रूपतया चमत्कारायोगव्यवच्छिन्नत्वेन कस्यचिदेव ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्, यथा—"मन्दमाक्षिपति" इत्यत्र 'मन्दमि'त्यस्य।

रचना-वर्णानां पदवाक्यान्तर्गतत्वेन व्यञ्जकतावच्छेदककोटिप्रविष्टत्व-

ध्वनिः, रागः भैरवादिः, सङ्गीतशास्त्रीया ताल-मान-रसाश्रित-गानपद्धतिः, आदिना चेष्टादीनां संग्रहः। आमनन्ति प्रतिपादयन्ति प्राचीनाचार्याः। आमनन्तीत्यस्य अनुपदमेव वक्ष्यमाणेन प्राञ्च इत्यनेन सम्बन्धः।

कुर्वद्रूपतयेति। बहुषु समानकार्यसाधकेषु कस्यचिदेकस्य विलक्षणकार्य-कर्तृत्वमेव तस्य कुर्वद्रूपता। शब्दोऽयं बौद्धदर्शने पारिभाषिकः समुदाये एकस्यापि प्रयासेन कार्ये जाते समुदायस्यैव साफल्यमित्यर्थः। यथा—सकलसैन्येषु युद्ध्यमानेषु कस्य-चिदेकस्यासाधारणशौर्येण विजये लब्धे सर्वेऽपि विजयिनो भवन्ति, तथैवात्र वाक्यघटक-सकलपदानां वाक्यार्थबोधे साधनत्वेऽपि कस्यचिदेकस्य विलक्षणशक्तिमत्तया रसप्रतीतौ सम्पूर्णवाक्यस्यैव रसप्रत्यायकत्वमिति। उपायः साधनम्। चमत्कारस्य अयोगोऽ-सम्बन्धः तद्रहितत्वेन नियतचमत्कारसहितत्वेन कस्यचिदेव वाक्यघटकस्यैकस्यैव पदस्य ध्वनिव्यवहारहेतुता। उत्तमोत्तमकाव्यस्योदाहरणे मन्दमाक्षिपतीति। तत्र वाक्यघटकानां सकलपदानां शृङ्गारव्यञ्जकत्वेऽपि मन्दमिति पदेन "शनैः प्रियकरापसारणमि"त्यर्थ इतर-वैलक्षण्येन रतिर्व्यज्यते।

रचनेति। रचना हि वर्णाश्रिता पदाश्रिता वा, तदतिरिक्तं न किमपि स्वरूपं तस्याः, वर्णस्तु पदावयवत्वेन स्वरूपवान् भवति। अर्थबोधो हि रचना-वर्णयोः पदवा-क्यार्थान्तर्गत एवेति रचनैव प्रथममाक्षेप्या। तथा च स्वतन्त्ररूपेण व्यञ्जकता रचना-

प्रबन्ध (सम्पूर्ण ग्रन्थ), पद के अंश (प्रकृति या प्रत्यय), अव्यक्त वीणाध्वनि, राग (भैरव आदि संगीतशास्त्रीय) तथा चेष्टा से अभिव्यक्त (प्रकटित) होना प्राचीन आचार्य प्रतिपादित करते हैं। उनमें वाक्य में स्थित सभी पद यद्यपि अपने-अपने अर्थों को उपस्थित करके वाक्यार्थ के ज्ञान में समान रूप से कारण होते हैं, तथापि प्रधान कार्यकर्त्ता के रूप में चमत्कार के असम्बन्ध से रहित (अवश्य चमत्कारोत्पादक) होने के कारण कोई एक ही पद ध्वनिसम्पादक के रूप में प्रसिद्ध होता है। सेना में स्थित सभी योद्धा लड़ते हैं, पर किसी एक-दो के अद्भुत उत्साह से ही प्राप्त विजय से सभी विजयी कहलाते हैं। इसी प्रकार वाक्यान्तर्गत सभी पद वाक्यार्थ सम्पादित करते हैं, पर किसी एक पद की व्यञ्जकता से उत्पन्न ध्वनि के भागी वे सभी पद होते हैं।

जैसे—'मन्दमाक्षिपति' (पृ० ३८) में 'मन्दम्' इस पद से ही चमत्कृत ध्वनि होता है।

यद्यपि रचना और वर्ण तो पद या वाक्य के अन्तर्गत ही रहने के कारण पदवाक्य में स्थित व्यञ्जकता के विशेषण स्तर में ही प्रविष्ट हो सकते, स्वतन्त्र व्यञ्जक

मेव, न तु व्यञ्जकत्वमिति यद्यपि सुवचम्, तथापि पदवाक्यविशिष्टरचनात्वेन, रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादौ दण्डचक्रादेः कारणत्वस्येव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः।

वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न तु रसाभिव्यञ्जकत्वं, गौरवान्मानाभावाच्च। नहि गुण्यभिव्यञ्जकं विना गुणाभिव्यञ्ज-

---

वर्णयोर्नास्ति, पदवाक्यघटकत्वेनैव तत्र व्यञ्जकता भवति यद्यपीति शेष आक्षेपलभ्यस्तथापीति पदोच्चारणेन। एवञ्च पदवाक्यनिष्ठा या व्यञ्जकता तद्विशेषणश्रेण्यामेव रचनावर्णयोः स्थानम्, न तु प्रधानव्यञ्जकत्वेनेति शङ्का। समाधानं हि—समुदितपदवाक्ययोर्व्यञ्जकत्वेऽपि तद्घटकस्य कस्यांशस्य विशेष्यतेत्यत्र न कापि विनिगमना = तत्पक्षसाधिका युक्तिः, तदभावादुभयोर्व्यञ्जकता मुख्यैव। यथा दण्ड-चक्रादिकं सम्मिलितरूपेणैव घटकारणत्वेन दृष्टम्, तत्र कस्याप्येकस्य विशेष्यतायां युक्त्यभावात् पृथक् पृथग् दण्डस्य चक्रस्य च घटकारणता मुख्यतयैव स्वीक्रियते, तथैव अत्रापीति भावः। प्राञ्चः काव्यशास्त्रप्रणेतारः प्राचीनाचार्या आमनन्तीति।

रचना-वर्णादीनां व्यञ्जकत्वविषये काव्यशास्त्रीयाचार्याणां नवीनानां मतमुपस्थापयति—**वर्णेति**। वर्णविशेषा रचनाविशेषाश्च प्राचीनमते गुणसहित-रसव्यञ्जकाः, नवीनमते तु गुणमात्रव्यञ्जकाः। रचनाविशेषा वैदर्भीप्रभृतयः प्रागुक्ताः, वर्णविशेषाश्च माधुर्यादिगुणस्यैव व्यञ्जकाः, न तु गुणाश्रयाणां रसभावादीनामिति नव्याः जगन्नाथप्रभृतयः। तत्र ते युक्तिद्वयं ब्रुवते—**गौरवादित्यादि**। गुणानां रसव्यञ्जकत्वे तदधिकरचनादीनामपि तद्व्यञ्जकत्वस्वीकारे रसाभिव्यञ्जकसंख्यावर्धने गौरवम्। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां माधुर्यादिगुणानामेव रसव्यञ्जकत्वे सिद्धे तदतिरिक्तरचनादेरपि तत्त्वे किमपि प्रमाणं नास्ति।

नहीं हो सकते—ऐसा कहना तो ठीक है, तथापि सम्पूर्ण पद या वाक्य के व्यञ्जक होने पर भी उनके किस अंश में विशेष्यता है या ध्वनिव्यञ्जक के रूप में पदवाक्यस्थित रचना को या रचनायुत पदवाक्य को मानें—इसमें किसी एक पक्ष की साधक युक्ति नहीं है। इसलिए दोनों प्रकार से व्यञ्जकता को प्रधान ही माना जा सकता है। जैसे घट के कारण दण्ड एवं चक्र मिलितरूप से होने पर भी दोनों प्रधानरूप से (अलग कहने पर भी) कारण माने जाते हैं। यह प्राचीन आलंकारिकों का मत है।

काव्यशास्त्र के नवीनाचार्यों के मत में व्यञ्जक वर्ण एवं व्यञ्जक रचना माधुर्य आदि गुणों के ही व्यञ्जक होते हैं, रस-भाव आदि के नहीं; क्योंकि इसमें ध्वनिव्यंजक संख्या बढ़ाने का गौरव (अधिक आयास करना) रूप दोष है। साक्षात् रस से सम्बन्ध रखने वाले माधुर्यादि गुणों से ही रस के व्यंग्य हो जाने से गुणों द्वारा उससे सम्बद्ध

कत्वं नास्तीत्यस्ति नियमः, इन्द्रियत्रये व्यभिचारात्। इत्थं च स्वस्वव्यञ्जकोपनीतानां गुणिनां, गुणानाम् उदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषेणौदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्तिविषयतेति नव्याः।

ननु गुणो नाम गुण्याश्रित एव, नहि गुणिनं विना गुणस्य स्थितिरपि सम्भवति। तस्माद् गुणिनः पटादेः सत्त्व एव गुणस्य रक्ततादेरभिव्यक्तिः सम्भवति। अत एवात्रापि गुणिनं रसमभिव्यज्यैव रचनादिद्वारा गुणस्य माधुर्यादेरभिव्यञ्जकता सम्भवतीति शङ्का। समाधानन्तु व्यवहारेण नायं नियमः सिद्धयति—इन्द्रियत्रये घ्राण-श्रोत्र-जिह्वासु व्यभिचाराद् व्यतिक्रमात्। घ्राणेन्द्रियेण हि गुणस्य गन्धस्यैवाभिव्यक्तिर्न तु गुणिनः पृथिव्यादेः, श्रोत्रेण शब्दस्यैवाभिव्यक्तिर्नाकाशादेः, जिह्वया रसस्यैवाभिव्यक्तिर्न जलादेः। एवमेव रचनादिना गुणस्यैव, न तु गुणिनो रसादेरभिव्यक्तिरिति।

इत्थमिति। गुणानां गुणिनाञ्च स्वतन्त्ररूपेणाभिव्यङ्ग्यत्वे स्थिते सतीत्यर्थः। स्वस्वव्यञ्जकैः चक्षुरादिभिः उपनीतानाम् उपस्थापितानां गुणिनां पृथिव्यादीनां, घ्राणादिभिर्गुणानां गन्धादीनाम्, श्रोत्रादिभिः उदासीनानां गुणगुणिभावरहितानां शब्दादीनाञ्च परस्परमन्वयेन विशेष्यविशेषणभावेन, उदासीनतया तटस्थभावेन वा एकविषयकज्ञानगोचरता भवति। एवमेव वर्णरचनादिभिरुपनीतानां माधुर्यादिगुणानां पदवाक्यगुणा-

---

वर्ण-रचनादि को भी रसव्यञ्जक मानने से व्यंजकों की संख्या बढ़ जाती है और इसके व्यञ्जक मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है।

यहाँ शंका होती है कि वर्णरचना को माधुर्य आदि गुणों का व्यञ्जक मानना तो सर्वसम्मत ही है, तब तो इन गुणों के आश्रय (गुणी) रसादियों के भी व्यञ्जक इसी को मानना होगा, क्योंकि गुणी (आश्रय) के प्रकटित होने के बिना गुण (आश्रित) की अभिव्यक्ति उचित नहीं है (वस्त्र के बिना उसके गुण लाल आदि का दृष्ट होना संभव नहीं है)। इसके समाधान में कहते हैं कि बात तो यथार्थ है, पर यह बात अनिवार्य नहीं है, सब जगह लागू नहीं होती है; क्योंकि कान, जिह्वा एवं नासिका इन तीनों इन्द्रियों में इस नियम का व्यभिचार (लागू न होना) देखा जाता है। कान से शब्दगुण का तो प्रत्यक्ष होता है पर उसके आश्रय आकाश का नहीं, जीभ से मधुरादि गुण का ही, उसके आश्रय जल का नहीं; नाक से गन्ध का ही, उसके आश्रय पृथिव्यादि का नहीं। पृथिव्यादि का तो अन्य इन्द्रिय (आँख) से ही प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार अपने-अपने स्वतन्त्र व्यञ्जकों से गुण, गुणी एवं उदासीन (गुण-गुणिभाव-रहित) के व्यंग्य होने पर आपस में मिलकर या न मिलकर जैसे उन-उन (समुदित) अर्थों का प्रत्यक्ष कराना दृष्ट है उसी प्रकार रस एवं माधुर्यादि गुणों की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् रचनादि रस आदि के व्यञ्जक नहीं हैं—ऐसा नवीन

उदाहरणन्तु—"तान्तमाल—" इत्यादि प्रागुक्तमेव। वाक्यस्य व्यञ्जकतायामपि "आविर्भूता यदवधि—" इत्यादि च। प्रबन्धस्य तु 'योगवासिष्ठ-रामायणे' शान्त-करुणयोः, रत्नावल्यादीनि च शृङ्गारस्य व्यञ्जकत्वान्निदर्शनानि प्रसिद्धानि। मन्निर्मिताश्च पञ्च लहर्यो भावस्य। पदैकदेशस्य च "निखिलमिदं जगदण्डकं वहामि—" इति 'क'-रूपतद्धितो वीररसस्य प्रागेवोदाहृतः। एवं रागादिभिरपि व्यङ्ग्यत्वे सहृदयहृदयमेव प्रमाणम्।

दिभिरुपनीतानां रमादिगुणिनाञ्च कदाचिन्मिलितेन, कदाचित्पार्थक्येन चाभिव्यक्तिर्भवतीति।

रचना-वर्णयोरुदाहरणं प्रागुक्तं गुणनिरूपणे निबद्धं माधुर्यगुणव्यञ्जकवर्ण-रचनादिद्वारा शान्तरसस्यापि व्यञ्जकम्।

वाक्यस्येति। रसविशेषनिरूपणप्रसङ्गे समुपन्यस्तं "आविर्भूते"त्यादि सम्पूर्णमपि पद्यं विप्रलम्भशृङ्गाररसव्यञ्जकम्। योगवासिष्ठं महारामायणं, रामायणं वाल्मीकीयं, ते उभे अपि सम्पूर्णग्रन्थसन्दर्भरूपे क्रमशः शान्तरसस्य करुणरसस्य च उदाहरणे। हर्षवर्द्धनप्रणीता रत्नावलीनाटिका, राजशेखरकृता कर्पूरमञ्जरी, विद्यापतिकृता मणिमञ्जरीत्यादीनि स्वस्वसम्पूर्णग्रन्थेषु शृङ्गाररसव्यञ्जकानि। मन्निर्मिता मया जगन्नाथेन निर्मिता गङ्गालहरी-यमुनालहरी-करुणालहरीत्यादि-पञ्चलहर्यः प्रबन्धरूपेण भावस्य देवविषयकरतेः व्यञ्जिकाः। पदैकदेशस्वरूपस्य प्रकृतिप्रत्ययादेर्व्यञ्जकोदाहरणं

आचार्य कहते हैं। नवीन के मत में वर्ण, रचना एवं पदैकदेश को रसादिव्यञ्जक नहीं माना जाता है।

अब पूर्वोक्त रसादिव्यञ्जकों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। रचना और वर्ण की व्यञ्जकता का उदाहरण "तान्तमाल" इत्यादि पद्य पहले ही गुणनिरूपण में कहा गया है, जिसमें माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्ण और रचना शान्तरस के भी व्यञ्जक होते हैं। वाक्य की व्यञ्जकता के उदाहरण भी "आविर्भूता" इत्यादि पद्य रसविशेषनिरूपण में दिया जा चुका है, जहाँ सम्पूर्ण वाक्य विप्रलम्भश्रृंगार रस का व्यञ्जक है। प्रबन्ध (सम्पूर्ण ग्रन्थ) की व्यञ्जकता के उदाहरण—योगवासिष्ठ (महारामायण) शान्तरस का, वाल्मीकिरामायण करुणरस का, रत्नावलीनाटिका (हर्षवर्धनकृत) श्रृंगार रस का, विद्यापतिकृत मणिमञ्जरीनाटिका श्रृंगाररस का, ज्योतिरीश्वरकृत धूर्त्तसमागम-प्रहसन हास्य रस का आदि प्रसिद्ध ही हैं। मेरे (जगन्नाथ) द्वारा रचित गङ्गालहरी, यमुनालहरी आदि पाँच लहरियाँ प्रबन्धगत देव-विषयक रतिभाव के व्यञ्जक हैं। पद के अंश (प्रत्यय) की रसव्यञ्जकता का उदाहरण तो "निखिलमिदं" रसविशेषनिरूपण में कहा जा चुका है, जिसमें जगदण्डकं में स्थित तद्धित प्रत्यय 'क' वीररस का

एवमेषां रसादीनां प्राधान्येन निरूपितान्युदाहरणानि। गुणीभावे तु वक्ष्यन्ते, नामानि च। तत्र प्राधान्य एवैषां रसादित्वम्, अन्यथा तु रत्यादित्वमेव। नामनि रसपदं तु रत्यादिपरमित्येके। अस्त्येव रसादित्वं, किन्तु न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वमित्यपरे।

इति तैलङ्ग-पण्डितराज-जगन्नाथ-विरचिते रसगङ्गाधरे प्रथममाननं सम्पूर्णम्।

रसविशेषप्रकरणे जगदण्डकमित्यत्रत्य-कप्रत्ययेन वीररसाभिव्यक्तिरिति। भैरवादिरागैः प्रभातादिव्यङ्ग्यं, चेष्टादिभिर्युवत्वादिव्यङ्ग्यं प्रसिद्धमेव।

प्राधान्येनेति। यत्र वाक्यादौ रसस्य प्रधानता तत्र रसत्वस्य सर्वसम्मतत्वमेव, तेषामुदाहरणानि ग्रन्थेऽस्मिन् प्रदर्शितानि। **गुणीभावे त्विति**। यत्र तु रसस्य वस्त्वलङ्कारादीनामङ्गत्वं, रसस्य गौणता तेषां स्वरूपम्, उदाहरणानि, नामानि रसवत्-प्रेय-ऊर्ज्जस्वि-समाहितालङ्कारस्वरूपाणि अलङ्कारप्रकरणे प्रतिपादयिष्यन्ते।

अत्र मतद्वयं प्रदर्शयति—**तत्रेति**। रसस्य यत्र प्रधानता तत्रैव तस्य 'रस'-पदवाच्यत्वम्, अन्यथा रत्यादेः इतराङ्गतया रत्यादिवस्तुतैव न रसत्वम्। रसवदित्यादौ रसपदं रत्यादौ लाक्षणिकमेवेति प्राचां मतम्।

व्यञ्जक है। इसी तरह भैरव आदि संगीतशास्त्रीय राग, नटों की चेष्टा आदि भी रसादि के व्यञ्जक होते हैं, जिनकी रसादिव्यञ्जकता में सहृदयों के हृदय ही प्रमाण हैं।

अब रसादि प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार इन रस-भाव आदि के प्रधान व्यंग्य रहने पर (उनके) उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये गये। जहाँ ये गुणीभूतव्यंग्य होते हैं (रस आदि किसी अन्य के अंग के रूप में रहते हैं), वहाँ इनकी स्थिति गौण होती है, जिनके उदाहरण अलंकार-प्रकरण में दिये जायेंगे और उनके नाम भी रसवत्, प्रेयस्, ऊर्ज्जस्वि और समाहित भी कहे जायेंगे। 'रसवत्' इस नाम में रस पद का लक्षणा द्वारा रति आदि ही अर्थ है, क्योंकि रत्यादि के गौण रहने पर कतिपय आचार्यों के मत में वहाँ रसत्व रहता ही नहीं है, अपितु बहुत स्थलों में रत्यादि वस्तु बनते हैं और रसवत् आदि में अलङ्कार ही कहे जाते हैं।

नव्यमतमुपस्थापयति–अस्त्येवेति । गौणत्वेऽपि रस-भावादि-व्यवहारो भवत्येव, किन्तु तत्र ध्वनिव्यवहारकारणत्वं न भवति ।

अर्द्धाङ्गीकृतगिरिजः, पशुपतिरीशोऽप्यमानगुणशाली ।
गङ्गाप्रस्तुतभालः, फणिपतिमालः सुखं दद्यात् ॥

इति रसगङ्गाधर-प्रथमाननस्य मैथिलश्रोत्रियपण्डितगङ्गानाथशर्मतनूज-
विद्यावाचस्पतिश्रीशशिनाथझाशर्मकृता रसतरङ्गिणी
व्याख्या समाप्ता ।

अन्य आचार्यों के मत में रत्यादि के गौण रहने पर भी वे रसभावादि कहलाते ही हैं, केवल उन्हें ध्वनि नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि व्यंग्य के प्रधान रहने पर ही ध्वनि होता है ।

इति मिथिलाजनपदावयव-मधुवनीमण्डलान्तर्गत 'दीप' ग्राम-
वास्तव्य मैथिलश्रोत्रिय पण्डितगङ्गानाथशर्मपुत्र-
दरभङ्गासंस्कृतविश्वविद्यालयीय व्याकरण-
प्राध्यापक-विद्यावाचस्पति (डॉ०)
शशिनाथझाशर्मकृत-रसगङ्गाधर-
रसतरङ्गिणी हिन्दी व्याख्या में
प्रथम आनन समाप्त ॥

उदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

●

रसगंगाधरे चर्चितग्रन्था ग्रन्थकारश्च प्रमापकाः

(प्रथमानने)